

प्रकाशक श्रीशम्भा संस्कृत सीरीज मण्डल, वाराणसी

मुद्रक श्रीशम्भा प्रेम वाराणसी

संस्करण सप्तदश वि सं २०२४

मूल्य = ₹ 35 P 00

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99 Gopal Mandir Lane

Post Box 1008 Varanasi-221001 (India)

Phone 63145

वर्ष ४ प्रातिस्नानम्

शुक्लवास अकादमी

पो० बा० नं० १११८

जौह, (विद्या विनोद विविड्या) वाराणसी-२२१००१

(भारत)

कथासार

कथामुख (पृ० ५)

गगाजीके तटपर पटना नगर है। वहाँ एक गुणवान् राजा रहते थे, जिनका नाम सुदर्शन था। उन्होंने पढ़ते हुए विद्यार्थीसे दो श्लोक सुने, जिनका यह आशय था—‘अनेक सदेहोंको मिटानेवाला और परोच पदार्थको दिखानेवाला शास्त्र सबका नेत्र है, वह जिसे नहीं है, वह मनुष्य, अन्धा ही है। जवानी, धन, प्रभुता और अविचार—इनमेंसे एक एक भी अनर्थ करनेवाले हैं और जिसके पास चारों हैं, उसका क्या कहना।’ यह सुनकर अपने पुत्रोंके मूर्ख और कुमार्गगामी होनेसे राजा सोचने लगे—‘जिनका पुत्र विद्वान्, गुणी, धर्मात्मा और वशमें रहनेवाला नहीं है, उसका होना व्यर्थ है। सो इन पुत्रोंको किस तरह गुणी बनाऊँ।’ यह सोच पण्डितोंकी सभा बुलाकर उन्होंने अपने पुत्रोंको पढ़ानेके लिये कहा। उन पण्डितोंमेंसे विष्णुशर्मा बोले, कि मैं इन पुत्रोंको छ मासमें पढ़ाकर विद्वान् बना दूँगा। यह सुनकर प्रसन्नचित्त राजाने उन पुत्रोंको पढ़ानेके लिये विष्णुशर्माको सौंप दिया।

चित्रग्रीव (कवूतर) यथा हिरण्यक (चूहे) की कथा (पृ २७)

एक दिन किसी ध्याधने वनमें चावलके दानोंको छींटकर जाल फैला दिया था। आकाशमें उड़ते हुए कवूतरोंने जब उसे देखे तब चावलोको खाना चाहा, तब कवूतरोंके राजा चित्रग्रीवने कवूतरोंको बहुत समझाया कि इस जगलमें छूटने चावल कहाँसे भाये, इन्हें खानेका लोभ मत करो, क्योंकि—‘लोभात् क्रोध. प्रभवति’ इत्यादि नीतिकार कहते हैं। किन्तु कवूतरोंने उसकी बात नहीं मानी और वे चावल खानेके लिये वहाँ उतरते ही जालमें फँस गये। तब चित्रग्रीवने कहा—‘इसमें किसीका दोष नहीं है, अभास्यवश आपत्ति आती है, आपत्ति में धैर्य रखकर उससे छूटनेका उपाय सोचना चाहिए। जैसे ‘विपदि धैर्यम्’। इस कारण तुम लोग एक राय करके जालके साथ उड़ चलो।’ यह सुन सब कवूतर जालकी लेकर उड़ गये और गण्डकी नदीके किनारे सैकड़ों सुँहवाले विलमें रहनेवाले ‘हिरण्यक’ नामक चूहेके पास पहुँचे। वह चूहा चित्रग्रीवका परम मित्र था। चित्रग्रीवके बुलानेपर बाहर आकर उस चूहेने चित्रग्रीवको जालमें फँसा देख आश्चर्यसे पूछा—‘मित्र! यह क्या!’ उसने उत्तर दिया—

मेरे पूर्व जन्मका यह कर्म है जैसे कहा भी है—'रोगरोगो कपरीताप' । यह सुन हिरण्यक बिभ्रमीबके आत्मके काटनेके लिए उसके पास पहुँचा तो बिभ्रमीब के कहा—'पहले इन मेरे आश्रितोंका बन्धन काटो क्योंकि वे जाति क्षिया और पुनमें मेरे बराबर होनेपर भी क्षिया वैतनके मेरा आश्रय नहीं छोड़ते अतः मेरे जगमरुगुर शरीरकी चिन्ता छोड़कर स्थायी पथके लिए इनका बन्धन पहले काटो । यह सुन प्रसन्न होकर हिरण्यकने पहले भस्म कर्पूरके बन्धनको काटकर ब्रह्मात् बिभ्रमीबका बन्धन काटा ।

बड़े बाप और छामी पबिडकी कथा (पृ ३)

एक बड़ा बाप ताकाबके किनारे स्नानकर कुल बाक और सोयेका कर्मन किये पोरसे कह रहा था— इस सुवर्णके कर्मका कोई नाम न' । यह सुन एक छोटी पबिकने बापसे पूछा—'कहाँ है तेरा कर्मन ! तुम जैसे जिसकपर किस प्रकार विचार किया जाय, हाथ बैलाकर सुवर्णकर्मकाको दिखाने हुए बापने कहा— 'पहले मैं बहुत दूर था जनेक गौ-नाह्यारिके मारनेसे मेरे पुत्र-की सब मर गये और मेरे दूत-नाह्यार सब तिर पड़े । एक महत्तमाके उपदेशसे मैं स्नान कर इस सुवर्ण कर्मकाको किसीकी सेवा चाहता हूँ किन्तु 'बाप मनुष्यको लाया है' यह विन्या किस प्रकार दूर की जाय ?—'क्योंकि तदापुर्यातके लोक' देखा नीतिज लोग कहते हैं । हरिज तथा भवना कोई बपकारी नहीं होवेसे यह सारिकक नाम मैं तुम्हें देना चाहता हूँ अतः इस ताकाबमें स्नानकर इस कर्मकाको लो' । यह सुन वह पबिक उसकी बातोंपर विचारकर ताकाबमें स्थायार् प्रवेश करते ही कीचकर्म कर्मकर चिन्ता करने लगा—'हाय ! नदीनां लक्षपानीनां— हत्यादि नीतिकारोंके बचनेके विचरित मीपे विचारकर अच्छा नहीं किया विद्या होनेपर भी क्षियाका स्वभाव नहीं बदलता । जैसे कहा भी है—'अ धर्मनाशकं पशुपीति' ऐसा विचार कर ही रहा था कि यह बाप उसे मारकर खा गया ।

बिभ्रम (सुग) सुबुद्धि (कौवा) तथा स्वारकी कथा (पृ ३१)

सगल देशमें अस्वभावकी नामक बड़ा बच था उसमें सुग और कौवा बड़ी दोस्तीसे रहते थे । एक दिन सुग-साँसकोभी पूर्व स्वार मित्रता करनेके पहले सुगके विचारस्वावपर गया । स्वार और सुगको एक साथ देखकर 'सुबुद्धि' नामक कौवा बोला—'यह कौवा है तथा वहाँ क्यों आया है ? अज्ञात लुकाचार वाले व्यक्ति पर विचार नहीं करना चाहिए । कौबुद्धि इस बातको सुनकर स्वार बोला—'कहाँ ! यह मेरा है यह तुम्हारा है यह विचार तो बुद्ध बुद्धिवाले ही

करते हैं, उदार हृदयवालोंका तो प्राणिमात्र परिवार ही होता है।' इस प्रकार विश्वास दिलाकर यह स्यार भी वहाँ रहने लगा और उम धूर्त स्यारके दिग्बानेपर शृग प्रतिदिन एक खेतमें जाकर चरने लगा। यह देख किसानने जब खेतमें जाल फैला दिया तब एक दिन उसमें वेचारा शृग फँस गया। यह देख स्यार मन ही मन खुश होकर कहने लगा कि जब इस शृगको किसान मारेगा तब मुझे खून लिपटी हुई उसकी हड्डियाँ ग्वानेको मिलेंगी। स्यारको देख प्रसन्न होकर शृगने कहा—'मित्र ! शीघ्र मेरे धन्धनको काटो'। यह सुन कर कपटी मित्र स्यारने कहा—'मित्र ! आज रविवारका दिन है, चर्चीसे बने इस फन्देको दाँतोंमें कैसे रसार्थ करूँ, मे इसे कल काट दूँगा।' ऐसा कहकर थोड़ी दूरपर छिपकर बंठ गया। इधर प्रतिदिनके समान संध्या होनेपर शृगके निवासस्थानपर नहीं लौटनेसे सुबुद्धि कौवा घबड़ाकर शृगको ढूँढता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने शृगको फँसा हुआ देखकर पूछा—'मित्र ! यह क्या ?' उसे देख रोते हुए चित्राङ्ग शृगने कहा—'मित्रकी बात नहीं माननेका फल मैं भोग रहा हूँ।' इसके बाद प्रातः काल लाठी लिये किसानको आते देख कौबेने शृगसे कहा—'तुम हाथ पैर फेंगकर श्वास रोक लो और मैं तुम्हारी आँखोंको धीरे धीरे खोदूँगा, जिससे किसान तुम्हें मरा हुआ जान लेगा फिर मैं तब बोलूँ तब बहुत शीघ्र उठकर भाग जाना।' इतनेमें किसान वहाँ आकर शृगके ऊपर बैठे हुए कौबेको देख उसे मरा हुआ समझकर फन्देको भंगने लगा। इतनेमें कौबेके शब्दको सुनकर जब शृग उठकर भाग चला तब किसानने अपनी लाठी उसपर फेंकी जिससे पाममें बैठकर झँकता हुआ शृगमास लोभी वह धूर्त स्यार मर गया।

जरद्गव (गीध) तथा दीर्घकर्ण (विलाव) की कथा (पृ ६४)

गङ्गाके किनारे 'गृध्रकूट' नामक पहाड़पर पाकरका पेड़ था। उसके खोंदरेमें जरद्गव नामका एक बृद्ध गीध रहता था। उस पेड़पर रहनेवाले पक्षीगण कृपाकर अपने अपने भोजनसे थोड़ा उस गीधको देते थे और वह उसे खाकर उन पक्षियोंके बच्चेकी रखवाली करता था। एक दिन विलावको आते देखकर पक्षियोंके बच्चे चिल्लाने लगे। उसे सुनकर गीधने कहा—'अरे कौन आता है ?' उसका विशाल शरीर देखकर कपटी विलाव डर गया और कहने लगा—'मैं दीर्घकर्ण नामक विलाव सर्वज्ञ गंगामें स्नान करता हुआ चान्द्रायण व्रत करता हूँ। प्रतिदिन सब पक्षी मेरे पास जाकर आपके धर्मज्ञानी होनेकी प्रशंसा करते हैं इसीसे मैं आपसे धर्म सुननेके लिए आया हूँ। सो आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ अतिथिको देखते ही तमक उठे। धर्मशास्त्रोंका मत है कि घर आनेपर शत्रुका भी आठर सत्कार करना चाहिए।' इस प्रकार गीधको

विचार दिखकर वेदके एक कोड़ेमें वह बिकाब रहने लगा और पचिबोंके बाहर कबे जानेपर चुपकेसे उनके बरबोंको अपने नौकरोंमें छाकर खाने लगा। विन विनक बरबोंको बिकाबसे का किया व हुनर उबर अपस बरबोंका हूँ बने कगे वह काब बिकाब तो बीरेसे भाग गया और उसके कोड़ेमें पड़ी इट्टियोंको देख गीबने मेरे बरबोंको खाया है। ऐसा निजबकर पचिबोंके उस हुन गीबको मार आका। इसीकिपु कहा है—'नशावकुडलीनस्य' इत्यादि।

पूडाकर्न तथा बीनाकन सम्पासिर्गकी कथा (पृ. १९)

कम्पक नगरीमें संशक्तिबोंके एक भावभूमि 'बीनाकन' नामका संन्यासी रहता था। वह कानसे बने हुए मिचाबको कूँटीमें डींगकर जब सो जाता था तब हिरण्यक नामक बूढ़का राजा उसे प्रतिदिन का जाता था। एक दिन उसने मित्र 'पूडाकर्न' नामक संन्यासीके भावेपर बातचीत करते हुए एक कने हुए बौंधके हुकबैको लेकर पूरेको दरानेके किपु भूमिपर पटक्य वह देख पूडाकर्नने कहा—'मित्र मेरे साथ बात करनेमें दुग्वारा मन क्यों बड़ी का रहा है?' पूडाकर्नने उत्तर दिया—'मिरा मन बात करनेमें तो का रहा है, किन्तु वह हुन पूडा मेरे मिचाबको बूढकर प्रतिदिन का जाता है उसी को भगानेके किपु मैंने बौंस पटका है। कूँटीकी डींवाई वसकर बीनाकनने कहा—'छोडा-सा पूडा इतना डींवा कूरण है इससे वह माकम होता है, कि इसने बहुत-सा लज भादि इऊडा कर लिया है इसी इकबित भनक नमिमाच से वह इतना कूर रहा है। वह बूढकर उसने पूरेके बिकको लोना और बहुत दिनका इकडा किया हुआ सब जन क सिधा। एक दिन लनिहीन पूरेको बीरे बीरे बकते हुए देकर बीनाकनने कहा—'मित्र पूडाकर्न! घनहीन इस पूरेको देतो कि कितना पीरे पीरे कक रहा है। नीति भी कर्ती ह—'बनेव कल-बाँसोके इत्यादि।

मेरव (व्याज) तथा काभी स्वारकी कथा (पृ० ११९)

'कल्याणकट' नामक देसमें 'मेरव' नामक व्याज रहता था। उसने एक दिन बागस एक रुगको मारकर वर नीरती समय एक कने गूनरको रखा। फिर उसने मारे हुए रुगको भूमिपर रनकर बिसे ही बागसे उसे भी भाग मीम ही बाग लगेने कक वह सुनर ौडकर मेरव व्याजक ककडकीसमें बौंसस प्रहात कर बीस विनक बड उभा ममन गिर पड़ा भी उसक बीच दबकर एक सर्प भी मार गया। इवर बागकी बीदास बाकुन होकर सुनर भी मार गया। इसमें ही कहींसे पूमता हुआ एक लोमो रवार भावा और मरे हुए रुग व्याज गूनर सर्प तथा व्याजके बकुनको देकर विचारने

लगा—‘भगवान्ने आज मुझे बहुत दिनोंके लिए भोजन दे दिया। इनमें 1-1 महीने शृग सूकर, व्याध तथा १ दिन सर्पको खाऊँगा और आज तेज भूखमें स्वादहीन धनुषकी डोरीको ही खा लेता हूँ।’ ऐसा निश्चयकर उसने धनुषकी डोरीको खानेके लिए जो काटा तो बड़ा हुआ धनुष उछलकर उसके पेटमें लगा और वह भी वहीं मर गया। इसीलिए नीतिकारोंने कहा है—‘सञ्चय तो करना चाहिए, किन्तु अधिक सञ्चय नहीं करना चाहिए।’

कपूर्रतिलक हाथी तथा स्यारकी कथा (पृ० १३६)

‘ब्रह्मारण्य’में ‘कपूर्रतिलक’ नामका एक हाथी रहता था। उसे देखकर स्यारोंने विचारा—‘यदि यह किसी उपायसे मर जाय तो हम लोगोंका इच्छा-जुमार चार मासका भोजन होगा।’ यह सुन एक स्यारने कहा—‘मैं अपनी बुद्धिसे इसे मारूँगा।’ ऐसा कहकर वह कपूर्रतिलक हाथीके पास जाकर साटाड़ा प्रणाम कर बोला—‘सरकार ! जङ्गलके रहनेवाले सब पशुओंने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है—बिना राजाके रहना अच्छा नहीं और इस समय राजा होने लायक आप ही हैं, सो जब तक राजप्राभिकेके शुभ मुहूर्तका समय नहीं बीत रहा है तब तक ही कृपाकर आप जल्दी चलिए।’ राज्यके लोभमें पड़ा हुआ वह कपूर्रतिलक हाथी स्यारके कहनेमें आकर उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ ही दूर आगे जानेपर महा दलदलमें फँसकर वह बोला—‘मित्र स्यार ! मैं तो दलदलमें फँस गया, अब क्या करूँ ?’ यह सुनकर स्यारने कहा—‘मेरे-जैसे नीचका विश्वास करनेका फल भोगो।’ इसीसे नीतिकारोंने कहा है—‘जो काम उपायसे होता है, वह पराक्रमसे नहीं।’

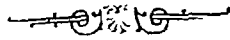
लघुपतनक (कौवा), हिरण्यक (चूहा), मन्थरक (कल्लुआ) और चित्रागद (मृग) की कथा (पृ० १४०)

चित्रग्रीव और हिरण्यककी मित्रताको देखकर लघुपतनक नामक कौबेने कहा—‘हिरण्यक ! मैं तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ।’ यह सुन हिरण्यकने कहा—‘तुम मेरे भक्षक हो और मैं तुम्हारा भक्ष्य हूँ, अतः हम दोनोंसे मित्रता कैसे हो सकती है ? रात्रके साथ एकभाव होनेपर भी मेल नहीं करना चाहिए, क्योंकि बहुत गर्म भी पानी आगको बुझा देता है।’ इस प्रकार अस्वीकार करने पर लघुपतनकने कहा—‘यदि तुम मेरे साथ मित्रता नहीं करोगे तो मैं भोजन त्यागकर यहीं प्राण दे दूँगा, क्योंकि तुम सज्जन हो और सज्जनोंकी मित्रता बड़े भारयसे होती है।’ उसके ऐसे दृढ़ निश्चयको सुनकर हिरण्यकने लघुपतनकसे मित्रता कर ली। एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—‘मित्र ! यहाँ लोग पदाधिकारियोंको मारकर खा जाते हैं, हम कारण दण्डकवनके कपूर्रगौर नामक तालाबमें रहनेवाले

अपने पुराने मित्र मन्थरक नामक कन्नूपके पासमें जाना चाहता हूँ। वहाँ मुझे बड़े-बड़े भोजन मिलेगा। वह मुझ हिरण्यकम्भ कहा—‘मित्र मैं तुम्हारे जैसे मित्रक बिना कैसे हूँगा इससे मुझे भी वहाँ क चलो। वह मुझ कन्नूपतक उठे अपनी पीठपर बैठाकर उड़ता हुआ अपने मित्र मन्थरकके पास पहुँचा। वहाँ मन्थरक कन्नूपतकसे हिरण्यकम्भ परिचय पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने हिरण्यकम्भ भी अच्छी तरह आतिथ्य किया। भोजन जाहिसे विविधन्न हाकर तीनों एक साथ बैठे तो मन्थरकने हिरण्यकम्भसे पूछा— मित्र हिरण्यक ! अपने देसको छोड़कर इस भिन्न देसमें आप क्यों जाये ?’ वह मुझ हिरण्यकम्भे कहा—‘बनारहित होकर परि वारम रहनेसे बड़ा अपमान ग्रहण पड़ता है निर्यम मनुष्य पंगकम परग जाय देस छोड़ द परन्तु परिवार में रहकर अपमान न सह। कहा भी है—‘बर्न वर्न न्वात्रयजेन्द्रसेवितम्’ । यही निचारकर मैं यहाँ आया हूँ। यह मुझ मन्थरकम्भे कहा—‘मित्र ! पानीको तुम्हा छोड़ देनी चाहिए क्योंकि बितनी तुम्हा भी जायगी, वह उतनी ही बढ़ती जायगी। सम्पूर्ण भारत करमके समान संसारमें दूसरा कोई मुझ नहीं है। इतनेहीम भायता हुआ एक युग आकर कहे कथा—‘काठग देवका राजा ‘यमराज’ दिग्बलक किप् भिक्का है। उसकी सेना यन्त्रमागा नदीके किनारे पड़ाव बाककर रही है, उसके साथ रहनेवाले अकारिबोंस उरकर मैं यहाँ आपकी शरममें आया हूँ। हो-लीम दिनमें यहाँ भी ये जानवाके हैं ऐसा मैंने सुना है। यह मुझ मन्थरक मचके मारे वहाँसे चठ पड़ा और दूसरे ठाकाकमें लक्ष्मणार्गस जाते हुए वसे एक न्यायमें पकड़ किया। वह देव हिरण्यकम्भे कहा—‘ह शिवाह्व। तुम इस न्यायके समझि जागे एक पार्थि वाले गड़ेके पास बैठ कुकाकर तथा पैरोंको बँदाकर लेट जानो और कन्नूपतक तुम्हारे मुकपर बैठकर धीकोमें पीरे-पीरे चोचसे खोदता रहे जिससे वह न्याय तुम्हें मरा हुआ जानकर मन्थरकको गड़ेके किनारे रणकर तुम्ह जानेके किप् जापगा इतनेमें मैं मन्थरकके कन्धके काट हूँगा और वह जीम पानीमें हुस जायगा तथा तुम भी न्यायके पासमें जाते देव नद उरकर माग जाना। वह उपाय उच शोचोके बहुत अच्छा कथा और उन्हींमें पैसा ही किया त्रिघ देव न्याय युगको मरा हुआ यमसकर कुताही रस्तीसे बाँचे हुए मन्थरकम्भे गलेके किनारे रककर युगको समेके किप् गया। उर न्यायक पासमें जाता देव कीया बड़ मया और युग भाग गया फिर जापस ठाठकर न्ययसे मागे हुए मन्थरकको एककर वह न्याय जोच करमे तथा—‘जो विवितक पंगकर अविवितक किप् बीदता ह, उचकी दया मरी-बैधी ही होती है। इस प्रकार शोक करता हुआ वह पर चला गया। इतर सब मित्र (मन्थरक, हिरण्यक, विराह्व तथा कन्नूपतक) फिर भिक्क मन्थरक रहने लगे।

हितोपदेश-मित्रलाभः

किरणावली-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



मङ्गलाचरणम्

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ।
तर्कश्रुतिभिरावेधमचरात् परतः परम् ।
पर ब्रह्म नमस्कृत्य 'स्वामिनारायण' प्रभुम् ॥
'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' करोति 'किरणावलीम्' ।
व्याख्यां शिशुहितां रम्या 'मित्रलाभ'नयानुगाम् ॥

अन्वय — यन्मूर्ध्नि शशिन कला जाह्नवीफेनलेखा इव (अस्ति), तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धि अस्तु ॥ व्याख्या—यस्य मूर्धा यन्मूर्धा, तस्मिन् । यस्य = शङ्करस्य मूर्ध्नि = ललाटे । शशिन — शश अङ्कुरूपोऽस्ति अत्येति शशी, तस्य—शशिनः = चन्द्रस्येत्यर्थः । कला = षोडशो भाग , 'कला तु षोडशो भाग' इत्यमर । जाह्नवीफेनलेखेव = जह्नोः अपत्य कन्या जाह्नवी = गङ्गेत्यर्थः । जाह्नव्या फेन = टिण्डीरः, 'टिण्डीरोऽविधकफ फेनः' इत्यमर , जाह्नवीफेनस्य लेखा = चिह्न-मिष, विराजते-इति शेष । तस्य धूर्जटे - धूर् = भारभूता जटिः = जटा यस्य स तस्य = शङ्करस्य, प्रसादात् = अनुग्रहात् । सतां = सज्जनानां विद्यार्थिनाम् , साध्ये = साधितु योग्ये स्वामिलिखिते पतद्ग्रन्थाऽऽद्ययनात्मके कार्ये, सिद्धिरस्तु = पारगामिस्व भवतु ।

भाषान्तरम्—जिन शङ्करजी के ललाटमें चन्द्रकी एक कला गङ्गाजी के फेन (गाज) की रेखा के समान सुशोभित है, उन शङ्करजीकी प्रसन्नतासे सब सत्पुरुषों के कार्यों की निर्विघ्न सिद्धि हो ॥ १ ॥

ग्रन्थस्योपादेयता दर्शयति—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।

वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

अ०—सुता अर्धद्वितीयोपदेशः संस्कृतोक्तिषु पाठवत् सर्वत्र वाचा वैश्वानर्य
 नीतिविद्या च इति ॥ व्या०—सुता०—सुता०—गुरुमुखात् आश्रमप्रवचनविषयी
 कृत इति पाठवत् अथ—एव बुद्धिस्वत्, द्वितीयोपदेशः—द्वि०—द्वि०करः उपदेशो
 वस्मात् तादृशः 'द्वितीयोपदेश' नामा प्रथमा (इत्वं कर्तृपदम्), संस्कृतोक्तिषु—
 संस्कृतस्य = संस्कृतभाषायाः अक्षराः = मात्रानामि तासु—इत्यर्थः । पाठवत् =
 पद्योर्मात्राः पाठवत् = चतुरताम् (इति), सर्वत्र = वाचति सम्प्रयोगोपात्मक
 व्यवहारे वाचम् = मिरात् 'धीर्वाग् वाची अरस्वती' इत्यमरा । वैश्वानर्य =
 वचनवार्धकाक्षिणम् (इति), नीतिविद्या च = नीयते कर्मणे स्वेप्सितस्य अन्वा
 इति नीतिः सामान्यमैद्दम्बोत्पुपापचतुष्टयप्रयोगः, विद्या०—वेदार्थं ज्ञानम्, नीत्यस्य
 विद्या नीतिविद्या०—नीतिज्ञानार्थं तस्य, सामान्यमैद्दम्बोत्पुपापचतुष्टयप्रयोगार्थं इति ॥

आ०—एत द्वितीयोपदेशः अन्वयन करतेते संस्कृत भाषाये व्युत्पत्ति, धनो प्रकाशे
 कर्मप्रयोगात्पत्र व्यवहारो ये विपुल्या तना नीति च बल प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विद्याप्रशंसा

अक्षरतः अक्षरत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।

पृथीत इव केपोयु सुत्पुना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

अ०—प्राज्ञः अक्षराक्षरवत् विद्याय अर्थं च चिन्तयेत् । सुत्पुना केपोयु पृथीत
 इव धर्ममाचरेत् ॥ व्या०—अक्षरं वाचतीति अक्षरं, प्राज्ञ एव इति प्राज्ञः, स्वार्थे
 अन्न धीमान् मनुज इत्यर्थः । च विद्यते अत्र अस्व सः, अन्वा च शीर्षते इत्यमरा,
 च विद्यते इत्यमरा, अक्षरवाचो अक्षरमेति अक्षराक्षरः, स इव—तेन तुल्यम्—इत्य
 अक्षराक्षरवत् = अक्षरवत् इति इत्यर्थः । विद्याय = ज्ञानज्ञानकाज्ञानादिकम्
 अर्थं च = इत्थं च चिन्तयेत्—उपासयेत् । सुत्पुना = अन्तर्धेन कर्त्तुम् = द्वितीयोपदेशः,
 पृथीत इव = एव इव धर्मं = धर्मम् । आचरेत् = अनुष्ठेयेत् ॥

आ०—पुष्टिमात् कर्त्तुम् अर्थे यो अक्षर-अक्षर समस्त कर विद्या तथा इत्य (वच)
 का उपार्जन करे और वापु इवधो के वाये के किये इत्ये किर के केव (पीठ) एवमे
 इर है देता समस्त कर तथा धर्माचरण करे ॥ ३ ॥

सर्वप्रथमेषु विद्यैव प्रथममाहुरनुत्तमम् ।

अहार्थत्वाद्गर्भत्वाद्दक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

अ०—(तदवशात्) सर्वत्र अहार्थत्वात् अन्वयत्वात् अक्षरत्वाच्च सर्वप्रथमेषु
 विद्यैव अनुत्तमं इत्यत्र अस्तीति आहुः ॥ व्या०—(तदवशेकारः सत्यात्सत्यविशेषका)
 सर्वदा = सर्वत्र अहार्थत्वात् = इत्तुं बोध्या हार्था हार्था न भवतीति अहार्था
 = अहार्थत्वात्, अक्षरात् अहार्थत्वात् = नीतादिभिरवहर्त्तुम् अन्वयत्वात्

वित्यर्थं । अनर्घत्वात्=नास्ति अर्घो मूक्यं अस्याः सा अनर्घा=अमूल्यया, तस्या भावः अनर्घत्वम्, तस्मात्, अनर्घत्वात्, द्रव्यादिमूल्येनाऽपि प्राप्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । अक्षयत्वात्=नास्ति क्षयः=नाशः स्थूलपदार्थवत् क्लेशदहनपरिणामाद्यात्मकः शीघ्रविनाशो यस्याः सा इति अक्षया, तस्या भावस्तस्मात् । इत्ये कृते वृद्धिशी- क्त्वादिति यावत् । सर्वद्रव्येषु = सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि=सुवर्ण- रजसाद्यात्मकानि रत्नाद्यात्मकानि अन्यानि च यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि, तेषु मध्ये विद्या एव, अनुत्तमम् = उत्कृष्टं पराकाष्ठां गतम्, द्रव्यम् (अस्तीति) आहुः=वद- न्तीति । अत्र श्लोके-अनुमानत्रयम् = हेतुत्रयेण बोध्यम् ।

भा०—विद्वान् लोग सब धनों में से विद्या को ही उत्तम धन कहते हैं, क्योंकि चोर लोग उसकी चोरी नहीं कर सकते हैं, और मूल्य देने पर भी वह खरीदी नहीं जा सकती है, और दूसरे को देने (पढ़ाने) से कमती नहीं होती है, किन्तु बढ़ती ही रहती है, इसलिये श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव, नीचगाऽपि नरं सरित् ।

समुद्रमिष दुर्घर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

भा०—नीचगा अपि सरित् दुर्घर्षं समुद्रमिष (नीचगाऽपि) विद्या एव नरं नृपं संयोजयति, अतः (विद्या) परम् भाग्यं (उदाटयति) । व्या०—नीचगाऽपि = निम्नप्रदेशगामिन्यपि, सरित्=नदी, (तृणकाष्ठादिकम्) दुर्घर्षम् = दुःस्वनेन घृष्यते आक्रम्यते इति दुर्घर्षं तम्, दुरतिक्रमम् दुःप्रापमिति यावत्, समुद्रम्-मुद्रामिः= रत्नैः सहितः समुद्रः, तम्=अर्णवम्, इष=यथा (संयोजयति) तथा (नीचगा ऽपि) नीचं कुलस्वभावादिनाऽपकृष्टमपि पुरुष गच्छतीति नीचगा, नीचैरधीता सत्यपीत्यर्थं नरः=जातिकुलाद्यपकृष्टजनम्, विद्या एव दुर्घर्षं=दुःप्रापम्, नृपम् = नृन् पातीति नृप, लोकराजको राजा, तम्, संयोजयति=सङ्गमयतीत्यर्थः, प्रापय- तीति यावत् अतः परम्=इस ऊर्ध्वं, भाग्यम्=दैवाधीनम् फलम् ।

भा०—जैसे नीचे प्रदेश में बहने वाली नदी तुच्छ तृणकाष्ठादिकको दुःप्राप्य अथाह समुद्र में जा मिलाती है वैसे ही नीच पुरुषको प्राप्त होकर विद्या ही उस पुरुष को बड़े भारी राजा से मिलती है । उसके बाद वह भाग्यानुसार फल पाता है ॥ ५ ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद् धनमाप्नोति घनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

भा०—विद्या विनय ददाति, विनयात् पात्रतां याति, पात्रत्वात् धनम् आप्नोति, धनात् धर्मं (करोति), ततः सुखम् (आप्नोति) । व्या०—विद्या विनय=नम्र- ताम्, ददाति (जनायेति शेषः), विद्यायुक्तः नम्रो भवतीति भावः । विनयात्= नम्रतां ददाति, विनयात् पात्रतां=सत्पात्रत्वम्, याति=प्राप्नोति,

(विवचनान् वच इति शेषः) पात्रत्वात् = उत्पादत्वात्, क्षान्प्रदिसमपनयोश्च
त्वात् विनासपात्रत्वाद्वा वचश्च = सुवर्णरजताघातमन्त्रम् अर्थम् आम्भोति विरवत्त-
कर्म विमुक्त्यं च्च कर्मपरिधमाप्या प्रसादितात् स्वामिका विमुक्तं वचं कर्मते इति
मात्रम् । वचनात् = नीतिसम्प्रादितात् वचनात् अर्थम् = भागदानादिद्वारा पुण्यम्, अर्थ-
पत्ति-इति शेषः । तता = तस्मात् पुण्यात् सुखम् = जी-पुत्र-समृद्धि-वतिष्ठ-
रोम्भादिभिः सर्वदा आनन्दम् अनुभवतीति शेषः ।

मा - मनुष्य विद्या को पढ़ने से विवचनात् वचना है विवचनान् होने से ही पर
द्वारा कर्त्ता है वचना होने से ही वच को प्राप्त करता है वच से अर्थकर्म-वचनादि
करके पुण्यकाही वचना है, पुण्यकाही होने से तात्कारिक को पुत्र तदृष्टि, जीवन्मूर्ति
आदि से तथा सुखी रक्षा है ॥ १ ॥

विद्या शास्त्रज्ञ शास्त्रज्ञ द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।

आद्या हास्याय ब्रह्मस्थे द्वितीयाऽऽप्रियते सदा ॥ ७ ॥

७ - अक्षय्य ज्ञानज्ञ विद्या (भवति) १ द्वे विद्ये प्रतिपत्तये (भवतः) आद्या
ब्रह्मस्थे हास्याय (भवति) १ (अतः) द्वितीया अद्या अप्रियते । आ - अक्षय्य =
अक्षय्यादिकं चोम्भा स्वरक्षयसाधनम् ; अक्षय्य = विधिविधेयादिषु अक्षय्यासमाय
आप्तविरहितवचनसमुद्भवेति ह्ययं विद्या भवति; अक्षय्येकार्षोपचत्वात् विद्याशास्त्र-
भोरपि ह्येषोर्द्विधामचोरा । एते द्वे विद्ये प्रतिपत्तये = स्वेदकार्षद्विद्ये भवतः । तयो
र्मध्ये वा आद्या = सत्कारिका विद्या सा तु ब्रह्मस्थे = वार्यस्थे सति सुबुद्धवचनार्था
सामर्थ्याश्रयणे अतीति भावा, हास्याय = उपहासाय भवति अत एव द्वितीया
(पा) = आक्षय्येया सा तु सदा = सर्वदा वाक्ये वीचने वीच्ये वार्यनदेऽपि चोरवर्गः ।
आप्रियते = कोचैः ब्रह्मस्थे-आद्यता भवतीति भावाः । (अत्र रजोके-‘विद्या अक्षय्य
शास्त्रस्थेति’ वाच्यन्तरम्) ।

मा - तस्मात् ही दो विद्ये प्रतिपत्तये हैं एक अक्षय्य और दूसरी आक्षय्य। वच
शौचो को पढ़ने से मनुष्यको रक्षित ही होता है, किन्तु निर्लभ (ब्रह्मस्थि) अवस्था में अक्ष-
य्यता से अक्षय्य रक्षण तथा विवचनान् नहीं कर सकते हैं रक्षयिने अक्षय्यता ही ही कर्त्तव्य
है आक्षय्यता ही अक्षय्य-निर्लभ तयो अवस्थाको में एक देखेको है रक्षयिने द्वितीय
विद्या-ज्ञान विद्या ही वर्णित है ॥ ७ ॥

यन्मये माञ्जने क्षप्ता संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् ।

कथ्यच्छलेन वास्तानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

८ - यत् मये माञ्जने क्षप्ता संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् । एतद् इह कथाच्छलेन
वास्तानां नीतिः कथ्यते । आ - यत्-वचनमाञ्जनेतो, (वचा) मये = ब्रह्मस्थे = अक्षय्ये
माञ्जने = मृत्युप्राप्ती क्षप्ता = अक्षय्य, संस्कारो = रेखादिबिन्दुश्च क्षप्ता = अक्षय्य-

प्रकारो विलीनो वा न भवेत् (तथा) यत् = यस्माद्धेतो , नवे = नूतने विद्या-
सकाररहिते, भाजने = विद्यापात्ररूपे बालान्तकरणे, लग्नः = सहक्रान्तः, सस्कारः =
विद्यासस्कार , अन्यथा = विपरीतो न भवेत् । तत् = तस्माद्धेतो , इह = अस्मिन्
ग्रन्थे, कथाच्छ्लेन—कथा = काककूर्मादीनां कल्पितोपाख्यानम्, तदेव छलंतिन,
बालानाम् = प्रथमं सरकृतभाषायां प्रवेशाऽभिलाषुकानाम् (बोधार्थमिति शेषः)
कथ्यते = उपदिश्यते । मया विष्णुशर्मणेति शेषः ।

भा०—बालकों का हृदय मृत्तिका के नये घट के समान निर्मल होता है, इसलिये नये
घटादि में खींचे हुए रेखा आदि के चिह्न—घरतन फूटने तक नहीं जाते, वैसे ही बालकों
के निर्मल अन्त करणों में उपदेश द्वारा किये गये शुभ सस्कार भी जीवन पर्यन्त दूर नहीं
होते, इसलिये मैं (विष्णुशर्मा) बालकों को मनोरञ्जक नीतियुक्त कथाएँ कहकर उपदेश
देने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च ।

पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

भा०—(मया) पञ्चतन्त्रात् तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् आकृष्य मित्रलाभ, सुहृ-
द्भेद, विग्रह, सन्धि, एव च लिख्यते । व्या०—मया (विष्णुशर्मणा) पञ्च-
तन्त्रात् = 'पञ्चतन्त्र' नामकग्रन्थात्, तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् = महाभारत-कामन्द-
कीयादे नीतिशास्त्रान्तरात्, आकृष्य = समाह्वय सहगुह्य च, मित्रलाभः = मित्रस्य
लाभ प्राप्ति, सुहृद्भेद = सुहृदो भेद = वैमर्त्यम्, विग्रहः = युद्धम्, सन्धि =
मेलन चेति लिख्यते एवेति ।

भा०—मैं नीति के प्रतिपादक पञ्चतन्त्र तथा महाभारतादि ग्रन्थों से बालकों का हित
करने वाले कथाएँ एकत्रित करके मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, इन चार प्रकरणों में
पर्यवसित ऐसा यह 'हितोपदेश' नाम का ग्रन्थ लिखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामि-
गुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनाऽपि
पाठ्यमानं श्लोकद्वयं श्रुत्वात् ।

व्या०—भागीरथीतीरे = 'भागीरथ' नाम्ना राजकुमारेण आनीता या गङ्गा सा
भागीरथी, तस्या तीरे तटे, पाटलिपुत्रनामधेयम् = नाम एव इति नामधेयम्,
'पाटलिपुत्र' इति (पटना) नामधेय यस्य तत् 'पाटलिपुत्र' नामकं, नगरं = पुरम्
अस्ति = वर्तते । तत्र = तस्मिन्निति तत्र = पाटलिपुत्रनगरे, सर्वस्वामिगुणोपेतः = स्वम्
ऐश्वर्यं प्रजेशनशीलत्वरूपम् अस्ति अस्य इति स्वामी = राजा, स्वामिनो गुणा =

और्वाहव, सर्वे च ते स्वामित्युवाच सर्वस्वामित्युवाच तौ वपेता = युक्त, सुवर्चसो
 वाच = सुष्ठु सुवर्चसं वर्चसं बल्य सा सुवर्चसः 'सुवर्चसं' नामा, वरपतिः = पति
 रचतीति वति, वराणां वति वरपतिः = राजा ज्योतीत् = बह्वृत् । स वृष्टिः =
 ज्योती 'सुवर्चसं' नामा वृष्टिः, सुवा वति वृष्टिरिति सिद्धः । वृष्ट्या = वृष्टिम्
 काले केनादपि = कालवित्तोपेन विदुषः, वृष्ट्यमावह = वृष्टयते तत् वृष्ट्यमावह
 रज्येकनो वृष्टय-रज्येकवृष्टय 'अवेके' - त्वादिकर्पे वचनमात्रे वद्यह्वयत्, सुवाव =
 जातवर्जितवात् ।

आ०—जीवन्मोक्षो महाके तीर वर'वामित्युवाच' (वचना) नाम च एक अपर ई वर
 अपर च राजा 'सुवर्चसं' नाम च वा, वर राजानो के तत्र युक्तो ई सुक्त वा वर राजानो
 एक सम्यक् कृती द्वारा वदे क्यते इव एव ही एकेके को सुवा (को जन्मे कहे जा रहे ई)

अनेकसंज्ञायोच्येति परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं प्रसक्तं यस्य नास्त्यन्व एव सा ॥ १० ॥

आ०—सर्वस्य = निश्चितवचन अनेकसंज्ञायोच्येति, व वृत्ते = अनेके, अनेके च
 ते संज्ञाया अनेकसंज्ञायाम् । अनेकसंज्ञायाम् अच्येति, इत्यनेकसंज्ञायोच्येति =
 बहुविधवर्तिक-राजकीतिक-सामाजिकेतिहासिक-संज्ञाविरासकमित्यर्थः । वरो-
 चार्थस्य = अत्राप्याप्त-इन्द्रियानां वा इति परोक्ष परोक्षवाची अर्थमेति वरो-
 चार्थः तस्य वरोचार्थस्य = नूतनविश्वत्सुकवदार्थत्वैत्थार्थः । 'दर्शकम्' = अल्पवर्णित
 वचार्थज्ञानवचकम्, साक्ष्य (वच) द्वितीयं दिग्दर्शकं = वेद्यं परतीति हेतोः
 यस्य ज्ञानस्य तत् विषयकोचनार्थकं साक्ष्यं भावित सा ज्ञान्य वच ।

आ०—एव बहुधा को लूच दोसो वेसो ई अकन दिग्दर्शन काक ही होवा ई
 क्योति काक के ही नायिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक संज्ञा वृत्ती ई
 नसिन्ध मे होवे वने इति ज्ञान को काक से ही निर्दिष्ट होवे ई एतन्नि वेदा ज्ञान
 मिलने वही ज्ञान वर ज्ञान के ज्ञान है ॥ १ ॥

पीयूष क्षनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविशेषिता ।

एकैकमप्यवर्थाय किमु पक्ष बहुधयम् ॥ ११ ॥

आ०—पीयूष, वनसम्पत्ति, प्रभुत्वम्, अविशेषिता—(एतन्मध्ये) एकैकमप्यव-
 र्थाय (अवधि) (दर्शि) पक्ष बहुधयं तत्र किमु ॥

आ०—पूषो जातो पीयूषवन्पीयूषवावरथा वनसम्पत्तिः=वनस्य सम्पत्ति-अन्-
 विमय इत्यर्थः । प्रभुत्वम्=अवधि विवजनात् अवानां वा स प्रभुः, प्रभोर्भावः प्रभु-
 त्वम्, स्वामित्यन्व अवधिकार्य विवामकत्वमिति वाच्यत्, अविशेषिता विशेषण्य आना
 विशेषिता न विशेषितेति अविशेषिता-विशेषण्यता अज्ञानतेति वाच्यत् । एतेषां
 वस्तुनां ज्ञाने एकैकम् = इत्येकमपि अवर्थावन्वर्थः = वृष्ट्याचो न परतीति अवर्थाः

शास्त्रनिषिद्धम् आपत्तिप्रदं कर्म इत्यर्थः, तस्मै भवति=एकैकमप्यनर्थं जनयतीति भावः । तर्हि यत्र = यस्मिन् पुरुषे, चतुष्टयम्-यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमनिवेकिता चेति चतुष्टयमपि एकत्रितं भवति, तत्र=पुरुषे, किमु=किं वक्तव्यम्, यतः स तु अनर्थानां खनि(कोश)रूप एव भवतीति भावः ।

भा०—ब्रह्मानी, धनदौलत, अधिपत्य (अधिकार) और अज्ञानता (विवेकशून्यता) इन चारों में से एक एक भी बड़ा-बड़ा अनर्थ (अत्याचार) कराता है; तो चारों नहा एकत्रित हों वहा कौन अनर्थ नहीं होगा । अर्थात् सभी अनर्थ होंगे (महाराज सुदर्शन के पुत्रों में ये चारों उपस्थित थे) ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्याऽऽत्मन पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गागा-
मिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास ।

व्या०—इति = एतत् श्लोकद्वयम् आकर्ण्य=श्रुत्वा, आत्मनः=स्वस्य, अनधिगत-शास्त्राणाम् = अधिगत शास्त्र यैस्ते अधिगतशास्त्रा, अधिगतशास्त्रा न भवन्ति ते अनधिगतशास्त्रा, तेषाम्=शास्त्रज्ञानशून्यानामित्यर्थः । अत एव नित्यम् = सर्वदा उन्मार्गागामिनाम्=कुरितो मार्गः उन्मार्गं उन्मार्गेण गच्छन्तीति उन्मार्गागामिन तेषाम्=कुपथप्रवृत्तानां द्यूतक्रीडादिव्यसनाऽऽसक्तानामित्यर्थः । पुत्राणां=स्वतनया नाम, शास्त्राऽनुष्ठानेन=अनुष्ठीयते तत् अनुष्ठानम् अभ्यास, अनुष्ठान न भवतीत्यन-नुष्ठानम्, शास्त्राऽनभ्यासः, (अर्थात्) शास्त्रविरुद्धाचरणम् इति यावत्, तेन हेतुना उद्विग्नमनाः = उद्विग्नं व्याकुलित मन = मानस यस्य स, चिन्ताऽऽकुलितः सखि-त्यर्थः, तादृशः स राजा 'सुदर्शन'नृपति, चिन्तयामास = श्रुशोच ।

भा०—इन दोनों श्लोकों को सुनकर विद्यार्थ्ययन नहीं करनेवाले तथा सर्वदा शास्त्र निषिद्ध व्यवसनों में चलने वाले अपने रानकुमारोंके शास्त्र-विरुद्धाऽऽचरण से दुःखित 'सुदर्शन' महाराज चिन्ता करने लगे ।

चिन्तां निरूपयति = 'कोऽर्थ' इत्यादिना 'पुस्तकेषु चे'ति (३९) पर्यन्तेन—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।

काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

अ०—य न विद्वान् (भवति), न धार्मिक (भवति), (तेन) जातेन पुत्रेण क अर्थ (भवति) ? (यथा) काणेन चक्षुषा किं वा (भवति), चक्षुः केवल पीडा एव (भवति) । व्या०—य पुत्र न विद्वान् = वेत्तीति विद्वान्, पण्डित, विविध-शास्त्रकलाविज्ञानी न भवति इति यावत् । न धार्मिकः = न धर्मानुशीलनरत् (भवति), (तेन) अविदुषा अधार्मिकेण पुत्रेण = 'पु' नामकनरकात् त्रायते इति पुत्र, तेन । जातेन = स्वस्मादुपक्षेनापि, क अर्थः = धर्मार्थकाममोहासुर्येषु क पुरुषार्थः (भवति) मिदपति ? न ।

सम्यग्निधजनपुत्रैः वर्तमानैरपि तद्

एवमनेनाऽपि न कदाञ्चनानि पितरस्तावदाभ्युदन्ति अथवा अपि पितराः स्व-
 कृतमहावशादिना उद्धारं (मोक्ष) गन्धमिति अथामिकेन पुत्रेण तु कर्मदिक-
 कोऽपि पुत्रपार्थो न सिद्धयति । अत एवोक्तं 'पापिनां तोपसिद्धमिदं स्वार्थं स्वार्थं कदा-
 ज्जितं' इति भाषाः । अथा (उद्धारता) अन्तेन = नैश्वर्यविहीनेन कृपाऽवरोपेणैव-
 कृपा = नैश्वर्योक्तेन किं वा ? = किं स्वार्थदिकं कर्तं भवति ? न किमपि कर्तं
 भवति स्वार्थं, अतः तावच्च कृपा कर्तुं पीडेन = पीडाकरमेवोक्तार्थः ।

मा—मित्र पुत्र नै विधा और कम नहीं है देता पुत्र दीर्घायु हीने पर भी नहीं, अर्थात्
 कम पीडा, इन चारों पुत्रपार्थों में से किसी पुत्रपार्थ को मित्र नहीं कर सकता इसविधि
 कदा कम मित्रक है । किं कि—देवताहीन और दीनपुत्र कांक्षति प्रत्यक्ष देवता
 कादि कीर्ति भी कम नहीं होता । इत्यत्र वह निरर्थक है और दुष्करणी है ॥ १२ ॥

युनपुत्रावपि कूर्णतमवरय कोकप्रत्यमाह—

अजातमृतमूर्धाणां वरमाद्यौ न चाऽस्मिन्मा ।

सहृदुःखकरवाघावस्मिन्मरुतु पदे पदे ॥ १३ ॥

— अजातमृतमूर्धानाम् आसीत् वरयः, अस्मिन्मा न च वरयः, आसीत् सहृदुः
 दुःखकरः, अस्मिन्मरुतु पदे पदे (दुःखदो भवतीति शेषः) । अथा — न जातः अजातः
 अजातश्च कृतञ्च मूर्तञ्च अजातमृतमूर्धाः शेषाय, अजातश्चअनुपपन्नः श्रीमतावाऽन्य-
 पन्नः, युनश्चअवयवनिर्घर्षयताः, कूर्णश्चविष्यायुष्मत्क्षेत्री मध्ये आसीत्-वयमोचरिबन्धी
 अजातमूर्धौ पुत्रो, वरयश्च = जेहो—मृगीवापेक्षया ईषत् विधौ भवता । अस्मिन्मा =
 मूर्तरेणु न वरमिति, अतः = क्षेत्रमाद्यौ = अजातमूर्ती, इति सहृदुः = दुःखकारं दुःख-
 करी = कठोरप्रहो धवता, अस्मिन्मा = मूर्तरेणु पदे पदे = प्रतिपदम्, अने अने, मित्र-
 स्मरमिति वाच्यम्, दुःखदो भवतीति ।

मा — 'पुत्र का अन्त नहीं होता, अथवा अन्त हीकर कर जाना' वा जीवन पूर्वक
 मृत, रचना — इन तीनों उद्धार के पुत्रों में से — 'अन्त नहीं होता वा 'अन्त हीकर कर
 जाना' के हीनो अन्ते है। 'द्विष्टु हीतता'—'दीनपार्थल मूर्धं पुत्र' अन्त्या मरी है । क्योंकि
 अनुपपन्न पुत्र का दीनपार्थ के अन्ते हीने पर ही अन्तमान दुःख होता है । युन पुत्र के अन्त
 लक्ष में दुःख होता है परन्तु दीर्घायुहीनोपुत्र में तो अन्त-अन्त ही दुःख होता है ॥ १३ ॥

द्विष्टु—पर गर्भेयाया परमपि च नैषाऽभिगमनं

वरं आगं प्रेता परमपि च कल्प्यां परमनिता ।

वरं कल्प्या भार्या परमपि च गर्भेणु परमति

न चाऽपिप्राक् रूपद्रविमगममुत्प्राऽपि तमया ॥ १४ ॥

— गर्भेयाया वरम् न एव अभिगमनम् अपि च वारम् । आगं प्रेता
 वरम् । अथकनिता कल्प्या मति च वारम् । कल्प्या भार्या वरम् ; गर्भेणु कल्पिता मति
 च वारम् ; (द्विष्टु) कल्पितमप्युत्प्रा अपि अविद्यात् नमवा न वा वारम् ।

व्या०—(प्रवृत्तौऽयं श्लोक) गर्भंज्ञाव. = गर्भस्य ज्ञाव. गर्भंज्ञाव = गर्भपात इत्यर्थ ।
 वरम् = ईषत् प्रियम् । न एव अभिगमनम् = ऋतुमत्या परन्या सह सम्भोगाकरणम्
 अपि च वरम् = श्रेष्ठम् । जात = उत्पन्नोऽपि प्रेत = मृतः पुत्रश्च वरम्; अवजनिता =
 उत्पादिता कन्या अपि च वरम्, वन्ध्या = अप्रसूतसन्ताना भार्या अपि वरम्, गर्भपु =
 कुक्षिपु वसति = स्थितिः अपि च वरम्, पुत्रस्य अप्रसव एव वरमिति भाव । किन्तु
 रूपद्रविणगणयुक्त. = रूप च द्रविणश्च रूपद्रविणे, रूपद्रविणयो. गण. तेन युक्त = सौ-
 न्दर्ययुक्तः धनराशिसम्पन्नश्चेत्यर्थ. । अपि = निश्चयेन । अविद्वान्—विद्याशून्यः, मूर्ख
 इति यावत् । तनय पुत्र न वरम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥

भा०—जा पुत्र रूपयौवनधनादि से युक्त होने पर भी अगर विद्याशून्य हो-वह अच्छा
 नहीं, उससे तो गर्भ ही गिर जाना अच्छा है, अथवा ऋतुकाल में स्त्री का भोग न करना
 ही अच्छा है, अथवा मूर्ख पुत्र का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, अथवा कन्या उत्पन्न
 होना अच्छा है (पर मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है) ॥ १४ ॥

स जातो येन जातेन याति वंश. समुन्नतिम् ।

परिवर्तिनि संसारे मृत. को वा न जायते ॥ १५ ॥

अ०—येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति स जात, परिवर्तिनि संसारे मृत. को
 वा न जायते । व्या०—येन = पुरुषेण (पुत्रेण) जातेन = उत्पन्नेन (सता) वंश. = स्वकु-
 लम्, समुन्नतिम् = सम्यग् उन्नतिं समुन्नतिस्ताम = अभ्युदय गौरव च याति =
 प्राप्नोति, यो हि कुलदीपक इत्यर्थः, सः पुरुष जातः = सफलजन्मा भवति । परिवर्तिनि =
 परिवर्तते परिणमते प्रतिघणमिति परिवर्ती तस्मिन् परिणामस्वभावे; उत्पादविना-
 शशालिनीति यावत्, संसारे = भवे, मृत = निधन गताः, मृत्वा इति यावत्, को
 वा व्यक्ति न जायते = न उत्पद्यते । अर्थात् प्राणिनां मरणोत्तर कर्मफलभोगार्थम्
 अवश्य जन्म ग्रहीतव्यम्, तत्र य कुलोज्ज्वलकारी, स एव पुरुषः (पुत्र) इत्यर्थः ॥

भा०—जो पुरुष पैदा होकर अपने कुल की अच्छी उन्नति करता है, उसी का जन्म
 सफल है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील संसार में कुटुम्ब के भाररूप तो बहुत ही मरते
 रहते और पैदा होते रहते हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे, न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य ।

तेनाऽऽभ्या यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ १६ ॥

अ०—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे ससम्भ्रमाद् यस्य कठिना न पतति, तेन अभ्या
 यदि सुतिनी (भवति) (तदा) वन्ध्या कीदृशी भवति-वद । व्या०—गुणाः सन्ति
 येषां ते गुणिनः गुणवन्त इत्यर्थः । गुणिनां गणाः = समूहः, तस्य गणना = श्रेष्ठवर्गोऽप्य-
 प्रगण्यवोधिनी सख्या एकरवादिरूपा तस्या आरम्भ = उपक्रम तस्मिन् सतीत्यर्थः ।
 गुणवता सख्यासमये इति भाव । ससम्भ्रमाद्—सम्भ्रमेण गौरवेण सहितं ससम्भ्रमं

तस्मात् सतीरवप्रतिपत्तौ, वत्स्य (पुंसः) पुत्रस्य कर्मिणी—कर्मिणीत्वात्साधवत्स्य
 कर्मिणी (—साधवो 'कर्मि' 'वत्स्य' इति प्रसिद्धा) न पतति—पुत्रस्य संकल्पान्ते कर्मिणी
 न अपपुत्र्य भवतीत्यर्थः । तेन = मुक्तागमनादितेन पुत्रेण यदि जन्मा = माता,
 'जन्मा माताश्च वत्सा स्यादिति' इति मन्त्रः । सुतिथी = पुत्रवती भवति तदा = तर्हि
 जन्मा = जन्मापत्तवदा कीरणी = किंविधा भवति ? नर-कथन । मूर्खपुत्रवती इति
 कथनी वत्स्यैवेति साध । आर्वाहुत्स्य ।

मा०—वित्त पुत्र वा नाम पुत्रस्य श्रेष्ठ पुत्रो श्री गणता करोति एवम मन्म पशु
 तिवा वाप, कल्पे यो श्री यदि पुत्रवती कर्ते तो वतामी वत्सा = श्री शीती है । । १९ ।
 अथि च—दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथित मन ।

विद्याधामर्थज्ञाने च मातुदकार एव सा ॥ १७ ॥

म०—दाने तपसि शौर्ये च विद्याधाम् अर्थज्ञाने च वरव मवा (वत्सा इति
 पाठान्तरम्) न प्रथितं सा मातुः उच्चार वच । सा — (एव्य पुत्रवत्सा मवा इत्य-
 नेच सम्बन्धा) दाने-तपस्योश्च वचवितरने । तपसि-तपस्वार्था अर्थविद्यमारी ।
 शौर्ये-शूरत्व मत्वा शौर्ये तस्मिन् = शीरतावामित्यर्थः । विद्याधाम्-ज्ञानार्थे, अर्थ-
 ज्ञाने-अर्थस्व = वचस्व ज्ञाने-अर्थने वरव पुत्रवत्सा मवा = जन्त वरवत्सा, न
 प्रथितं = न सोलाहृत्सा कथात्स्य । सा पुत्रवा (पुत्र) मातुः = स्वजन्मा,
 उच्चार = पुरोवचमाव इत्यर्थः, 'उच्चारवत्सरी जमकं सकृत्' इत्यमरः ।

मा०—वित्त पुत्र (पुत्र) वा वरवत्स्य दत्त देने में तव करने में विवा वदने में
 तथा वन कमाने में वत्सप्रदित मही रहता है नह पुत्र (पुत्र) माता के त्वान शिरे इव
 मन् के समाव निरर्थक है ॥ १७ ॥

अपरव—वत्स्यो गुणी पुत्र । न च मूर्खवत्स्येति ।

एकधाम्द्वैतमो इति न च तारागजेरपि ॥ १८ ॥

म०—वत्सा गुणी पुत्रः वरम् (भवति), मूर्खवत्स्येः अथि च (वीर्य भूवते) ।
 एकधाम्द्वैतमो इति तारागजो न च (तमा इत्यन्ते) । मा०—एकधाम्द्वैत-
 वत्सा, गुणी = दायवत्स्योविद्याविगुणवाद् पुत्रः = तववा, वार्य-वत्स्ये इ-
 तिथो मन्-
 तीत्यर्थः । मूर्खवत्स्ये अथि-मूर्खाणां कथामि ती, मूर्खवत्स्येवातीत्यर्थः, न च वरं
 भूवते महत्कर्मण्युवा अथि विवा न भवतीत्यर्थः । तत्र वत्स्यो वत्सो-वत्स्य-
 की अथि वत्स्यः = मही तमा = निश्चिन्तनवत्कारम् इति = विद्यावत्स्येति । तारा-
 गजो तारागजो-वत्स्यवत्स्य-
 तजे-वत्स्य-
 इति (तमा) न च (इत्यन्ते) । अत्र
 लोके 'मूर्खवत्स्ये इति पाठान्तरम् । न च मूर्खवत्स्ये वरम्' इत्यपि पाठान्तरम् ।
 न च तारागजोऽपि तम्' इत्यपि पाठान्तरम् ।

मा०—वैत वत् ही तवत्स्य वत्स्य वरने तत्र ते तवम वत्स्यकार श्री वृत् करता है

किन्तु बहुत से भी तेजरहित ताराओं का समूह अ धेरे का नाश नहीं कर सकता, वैसे ही एक भी तेजस्वी पुत्र अपने सामर्थ्य से धन कमा कर अपने कुटुम्ब का दारिद्र्यरूपी अन्धेरा दूर करता है वही श्रेष्ठ है, परन्तु सैकड़ों मूर्ख पुत्र किसी काम के नहीं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थं कृतं येन तपः काप्यतिदुष्करम् ।

तस्य पुत्रो भवेद् वश्य समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

अ०—येन कापि पुण्यतीर्थं अतिदुष्कर तप कृतम्, तस्य पुत्र, वश्य समृद्धः धार्मिकः सुधी (च) भवेत् । व्या०—येन = पुरुषेण कापि = कस्मिंश्चिदपि, पुण्यतीर्थं = पुनाति इति पुण्यं = महापातकिनामपि पातकनाशनम्, तरति अनेनेति तीर्थम् = काशीप्रभृति, पुण्य च तत् तीर्थञ्च पुण्यतीर्थं तस्मिन्, पापप्रध्वंसके त्रिविधतापो-द्धारके क्षेत्रे इति भावः । अतिदुष्करम् = अतिदुःखेन क्रियते यत् तत् अतिदुष्करम् = अतिकठिन, बहुकष्टसाध्यमिति यावत् । तप = भगवन्नामजपन मौन व्रतोपवास-यज्ञाद्यनुष्ठानात्मक कर्म, कृतम् = अनुष्ठितम्, श्रद्धाऽऽदरनैरन्तर्याऽऽसेवितमिति यावत् । तस्य = तपस्विन पुण्यशालिनः पुरुषस्य, पुत्र = तनय, वश्य — वशम् अर्हतीति वश्य = सदा पितुराज्ञासेवाऽऽदिपरः, समृद्ध = धनपुत्रकलत्राऽधिकार-वैभवादिपरिपूर्णं, धार्मिकः = यज्ञदानादिधर्मानुष्ठानपर सुधी = शोभना शास्त्रा-ध्ययनाऽऽसादितविचित्रप्रतिभावती धीः = बुद्धिर्यस्य इति सुधी = शास्त्र-लोक-हृदयेतित्रयाऽनुकूलबुद्धिमानित्यर्थः । भवेत् = स्यात् ।

भा०—जिस पुरुष ने पवित्र तीर्थस्थान में बहुत कठिन तप किया हो, उसी पुरुष के घर में पूर्व के पुण्य से अपने पिता की आज्ञा में रहने वाला तथा सेवा करने वाला, धन दौलत से सुखी, धर्म कार्य में प्रेमी और बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।

वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन् ॥२०॥

अ०—हे राजन् ! जीवलोकेषु नित्यम् अर्थागम, अरोगिता च, प्रिया च प्रियवादिनी च भार्या, वश्य पुत्रश्च, अर्थकरी विद्या च (एतानि) षट् सुखानि (भवन्ति) ।

व्या०—हे राजन् ! जीवलोकेषु = जीवानां प्राणिनां लोकाः = निवासस्थानानि इति जीवलोकास्तेषु, ससारे इत्यर्थः । नित्यम् = प्रत्यह सदा, यावज्जीवनमिति यावत् । अर्थागम — अर्थस्य = धनस्य आगम = आय । अरोगिता = निरोगिता, सदा शरीर-स्वास्थ्यमिति यावत् । प्रिया—प्रीणाति इति प्रिया = प्रीतिकरी, प्रियवादिनी—प्रिय वदतीति प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी चेत्यर्थः, भार्या—भ्रियते असौ सा भार्या = स्वस्त्री च । वश्य = आज्ञावह, पुत्र = सुतश्च । अर्थकरी—अर्थं पुरुषार्थं करोतीति अर्थकरी = धर्मार्थकाममोहास्यपुरुषार्थप्रदेत्यर्थः । विद्या चेति, एतानि षट्प्रकारेण, सुखानि

भक्त्यतीति । श्रीवक्रोक्तस्य इति पाठान्तरम् । उपजातिः वृत्तम् ।

भा०—एत संभार मे वा एत ई म्हे मि—वतिरिन पूर्ण वन एत होमा ।
१—एतेर एतेव नितोग रहना । २—अतिघ्न प्रेन करने वाली तथा ४—एतेर दोषी
वाची बर्मापत्नी (जी) मित्रता ५—आवासानक पुत्र रीता होना और ६—अने-अने-
अप-मोक्ष इन बातों पुत्रवाची को देने वाली विधा रहना । ये वा व होये से अन्य अर्थ
अव्यक्ता है ॥ १ ॥

को धर्म्या बहुमि पुत्रैः कुशलाऽऽपूरणाऽऽवकैः ।

वत्येका कुशाऽऽसम्भी पत्र विधूपते पिता ॥ २१ ॥

न — कुशलाऽऽपूरणाऽऽवकैः बहुमि पुत्रैः का धर्म्या ? (भवति किन्तु) पत्र
पिता विधूपते (तादृशः) कुशलाऽऽपूरणाऽऽवकैः पुत्रैः वरम् । भा०—कुशलाऽऽपूरणा
अर्थ—कुशमित पत्रवादिना रयानान्तरं गन्धर्वतीति कुशलाऽऽपूरणा, तैः वा सन्नन्तत्
पुत्रा इति कुशलाऽऽपूरणा, आश्रीकम्पै रूरमित—इति आश्रयाः = अश्रमापकयमान-
विक्रियाः, (पत्रं वि कुशलं इति कुशलस्तत्रानुवचम् । अन्तरः कुशलाः अस्वल्पान्तर-
मनादकम् ॥ आश्रयाः की मन्वेद् शौभो द्वितीयः शूर्पं अस्वते । सार्धंरूपं मन्वेत् वाची
हे वाची शौभपुत्राहता) कुशलाऽऽपूरणा इति आश्रयाः तैः कुशलाऽऽपूरणाऽऽवकैः
(अश्रयाः अश्रमा) पुत्रपूर्णायाः अश्रयाः इति अर्थः । बहुमि अनेकैः, पुत्रैः का पुत्र
धर्म्याः = कुशलाऽऽपूरणा मन्वेत् अश्रयाः । न कोऽपीति भावः । किन्तु—पत्रमन्वेत् इति
इति पिता = अश्रयाः, विधूपते = अनेकैः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः
तादृशः कुशलाऽऽपूरणा—कुशलं अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः
इति अर्थः कुशलाऽऽपूरणा, एका अपि पुत्रा वरम् (बहुमूर्त्तपुत्रैश्च एका वरणी
वीमान् श्रेयाविति भावः) ।

भा०—वृत्ती से परिपूर्ण पत्र के समाप्त करीएवारी अनेक पुत्रों से अश्रय की पुत्र
पुत्री वरणी अर्थ होता किन्तु कुश का अश्रय तथा अश्रयाः करने वाला इति अर्थ
की पुत्र—विराते पिता अश्रयाः होता है—मेव है ॥ २१ ॥

अप्यकर्ता पिता शत्रुर्माता च ध्यमिचारिणी ।

भार्या रूपवती शत्रुः पुत्राः शत्रुरपिच्छिता ॥ २२ ॥

न०—अप्यकर्ता पिता शत्रुः (भवति) ध्यमिचारिणी माता च (शत्रुः भवति)
रूपवती भार्या च (शत्रुः भवति) अपिच्छिता पुत्रा च (शत्रुः भवति) । भा०—
अप्यकर्ता अप्यकर्ता = अप्यमहीता, पिता = अश्रयाः, शत्रुः = अश्रयाः अश्रयाः
अप्यमिचारिणी = अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः अश्रयाः
पुत्रा भवति एव रूपवती—अश्रयाः अश्रयाः इति रूपवती = अश्रयाः अश्रयाः
अश्रयाः, भार्या = पत्नी च शत्रुपत्नी भवति । एवम्—अपिच्छिता = अश्रयाः अश्रयाः

पुताइश पुत्र अपि शत्रुवद् हु एतदो भवतीति ।

भा०—'जो कष्ट देने वाला हो'—वही 'शत्रु'—कहलाता है । इसलिये ऋण करने वाला पिता ऋण करके कष्ट दे तो वह भी शत्रु ही है और व्यवहार करनेवाली माता, क्रूरपति को नहीं चाहने वाला रूपवती स्त्री तथा मूर्ख रहकर सदा के लिए दुःख देनेवाला पुत्र भी शत्रुसमान है ॥ २० ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नर ।

धनुर्वशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

अ०—गुणवान् नर यस्य कस्य प्रसूत. अपि (लोकैः) पूज्यते, वशविशुद्धः अपि धनुः (यदि) निर्गुण (तदा) किं करिष्यति ॥ व्या०—गुणवान्-गुणा सन्ति अस्वेति गुणवान्=गुणशाली, नर =मनुष्य, यस्य कस्य=श्रेष्ठस्य अधमस्य वा वंशस्य (सम्यन्धे पृष्ठी) प्रसूत =जात अपि (लोकैः) पूज्यते=सम्मान्यते । तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तो यथा-वशविशुद्धः-वशो=वेणु विशुद्धः=सशक्तो यस्य स =सुदृढवेणुनिष्पन्नोऽपीत्यर्थं, धनुः=चाप, यदि निर्गुण-निर्गतो गुणो=ज्या यस्य स निर्गुणः=ज्याहीन, तदा किं कार्यं=शत्रुहननारूपं करिष्यति ? अर्थात् न करिष्यतीति । तथा निर्गुणेन पुत्रेण किं स्यादिति भाव ।

भा०—उत्तम वीर का बनाया हुआ भी धनुष जब तक रस्सी में नहीं ताना जाता, तब तक किसी भी (शत्रु-मारणादि) कार्य में समर्थ नहीं होता, वैसे ही श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ भी मनुष्य जब तक किसी गुण (कला) को नहीं सीखता तब तक किसी भी काम को सन्तोषपूर्वक सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु ।

तेन त्वं विदुषां मध्ये गङ्गे गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

अ०—हा हा पुत्रक ! गतासु एतासु रात्रिषु (त्वया) न अधीतम्, तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौ इव, सीदसि । व्या०—हा हेति खेदे । हे पुत्रक ! पुत्र एवेति पुत्रक, तस्मिन्नुद्धौ हे पुत्रक ! एतासु सतासु =अतीतासु रात्रिषु =निशासु, गतेष्वहर्निशेष्वित्यर्थं । त्वया न अधीतम्=शास्त्रादिकर्तृनाऽभ्यस्तम्, तेन हेतुना त्वं विदुषां =धीमता मध्ये उपस्थित सन्, पङ्के =कर्ममें, गौरिव =गोवत् सीदसि, गोवद् अवसन्नो भवसीत्यर्थं ।

भा०—जैसे कि कोचड़ में गई (घँसी) हुई गौ बाहर निकलने की बुद्धि नहीं होने से बाहर नहीं आ सकती, वैसे ही तुम भी विद्वानों की सभा में जाकर विद्या रहित होने से उस सभा को जीतकर श्रेष्ठता को नहीं पा सकोगे, इसलिये विद्या पढ़ना चाहिए ॥ २४ ॥

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? यतः—

व्या०—तत् = तस्माद्धेतो, इदानीम् = एतर्हि काले, एते मम पुत्राः, कथ = केन

प्रकारेण गुणवन्ता—गुणा सन्ति वृषामिति गुणवन्ता, विद्याविनयादिगुणपरिष्कृतं
इत्यर्थः । द्विवन्ताम् = विधीयन्ताम् ? वता = वरमाहेतोः—

भा०—विधाविरोधं पुत्रं चैव कदा पी शिवं नरो ह्येतां वृत्तित्थे—ये मेरे पुत्र मि
प्रकारेण गुणी वनाये वार्ये । ननोकि—

आहारविद्याभयमैशुमन् च समानमेतन् पशुभिर्नराप्याम् ।

धर्मो हि तेषामधिक्ये विशेषो, धर्मेषु हीनाः पशुभिः समानम् ॥२५॥

न — वरानाम् आहारविद्याभयमैशुमन्—एतत् पशुभिः समावय्य (भवति) तेषु
धर्मो हि अधिकः विशेषः (भवति), धर्मेषु हीनाः पशुभिः समावाः (भवन्ति)

भा०—वरानाम् समनुष्णानाम्, आहारश्च विद्या च भयञ्च मनुष्यञ्च तेषां समावय्य
इत्या पृथक्—आहारादिकं चतुष्टयं पशुभिः समावय्य—पशुत्वमिति। किन्तु तेषु
मनुष्णानां धर्मो हि—धर्मेषु वृषा अधिकः विशेषः—पशुत्वो ध्यावर्तको गुणो भवति।
नतो यदि मनुष्णा धर्महीनास्तदा आहारादिकचतुर्मि। पशुभिः समावा वृत्त्यर्थः।

धा०—चतुष्टयो मे और पशुत्वो मे—काला लोना वरवा कीर्तन वरवा मे कर्ते
किनाये ती समान ही है इतकिए मनुष्ण और पशु दोनों मे कैर वही है। केमि
मनुष्णो मे वर वरिष गुण वर्ये है वर वर्ये से मनुष्णो का पशुवो से येर क्यकता है
वर वर्ये क्यर मनुष्ण मे न ही ती वर मनुष्ण वरु ही है ॥ २५ ॥

वता—धर्मार्थकाममोक्षायां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।

अज्ञानमस्तकस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

भा०—वस्तु धर्मार्थकाममोक्षायां एक्येऽपि न विद्यते, अज्ञानमस्तकस्य इव इत्य
जन्म निरर्थकं (भवति) । भा — वस्तु—पुत्रवस्तु धर्मञ्च धर्मञ्च कामञ्च मोक्षञ्च वेदान्,
तच्चतुर्विधपुत्रवार्थमर्थ्ये इत्यर्थः । वृषा अपि न विद्यते—वास्ति जज्ञा = ज्ञानी कल्प
एकस्य एववस्तु इव = तथा निरर्थकवस्तु तथा तस्य = धर्मविपुत्रवार्थमिति
पुत्रवस्तु जन्म = जज्ञताः मनुष्णवरीरषोका, निरर्थक्य = विष्णुवस्तु इत्यर्थः ।

भा०—वैष्टे—कदा मे वर्ये मे वर्यमान एतं पुत्रवित्त हीने से निरर्थक वरा कला है
वैष्टे ही वित्त पुत्र मे वर्ये वर्ये, काम और मोक्ष, इनमें से एक जो न हो, उक्त पुत्र न
मनुष्णमन्व विद्यते है ॥ २६ ॥

पवीर्यते—आयुः कर्म च विस्तृत्य विद्या निघ्नमेव च ।

पशुवैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिना ॥ २७ ॥

न — (कदा) आयुः कर्म च विस्तृत्य, विद्या, निघ्नमेव च एतादि पात्र अपि
गर्भस्थस्य इव देहिना सृज्यन्ते । भा — (कदा विचार्यन्ते इत्यन्वयः) आयुः = जी-
वपद्यमया, कर्म = कामरचान्तं स्वकृतकर्मोऽधर्ममस्तुमकार्यमनुदानं, विद्यं = ज्ञान-
विद्यन्ति, विद्या = विविधकलाशास्त्रादिज्ञानज्ञानम् विचर्यं = मरणात् वृत्तम्

आयुरादीनि पञ्चापि, गर्भस्थस्यैव = जननीगर्भस्थितस्यैव प्रमयापूर्वमेव, देहिन — देह शरीर भोगस्थानत्वेन अस्ति अस्य = आत्मन इति देही, तस्य = प्राणिन. ह्यर्थ, तस्सम्बन्धे सूत्र्यन्ते = निर्धार्यन्ते ।

भा०—मष प्राणियों के लिये गन्ध द्वा. मत्तान पाच वस्तुनि निर्धारित की हैं १-आयुष्य, २-प्राणानुसार सुख दुःख देने वाले गर्भ, ३-धनवैभवादि, ४-विद्या = व्यावहारिक ज्ञान, अथवा कला-विद्यानादि, (पशु आदि में भी बहुत से विद्याना मिलने हैं) ५-निमित्त मरण होना हो ॥ २७ ॥

किञ्च—अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।

नम्रत्वं नीलकण्ठस्य महाऽहिशयनं हरेः ॥ २८ ॥

अ०—महताम् अपि अवश्यभाविनो भावा भवन्ति, (यथा) नीलकण्ठस्य नम्रत्वम् (भवति), हरे महाऽहिशयनञ्च (भवति) । व्या०—महताम्=दिव्यैश्वर्यशालिनामपि नृपाणां देवानामपि चेति भाव, अवश्य भविष्यतीति अवश्यभाविनः = अवश्यमेव भवितव्या, भावा सुगन्धद्रव्यादयो धर्माः, भवन्ति=आपतन्ति, अत एवोदाहरति—नीलकण्ठस्येति । नील, विपपानेन कृष्णरूप कण्ठे यस्य स, तस्य=दिव्यैश्वर्यशालिनोऽपि महादेवस्य, नम्रत्वम् = दिग्भ्रमरव, वर्तते । अथ च हरेः=विष्णो, महाश्र्वासी अहि महाऽहि =शेष, तस्मिन् शयनम् इति महाऽहिशयनम्, 'महाहि-शयनम्' इति पाठान्तरम् । शेषेऽस्मिन्निति शयन शय्या ।

भा०—प्रतापी और ऐश्वर्यालु महान् पुरुष का भा सत्कार में देवाधीन होने वाले सुख दुःख, वैभव, दारिद्र्य आदि अवश्य ही होते हैं, जैसे कि स्वयं महादेवजी को भी ब्रह्माभाव से नम्र रहना पड़ता है और विष्णु को शय्या के अभाव से शेषनाग पर सोना पड़ता है ॥ २८ ॥

अन्यच्च—यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।

इति चिन्ताविपन्नोऽयमगद. किं न पीयते ॥ २९ ॥

अ०—यद् अभावि (भवति), तद् न भावि (भवति), (यत्) भावि चेत् (भवति), तत् अन्यथा न (भवति) इति अयं चिन्ताविपन्न अगद किं न पीयते (ज्ञान) । व्या०—'यत्=यद् वस्तु, अभावि=भविष्यतीति भावि, न भावि अभावि=भविष्यत्काले असम्भवीत्यर्थ । तद् वस्तु, न भावि = न भविष्यत्येवेति । यच्च वस्तु भावि=अवश्यसम्भव चेत् ! तद् अन्यथा = अन्यप्रकारेण, न भावि' इति=एव प्रकारेण, अयं = ज्ञानरूप, चिन्ता एव विपन्न गारल तद् हन्तीति चिन्ताविपन्नः=चिन्तारूपविपनाशक, अगद = नास्ति गद = रोगो यस्मात् स अगद = औषधम्, किं = कथम्, न पीयते = न सेव्यत ।

भा०—'शरीरधारियों' को जो नहीं होने वाला कार्य है वह किसी प्रयत्न से भी नहीं

इत्या नीर जी इति वाका है नर मित्रता नहीं—एता वाय रचना वादिह, न्कोकि इति
विन्दा दूर होती है ॥ १९ ॥

एतत्कार्याऽश्रमाणां केपाश्चिदाहस्यचचनम् ।

आ०—एतत्कार्याऽश्रमाणां न तत्रादि — इति वादिहस्यम् कार्याऽश्रमाणाऽश्रमाणा
इति अमा, न अमा अश्रमाः कार्येऽश्रमाः कार्याऽश्रमाः, सेवात्कार्यातिदिहस्यम्
कतिदिहीनामाभित्त्वाः । केपाश्चिद् आकरचचनम् = अश्रमाणां भाव आकरच
आकरसेन प्रपुष्क चचनम् आकरचचनम् चोम्यमिति सेक । आकरचकुच्य अ
कारण पुष्पाः बहमित्—देवात् सर्वं भवति अस्माभिर्न भवतितन्मिति ।

आ०—न कार्यं करेत् ई आकरच इति इति इति मन्त्र का आकरचकुच्य चचनम् ।
पुष्पकारैः कर्ष्यमाह—यथा ह्येकेषु अकेषु न रथस्य गतिर्भवेत् ।

तथा पुरुषकारेण विना वैषं न सिद्ध्यति ॥ ३० ॥

न०—यथा हि दूकेषु अकेषु रथस्य गतिः न भवेत् तथा पुष्पकारेण विना वैषं
न सिद्ध्यति । आ०—अहत् दूकेषु = अहितीयेषु अकेषु अवाहनेन रथस्य गतिः =
समर्थं न भवेत् = न जायते तथा = अहत् पुष्पकारेण विना = पुष्पकारेण अश्रमाणां,
वैषम् = आश्रमा अहत्मिति वाच्यत् न सिद्ध्यति = न कर्ष्यं भवति ।

आ०—इति चिरं वा वचना एव अहत् (परिषे-) से-नहीं-ही-तथा, दो ही ही
सकता है वैसे ही वैष अकेषु कुछ भी कुछ नहीं है सकता, वस्तु के प्रयत्न करने से ही
वैष कर्ष्य होना है ॥ ३० ॥

तथा च—पूर्वश्रमकृतं कर्म तद् वैषमिति कथ्यते ।

तस्मात् पुरुषकारेण धर्मं कुर्यात्तन्मित्रता ॥ ३१ ॥

न०—(तत्) पूर्वश्रमकृतं कर्म (भवति) तत् वैषम् (भवति) इति (विद्वि)
कथ्यते तस्मात् (तथा) अतन्मित्रता (सम्) पुरुषकारेण धर्मं कुर्यात् । आ०—
तत् कर्म = धर्मावर्मावककथ्यता इत्या पूर्व च तत् कर्म पूर्वश्रम तस्मात् पूर्व
श्रमादि = आश्रमा अहत् = अनुहितम् तत् = पूर्वश्रमकृतं कर्म, वैषम् = आश्रमा
इति विद्विः कथ्यते = एवमिदं वदे । पूर्वश्रमकृतं तस्मात्तन्मित्रतासन्नादित्य अतं
धर्मावर्मावकमेव वैषमिति धार्यः । तस्मात् इत्येतां लोका धर्म, अतन्मित्रता-तन्मित्र
आकरच जाता अरथ इति तन्मित्रता, न तन्मित्र अतन्मित्रता = आकरच विहायैवर्षं
पुरुषकारेण = पुरुषकारेण पुरुषकारेण अश्रमाणां धर्मैः । धर्मं = सर्वत्र कार्ये
पयोम कुर्यादिति ।

आ०—देव अर्थात् पूर्व काम मे विदे इव धर्म-धर्मं कथ्यते अहत् है इत्येतां अतिरिक्त
कोरे देव नहीं है इति विदे पुरुषकारेण वा अश्रमाणां करके इत्यात्पूर्वक तव धर्मो मे अश्र
करच वादिह ॥ ३१ ॥

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।

अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽप्तुमर्हति ॥ ३२ ॥

अ०—दैवमपि सञ्चिन्त्य (जन) आत्मनः उद्योग न त्यजेत्, (यत्) अनुद्योगेन तिलेभ्यः तैलानि (जनः) आप्तुम् अर्हति । व्या०—दैवमपि सञ्चिन्त्य = 'अहं किं करवाणि यथा मम दैवं वर्तते तथा भविष्यति' इति मत्वा, जनः = अम्युद्योग-मिलवापी, आत्मनः = स्वस्य, उद्योगं = व्यापार चेष्टां, प्रवृत्तिमिति यावत्, न त्यजेत् = न परिहरेत्, यतः अनुद्योगेन = व्यापारानुकूलप्रवृत्त्यकरणेन तु तिलेभ्यः = तैलपूर्णेभ्यः अपि तिलेभ्यः, तैलानि अपि (जनः) निरुद्योगी पुरुषः आप्तु = प्राप्तु नार्हति ।

भा०—'भाग्य से ही सब होता है, मेहनत से कुछ नहीं' ऐसा सोचकर पुरुष को उद्योगहीन नहीं होना चाहिए क्योंकि मिलने योग्य तैलप्राप्तिरूप फल भी तिलों में से बिना प्रयत्न नहीं मिलता, इसलिये उद्योग करना चाहिए ॥ ३२ ॥

अन्यथ—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीदैवेन देयमिति कापुरुषा घदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

अ०—लक्ष्मी उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति, कापुरुषा - 'दैवेन देयम्' इति घदन्ति दैवं निहत्य आत्मशक्त्या पौरुषं कुरु, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति, अत्र कः दोषः ।

व्या०—लक्ष्मी = सम्पत्तिः, उद्योगिनम्-उद्योगः = यत्नः अस्ति अस्य इति उद्योगी सम् उद्योगिनम् = प्रयत्नमानमित्यर्थः, पुरुष सिंहम्-पुरुषः सिंह इवेति = (उपमित-समासः) पुरुषसिंहस्तम् = पुरुषश्रेष्ठम्, उपैति = आश्रयति । दैवेन = भाग्येन, देयम्-दातुं योग्य देयम्, सम्पादनीयमित्यर्थः इति = एव तु कापुरुषाः-कृतिसत्ताः पुरुषाः कापुरुषाः = सामर्थ्यं (पौरुष) हीनाः एव पुरुषा, घदन्ति = कथयन्ति, अत्र दैवं = भाग्याऽऽधारमात्रम्, निहत्य = दूरीकृत्य, आत्मनः शक्त्या = स्वस्य सामर्थ्येन, यथा सामर्थ्यमित्यर्थः, पौरुषम् = पुरुषप्रयत्नम्, उद्योगमिति यावत्, कुरु = त्व विधेहि । तादृशे यत्ने कृते सत्यपि यदि कार्यं न सिद्ध्यति = न सम्पद्यते, तदा अत्र = यत्ने प्रयत्नमानस्य पुरुषस्य को दोषः = का त्रुटि, इति मार्गणीयमिति शेषः ।

भा०—भाग्य में लिखी हुई भी लक्ष्मी (धन दौलत) पुरुष को प्रयत्न किये बिना नहीं मिलती, इसलिये 'भाग्यमें जो होगा वह मिलेगा व्यर्थ प्रयास नहीं करना' ऐसा जो निर्बल पुरुषोंका वचन है उसका ख्याल न करके अपनी शक्ति के अनुसार पुरुष को प्रयत्न करते रहना चाहिए, प्रयास करने पर भी अगर लक्ष्मी न मिले तो प्रयास करने में क्या त्रुटि रह गई है ? यह खोज करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

यथा मृत्पिण्डत कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति ।

एवमात्मकृत कर्म मानव प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

अ०—यथा कर्ता मृत्पिण्डतः यद् यद् इच्छति, तद्यत् कुरुते, एवं मानवः
२ हि० मि०

आत्महृतं कर्म प्रतिपद्यते । न्या — ब्रह्मा = ब्रह्मत् कर्ता = इन्द्रमकार, धृतिवत्-
 युवां विन्दः धृतिवत्स्तवमात् = धृतिवत्स्तवत् धृतिवत्स्तवत्परित्यक्तं, यद् ब्रह्म
 करान्तरिकं निर्मातुम् इत्युक्ति = अतिक्रमति तत् तद्वैव कृते-विमर्शति युवम्
 कर्मप्रकारेण मावयति = अनुभवा, आत्महृतम् = आत्मना कृतम् आत्महृतम् = स्तो
 त्रकृतम् कर्म = शुभाशुभकर्मकर्मित्यर्थः, प्रतिपद्यते = कर्मते ।

भा०— वैश्वे विद्वो के विन्दते धी बरादि ब्रह्मैव प्रवाय करमेवाका कर्ता ब्रह्म
 कर्म को प्राप्त करता है वैश्वे ही सभी कार्यों में प्रत्यय करमेवाका युवम् को दुरे प्रेरना है
 ब्रह्म कर्म को प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

अपरत्—आकृतास्त्रीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमततः ।

न स्वयं देवमावृत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ १५ ॥

भा०—आकृतास्त्रीयवत् प्राप्तं विधिय अप्रता दृष्ट्वा अपि देवं स्वयं न आरते
 (किन्तु) पुरुषार्थमपेक्षते । न्या०—आकृतास्त्रीयवत्=आकृतास्त्रीयवत्प्राप्तं देवैः (अ
 कृतिवत्प्रकारेण एव अकस्मात् ताकृत् पठनवत्) प्राप्तम्=देवयोगात् समुपस्थितम्
 विधिय = अन्तरिक्षम् अप्रता = पुरता, दृष्ट्वा = विरीचयामपि, देवं इत् न आरते
 आर्त्तव न इच्छति अपि पुरुषार्थम् = स्वकर्मेवाऽऽज्ञायाऽनुसृत्यन्यथा अपेक्षते
 नवकर्मते अतः पुरुषार्थं कर्तव्यम् ।

भा०—आकृतास्त्रीयवत् प्राप्तं (अर्थात् कि कर्म देवा भीर क्ता समय देवयोग व अ
 कर्म निर क्ता) वैश्वे देवयोग से अपरिचल एव अपरिचल नव को भी नव तव प्रत्यय कर्ते
 एव से न इच्छति तव तव एवस्तवम् नहीं होता है एतन्मि प्रत्यय करमा वर्तित १५

अथमेव हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।

न हि सुतस्य सिद्धस्य प्रविशन्ति मूखे मृगाः ॥ १६ ॥

भा — हि अथमेव कार्याणि सिद्धयन्ति न (१) मनोरथैः, सुतस्य सिद्धस्य मूखे
 मृगाः न हि प्रविशन्ति । न्या०—हि = अथमेव, अथमेव = अथमेव कार्याणि =
 अथमेवकार्याणि सिद्धयन्ति = सफलानि भवन्ति । न तु कैवलं मनोरथैः = अथमेव
 एव सुतस्य सुतस्यै, सिद्धयन्तीति पूर्वोक्तम् । अथाम्बुकरपदशान्तमाह-वर्णाः
 सुतस्य = विद्वितस्यैव अथमेवस्य विद्वान्परस्यैति वाच्यम् सिद्धस्य = केवलस्य
 मूखे = अथमेवस्यै मृगाः = इन्द्रियाणां, न हि प्रविशन्ति = न हि वाप्तीति ।

भा — वैश्वे कर्म नहीं करने वाले तिर के मृग में मृग एवं ना कर नहीं प्रिय
 अथ करके ही विच्छा है वैश्वे कर्म करनेवाले युवम् को ही एव सर्व प्राप्त होता है
 केवल मनोरथ मात्र से कुछ भी नहीं होता ॥ १६ ॥

तवा भोक्तुं—माता शत्रुः पिता वैरी येन धर्त्री न पाठिता ।

न शोमते समामप्य हृषमप्ये बद्धे यथा ॥ १७ ॥

७०—येन, बाल' न पाठिन, (तद्बालकस्य) माता शत्रुः पिता वैरी (भवति)
यथा हंसमध्ये बको न शोभते (तथा स बाल') सभामध्ये (न शोभते) ।
व्या०—येन = मातापित्रोरन्यतरेण, बाल = पुत्र न पाठित' = न शिक्षित, (तद्बालकस्य)
सा माता शत्रु = अहितकारिणी, स' पिता च वैरी = अहितकारी भवति, सः अनधीतो
बालः यथा—हंसानां मध्य हंसमध्यं तस्मिन्, बको न शोभते तथा विबुधानां सभा-
मध्ये—सभाया = परिषद् मध्य सभामध्य तस्मिन्, सभामध्ये = विबुधजनसम
दीत्यर्थं, न शोभते = न सम्यग् आदृतो भवतीति ।

भा०—मां बाप का चादिए कि अपना प्रजा (सन्तति) का अवश्य विद्याध्ययन में
नियुक्त करें । विद्या नहीं पढाने से माँ बाप शत्रु कहाते हैं और जैसे हंसों के मध्य में
बगुला शोभा तथा आदर नहीं पाता है, वैसे विद्याहीन सन्तति भी विद्वानों के मध्य में
शोभा और आदर नहीं पाती ॥ ३७ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुका ॥ ३८ ॥

अ०—रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवा (अपि) विद्याहीना (पुरुषा')
निर्गन्धा' किंशुका इव न शोभन्ते । व्या०—रूप=शरीरसौन्दर्यम्, यौवन=तरुण
त्वम्, ताम्यां सम्पन्ना', सौन्दर्यशालिनो यौवनशालिनश्चेत्यर्थः । विशाल=नहत्
मान्य, श्रेष्ठमिति यावत् । तादृश यत् कुलं = वंश, तस्मिन् सम्भव = जनिर्यपान्ते
तादृशा, श्रेष्ठवंशसम्भूता अपीत्यर्थं, विद्यया हीना विद्याहीनाः=गुणहीनाः, सन्त
इत्यर्थं, तादृशा पुरुषा (कर्तृपदम्), निर्गन्धा -निर्नास्ति गन्ध =आमोदा येषान्ते
निर्गन्धाः=सुगन्धात्मकगुणरहिता, किंशुका' =पलाशपुष्पाणीव, सौन्दर्ययुक्ता अपि
न शोभन्ते = शोभादरौ न लभेते इति भावः ।

भा०—जैसे सुन्दर लाल रूप युक्त और कोमल होने पर भी पलाशका पुष्प गन्धरहित
होनेसे आदरणीय नहीं होता, वैसे ही सौन्दर्य, यौवन, श्रेष्ठकुल में जन्म आदि होनेपर भी
गुण (विद्यादिकला) शून्य पुरुष का आदर नहीं होता है ॥ ३८ ॥

श्रपरश्च—पुस्तकेषु च नाऽधीतं नाऽधीतं गुरुसन्निधौ ।

न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रिया ॥ ३९ ॥

अ०—(येन) पुस्तकेषु च न अधीतम्, गुरुसन्निधौ च न अधीतम्, (स) स्त्रिया
जारगर्भ इव सभामध्ये न शोभते । व्या०—येन बालेन, पुस्तकषु=नीत्यादिशास्त्रेषु,
न अधीतम् = यथाशक्ति स्वयं न पठितम्, न वा गुरुसन्निधौ च = गुरो स्त्रियौ =
शिष्यागुरो सकाशेऽपीत्यर्थं, न अधीतम्, गाम्त्रमिति शेष । (स) तादृशो बाल
स्त्रिया =रमण्या, जारगर्भ इव=जारन्य गर्भ जारगर्भ =व्यभिचारेण उरपन्नो
बाल, इव = यथा, न शोभते, तथा सभामध्ये—सभाया मध्ये = लोकसमाजे इत्यर्थं,
न शोभते = न उत्कर्षतया शोभां वहतीत्यर्थं ।

भा०—इति अभिप्राये इत्यत्र इमा पुन्य वर्तन्त इति होमेके कारुण्यं कथयन्तुरात्र नै
 श्रेष्ठं महीं ब्रह्मणः, इति पुस्तके मी वा गुण के सावने कित्ते निवा क्य अभ्यास महीं किया,
 वर कथनकार्य में श्रेष्ठकर से सम्मान्य महीं होता है ॥ ३१ ॥

एतद्विद्वन्वयित्वा राजा पण्डितसमां कारितवान् । राजोवाच—
 'भो भो पण्डिता ! श्रूयतां मम वचनम्—'अस्ति कश्चिद् एवम्भूतो
 विद्वान् यो मम पुत्राणां मित्यम् उन्मार्गगामिनाम् अन्वधिगतशालाणाम्
 इवानीं भीतिशयस्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ?'

भा०—सा राजा ॥ सुदर्शनपुत्रस्य, वत्स ॥ उक्तं सर्वं विद्वन्वित्वा ॥ विद्वान्
 पण्डितसमां पण्डितानां ॥ पण्डितानां विद्वान्मन्त्र मतिः जाता येषां तेषां स्ववद्वारादि-
 विपुत्रविद्वन्वयित्वा राजा ॥ मन्त्रकीय कारितवान् ॥ कारवान्मास । तदा सा सु-
 कपराजा प्रवाच ॥ उक्तवान्, भो भो ॥ अन्वधिगतशालाणाम् आदरे द्विविधे ।
 पण्डितान् ॥ हे विद्वान्, मन्त्रानां मम वचनम् ॥ मे वचनम् श्रुत्वा ॥ अन्वधिगतम् ।
 उक्तवान्माह—अतीति कश्चित्—अस्ति, एवम्भूतः—एतादृशविशिष्टपुत्रोपेयः, विद्वान्
 —वैदिक इति विद्वान् ॥ विद्वन्वचनम्, पण्डितान्, अस्ति ॥ अस्मां समासां वर्तते । वा ॥
 वा पण्डितान्, विद्वान् ॥ अर्चन्, उन्मार्गगामिनाम्—उत् ॥ उक्तः कुम्भितः मार्गः ॥ अन्वधि
 गुणगामिः, उन्मार्गं गन्वन्ति ते उन्मार्गगामिनाः, तेषां—अन्वधिगतशालाणाम् वत्
 अन्वधिगतशालाणाम्—अन्वितं पण्डितं नाकं वैस्ते अन्वधिगतशालाणाम्, ते न मन्त्रानि
 अन्वधिगतशालाणाम् एतावत्समयम् अन्वधिगतशालाणाम् अन्वधिगतशालाणाम्
 ये पुत्रानां ॥ उक्तवान् इवानीम् ॥ अस्मिन् काये, अन्वधिगतसमये अन्वितं इति
 यौवक्याके इत्यर्थः, भीतिशयस्रोपदेशेन—भीतेः प्रतिपादकं कायं भीतिशयस्रोपदेशेन
 वचनेन ॥ तिवा तेष पुनर्जन्म—पुनः ॥ द्वितीयम् जन्म ॥ पण्डितानां उक्तवान्
 अनुप्यगतवाचोपदेशेन वचनं कारयितुं समर्थः ॥ अन्वधिगतशालाणाम् ॥

भा०—एत प्रहार वरुण विचार कर्के उक्त राजा नै पण्डितो यो कथं वदो एता पुनः
 उत्तमे राजा उपर्यन नै कथा कि हे नामनीव पण्डितवृत्तः ! मेरी शर्कवा तुनिर—अरे
 एता विद्वान् हे भो कि काय तथा वर्तंते विद्वान् मेरे पुत्रो यो भीतिशयस्रोपदेशेन
 देव विद्वान्मन्त्रो मया वचनं दे लके ॥

वच—कायाः अन्वधिगतसंस्मार्गाद् एते मारकतीर्ष्यन्ति ।

तथा सारस्मिण्यमन भूर्धो याति प्रवीणताम् ॥ ३० ॥

॥ —(वच) कायाः कायसंस्मार्गात् मारकतीः यतीः यते, तथा भूर्धोः सारस्मि-
 ण्यमनं प्रवीणतां याति । भा०—वच वदत, किञ्चित्माहद्विद्वान् कायाः अन्वधिगत-
 शालाणाम् इति कायवचनम् ॥ पुनर्जन्म संस्मार्गः ॥ अन्वधिगतं तरजन्म, (द्वितीयं वचनी) ।
 मारकतीः मरकतस्य अन्वधिगतः मारकतीः (विद्वान्मन्त्रात् याति-

पिशङ्गहरिदरूपा किन्तु मध्याऽभाः), शुती, कान्तीरिति यावत् च=धारयति ।
तया = तद्वत्, मूर्खः = मूढः, अकुशल इति यावत्, एतादृशं रूपं रूपः, सतां =
पण्डितानां, सन्निधानेन = सहवासेन, प्रवीणतां = निपुणतां इववहारकुशलताधर्म
श्रद्धादिकं याति = विन्दति ।

भा०—जैसे काच हल्का रंग का होने पर भी सुवर्ण के साथ रखने से
मरकतमणि की कान्ति के समान तेजस्वी कान्तिवाला हो जाता है वैसे ही सद्गुणवाले
पुरुषों के सहवास से दुर्बुद्धि वाला पुरुष भी सद्गुणवान् हो जाता है ॥ ४० ॥

उक्त च—हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।

समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४१ ॥

अ०—हे तात ! हीनैः सह समागमात् मति हीयते हि, समै च समताम् एति,
विशिष्टै च विशिष्टताम् (एति) । व्या०—हे तात ! हे प्रिय ! 'सिन्धवे पितरि पूज्ये
च तातशब्दः प्रयुज्यते' इति । हीनैः=स्वाऽपेक्षया न्यूनस्वभावबुद्धिगुणादिभिः
पुरुषै सह समागमात् = सदा सहयोगात्, मति = स्वकीयबुद्धि गुणा स्वभाव-
श्चेति, हीयते=नीचतां याति, हि=निश्चयार्थं । अथ च समैः=स्वसमानगुणशालिभिः
समागमात् स्वबुद्ध्यादिकं समतां=समानस्थितिम्, यादृशं भवेत् तत्रैवेत्यर्थः, एति=
प्राप्नोति । अथ च विशिष्टै = स्वाऽपेक्षया गुणादिभिरुत्कृष्टै सह समागमात् विशि-
ष्टताम्, महतीं स्थितिमिति यावत्, एति प्राप्नोति ।

भा०—नीच पुरुषों के सग से श्रेष्ठपुरुष भी नीच काम करने वाला हो जाता है,
समानगुणी जन के सग से अपनी यथास्थिति में ही रहता है और श्रेष्ठपुरुष के सग से
नीच भी श्रेष्ठ हो जाता है इसलिए महापुरुषों का सग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो
बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तत्
मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ।'

व्या०—अत्र = अस्मिन्, अन्तरे = अवसरे, विष्णुशर्मनामा = 'विष्णुशर्मा' इति
नाम यस्य स (बृहद्वीहि) सादृशं, सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञ = सकलानि च ज्ञानि
नीतिशास्त्राणि चेति सकलनीतिशास्त्राणि, तेषां तत्त्व = गूढाऽभिप्रायः, तत् जानाति
इति, सकलशास्त्रेषु विद्वान् इत्यर्थः, महापण्डित = विबुधाऽग्रगण्यः । बृहस्पतिरिव =
सुरगुरुविद्युपमा, अब्रवीत् = अकथयत् । हे देव ! हे राजन् ! एते राजपुत्राः = राज
पुत्रा राजपुत्रा, महाकुलसम्भूता = महाकुले सम्भूता महाकुलसम्भूता = श्रेष्ठ
राजकुले लब्धजन्मान् सन्ति, तत् = तस्माद्देतो, एते, मया = विष्णुशर्मणा, नीतिं =
नीतिशास्त्रम्, ग्राहयितुं = सम्यग् बोधयितुं, शक्यन्ते ।

भा०—राजा के निवदन के बाद उसी समय 'विष्णुशर्मा' नाम का पण्डित जो कि
सकल नीतिशास्त्र को जानता था और बृहस्पति के उमान था उसने कहा—हे राजन् ! उत्तम

अभ्यन्तरं = मध्यं तस्मिन्, षण्णां मासानामपरिसमाप्तौ यावदित्यर्थः । भवत = राज्ञ , पुत्रान् = कुमारान् , नीतिशास्त्रम् अभिज्ञानन्तीति नीतिशास्त्राभिज्ञास्तान् = नीतिनिपुणान्, करिष्यामि = विधास्यामीति । तत राजा = सुदर्शन , सविनयम्-विनयेन सह वर्तमानं यथा स्यात्तथा = सप्रशय, पुन. = भूय' उवाच = उक्त्वान् ।

भा०—इस हेतुसे (बुद्धिमान् होने के कारण) छ मास के अन्दर आपके पुत्रों को नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूंगा । इसके बाद सुदर्शन राजाने फिर नम्रतापूर्वक कहा—

‘कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।

अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठित. ॥ ४४ ॥

अ०—कीट अपि सुमन सङ्गात् सतां शिर आरोहति, अश्मा अपि महद्भि सुप्र-
तिष्ठित (सन्) देवत्वं याति । व्या०—कीट = बुद्धजन्तु , अपि=स्पृशान्नाऽनर्होऽपि
सुमन सङ्गात्—सुमनसां = कुसुमानां सङ्ग = योग तस्मात्, पुष्पेष्वस्थानादित्यर्थं,
सतां = महापुरुषाणां राजादीनाम्, शिर = मस्तकम्, आरोहति = आश्रयति, शि-
रसि स्थानं लभते इत्यर्थ । एवम् अश्मा = प्रस्तर , अपि = निकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि,
महद्भि = श्रोत्रियपुरुषैः (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय सस्काराद् द्विज उच्यते । विषया
याति विप्रस्य त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते) । सुप्रतिष्ठित. = वेदमन्त्रादिना प्रतिष्ठां नीतः,
सन्, देवत्वं = लक्ष्मीनारायणादिदेवभावम्, याति = प्राप्नोति ।

भा०—जैसे बुद्धजन्तु कीटा भी पुष्प के योग से बड़े २ पुरुषों के शिर पर जा बैठता है और पत्थर भी बड़े पुरुषोंसे मूर्तिरूपसे स्थापित करने पर देवभाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही मेरे पुत्र मूर्ख होनेपर भी आप जैसे विद्वान् के आश्रय में रहने से गुणवान् हो जायेंगे ॥४४॥
अन्यच्च—यथोदयगिरेर्द्वयं सन्निकर्षेण दीप्यते ।

तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४५ ॥

अ०—यथा द्रव्यम् उदयगिरे सन्निकर्षेण दीप्यते, तथा हीनवर्ण अपि सत्स-
न्निधानेन दीप्यते । व्या०—यथा=यद्वत् , द्रव्यम्=उदयाचलसमीपस्थं चाकचिकथा
दियुक्तपापाणादिकम् , उदयगिरे = उदयाचलपर्वतस्य सन्निकर्षेण (हेत्वर्थे पञ्चमी)
सामीप्यादित्यर्थ , दीप्यते = प्रकाशते, दीप्तिमद् भवति । तथा = तद्वत् , हीनवर्ण
अपि—हीन निकृष्ट वर्ण जातिर्यस्य, अथवा हीना वर्णा अक्षराणि यस्य स=जात्याऽ-
पकृष्ट अक्षरज्ञानशून्यो वेत्यर्थ , एतादृश पुरुषोऽपि । सतां=महताम्, विबुधानामिति
यावत् , सन्निधानं=सहवास , आश्रयणमिति यावत् , तेन (हेत्वर्थे तृतीया), मह-
तामाश्रयणादित्यर्थ । दीप्यते = शोभते, उत्कर्षं लभते इत्यर्थ ।

भा०—जैसे तेजहीन द्रव्येन पत्थर आदि वस्तु उदयाचल के समीप में रहने से तेजस्वी बन कर चमकता है, वैसे छोटी जाति में उत्पन्न हुआ अथवा कुछ भी नहीं पढ़ा हुआ ऐसा पुरुष भी बड़े पुरुष के आश्रय से बड़ा बन जाता है ॥ ४५ ॥

अथ मित्रलाम-प्रस्तावः

अथ प्रासादपृष्ठे सुस्रोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—भो राजपुत्राः शृणुत—

व्या०—अथ=समर्पणानन्तरम्, प्रासादपृष्ठे=प्रासादस्थ=सौधस्य राजभवनस्य, पृष्ठम्=उपरिभाग चन्द्रशाला तस्मिन्, सुस्रोपविष्टानाम्—पुस्रम् उपविष्टाः तेषां शान्तिपूर्वक स्थितानामित्यर्थः । राज्ञ पुत्रा राजपुत्रा तेषां=नृपस्य तनयानामित्यर्थः । पुरस्तात्=समक्षम् । प्रस्तावस्य = अवसरसङ्गतेः, क्रमः=रीतिः तेन, अवसरं प्राप्येत्यर्थः, स विष्णुशर्मा पण्डित अब्रवीत्=कथयामास (कथयमाणमिति शेषः) । भो राजपुत्राः=भो—इति सम्बोधने, हे राजतनयाः यूयम् आकर्णयत ।

भा०—राजपुत्रों के सुपर्द करने के बाद राजभवन के ऊपर छतपर सुखपूर्वक बैठे हुए राजपुत्रों के सामने अवसर देखकर विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—हे राजपुत्रो ! सुनो—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ १ ॥

भा०—धीमतां काल. काव्यशास्त्रविनोदेन गच्छति, मूर्खाणां (तु काल) व्यसनेन निद्रया कलहेन वा (गच्छति) । व्या०—विद्य. सन्ति पृथामिति धीमन्त तेषां = विदुषामित्यर्थः, काल = आयुःसमयः, काव्यम्—कवे. कर्म काव्यं=रसान्वितं व्याख्यानं वचनमिति भावत्, तदेव शास्त्रम् इति काव्यशास्त्रम्, तेन यो विनोदः=आनन्दः तेन काव्यशास्त्रविनोदेन = आलोचने भवणे वा सति रसजनकवाक्यसमूहात्मकशास्त्रविनिताऽऽनन्देनेत्यर्थः, गच्छति = व्यतीतो भवति, न तु व्यर्थो गच्छति । मूर्खाणां = शास्त्रविमुखानां (तु काल = आयुःसमय.) व्यसनेन—अस्यते चित्तम् अनेनेति व्यसनं तेन = सुरापानघृतक्रोडासृगयादिव्यसनेनेत्यर्थः । निद्रया = दिक्-निद्रया, स्वप्नतुल्यया तामसाशाऽऽपन्नया मद्यपानादिजन्योन्मत्ताऽवस्थयेति भावत् । कलहेन = विवादेन वा, गच्छति = अतिवर्तते । इति ।

भा०—बुद्धिमान् लोग अपने जीवन-समय को नीतिशास्त्रादि में बिता कर सार्थक करते हैं और मूर्खलोग तो जुवा खेलना आदि व्यसनो में या तो क्लेश टंटा में अपने जीवन समय को बर्बाद करते हैं, इसलिये अपने को नीतिशास्त्र के चिन्तन में विनोद करना चाहिए ॥ १ ॥

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयिष्यामि ।
राजपुत्रैककम्—आर्य ! कथ्यताम् । विष्णुशर्मोवाच—शृणुत यूयम्,
सम्प्रति मित्रलाम-प्रस्तूयते, यस्याऽयमाद्यः श्लोकः ।

व्या०—तद्=तस्मात्, 'यत् धीमतां काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति' इत्य-

रमान्नेतो रिश्वर्यं, मयतां = पुष्पाण्य (राजपुत्राणाम्), विद्योदाय = श्रीश्वर्यं इव
 (विष्णुधर्मा) काककूर्मसौम्य-काकज कूर्मज कककूर्मो, तौ वादिर्वेदाभ्ये तैर्त्तं =
 काककूर्मैरिजमूककम्पीनामित्यर्थो विविक्तं = विविधां रमणीयां, मयोद्धारिणीमि-
 त्यर्था, कथाम् = उपन्यासश्च वातामिति वाच्यं कथविष्यामि = कथयामि (ए-
 र्त्तुत्वा) राजपुत्रै-राज्ञा पुत्राः राजपुत्रास्तैः = राजकमारैः, पठम् = अभिहितम् ।
 धर्त्तं ! = वृत्त ! कथ्यताम् (कथा मयत्रिरिति शेषः) । तद्वन्तरम् विष्णुधर्मं
 पञ्चिता, उवाच = उवाचान् पूषम् = मयन्ता राजपुत्राः, मयुत = सावधानम्
 आकर्णयत धर्म्यति = पठसिम् धर्म्ये मित्रकामा—मित्रस्व = सुहृदो कामा =
 प्राप्ति मित्रकामाण्यविषयः प्रकृष्यते = कथाम्प्रदर्शयन्त्यते 'मित्रं श्रीरममवति,
 श्रीरम् मित्रं कर्त्तव्यम्' केन प्रकरोत वा श्रेष्ठमित्रं कथ्यते इत्येतत् सच कथयामि ।
 वस्य = मित्रकामाण्यस्य कथयामास्य अर्थ = कथयामास, वाचा—वादी अथ
 प्रथमस्य श्लोक = अहोपुत्रपुत्रात्मककथिता, अस्तीति शेषः ।

भा०—वीयात् पुत्रो अ सम्य वादिशोर से श्री म्तीठ होवा परिधि रतमिने
 वाचके शिरोर के शिरे मे काक, कूर्म वादि श्री विविध मनोरंजक कथाने कथना । तत्र
 राजपुत्रो मे कथा—अर्थ ! कथिथे । (वरुणे पत्र) विष्णुधर्माज्ञेने कथा—आवनेप सुदिष्ट,
 इत ममय मित्रकाम नाव श्री कथा मारम्भ करवा हूँ मित्रम् नर परिष्ठा श्लोक ई—

असाधया विष्टहीना बुद्धिमन्ताः सुहृत्तमाः ।

साधयन्त्याहुः कर्याणि काककूर्मसृगाऽऽकृषत् ॥ २ ॥

अ — असाधया विष्टहीना बुद्धिमन्ताः सुहृत्तमाः काककूर्मसृगाऽऽकृषत् कार्याणि
 आहुः साधयन्ति । भा०—अ विष्टान्ते साधयानि = असाधकापपापतमकविमिषका-
 रणाणि वेदान्ते असाधया विष्टयावा इत्यर्था । विष्टेक=सुवर्जकप्यकारिद्रव्येन कथे-
 व हीनाः = दुःखाः, दरिद्रा इत्यर्था । बुद्धिः विष्टते वेदान्ते बुद्धिमन्ताः = बुद्धिमति-
 श्रुतिशैलाश्च वन्त इति वाच्यं ('बुद्धिस्तत्कामिषी श्रेया अतिराम्यामिषोचरा ।
 अथां मयनकोम्येपद्याकिधी श्रुतिमां विदुः ॥ इति) श्रीअर्थ = परस्परविष्कार्यं इदं
 वेदान्ते सुहृदा, अतिशयेन सुहृदा इति सुहृत्तमाः = परस्परम् अतिशयेन सौहार्दं
 आश्रयत सर्वकार्यकम्पत्वात् । सन्ता, काकज (वाचसा) कूर्मज (कच्छपा) सृगज
 (हरिण) आतुज (मूषक) इति काककूर्मसृगाऽऽकथना, तै इवेति काककूर्मसृग-
 ऽऽकृषत् । आहुः = श्रीअर्थ कार्याणि-मारण्यकार्याणि साधयन्ति = सम्पादयन्ति ।

भा०—वैद्वे वाच-कूर्म-हरिण-मूषा इन चारों के बात शेरें साधन तथा सब नहीं
 था, ती भी अपनी बुद्धिमत्ता के साथ साथ मित्रता से एकमत होकर असाध्य कार्य ही की
 तरह किया जैसे काक-कच्छारिक सृगज तथा मयपिष्ट की बुद्धिमान् मित्रपत्र मित्रक
 असाध्य कार्य ही की तरह कर लवने है ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्देशादा-
गत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिद् अवसन्नायां रात्रौ
अस्ताचलचूडाऽवलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुप-
तनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं पाशहस्तं व्याधम्
अपश्यत् । तम् आलोक्याऽचिन्तयत्—अथ प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातम्,
न जाने किम् अनभिमतं दर्शयिष्यति, इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण
व्याकुलश्चलितः ।

व्या०—राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः=राजकुमारा, ऊचुः=कथयामासुः, एतत्='असाधना'
इत्यादिश्लोकोक्तं यत् काकादीनां निदर्शनं (दृष्टान्तम्) तत् कथम् = केन प्रकारेणाऽ-
स्ति ? इत्येव प्रश्नानन्तरम्, स = विष्णुशर्मा पण्डित, अब्रवीत् = अकथयत्—गोदाव-
रीतीरे—गोदावर्याः=गोदावरीनामनद्या, तीर = कूलं तस्मिन्, विशालः=विस्तृतशा-
खादिपरिकर, शाल्मलीतरुः='शाल्मली'नामा तरुः=वृक्ष, अस्ति=विद्यते । तत्र=त-
स्मिन् वृक्षे, नानादिग्देशात्—दिक् च देशश्च तयो समाहार दिग्देशम्, नाना च तत्
दिग्देश चेति तस्मात् = विभिन्नदिश विभिन्नदेशाच्चेत्यर्थ, आगत्य = एत्य, रात्रौ =
निशायाम्, पक्षिणः—पक्षा विद्यन्ते एषाम् इति पक्षिणः=क्षणाः पत्रप्रिण, निवसन्ति=
रात्रिकाल यापयन्ति । अथ गच्छति समये, कदाचित्=एकस्मिन् समये, रात्रौ=निशा-
याम्, अवसन्नायां = क्षीणायाम्, प्रभातायां मर्यामिति यावत्, भगवति—भगाः=
ऐश्वर्याणि सन्ति अस्य भगवान् तस्मिन्=ऐश्वर्यशालिनि, कुमुदिनीनायके—कुमुदिन्या
नायक तस्मिन्=कुमुद्वतीपती, चन्द्रमसि = शशाङ्के, अस्ताचलस्य चूडा=शिखरम्,
तदवलम्बते इति अस्ताचलचूडावलम्बित् तस्मिन्, अस्त गते सतीत्यर्थ । लघु=द्रुत
पतनम् उद्वयन यस्य स 'लघुपतनक', लघुपतनक इति नाम=प्रमिधान यस्य स =
लघुपतनकनामा, वायसः=काक, प्रबुद्धः=प्रकर्षेण जागरित, सन्, द्वितीयम्—द्वयोः
पूरण द्वितीयस्त द्वितीयम्=भ्रम्यम्, कृतान्तमिव—कृत सृष्टम् अन्तयति मारयति
य कृतान्तस्त यममिव, अटन्तम्—अटतीति अटन्त=भ्रमन्तम्, पाशहस्तम्—पाशः=
जाल हस्ते यस्य स पाशहस्तस्त = करगृहीतजालम्, व्याध कञ्चित् मृगयुम्, अप-
श्यत्=ददर्श । त=मृगयुम्, अवलोक्य=साक्षात्कृत्य, स वायस अचिन्तयत्=चिन्तां
कृतवान्, अथ = अस्मिन् दिवसे, प्रातरेव = प्रभानसमये निद्रात्यागाऽवसरे एव,
अनिष्टदर्शनम्—न इष्ट अनिष्टस्तस्य = अनभिलषितस्य अमङ्गलरूपस्य व्याधस्य
दर्शनम्=अवलोकनम्, देवात् जात सम्भूतम्, न जाने=अह (काक) न वेदि, किम्
अनभिमत = किञ्चिद् अशुभम्, दर्शयिष्यति=व्रटयिष्यति, इत्युक्त्वा—इति वाक्य-
मुच्चार्य, तदनुसरणक्रमेण—तस्य व्याधस्य अनुसरण = पश्चात् गमन, तस्य क्रम =

आचरन्तम् तेन आनुकम् = विज्ञेयैव आनुकम् इत्थं चरितम् = अचरन्तम् ।

११७—एव एवमुच्यते ये वदन्—अत्राप्येव एव को यो हित् करणे वे अत्र-अत्रार्थे
 एव इत्यन्तं यदाया सो कित्त मन्धर है । विष्णुधर्मो वे वदा (कदा इत्युच्यते)—तेषां
 नाम को वदो के विचारे पर एक विद्याय 'सैमक' वा इत्थं है एत इत्थं पर यतो इत्थं है
 बहुत से पश्चिम ईश-नेत्रालयो से आकर राशि विद्यारि वे, एक बार आठमक इत्थं को
 मयनाम् कुमुदिनी एक पत्रमा अस्त हो मने, एव एव 'अनुपपन्नक' नामक एक वे वदो
 ही वम के उद्भव और हाथ में धाक के के वृमते हुए एक म्याय को देखा, आन को एक
 कर कलक लीकने कला नाम माठम्याय में ही अनात्मिक (अज्ञानपूर्वक) दर्शन हुआ
 व माह्यम वह कित्त मन्धर का अन्तिम (आरपी) करण । इत्या अचरन्तं एत म्याय के को
 पीछे वह काक आनुक होकर एक दिवा ।

वत—शोकस्यमसहस्रापि मयस्यमप्यतामि च ।

द्विषसे द्विषसे भूदम्यविद्यामि न पश्चिद्यतम् ॥ ३ ॥

न—शोकस्यमसहस्रापि मयस्यमप्यतामि च द्विषसे द्विषसे भूदम्य विद्या
 अन्ति न तु पश्चिद्यतम् । न्वा—वता कारकमाह—शोकसि । शोकस्यमसहस्रापि
 स्वाभावि = मिमिषामि तेषां सहस्राणि, सहस्रका शोकस्य मिमिषामसहस्रापीत्यर्थः ।
 मयस्य स्वाभावि = मिमिषामसहस्रापि तेषां सतामि अतका मयकारकाणि केवरी,
 द्विषसे द्विषसे—अतिद्विषमित्यर्थः । भूदं—पूर्व इत्यर्थम् आविद्यमि—अज्ञानपूर्वक-
 त्वर्थः । न तु पश्चिद्यतं = इतिमन्तं इत्यर्थम् तामि शोकसदित्वावामि वराधकन्तमि ।

११८—भूदं न्न नये एवमस्य से ही अित्तमति शोक और एव के कारणों को उतर
 करता है न कि शिष्टम् नयेकि विद्याम् एव अपयो तितुक्ता से ही शोक के कारणों को
 यो भूदमस्य वदा इति है इत्यर्थमे कलक यो नयेही इत्यनुत्तार व्यापारका इत्थं व मने
 पावे देखा अथात करणे में मन्धर हुआ ॥ ३ ॥

अन्त्य—द्विषद्विषामिदमस्य कर्तव्यम् ।

वत्यापौत्पद्य बोद्धम्यं महद्भयमुपस्थितम् ।

मरणम्यपिशोकात् किमद्य निपतिष्यति ॥ ४ ॥

न—वत्याय उत्पद्य एव मरणम्यपिशोकात् किं निपतिष्यति (इति वत्)
 अन्त्य उच्यते (एत्) कोत्थम् । न्वा—किं निपतिष्यति = सुखवर्षि-
 वात् (आचरन्तितेषां) मिमिषामि सुखिनाम् इत्थं = अन्त्यमन्त्यार्थं तु, अचरन्तं = नि-
 श्वर वत् कर्तव्यम् = अज्ञानवत् । अन्त्यमिदं अह—अन्त्यमिदं । अतिद्विषं अन्त्या
 अन्त्यतो भूयेत्यर्थः । अद्य = अस्मिन् द्विषसे मार्यं = मृत्युः, अन्त्या = रोयात्पन्त्या ।
 शोका = इत्यनुत्तार-मरणकदावा, तेषां मन्थे किम् = अज्ञानम्-मार्यं इत्यादि शोको
 वा, निपतिष्यति = अन्त्यमिति । इति = इत्येवं अकारेण एव एव महद्भयं = अतिद्विष-
 नम् अर्थं = अचरन्तित्यम् अचरन्तं = अज्ञानम् इत्यात् एतत् एव बोद्धव्यम् ।

भा०—इत संसार में अपना संरक्षण चाहने वाले जनों का यह कर्तव्य है कि—रोजाना प्रातः काल उठकर मरण या दुःख व्यथना शोक इन तीनों में से जो आज आने वाला हो—उसका विचार करके तब उस महान् षय को दूर करने के प्रयत्न में सावधान बने ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याघ्रेण तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम् । स च तत्र प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पस्तांस्तण्डुलकणान् अवलोकयामास । ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान् प्राह—‘कुतोऽत्र निर्जने घने तण्डुलकणानां सम्भवः’, तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि प्रायेणाऽनेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम् ।

व्या०—अथ व्याघ्राऽनुगमनाऽनन्तरम्, (कृत्रचिरस्थले) तेन पूर्वोक्तेन व्याघ्रेण, तण्डुलानां कणास्तान्—तण्डुलखण्डानि इत्यर्थः, विकीर्य=भूमौ विच्छिप्य, जालं=पत्र-त्रिपञ्चादियन्धनरूप जालम्, विस्तीर्णं—भूमौ तण्डुलकणोपरि प्रसारितम्, (कश्चि-त्पुस्तके—‘विस्तीर्य’ इति पाठ तस्य प्रसार्य इत्यर्थो बोध्यः) स च=पूर्वोक्त व्याघ्रा, तत्र = समीपप्रदेशे, प्रच्छन्न = लतागुहमादौ तिरोहितो भूत्वा, स्थित = वर्तते स्म, अस्मिन्नेव काले=समये, चित्रग्रीवनामा—गिलति अनया सा ग्रीवा, चित्रा=नानारूप-वती ग्रीवा यस्य स=चित्रग्रीवनामक इत्यर्थः । कपोतानां राजा इति कपोतराजः=वृद्ध पारावत, सपरिवार परिवियन्ते एभिः इति परिवारास्ते सहितः सपरिवारः=परि-जनसहितः, वियति = गगने, = गच्छन् उड्डयन् सन्, तान् विकीर्णान् तण्डु-लकणान्, अवलोकयामास = ददर्श । ततः = दर्शनाऽनन्तरम्, कपोतराज स पारा-वताधिपतिः, तण्डुलकणलुब्धान्—तण्डुलानां कणास्तण्डुलकणाः, तण्डुलकणानां लुब्धास्तान्, तण्डुलखण्डोलुब्धान् कपोतान् प्रति आह = उवाच, अत्र = एतस्मिन्, निर्जने = न विद्यन्ते जना यत्रेति निर्जनं तस्मिन् मनुष्यमक्षरशून्ये, घने = कानने तण्डुलकणानां कुतः = कस्माद् हेतोः, सम्भवः=उत्पत्तिः, निर्जनघने तण्डुलसम्भवो भवेद्य वा इति, प्रयमम् निरूप्यतां = निपुणतया विचार्यताम्, यतः विना विचारं कणमरणे प्रवृत्तौ कृतायां सरयाम् अहम्, इदं=साहसम्, भद्रं = सुखदं न पश्यामि अनेन साहसोत्पादकेन, तण्डुलकणानां लोभेन, अस्माभि र्भ्रं कपोतरपि, प्रायेण= यादृश्येन, तथा = व्याघ्रेण कद्गुण प्रदर्श्य न्नानार्थं प्रेरितः पङ्के निमग्न पान्यः पक्षा-न्मारितः तादृशाऽवर्ये, भवितव्यमिति ।

भा०—उसके बाद उस व्याघ्र ने चावल के पत्तों को पृथ्वीपर छींकर ऊपर से जाल को फैला दिया और वह व्याघ्र पाम के छोटे पेटों के निकट छिपकर बैठ गया, उसी समय ‘चित्रग्रीव’ नाम के कबूतरों के राजाने अपने परिग्राम-सहित भातादा में उड़ते = उन चावल के पत्तों को देख दिया, उसके बाद उन नाबल के पत्तों को राजाने के लिये छोटी कबूतरों से

करोतराज मे कहा—रत मनुष्यहीन बहलमें पादक के कर्मों का संभव है ही सम्यक् है ? (जहां वही ही सकता है) इसीमें प्रथम अत नत वा विचार करिये । (साहच करके से मैं करोतराज बनना) कस्मान नहीं देख रहा हूँ रत पादकों के कर्मों के श्रेयही बनने को भी नेता ही (कथा कि सिद्धके करने से एक पादो ही लोभ के बहल के शोभ से ताकत के शोचक में बँस कर करता कहा) होना चहना ।

कङ्कपस्य तु शोभेन मग्नाः पशु सुबुस्तरे ।

बृहस्पत्याग्नेय सम्प्राप्ता पथिका सम्भृता यथा ॥ ५ ॥

न — कङ्कपस्य तु शोभेन सुबुस्तरे पशु मग्नाः पथिका बृहस्पत्याग्नेय सम्प्राप्ताः यथा सम्भृताः । या — कङ्कपस्य=सुबुस्तरेमग्नकराऽऽभूत्कनस्य बहवस्य तु शोभेकस्यापथ-
निकपयथा तु, सुबुस्तरे=अतिदुःखेनापि तस्मिन् अक्षयं सुबुस्तरे तस्मिन् अतिपाथे
इत्यर्थः, पशु=कर्म मग्ना=निपतिताः पथिका=पथ्यां यज्ञतीति पथिका=अग्निमा-
र्गयो पाथी बृहस्पती व्याजः तेक=जीर्णार्थेन सम्प्राप्तऽग्नेयं वाक्यन्तः अग्-
नया=येन प्रकारेण सम्भृताऽ=सृष्टुं यथा, अस्मानिरपि प्रायेण तथा अथितम्भ्य,
इत्यन्वयः ।

या—श्रेष्ठ शोभे के कर्म के शोभ से बह कर्मों पाद के करने से ताकत में शोच के
किने मग्ना और नहीं के पशु शोचक में बँस कर, उन शोभे की मार काया (देखे अपने
को ही करता होना) ॥ ५ ॥

कपोता ऊचुः—‘कथमेतत्’ साऽऽजयीत्—

कथा १

अहमेकदा इतिषारण्ये अरक्षपश्यम्—एका कृत्वा व्याजः क्वाता कुश-
हस्ताः सरस्तीरे मृत—‘माः मो’ पान्थाः । इत् सुवर्णकङ्कपं शुद्धताम्’ ततो
शोमाऽऽहयेन केनचिरपान्थेन आहाधिर्त—माम्पेन प्यत्त् सम्भवति
किन्तु अस्मिन् आरमसम्पेह प्रवृत्तिर्न विधेया ।

या—कपोता ऊचुः पारावताम्, ऊचुः=वदन्ति एव पृथक् व्याजेन पथिकस्य
मारवं इत तत् कथं=कन प्रकारेण जातम् ? इत्यर्थे इति सति सा—कपोतराज्य,
अजयीत्=प्रवृत्ता—अह कपोतराज्य एकदा=एकस्मिन् समये इतिवाक्ये=
अप्यति यत्पति तत्परिनिवृत्तं परिमत् तत् अरक्षं=अरक्ष, इति=इति=इति-
रथं च तत् अरक्षं वेति तस्मिन् ‘इन्द्रकाश्रयं वने इति पावत् अरक्षं=अरक्ष इति
अरक्षं=अरक्षं सन् (अरक्षमालम्) अपरमजयइत्याम् । तथा हि—एका कथता बृह-
कङ्कपु व्याजः=विधेयेन आतमन्तात् विधिनि=ग्रन्था आवाति वचादिकम् इति
व्याजः, एवाग्नेय=इतराग्नं कुला सति इतने अरक्ष साऽऽहयता, तथाप्युता सन्
सरमिन् अरक्षं धूमितकता अरिमत् इति राः=अरक्ष, अरक्ष तीर्त तस्मिन् अरक्ष-

तटे ह्यर्थः द्रुते = कथयति—भोः भोः पान्था ! = (आदरे द्वित्विकि) हे हे पथि-
का !, इत्=मम करस्थितम्, सुवर्णस्य कङ्कण सुवर्णकङ्कणं=स्वर्णमय कराऽऽभूषण
वलयम्, युष्मामि गृह्यताम् । तत लोभेन आकृष्ट तेन लोमाकृष्टेन=लुब्धेन केनचित्
पान्थेन = मार्गणेन, आलोचित=चिन्तितम्, भाषेन=पूर्वजन्मकृतपुण्येन दैवेन वा,
एतत्-बहुमुख्य सुवर्णकङ्कणम्, सम्भवति = सम्यक् प्राप्तं भवति, किन्तु अस्मिन्
आत्मसन्देहे आत्मनः = स्वस्य सन्देह = मरणशङ्का यस्मिन् कार्यं वर्तते आत्म-
सन्देहस्तस्मिन्, मरणसन्देहास्पदकार्ये ह्यर्थः, प्रवृत्तिः = साहसप्रयत्न, न
विधेया = न कर्तव्या ।

भा०—क्यूतरों ने पूछा—व्याघ्र ने पथिक को मार डाला यह कथा किस प्रकार है ?
तब 'चित्रग्रीव' नाम का क्यूतर कहने लगा—मैंने दक्षिणदिशा के 'दण्डक' वन में घूमते २
देखा कि—एक बृद्ध व्याघ्र स्नान करके हाथ में कुशा लेके तालाब के किनारे बैठकर बोलता
था कि हे यात्री लोग ! यह सोने का कड़ा ले लो, ऐसा सुनकर लोभ के अधीन हो के एक
यात्री ने सोचा कि भाग्य से सुवर्ण का कड़ा मिला है, लेकिन जान के खतरे वाले कार्य में
साहस की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

यत—अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।

यत्राऽऽस्ते विपसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

भा०—अनिष्टाद् इष्टलाभे अपि शुभा गतिः न जायते, यत्र विपसंसर्गः आस्ते
तद् अमृतम् अपि मृत्यवे (भवति) । व्या०—न इष्टम् अनिष्ट तस्माद् अप्रियाद्
अहितकरात् व्याघ्रादे इष्टस्य लाभ इष्टलाभस्तस्मिन् = स्वेप्सितकङ्कणलाभेऽपि,
शुभा = कल्याणदा, गतिः = गम्यते इति गति फलं दशापरिणाम इति यावत्, न
जायते = न सम्पद्यते । तत्र इष्टान्तम्—यत्र = यस्मिन्, अमृते, विपस्य = आरलस्य,
संसर्गः = किञ्चिन्मात्रसम्बन्ध, मिश्रणभावात्मक, आस्ते = वर्तते, तत् = तादृशम्,
अमृतमपि = मृत्युनिवारकमपि, मृत्यवे = मरणाय भवति ।

भा०—जैस अमृत यद्यपि बहुत इष्ट वस्तु है, तो भी विष का संसर्ग होने से उसको
त्याग देना चाहिये, वैसे ही अनिष्ट करने वाले प्राणीसे अपना इच्छित वस्तु को ग्रहण
करने से भी आन्तरि में दुःख होता है, इसलिये सोने का कड़ा भी त्याग देना चाहिए ॥६॥

किन्तु सर्वत्राऽर्थार्जनप्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

भा०—नर संशयम् अनारुह्य भद्राणि न पश्यति, पुनः संशयम् आरुह्य यदि
जीवति, (तदा) पश्यति । व्या०—किन्तु=परन्तु, सर्वत्र=सर्वस्मिन् स्थले, अर्थानाम्
अर्जनं अर्थार्जनम्, तस्य प्रवृत्तिः तस्या = धनैकत्रीकरणप्रयत्ने ह्यर्थः, सन्देह एव

प्रत्ययवाचकानामर्थं भवति । तथा च कर्त्तव्ये प्रमाण्य उक्तम्—अभिहितम्—न तं च वापति । वरः = अङ्गुष्ठम्, संज्ञकम् अवाक्यम् = अस्मिन्कार्त्तव्यं प्रवृत्तौ इति धीनिष्यामि अभिष्यामि वा इत्येवम् आत्मनः जीवन्मरणपर्यन्तम् अङ्गुष्ठा अङ्गानि = अङ्गुष्ठकालादिपञ्चमवर्गानि न परवर्ति = न कथ्यते । इव = किन्तु, संज्ञकम् = जीवन्मरणपर्यन्तम् इत्यत्र वाक्यम् = प्राप्य प्रत्ययानि अतिशयेति वाक्यं यदि जीवति = अभिहितं, नदा भङ्गानि परवर्ति = कथ्यते, इति ।

भा०—यत्र नैव पर्यायैस्त्वो अत्रैव अर्थे तत्र नैव प्रथम मरण इव भावति यत्र कर्त्तव्यं ही वाता ई केचिन् एव कर्त्तव्यं नैव इव कर्त्तव्यं 'इव नैव तिष्ठति हो, वा ही मरण ही—इव विद्यत कर्त्तव्यं ही कर्त्तव्यं करमा पश्येति इत्य कर्त्तव्यं ही ही एव नैव तिष्ठति होयौ ई ३ ७ ५

तच्छिष्यप्यामि तावत् । प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तत्र कङ्कणम् ।' । प्याशो हस्तं प्रकाशं दर्शयति । पान्थोऽवदत्—'कर्त्तव्यं मारुतमके स्वयि किञ्चासः ।

भा०—तत्कालमत्र अस्याग्निं कङ्कणं वर्तते न वा इति अन्वितवत्तात् इतो ? तावदिति वाच्यताकृतौ, शिष्यवर्गिणः कङ्कणस्य विद्यतं करोमि कङ्कणस्य विद्यतं वर्त्ते प्रकाशं—अभिहितं अथा स्वात्तया, ब्रूते = कथयति, एव वापी इति शेषः । कुत्र = कश्चित् स्वामे तत्र (स्यात्तस्य) कङ्कणम् वर्तते इति शेषः । प्याशः—अङ्गुष्ठा इत्यत्र एव इत्यत्र अन्विष्यन्मर्यादेः कङ्कणं एव वर्तते तं कुत्रम् प्रकाशं = निस्तीर्य दर्शयति वाच्यतेति शेषः । तत् इति पान्थोऽवदत् वापी अथवदन्तयाच कर्त्तव्येव प्रकाशं मारुतमके—मारुतमिति वाच्यते इति मारुः वातकम्, मारुः आत्मा शरीरं स्वनाथे वा एव एव मारुतमकस्तस्मिन् = हिंसे, स्वयि = यवति विद्यायाः कर्त्तव्यो मये । हिंसे न विद्यायाम्पि स्वेषामपि भवतीति भावः ।

भा०—तुल्यं च कथा ई किं नही एव यत्र नैव प्रथम विद्यत कर इति (विद्या शेषकरी) नर वापी वीच्य—'तुम्हाय कङ्कणं कर्त्तव्यं ई ?' (नर तुल्यकरी) अत्र नैव अथवा हाव कथा कर्त्तव्यं कङ्कणं वयाच । एतके एव वापी वीच्य 'ए विद्या कर्त्तव्यं वाच्यं कुर वापी ई, एतके नैव कर्त्तव्यं विद्याय कर्त्तव्यं ।

प्याश उवाच—'शुभु रे पान्थ । प्रायेण शौचमङ्कणमामहम् अतीव शुद्धं वासम् अनेकगोमालुपाण्यं अथात् मे पुत्रा सुता वाप्यस्य बन्धुत्वीमयाहम् । ततः केचिन्मार्त्तव्यमपि—'वानपमोर्त्तव्यं अरतु भवान्' इति । तदुपमङ्कणमिदानीमह स्नानशीला वाता शुद्धा गच्छित्तनकाहन्ता न कर्त्तव्यं किञ्चासमूमि ? ।

भा०—प्याशः—शुभोक्तं कर्त्तव्यं, अथात्—अथात् । रे पान्थ ! अत्रे वापिन् । अङ्गुष्ठात् अत्रार्त्तव्यं मारुतमपि—'तुम्हाय कुर वापी वीच्यं, वीच्यत्वं वृत्ता, तस्यात् वीच्यत्वं—अथात्—अथात्, अहम् (प्याशः) अत्रि—अथात्—अथात्—'शुभोर्त्तव्यं

घृतम्-भाचरण यस्य स अतिदुर्घृत' = हिंसादिदुराचरणः, आसम् = अभूवम् । अनेन गोमानुपाणां = गावश्च मानुषाश्च गोमानुषा, अनेके च ते गोमानुषाश्च अनेकगोमानुपास्तेषाम्, बहुना गवां मानुषाणाञ्चेत्यर्थ । वधात् = हननात्, हननजन्यपापपुञ्जादिति यावत् । मे = मम, पुनाः = तनुजा, दाराश्च = गृहिणी च, मृताः = निघन गता, अहं च (व्याघ्र) वशेन हीनः वशहीन = निर्वाशो जातोऽस्मि । तत् = वशनाशानन्तरम्, केनचिद् धार्मिकेण = धर्मम् उपदिशति य स धार्मिकस्तेन धर्मोपदेष्टा पुरुषेणेत्यर्थ, अह (व्याघ्र) उपदिष्ट = उपदेशेन नियन्त्रितोऽस्मि, आज्ञाऽङ्कितोऽस्मीति यावत् । भवान् = त्वम्, दानधर्मादिकम्-दानमेव धर्मं दानधर्मं, दानधर्मः आदिर्यस्य तत् दानधर्मादिक दानप्रभृतिपुण्यकर्म, चरतु हृति = क्रोरित्वत्यर्थ । तद्गुपदेशात् = तस्य धार्मिकस्य पुरुषस्य उपदेशः = आज्ञात्मक शिक्षण तस्मात्, इदानीं = वर्तमानाऽवस्थायाम्, अह = (व्याघ्र) ज्ञानशीलः = ज्ञान शील यस्य स, प्रिसन्ध्य ज्ञानकर्ता, वृद्धः = जीर्णशरीर, अत एव गलितनखदन्त = नखाश्च दन्ताश्च नखदन्तम्, गलित = पतित नखदन्तं यस्य स गलितनखदन्त - हस्ते नखरहित मुखे दन्तरहितश्चेत्यर्थ । तादृश सन्, दाता = दानकर्ता, कथ = केन हेतुना, न विश्वासभूमिः = विश्वासस्य भूमि-स्थान, पात्रम् ? न भवामि किन्तु भवान्येवेत्यर्थ ।

भा०—व्याघ्र ने कहा-अरे यात्रिन् ! दुनो, प्रथम ही युवावस्था में मैं बहुत हिंसामय कर्म करता था, बहुत से गौ और मनुष्योंको मारता था, उस पाप से मेरे पुत्र तथा स्त्री सख मर गये, मैं निर्वाश हो गया । उसके बाद क्रोड़ एक धार्मिक पुरुष ने मुझको उपदेश दिया कि 'तुम दान आदिक धर्म करो' । उसके उपदेश से इस वृद्धावस्था में नित्य त्रिकाल-स्नान सन्ध्या करनेवाला और वृद्ध होने से मुख में दाँत हीन, हाथ में नख हीन ऐसा मैं (व्याघ्र) विश्वास का पात्र क्यों नहीं हूँ ? (अर्थात् विश्वासपात्र ही हूँ) ।

उक्तञ्च—इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।

अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

अ०—इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृति क्षमा अलोभ इति अय धर्मस्य अष्टविधः मार्गः स्मृतः । व्या०—इज्या = यज्ञ, अध्ययन = स्ववेदशास्त्रादिपठनम्, दान सत्पात्रे वितरण, तानि, तपः = वान्द्रायणादितपश्चर्या, सत्यम् = ऋतम्, धृति - धैर्यम्, दुःखसहिष्णुतेति यावत्, क्षमा = क्षान्ति, अलोभः = असृष्टहा, वृष्णाराहित्य-मिति यावत् । अय धर्मस्य अष्टविध = अष्टौ विधा प्रकारा यस्य स = अष्टधा, मार्गः = उपाय, स्मृतः = कथित, शास्त्रेषु विद्वद्भिरिति शेषः ।

भा०—शास्त्रों में धर्म आठ प्रकारका कहा है, जैसे-यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तप, सत्य, धीरज, क्षमा और अलोभ । (इनमें से मैं दान करता हूँ, सत्य बोलता हूँ, लोभ नहीं करता, शत्रुपर मेरा विश्वास करो) ॥ ८ ॥

३ हि० मि०

तत्र पूर्वाभ्यर्चनं व्रत्तायमपि लेख्यते ।

उत्तरस्तु चतुर्षो मङ्गलमप्येष तिष्ठति ॥ ९ ॥

अ०—तत्र पूर्वा भ्यर्चनं व्रत्तायमपि लेख्यते उत्तरा चतुर्षो तु मङ्गलमपि पृथ तिष्ठति । अ०—उत्तर = उत्तु महानकारोयु अये, पूर्वा = प्रथमीकः, चतुर्षः = चतुर्षा वामाज्ज्येष्ठमहामतपघ्ना वर्मा इन्द्रार्चन् अपि इन्द्राय इत्यत्र इति इन्द्रार्चन् = कथामितिष्ठत्तर्ष, इन्द्रेणरित्यर्थः । लेख्यते = लिख्यते, कर्मैति लेख्य । उत्तरा चतुर्षोस्तु = उत्तरपठितकामाग्नेयानामको कर्मैस्तु, अङ्गलमपि = अङ्गल = उत्तरा जात्या = विषे चरितं वा कल्प ए इति मङ्गलमपि तस्मिन् मङ्गलमपि = चामिन्ने पदिकतुल्ये एव तिष्ठति = वर्तते इति ।

अ०—उत्तरार्थे वृत्तते अथ कर्मणि अतिद्या भीर वञ्च के फिर वाय, अथवय एव भी, एव करते हैं । केथिन एत एव भीर अथ भीर अथवे वे एव एते मङ्गलमपि के ही एव हैं भीर अथवे अथय के फिने ही कपवीये हैं । (अथवे एवा एव के ये मङ्गलमपि इति अथैव वेरा विद्यत्त करो) ॥ ९ ॥

मम जीतायाम् सोमविरहः, येन स्वहस्तस्थमपि सुकर्मककुर्वं वस्मै कस्मैचिद् दानमिच्छामि तथाऽपि 'व्यामो मानुषं आदति' इति श्लोकऽपचायो पुर्निकारः ।

अ०—मम = व्यामस्य एतायाम् = इत्याम् जीवविरहः = जीवस्य विरहः एतायाम्, जीवाम्भावो जात इत्यर्थः । येन = जीवाम्भावेन स्वहस्तस्थमपि = स्वस्य इत्यत्र स्वहस्तः, स्वहस्तौ तिष्ठतीति तं स्वहस्तस्य = एतन्माम्शुक्लकर्ममपि सुकर्त्तव्यं ककुर्वं परमे कस्मैचिद् अन्वयिनि दानम् = अर्चदितुम् इच्छामि = अतिक्रामि तथाऽपि = अथैवं काम परिवर्तय एतन्मदिवा मदीयमहाज्ज्येष्ठमहामागपि । व्यामो = आर्चकः, मानुषं = मनुष्यादिकम् आदति = मञ्चति इत्यर्थं जीवाम्भावेन कर्मकायः, हुनिकारः = कृमिवादि विद्यारिद्रम् अचरयो मचरीति ।

अ०—नेने वही एव सोमश्च एवम कर रिया है कि—अथै ह्राव क्य सीने का ककुर्व भी चित रिटी ये देवा वारणा हैं । तो भी व्याम मनुष्ये क्ये का कता है हेता जीवकवाव विद्यते ते मदी विद्या ।

पत—पताऽनुगतिके श्लोकः कुङ्कुमीमुपदेशिनीम् ।

प्रमाप्यति या ग्रामे पथा गाग्रमपि द्विजम् ॥ १० ॥

अ०—पताऽनुगतिके श्लोकः अथै साधे द्विजमपि यथा (तथा) उच्येद्विभी कुङ्कुमी मो ममानपति । अ०—पतत्य = गतीत्यत्र पूर्वमैतुस्यस्य आग्रेसव अनु पतिः = अनुसरत् वच्च सा पताऽनुगतिका, क्वाचीनाऽऽचित्तम्पाऽनुपारीत्यर्थः,

लोकः=लोकानां समुदाय, धर्मः=धर्मनिर्धारणे, यथा गोप्तं गां हन्ति इति गोप्तस्तं= गोहत्याकारिणम्, द्विजम्=अपि यथा द्वाभ्यां सस्काराभ्यां जन्मयज्ञोपवीताभ्यां जायते शुद्धयति स द्विजः, तं=विप्रम्, अपि=इव, धर्मे नो प्रमाणयति इत्यत्राऽन्वयः। तथा उपदेशिनीम्=उपदेशप्रदाम्, कुट्टनीं=शम्भलीं परपुरुषपरनार्यो भूमिचार कारयित्रीं स्त्रीम्, नो प्रमाणयति=प्रमाण न करोति ।

भा०—जैसे गोहत्या करने वाला ब्राह्मण तथा भूमिचार कराने वाली स्त्री (शुभाऽऽचरण करते हुए भी) धार्मिक उपदेश करने से प्राचीनधर्मानुयायी मनुष्यों में आश्चर्योच नहीं है । (वैसे ही मैंने प्रथम बहुत दिसा की है पर इस समय दिसादीप रहित होने-पर भी मेरे वचन में विश्वास नहीं हो सकता परन्तु सचमुच मैं विश्वासपात्र हूँ) ॥ १० ॥

मया च धर्मशास्त्राणि अधीतानि । शृणु—

भा०—मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़ा है । सुनो—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधात्तं भोजनं तथा ।

दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥

अ०—हे पाण्डुनन्दन ! यथा मरुस्थल्यां वृष्टिः, (सफला भवति यथा च) क्षुधाऽऽत्तं भोजनम्, (सफलं भवति) तथा दरिद्रे (यव) दान दीयते, (तव) सफलं भवति । व्या०—हे पाण्डुनन्दन ! पाण्डो = 'पाण्डुनाम्नो राज्ञः, तनयः=सुत' युधिष्ठिर, तसम्बुद्धौ हे युधिष्ठिर ! यथा मरुस्थल्यां=जलशून्ये शुष्कप्रदेशे वृष्टि=वर्षणम्, सफलं=सार्थकं भवति, यथा च क्षुधया आर्तः क्षुधार्तः तस्मिन्=क्षुधापीडिते जने, भोजनं=भोजनवस्तुदानम्, सफलं भवति, तथा दरिद्रे=धनहीने, यद् दान दीयत तद् सफलं=बहुफलं भवति इति ।

भा०—हे युधिष्ठिर ! जैसे कि सूखी भूमि में वृष्टि सार्थक होती है और भूखे को भोजन देना सार्थक होता है वैसे ही निर्धन को धनदान देना बहुत सार्थक है, (ऐसा मान कर मैं दान देता हूँ, तुम ले लो) ॥ ११ ॥

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ १२ ॥

अ०—यथा आत्मनः प्राणा अभीष्टा (भवन्ति) तथा भूतानामपि ते (भवन्ति) साधव आत्मौपम्येन भूतानामपि दयां कुर्वन्ति । व्या०—यथा आत्मनः=स्वस्य, प्राणा=अस्रव, अभीष्टाः=प्रिया, भवन्ति तथा भूतानामपि=स्वमित्रानां सर्वेषां शरीरिणामपि, ते=प्राणा अभीष्टा भवन्ति । अत्र एव, साधवः=सज्जना आत्मौपम्येन=उपमाया भाव औपम्य आत्मन औपम्य तेन स्वशुलनयेत्यर्थः । भूतानामपि=सर्वशरीरिणाम् अपि, उपरि, दया=प्राणाऽनुकूलं कृपाम् कुर्वन्ति ।

भा०—अपने प्राण जैसे अपने को प्यारे हैं, वैसे ही सब जीवों को उनके प्राण

१८१ है ना मरुत वा मरुत वा वाव के कात ववा रवे है व १९

उपर्यु— प्रयागपान च दामे च सुखदुःख प्रियापिप ।

भागमौपचरुत सुदवाः प्रमाणप्रधिगच्छति ॥ १३ ॥

१ — दुःखा अवाववावे दामे च सुखदुःखे विवाऽभिदे च अवाकीरनेन अवायम् अवितासस्ति । ५५०— सुखचरमायवाः (इवाव) अवाववायेकवायवे, वाचिक इवाऽपामे वा, एवं दामेकापरमे घवाऽपमे च सुखदुःखेज्जुत्वं च दुःखं येति अयोः अवाहाराः सुखदुःखं तत्रिजम् सुते खीओगकाएवमाकारिकपे सुखे च इवाववाऽवाऽपिउदे इवावर्त्त विवाऽभिदेकविधं च अविर्त्तं च तयोः अवाहाराः विवाऽभिवं तत्रिजम् विवेकवा देवदरुदे अवावाविदिवदे अविदमभवमणेवकारक विवाऽऽवाऽवाऽपी, अवापीवावेकवायवाः इवाव कीवादेव वाहारेव सुखवा अवाये इवावम अवितासस्ति = अवावदरवनि वावाति लमायेकवतीति ।

आ०— अणः कणमव होने से तथा वावादिनाच होने से त्रिधिवद से तथा अरिद विषय के ज्ञाता होने से सुख दुःखादि का अनुभव होता है वेना ही तब भेरी के होता है वेना लक्ष्म के वर म जोन मर जाने के उपर ववात् च इवाव के वे है व १३ म

अग्रव— मातृधरपरदारतु परद्रव्यषु लास्यत् ।

भासमबत् सयभूतषु या पश्यति स पण्डितः ॥ १७ ॥

अ०— वाः परदारेषु मातृधर पारुष्येषु कोडवत् सचक्षुषेषु अणमवत् परवति वाः वनिहताः । वा— वाऽनुदरा पारदारेषु अचीर्वा दाराः (इवाअरद वाववतुष चवाऽवाः) अिचलानुभवकलकेषु परदाराविषयर्त्तं । मातृधर अणवाते इति मातराः मातृ इव इति मातृधरत् अणवीकवाच्यं । परवति इति वीषः । वृष वीर्वा दृग्दर्शनं पृषवर्त्तानि तेषु परदृग्वाअभववाः । कोडवत् = कोडेषु इव कोडावीकवाच्ये । परवतीति वीषः । वृषम्—सर्वाति च वाति भूताति च तेषु सचक्षुषिवाः इवर्त्तः । भासमबत् = अणमवि इव अणमनिवेत्ववाः । परवति सा नुदरा पण्डिताः = विद्वान् विज्ञानी महापुरुष इति वावत् ।

आ०— अित पुरुष को पण्डितकी से अणवै वावा के अवाव माववा हो तथा परवम (वलु) से देखे के लमाव व केने की वाववा हो तथा तब जोष ने अणवतवाव इति देवे वही महापुरुष अवागरी (मर्त्त त्रिधेइव जिकीकी ववात्त ही मरातुम अवाते है) ॥ १७

वयञ्ज अनीय पुर्मताः, अम तत्तुम्ह वातुं सपत्नोऽइम् । तथा खीळम्—

१— अञ्ज = अर्थात् अतीव अणमवत् इर्मता = इववत्वावको विर्वेव, अति नेव हेतुना तत्तुम्ह = अणवत्तुम्ह = मवते इतुम्ह = अर्पितुम्ह अर्त्त सचक्षुष्यत्वेव अविता, अस्ति अवाअरवाव विर्वेवाव सावावादेव सुखमकइअव इवाव अणमवतुषु विर्विहमिति ।

भा०—तुम बहुत गरीब हो इसलिये सुवर्ण का दान तुम जैसे को देनेके लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ । शास्त्र में वैसे ही बताया गया है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय । मा प्रयच्छेऽश्वरे धनम् ।

व्याधितस्योपधं पथ्यं नीरुजस्य किमौपधै ॥ १५ ॥

अ०—हे कौन्तेय ! दरिद्रान् भर, ईश्वरे धन मा प्रयच्छ, (यत) व्याधितस्य औपध पथ्य भवति, नीरुजस्य औपध किम् ? व्या०—हे कौन्तेय ! कुन्या अपर्य पुमान् कौन्तय, तस्मिन्नुद्धौ हे कौन्तेय । हे युधिष्ठिर ! दरिद्रान्=निर्धनान्, भर=अन्न-वस्त्रादिना प्रतिपालय, ईश्वरे=धनवति पुरुषे, धन मा प्रयच्छ=न देहि, यत व्याधि तस्य=व्याधि सञ्जातोऽस्य इति व्याधितस्तस्य रोगिण इत्यर्थं । औपध=मेपजम्, पथ्यं=पथः अनपेत पथ्य हितकर भवति । नीरुजस्य=नास्ति रुजा यस्य स नीरुज-स्तस्य रोगहीनस्य औपधै किं प्रयोजनमस्ति? (अर्थात् न किमपि प्रयोजनमस्तीति)।

भा०—हे युधिष्ठिर राजन् ! निर्धनों का पाठन करो, धनी को धन देना निष्प्रयोजन होता है, कारण कि—रोगी को औपध देना सफल होता है, निरोगी को देने से कोई लाभ नहीं । (इसलिये हे यात्रिन्, मैं तुझे देता हूँ) ॥ १५ ॥

अन्यच्च—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

अ०—दातव्यमिति यद् दान देशे काले च अनुपकारिणि पात्रे दीयते, तद्दानं सात्त्विकं विदुः । व्या०—दानदातव्यमिति मि स्वार्थभावनया यत् धनादिदानं देशे=तीर्थस्थले, काले=पुण्यपर्वणि, अनुपकारिणि=उपकार प्रतिलाभोऽस्ति अस्य इति उपकारी स न भवतीति अनुपकारी तस्मिन् प्रत्युपकाररहिते, पात्रे=सपात्रे ग्राहणादौ, (अनुपकारिणे इति चतुर्थ्यन्तपाठे तु—'पात्रे' इत्यपि, पाति धर्म इति पाता तस्मै इति व्युत्पत्त्या धार्मिकायेत्यर्थक चतुर्थ्यन्त घोष्यम्) दीयते तद्दानं सात्त्विकं=सात्त्विकभावान्वित पुण्यप्रदम्, विदुः=विद्वान् जानन्ति ।

भा०—जिसका बदला लेने का आशा न हो, और 'देना हा' ऐसा समझ कर जो दान पवित्र देश काल में सत्पात्र को दिया जाता है—वही सात्त्विक दान शास्त्र में कहा गया है । (इसलिये मैं तुमको बदले की आशा बिना देता हूँ, ले लो) ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणमिदं गृह्णाण । ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात् सर स्नातुं प्रविष्ट, तावन्महापद्मे निमग्नः पलायितुमक्षम । तं पद्मे पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापद्मे पतितोऽसि । अतस्त्वामहमुत्थापयामि' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्योऽचिन्तयत्—

श्रुत्या—तत्त्वतस्तस्य विद्यमानस्य स्वभावप्रमाणं तुल्यमेव द्वापुनिष्कृतीति हेतोः, अत्रान्वयिमात् पुरोवर्तिनि सारसि—सरोवरे स्वात्मानोऽप्यवर्षं कृत्वा, स्वामेव तुल्यो यत्नेति भावः। इदं सुखवैराग्यं कष्टमयं सुहाय्यं—स्वीकृत्य, ततः—व्याप्तकथनात्मकं एव, भावत्वान्वयिमात् कथं, श्लेषमात्रेण कथयति तद्भवतीत्यन्तरत्वं व्याप्तिरस्य वक्ष्यति प्रतीता विवक्षताः सन् “जातविधासः” इति पञ्चमोऽध्यायः। अस्मी वाही, सः स्वार्थं प्रविष्टः, प्रविशति इति पाठान्तरम्। सरोवरे स्वाभाव्यं प्रविशति तावदन्तस्मिन्नेव कथं, महाभास्मी पञ्च तस्मिन्—तावदर्थमे विमग्ना—वितराम् अतीव मग्ना अव-
 दाहं निपतिताः सन् पञ्चवितुं—प्रपञ्चान्तरं जगत्कालं स्वरक्षणं कर्तुं, अत्रमन्त्र-
 जमते इति अक्षयः अक्षयं जन्तुः। तदन्तरं पठे पञ्चमध्ये पठितं—प्रथमम्, तं—
 वाजिर्न दृष्ट्वाऽप्यवकोच्य, स्वात्मा अवदत्—अत्रावात् अदत्! अदो वैरे, हा हा
 महाकष्टे—तावदर्थमे पठिता—मग्नः, रक्त, अस्ति अताः—अस्माद्धेतोः, अर्हं
 (व्याप्तः) त्वात् (वाजिन्) ज्ञात्वावामि—निष्कृतस्य क्षीयवामि इत्युक्त्वा—
 अक्षयकारं वचनमुच्चार्य कथं कथं—स्वैरं स्वैरथ, तेन व्याप्तेन वपयन्—प्रयोज्ये
 गत्वा, कृताः—प्रथमं व्याप्तः, सा वाग्वा—स वाही (पयिका) अविष्टवत्—
 वचनमावधिन्तर्षं चकार।

श्रुत्या—तुमही हो देवा हे देवहिने वाक्यन ये त्वाव करके परिष होके तुमरे का
 कष्टव प्रश्न करो। देवा तुम कर श्लेष से व्याप्त के वचन में विवाह रक्त कर वाप्यन में
 त्वाव करते हो वैरे कथा कि पञ्चम जाती श्लेषक में कष्ट कथा नीर भावने की अन्तर्ग
 हो कथा। अत वापी की क्षीयक में कथा तुम देव कर व्याप्त श्लेष—महा हा! तुम
 जाती श्लेषक में एक पद हो, ये तुमही वाप्यन विवक्षता हूँ। व्याप्त के देवा कर कर पीरे
 से वापी के वत्त वाप्यन वापी को वक्ष्यति। तव वापी विचार करते व्याप्ति—

न धर्मशास्त्रं पठतीति अक्षयं न व्यापि वेदाध्ययनं पुरात्मनः।

स्वभाव पञ्चाऽत्र तस्याऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं यथा ॥१॥

श्रुत्या—पुरात्मनः (धर्मशास्त्रके इति शेषः) धर्मशास्त्रं कश्चि ह्यपि कारत्वं न,
 (अवधि) वेदाध्ययनमपि (कारत्वं) न च (अवधि), किन्तु अत्र—(धर्मशास्त्रे) तथा
 स्वभाव एव अतिरिच्यते, यथा यथा यथा प्रकृत्या मधुरं कश्चि। श्रुत्या—पुरात्मनः
 तु—तुल्यं वाग्वा—भावना वाच्यते वा वत्त कः पुरात्मन् एव पुरात्मनः तुल्य-
 श्लेषः, (धर्मशास्त्रके—धर्मशास्त्रमहती) धर्मशास्त्रम्—धर्मस्य इतिपादकं वाचं
 धर्मशास्त्रम् तत् पठति—अधीते पुरात्मन इति शेषः। इत्यपि कारत्वं न अवधि—
 पुरात्मनः धर्मशास्त्रम् अधीतं वैत् वेदाभ्यां किं कथम्? न किञ्चित् धर्म-
 शास्त्रमवश्यं कृतेऽपि तुल्यवाच्यत्वं अविनाशम् इत्यर्थः। धर्म वेदाध्ययनं—वेद-
 यम्—अप्यव्याप्तवद्विषयान्प्रवृत्तमस्य अप्यवर्षं—पठन्वपि पुरात्मनः धर्मशास्त्रे

(कारणं) न च भवति । किन्तु अन्न = धार्मिकप्रवृत्तौ, तस्मात् स्वभाव एव = अन्ममा तादृश सात्त्विकभाव एव, अतिरिच्यते = मुख्यकारणत्वेन परिगणनां भवति । यथा सन्न इष्टान्तम् = गवां पयः दुग्धम्, प्रकृत्या = स्वभावेनैव, मधुरम् = अमृतसम्-स्वादु, भवति । वशस्पष्टम् ।

भा०—जैसे गौ का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है, वैसे ही जो व्यक्ति स्वभावसे ही सत्वगुणी सत्पुरुष हो उसकी ही धर्म में प्रवृत्ति होती है और जो स्वभाव से ही दुष्ट हो, उसने चाहे कई धर्मशास्त्र और वेद का अध्ययन मले ही कर डाला हो तो भी उसकी दुष्टता तथा अधर्माचरण दूर नहीं होते । (इसलिये दुष्टात्मा व्याघ्र-जैसे का शाखाध्ययन दूसरों को फँसाने के लिये ही है, धर्माचरणार्थ नहीं) ॥ १७ ॥

किञ्च—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।

दुर्मंगाऽऽमरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

भा०—अवशेन्द्रियचित्तानां क्रिया हस्तिस्नानमिव (निष्फला भवति) क्रियां विना ज्ञानं दुर्मंगाऽऽमरणप्रायः भारः (भवति) । व्या०— इन्द्रियाणि = श्रोत्रादीनि, चित्तानि = मनोबुद्धयहकारचित्तात्मकाऽन्तःकरणानि, अवशानि इन्द्रियाणि चित्तानि च येषाम्ते तेषाम् = इन्द्रियाऽन्तःकरणवशीभूतानामित्यर्थः । क्रिया = सन्ध्यावन्दनात्मिका नित्या, अथवाशात्मिका नैमित्तिका, यावत्स्य । क्रिया इत्यर्थः । हस्तिस्नानमिव = हस्तः = शुण्ढादण्डः अस्ति अस्य स हस्ती, हस्तिन-स्नान तदिव, यथा हस्ती स्नात्वा पुनः स्वदेहं धूलीविकिरणेन मलिनीकरोति, अतस्तस्य स्नानं निष्फलम्, सद्बुद्धित्यर्थः । निष्फला = फलरहिता भवति, पुनः पापाचरणादिति भावः । तथा क्रियां विना = इन्द्रियविषयरूप शास्त्रोक्त वा यज्ञाद्यनुष्ठानमन्तरेण, ज्ञान = केवलधर्मशास्त्रादिलग्न्यबुद्धिरपि दुर्मंगाऽऽमरणप्राय-भगं = पतिसौभाग्यम्, दुः = नास्ति पतिसौभाग्यरूप भग यस्याः सा दुर्मंगा, विषवेति यावत्, तस्याः आमरणम् = अलङ्कारः, तस्यायः = तत्तुल्यः, भार एव = विषवास्त्रीघृताऽऽमूषणानि न शोभावहानि, किन्तु भाररूपाण्येव, अथवा दुर्मंगाया यस्याया. मरणम् आशीषनं पोषणं यथा भाररूप तथा निष्क्रिय ज्ञानं निरर्थक भारभूतमित्यर्थः ।

भा०—जैसे हाथी स्नान करके फिर अपने शरीर को धूलि से मलिन कर लेता है, इस लिये उसका स्नान करना व्यर्थ है, वैसे ही इन्द्रियाधीन पुरुष सन्ध्या-यज्ञादि करके फिर पाप करता है इसलिये उसका सन्ध्यादि करना निष्फल है और इस हेतु से ही जैसे विषवा स्त्री को आमूषण धारण करना भाररूप है, वैसे इन्द्रियाधीन पुरुष का धर्मादि कार्य सब भार (क्लेश) रूप हो जाता है ॥ १८ ॥

‘तन्मया भद्रं न कृतम्, यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः’ । तथा श्लोकम्—

व्या०—तत् = तस्मात्, मया (यात्रिणा) भद्रं = सुखदं कर्म, न कृतम् = न आचरितम्, यत् = यस्मात्, अत्र = अस्मिन्, मारात्मके = हिंस्रस्वभावे व्याघ्रे, विश्वासः कृत इति ।

भा०—एतन्निवे मीने नरु मन्वा काम नही किन्तु नो कि—एत द्विचक म्वा में विचार किना । क्या नो है ?—

नदीनां वस्त्रपाणीनां नलिनां शृङ्गिणां तथा ।

विन्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

भा०—नदिनां वस्त्रपाणीनां नदीनां तथा शृङ्गिणां स्त्रीषु राजकुलेषु च विन्वासो नैव कर्तव्यः । न्वा०—नदीनां = खोतस्वतीनां धरिताम् । राजे पत्नी वैचर्ये वस्त्र पाणवस्त्रेणावस्त्रवस्त्रमिबन्धः । नन्वा। समित वैचामिति नखिमस्तेषां नन्वा। श्नुवाणां न्वा। प्रदीनामित्यर्थः । शृङ्गानि विचर्यते पशाम् इति शृङ्गिनास्तेषां विचारावगतान् सोमद्विचमेवादीनामित्यर्थः । (सर्वत्र सम्बन्धे नष्टे) स्त्रीषु = वारीषु । राज्ञां कुलमिति तेषु = राजवंशोत्पन्नेषु च विन्वासः न कर्तव्यः, कदाचिद् दानिकरत्वात् ।

भा०—विचर्य विचरिषु स्वभाव न हो कैठे कि—गृहिणां प्रकृतके स्त्रीपत्नी नरु राजे, किना खोत राजकुल, रम्य विचार नही करना (नवोदि वनके मन्तर की कीर्त लक स्थिति न इति से कवी के महात्म्य की कार्य में निराते है) ॥ १९ ॥

अपरत्र—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।

अतीत्य हि गुणान् सर्वांस्वभावा मूर्ध्नि वर्तते ॥ २० ॥

भा०—(कोटौ) सप्तस्य स्वभावा हि परीक्ष्यन्ते इतरे गुणाः न (वरीक्ष्यन्ते) हि सर्वांस्वभावा अतीत्य स्वभावा मूर्ध्नि वर्तते । न्वा०—सर्वस्य = प्राणिमात्रस्य स्वभावाः = वस्तुतः हि = निश्चयं तथा तथा, वरीक्ष्यन्ते = सम्बन्ध काकोऽथ विचार्यन्ते इतरे = दानवर्षमविचार्यन्ते गुणाः च परीक्ष्यन्ते, कोटैरिति शेषः । हि = परमा-
कोटौ, सर्वांस्वभावाः = वाचताः गुणान् = विद्यादीन् वेदतमान् अपि गुणान् अतीत्य = अतिव्यथ स्वभावाः प्रातिव्यमपि स्वभावाः मूर्ध्नि अर्थादि विरो द्वायेत्यर्थः, वर्तते ।

भा०—अतीत्यमान हो लन लप्यन नीर गुणों की वरु कर मन्कर ररता है । एत किने लमी के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है न कि अन्य गुणों की ॥ २० ॥

अथवा—स हि गगनविहारी कर्मपर्यसकारी

ब्रह्माद्यतत्करवारी ज्योतिषा मध्यवारी ।

विद्युत्पि विधियागाद् प्रत्यते राजुणाऽऽसी

लिखितमपि सहाटे प्रोक्षितु का समर्थः ॥ २१ ॥

भा०—स हि गगनविहारी कर्मपर्यसकारी ब्रह्माद्यतत्करवारी ज्योतिषा मध्यवारी असी विद्युत्पि विधियागाद् राजुणा प्रत्यते । एह ककारे लिखितुं प्रोक्षितुं का समर्थः (वचति) । न्वा०—स हि = प्रसिद्धः धा, गगने विद्युत्पि सीकमस्य इति गगनविहारी = आकाशे विहरणशीलः, कर्मपर्यसकारस्य अर्थकारस्येति वाचत् पर्यसकारं करे-

तीति कर्मपध्वंसकारी=सर्वपापघ्नः, सर्वाऽन्धकारघ्नो वा । दशाऽवृत्त शतं दशशतं=सहस्र करान् रश्मीन् धरतीति दशशतकरधारी=सहस्रांशुः सूर्यः, अथ च ज्योतिषां=ग्रहनक्षत्राणाम्, मध्यचारी = मध्यविहारी, असौ = प्रसिद्ध, विधुः = चन्द्रमा, अपि, विधि = दैवम्, तस्य योगात् = नियमात्, राहुणा=विधुन्तुदेन सैहिकेयेन, प्रस्यते=कवलीक्रियते (आच्छाद्यते) । इह=जगति, ग्रहणा यत् शुभाऽशुभम्, ललाटे=भाले, लिखितं=निश्चित्य निहितम्, तत् प्रोज्झितुम्=अन्यथाकर्तुं हातुम्, क जन समर्थ = शक्त ? न कोऽपीत्यर्थः ।

भा०—आकाश में चलने वाला, पापों का नाश करने वाला सूर्य और तारागणों के मध्य में रहने वाला चन्द्रमा वे दोनों देवाधीन होकर राहु से ग्रस्त हो जाते हैं । इसलिये विधाता से ललाट में लिखा हुआ भाग्य कमी बदलता नहीं है, ('मार्ग में चलते कङ्कण के लोभ मे व्याघ्र द्वारा मरना, या तो कङ्कण पाना' जो लिखा होगा, सो ही जायगा) ॥२१॥

इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण घृत्वा व्यापादितः खादितश्च । अतोऽहं भ्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन' इत्यादि । अत एव सर्वथाऽ-विचारितं कर्म न कर्तव्यमिति ।

व्या०—इति=उक्तप्रकारेण, चिन्तयन्=चिन्तां कुर्वन्नेव, असौ=अयं यात्री, व्याघ्रेण=शार्दूलेन, घृत्वा=गृहीत्वा, आक्रम्य, व्यापादित =नखैर्विदारित, खादितश्च । अत =अविचार्य कर्मकर्ता मरणमाप्नोतीति हेतो परिणामे शुभाऽशुभविचारम-कृत्वा, कर्म=किमपि कार्यं, न कर्तव्यम् । अहम् (वृद्धकपोतराज) भ्रवीमि=कथयामि, 'कङ्कणस्येत्यादि' । अत एव सर्वथा=येन केनाऽपि प्रकारेण, अविचारितं=प्राक् सम्यग् अनालोचित कर्म=किमपि कार्यं न कर्तव्यमिति ।

भा०—ऐसा विचार करते हुए उस यात्री को व्याघ्र ने मारकर खा डाला । इसलिये मैंने कङ्कण के लोभ का दृष्टान्त दिया । उसका सारांश यह है कि अपने को भी अविचारित काम नहीं करना चाहिये ।

यत—सुजीर्णमन्नं सुविचक्षण सुतः

सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतं

सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

अ०—सुजीर्णम् अन्नम्, सुविचक्षण सुत, सुशासिता स्त्री, सुसेवित नृपति, सुचिन्त्य च उक्तम्, सुविचार्य यत् कृतम्, (तत्) सुदीर्घकालेऽपि विक्रियां न याति ।

व्या०—सुष्ठु जीर्णं परिपाकमापन्नम्, अन्नं=भुक्तान्नम्, सुष्ठु विचक्षण = शिषित, सुत = तमय, सुष्ठु शासिता = वश नीता, स्त्री = भार्या, सुष्ठु सेवित = आराधित, नृपति = राजा, सुचिन्त्य = सम्यक्पूर्वाऽपर विचिन्त्य = विचिन्त्य, च

उत्थं = कर्मितम् सुविचारं = कर्मणः परीक्षणं चत् कृतम् = अनुष्ठितम् । तत् सर्वं सुशीलं कर्मोऽपि = सुशीलं वाच्यं काकरतस्मिन् = चिरकाले व्यतीतौऽपि विक्रियां = विक्रयम् कल्पनायावत्, न वाति = न प्राप्नोति । अंशरवहृतम् ।

भा०—मेले वषे हृद मोक्ष से कमी की विकार नहीं होता है । अविहित पुत्र से दुःख नहीं होता है । अतिपरान्त की कर्म नहीं करती है । अहम् हुआ पाया । अनिष्टकारक नहीं होता है । निष्कर्म मोक्ष से लक्ष्य नहीं होता है । वेति ही निवार करके क्षम करने से कर्मण से कमी की दुःख नहीं होता है । (इत्यर्थे निवार करके वाच्य जाने के शिबे जाना परीक्षे) ॥

यत्तद्वचनं श्रुत्वा कश्चित् कपोतः सदर्पमाह—भा० ! किमेवमुच्यते ?—

भा०—यत्तद्वचनम् = कपोतस्योक्तिः कश्चनश्च श्रुत्वा = श्रुत्वा = श्रुत्वा कश्चित् कपोतस्योक्तिः कश्चित् कपोतः, कपोतः = वातावतः, सदर्पम् = सर्पेण अहितं सदर्पं = धाहृत्तम्, भा० = शशीति—भा० = अवापरे सर्वं = विदुषाहम् अक्षयकर्म कश्चनश्च, किमुच्यते = कर्म कथ्यते ।

भा०—हृद कर्मण च वचन अक्षर शेरं हृत्ता कर्मण महद्वार के ताव शेष क्ता —नैह रिता अन्तःकर्मण शो शोचते ही (वलके शोचते अन्तःकर्मण मठ कते शोचते)—
यत्तस्य वचनं भाष्यमापत्काले सुपस्थिते ।

सर्वशैवं विचारो च मोक्षोऽपि सर्वतस्मिन् ॥ २३ ॥

न — आपत्काले उपस्थिते हि हृदस्य वचनं प्राप्य, सर्वत्र सर्वविचारे (अति) मोक्षशैवमपि सर्वतश्च न स्यात् । भा० — वा = अन्तःकर्मण पश्यते अन्तःकर्मणोक्तिः—आपत्काले आपत्काले काकरतस्मिन्—विचिन्तयन्ने उपस्थिते हि—आपते क्व हृदस्य—अन्तःकर्मण आनहृदस्य श्रुतहृदस्य च, कश्चनश्च = उपदेशवाच्यम्, प्राप्य = अन्तःकर्मण शोचते, न तु सर्वत्र, यतः सर्वत्र = सर्वतस्मिन् अन्तःकर्मणोक्तिः उपदेशवाच्ये, सर्वत्र—हृदस्य सर्वं प्राप्यमिति विचारो = सर्वाद्येचने कृते सति मोक्षशैवमपि = आहारैऽपि सर्वतश्च = प्रवृत्तिः न स्यात् ।

भा०—दही-वही आपत्काले जाने पर कृतपुत्रों के वचनों की मान कर कर्म करवा चाहिये । अन्तःकर्म में ही हृदों के वचनों की मानने ली, तो मोक्ष—वैता अन्तःकर्मण की स्वतन्त्रता से न ही लभेगा । (इत्यर्थे वाच्य जाने की जाना परीक्षे) ॥ २३ ॥

यता—इन्द्रामिः सर्वमाकर्ण्यतस्मिन् पालञ्च मृतञ्च ।

प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितार्थं कर्मं नु वा ? ॥ २४ ॥

न — मृतके इन्द्रामि कर्मण वाच्यं सर्वम् अन्तःकर्मण कुत्र प्रवृत्ति कर्तव्या, कर्मं नु वा जीवितार्थम् । भा० — मृतके—मृतकस्य मृतकं तस्मिन्—मृतकाले, इन्द्रामि—हृदस्य अविद्यमानं न वा इति संशये, कर्मणोऽर्थेण पालं = जीवितार्थकम्, वैति सर्वम् आकर्ण्य = पश्यत्यम् । सर्वं सति कुत्र = कस्मिन् विषये प्रवृत्ति =

प्रयत्नः, फर्तव्या, सु = (प्रसने) तर्हि पृष्ट्वाभि, (हे मित्रमीय !) कथं या = केन प्रकारेण, जीवितस्य = प्राणितस्यम् ? अतः सदायमात्रेण तण्डुला न त्यक्तव्या ।

भा०—मसाग में तान-पानादि सब पदार्थों में श्रुद्ध होने का सशय रहता ही है, शद्धामात्र में प्रवृत्ति का निरोध करने से त्रयन चरना मां दुःखम होगा ॥ २४ ॥

तथा चोक्तम्—ईर्ष्यां घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशक्तिः ।

परभाग्योपजीवी च पटेते दुःखभागिन ॥ २५ ॥

भा०—ईर्ष्यां घृणी तु असन्तुष्टः क्रोधनः निरपशक्तिः परभाग्योपजीवी च पटेते पट् दुःखभागिन (भवन्ति) । व्या०—ईर्ष्यां=पराऽभ्युदयाऽसहिष्णुता विद्यते अस्य इति ईर्ष्यां=परोत्कर्षाऽसहिष्णुः, घृणा विद्यते अस्य इति घृणी, सन्तोपरहितः, सतृष्ण इति यावत् । क्रोधनः=कोपनस्वभावः, द्वेषनशील इति यावत् । निरपशक्तिः=सर्वदा शङ्कायुक्तः, परस्य भाग्य परभाग्यम्, परभाग्येन उपजीवतीति परभाग्योपजीवी=पराधीनजीवन इत्यर्थः । पटेते पट्=पट्सदृशका जनाः, पुंस्य भजन्ते इति दुःखभागिनः=श्लेशमात्र. भवन्ति ।

भा०—ईर्ष्यादिक सब दुःख के कारण हैं, इस हेतु से ईर्ष्यावाला, घृणा (नकरत) करने वाला, घृणावाला, क्रोधवाला, शद्धावाला, पराधीन जीवनवाला मनुष्य दुःख को ही पाता है । (इससे नि शङ्क होकर चावल ताने को जाना चाहिये) ॥ २५ ॥

पतच्छ्रुत्वा तण्डुलकणलोभेन नभोमण्डलादवतीर्य सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

व्या०—पतद् = अव्यवहितपूर्वमुक्त वचनम्, श्रुत्वा = आकर्ष्यं, तण्डुलानां कणा तण्डुलकणा, तेषां लोभस्तेन, नभस = गगनस्य मण्डलम् तस्मात्, अवतीर्य = अवदद्वा, सर्वे कपोताः = पारावता, तत्र = जालाङ्कादिते तण्डुलयुक्ते भूतले, उपविष्टाः = निपण्णाः ।

भा०—पूर्वोक्त वचन सुन कर चावलकणों के लोभ से आकाश में से नीचे उतर कर सब क्यूंर जाल पर बैठ गये ।

यतः—सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।

छेत्तार. संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभमोहिता ॥ २६ ॥

भा०—सुमहान्ति शास्त्राणि धारयन्त बहुश्रुताः सशयानां च छेत्तार. अपि लोभ मोहिताः क्लिश्यन्ते । व्या०—सुमहान्ति=महार्थप्रतिपादकानि अनेकानि, शास्त्राणि=वेदवेदाङ्गादीनि, धारयन्ताः=पठन्तः, बहुश्रुता = बहुनि श्रुतानि येषां ते, विपुल-ज्ञानसम्पन्ना, अत एव च सशयानां = बहुविधसन्देहानाम्, छेत्तार = निराकर्त्तार पण्डिता अपि, लोभेन मोहिताः लोभमोहिता = लोभपरवशाः सन्तः, क्लिश्यन्ते = श्लेशमापद्यन्ते ।

मा०—वेद-शास्त्रों को नष्ट हुए नीर हर तरह के लम्पेहों को दूर करने वाले स्थित
 शोक भी शोक में द्रुत पाते हैं (तो पाक्यों के शोभी इन स्थितों को आपत्ति जाने हैं
 क्या माधर्ष ?) २६ ॥

अन्यथा—शोभात् श्रेयाः प्रभवति शोभात् कामाः प्रजायते ।

शोभामोहाश्च श्रेयाश्च शोभा पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

न०—(अथात् शोभा) । अ० — शोभात् = असाधर्मनृणात्, श्रेयाश्च = श्रेयाः,
 प्रभवति = जावते एवमेव शोभात् कामाः = विषयमौल्यसाधना, प्रजायते एवमेव
 शोभात् मोहाः = विचारवैतुल्यव अविवेकित्वमिति यावत् तासाः = शृङ्खला, च
 जावते अत एव शोभा पापस्य = सर्वविधाविहरण कारणं = बृहत् भवतीति ।

मा०—शोक ही शोभनीय वस्तु का प्रतिरोध करने वाले दूर श्रेय होगा ही नीर शोक
 से ही शिष्टों के चर्चे में कम जाने ही अमनासका वेदा होती ही नीर शोक ही ही साधन
 करने वाले ही सत्य-असत्य का विचार भी नहीं लूतता रहते कबो प्राणदानि भी ही
 जाती ही अतः शोक ही लय शक्तों का कारण है ॥ २७ ॥

अन्यथा—असम्मर्षं हेममृगस्य शम्भ तथाऽपि यमो सुखुमे मृगाय ।

प्रायः समापन्नविपत्तिक्षये भिद्योऽपि पुंसां मङ्गिण्य भवन्ति ॥ २८ ॥

न०—हेममृगस्य शम्भ असम्मर्षं (भवति) तथाऽपि यमो मृगाय सुखुमे ।
 समापन्नविपत्तिक्षये पुंसां विद्या अपि प्रायः मङ्गिण्य भवन्ति । अ०—हेममृगः =
 सुवर्णस्य मृगः इति शब्दस्य शम्भ = ब्रह्मणः, असम्मर्षं = असम्मर्षविरहितमेव तथाऽपि =
 सुवर्णमृगो न भवतीति ज्ञातव्यमिति, यमो = यमते योगिबोद्धिसिद्धिः यः यमः
 साहसि भगवान् मृगाय = सुवर्णमृगिणाय सुखुमे = शोभाधीनो मृगः । अतः
 समापन्नान् तथा विपत्तयः समापन्नविपत्तयः = विपत्तयवर्जावहा, तासां काकरत
 रिमद् पुंसां = विपत्तयामपि ज्ञानात् विद्या अपि, प्रायः = बाहुल्येन मङ्गिण्य
 मोक्षितान् कर्तव्याः कर्तव्यविचारसूत्रा भवन्ति ।

मा०—सुवर्ण का शक्ति हो ही नहीं लकटा है तो भी भी रामचन्द्र यवनान् सुवर्णमृग
 में लुप्त हो नष्ट रह द्रुत द्रुत ही निबन्ध होगा ही कि विपत्ति जाने के लक्षण में नष्ट पुत्रोंको
 दुष्ट भी शक्ति (विचारसूत्र) ही जाती है (तो कर्तव्यको दुष्ट के किने क्या करवा) २८ ॥
 अन्तर्गत से सर्वे ज्ञाननिबन्धा बभूवुः, ततो यस्य वचनात् तथापि स
 म्यिवास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति नम ।

अ०—अन्तर्गतविषयानन्तरम् ते सर्वे = कपोताः आद्येव निबन्धाः = अन्तर्गत
 बभूवुः । तथा = अन्तर्गतानन्तरम् यस्य = अन्तर्गतस्य वचनात् = ज्ञाननिबन्धान्
 ततः = आकाशकारितवृत्तौ अन्तर्गतान् अन्तर्गतम्, तं = कपोतव ते सर्वे =
 कपोतान्, तिरस्कुर्वन्ति नम ।

भा०—बैठने के बाद वे सब कबूतर जालमें बध गये, तब जिस (कबूतर) के कहने से वे सब कबूतर, जालयुक्त भूतल में उतरे थे, उस (कबूतर) का तिरस्कार करने लगे ।

यत —न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम् ।

यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥२९॥

अ०—(कश्चिद्) गणस्य अग्रत न गच्छेत्, कार्ये सिद्धे फल समम् (भवति) यदि कार्यविपत्ति स्यात्, यत्र (सर्वैः) मुखर हन्यते । व्या०—गणस्य=समूहस्य, मण्डलस्येति यावत् । अग्रत =अग्रेअग्रयायी भूवेत्यर्थ, न गच्छेत्=न प्रवर्त्तत, यत कार्ये =चिकीर्षिते कर्मणि, सिद्धे = निष्पन्ने सति तु, फलम्=इष्टलाभ, सम=तुल्यम्, समांश भवतीति । यदि चेत् कार्यविपत्तिः=कार्यस्य चिकीर्षितस्य विपत्ति =अनिष्पत्ति, स्यात्, तदा तत्र=तस्मिन् विषये, तेषु मध्ये वा, सर्वे, मुखर =मुख-घाक अस्ति आज्ञा-प्रदत्वेन अस्य इति मुखर =आज्ञाकारी प्रवर्त्तक इत्यर्थ । हन्यते=तिरस्क्रियते इति ।

भा०—किसा भा कार्य में समुदाय का नेता नहीं होना, क्योंकि कार्यसिद्धि होने पर सब समानफलभागी बनते हैं और कार्यसिद्धि नहीं होने से नेता को ही अपयश तथा तिरस्कार का पात्र (सब) बनाते हैं ॥ २९ ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच —नाऽयमस्य दोषः । यतः—

भा०—प्रवर्तक कबूतर क तिरस्कार को सुनकर चित्रग्रीव ने कहा—इस (प्रवर्तक कबूतर) का यह दोष नहीं । क्योंकि —

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।

मातृजह्वा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३० ॥

अ०—हित अपि आपतन्तीनाम् आपदा हेतुताम् आयाति, हि मातृजह्वा वत्स-स्य बन्धने स्तम्भीभवति । व्या०—हित अपि=यो हितकर सोऽपि, आपतन्तीनाम्=आगच्छन्तीनाम्, अवश्यम्भाविनीनाम्, आपदां=विपदाम्, हेतुता=निमित्त-कारणताम्, आयाति=आमोति । हि यत मातृ जह्वा मातृजह्वा =परमहितकारी अपि स्वजनन्या ऊरुप्रदेश, वत्सस्य बन्धने =सयमने, स्तम्भीभवति =न स्तम्भ अस्तम्भ, अस्तम्भः स्तम्भो यथा सम्पद्यमानस्तथा भवति इति स्तम्भीभवति, बन्धनस्तम्भो भवतीति ।

भा०—सदा हिन करनेवाक जन भी अवश्य आनेवाली आपत्तियों में निमित्तगृत हो जाते हैं, क्योंकि गौ को जॉष कमी (दोहन के समय) बछड़े का बन्धनस्तम्भरूप भी होती है । इतलिये यह कबूतर निर्दोष है ॥ ३० ॥

अन्यच्च—स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।

न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३१ ॥

भा०—आपत्काल में धीरता रखना, समर्थ होने पर भी क्षमा रखना, स में चतुर होना, युद्ध में शूरवीर होना, क्लिप्ति में श्चि होना, शास्त्रों में महापुरुषों के ये सब स्वभाव जन्मसिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विपादो रणे च भीरुत्वम् ।

तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

भा०—सम्पदि यस्य हर्षो न (भवति), विपदि विपादो न (भवति), रणे च भीरुत्व (न भवति), तं भुवनत्रयतिलकसुत (काचित्) जननी विरल जनयति ।

व्या०—सम्पदि = सम्पत्ती सत्याम् , यस्य = यजनस्य, हर्षः = आनन्दातिशयः, न भवति, विपदि = विपत्ती सत्याम्, विपादाः = खेदाः अनुत्साहाः, न भवति, अथ च रणे = संग्रामे सति, भीरुत्व = भयशीलात्वम्, न भवति, त = तादृशगुणयुक्तम्, अत एव भुवन-त्रयतिलकम्—भुवनानां = स्वर्गमर्त्यपातालानां त्रयं, तस्य तिलकः विशेषकः, तम्—त्रिलोकभ्रष्टमित्यर्थः । सुत = पुत्रम्, काचित् जननी = माता, विरल = स्तोत्रयस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् कदाचित् क्वचिदिति यावत् , जनयति = प्रसूते । आदर्पावृत्तम् ।

भा०—सम्पत्तिका लाभ होने पर जिसको हर्ष नहीं है, विपत्ति आने पर जिसको शोक नहीं है और युद्ध के मौके पर जिसको कुछ भी भय नहीं है, ऐसे गुणोंसे युक्त त्रिलोकपूज्य पुत्र को कभी कोई माता जन्म देती है ॥ ३७ ॥

अन्यच्च—पट् दोषा. पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

भा०—इह भूतिमिच्छता पुरुषेण निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता (इति) पट् दोषा हातव्या । व्या०—इह = अस्मिन् ससारे, भूति = सम्पदम्—अभ्युदयम् इच्छता = चाच्छता, पुरुषेण = जनेन, निद्रा = स्वापः, तन्द्रा = जाह्यम्, कार्याऽनुत्साहः, भय = भीरुत्वभाव, क्रोधः = कोपनम्, आलस्यं = परिश्रमविधुरता, दीर्घं = चिरकालेन सूत्रम् = ईप्सितकार्यवस्था यस्य स, तस्य भाव, चिरक्रियतेति अर्थः । इति पट्-सषष्ठाका दोषा, हातव्या = सर्वथा त्यक्तव्या इति ।

भा०—इस ससार में अभ्युदयकी इच्छावाले लोग—'निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता'—इन छह दोषों का त्याग करें ॥ ३४ ॥

इदानीमपि एवं क्रियताम्—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादाय उद्दीयताम् ।

भा०—अब भी ऐसा करो कि हम सब एकचित्त होकर जाल को लेकर उड़ चले ।

यत —अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।

तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बन्धन्ते मत्तदन्तिन. ॥ ३५ ॥

न —अस्यानामपि वस्तुनां संहतिः कार्यसाधिका (भवति यथा) गुणव्यवस्थापनैः तुल्यैः मत्तस्मिन्मते । आ०—अस्यानामपि विविधानां कुशलानां वदना मपि संहतिः—अनुद्याया मेकमव व्यपस्व साधिका कार्यसाधिका—महत्तरकार्यत्वसम्पादिका भवति । तत्र दृष्टान्तमाह—द्वयेषु । यथा गुणवत्त्व—रज्जुमात्रव्यपत्तये । मत्तैः तुल्यैः विविधैः तुल्यवातैः मत्तान् तैस्मिन्मते मत्तस्मिन्मते—वदुयथाः कर्मिणा, वदन्मते च विदन्मते ।

भा०—येते ननुत एवो को न्यारं दुरे एतौ म्कोमत्त राजो को योयतो है । येते ही निरंक तथा इह बीजे भी मिलकर वके कार्य को तिरा करती हैं ॥ २५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरप्यकैरपि ।

तुपेणापि परित्यक्त्य न प्ररोहन्ति तच्छुक्ताः ॥ २६ ॥

न०—पुंसां व्यपत्तयेः अपि रक्षकैः सह संहतिः श्रेयसी तुपेणापि परित्यक्त्या तच्छुक्त्या न प्ररोहन्ति । आ०—पुंसां व्यपत्तयाम् व्यपत्तये अपि विविधैः स्वव्यपत्तयानामपि स्वकुलैः—एतव त्व कुलप्रतिष्ठातिबालवशा, सौ, सह संहतिः—मेकमव्यपत्तया श्रेयसी—अस्यानाकरी भवति । तत्र व्यतिरेकिदृष्टान्तमाह—द्वयेषु यथा तुपेण—पुत्रेणापि तुपेण परित्यक्त्या—विपुक्त्या, तच्छुक्त्या, न प्ररोहन्ति—न कुतश्च न वदुमपितुं समर्था भवन्ति इति ।

भा०—वपुष्को को नरने कोरे और विरक भी कुटुम्बिको से मेक रहना ही बन्धा है, योकि पारक भी नरने दियको से मकर होने पर वदुर को रीदा नहीं कर लकना ॥

इति विधिम्य पक्षिणः सर्वे आह्वयादाय उत्पतिताः अनन्तर सभ्याया सुवृपञ्जासापहारकांस्तान् अन्वसोक्तय पञ्जासावितोऽभिस्तयत्—

भा०—सर्वे—समस्ता, पक्षिनः—उपेता, इति—उक्त्यकारेण विधिम्य—मार्गं कृत्वा कार्यं—पाठ्य आयाय—धीत्या, उत्पतिताः । अनन्तरम्—उद्धववात् नरम् सा—पूर्वोक्त, पञ्जाका, सुवृत्तम्—मतिवृत्त आन्तरक अन्वहारकात् ताव—करोतान् अन्वयेन पञ्जात्—इहत्, आवितां यम् अभिस्तयत् ।

भा०—येतो उत्तर करके एव वदुर काक को केकर वद मरे, एव वर व्याप भी काक केकर काके वद वदुरो को केकर वद एव पीठे-पीठे बौदता हुना विचारने ल्या—

संहितास्तु हरन्त्येते मम आर्त्तं विहङ्गमाः ।

यथा तु निपतिष्यन्ति यदा मेप्यन्ति मे तथा ॥ २७ ॥

न०—एते विहङ्गमास्तु संहिता मम आर्त्तं हरन्ति तु यदा निपतिष्यन्ति तदा मे वदन्त्यप्यन्ति । आ०—एते विहायता आकाशेन तच्छृतीति विहङ्गमा—करो वास्तु, संहिता—मिक्षिताः ज्ञान, मम (वदावस्व) आर्त्तं—पाठ्य हरन्ति—धीत्या

पलायन्ते, तु=किन्तु, यदा भूतले निपतिष्यन्ति=अवतरिष्यन्ति, तदा मे (व्याघ्रस्य), वशम्, पुष्यन्ति=प्राप्स्यन्तीति ।

भा०—ये सब कबूतर मिलकर मेरे जाल को ठे जा रहे हैं, लेकिन जब पृथिवी पर उतरेंगे सब अवश्य मेरे हाथ आ जायेंगे ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः । अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—'स्वामिन् । किमिदानीं कर्तुमुचितम्?' चित्रग्रीव उवाच—

व्या०—तत' =अनन्तरम्, किन्तु इति यावत्, तेषु पक्षिषु=कपोतेषु, चक्षुषोर्विषयस्तम्=चक्षुर्माद्यताम्, अतिक्रान्तेषु =अतीत्य गतेषु ससु, सः=घावन्, व्याधः निवृत्तः=जालाशामपि विहाय स्वस्थान प्रति गतः । अथ=अनन्तरम्, ते कपोता, लुब्धकं=व्याधम्, निवृत्तं दृष्ट्वा=प्रतिष्ठतमवलोक्य, ऊचुः=कपोतराज पप्रच्छु, स्वामिन् ! (वृद्धसम्बोधने), इदानीम् =अस्मिन् समये, किं=कीदृश व्यापार, कर्तुम् =अनुष्ठानम्, उचितं =योग्य, तदा चित्रग्रीव, उवाच =उक्त्वान् ।

भा०—लेकिन जब वे कबूतर अदृश्य हो गये, तब व्याध घर लौट गया । उसके बाद व्याध को छोटे हुए देखकर सब कबूतरों ने वृद्ध कबूतर से पूछा—स्वामिन् ! अब क्या करना चाहिये ? चित्रग्रीव ने जवाब दिया—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम् ।

कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्ध्यः ॥ ३८ ॥

अ०—माता मित्रं पिता च इति त्रितय स्वभावाद् हितम् (भवति) । अन्ये च कार्यकारणतः हितबुद्ध्यः भवन्ति । व्या०—माता =स्वजननी, मित्र =स्वाभाविक सुहृद्, पिता=स्वजनकश्च, इति=एतत्, त्रितय=त्रयवयवम्, हित=सर्वदा स्वभावत एव हितकर भवति । अन्ये =पुण्यस्त्रिभ्य इतरे तु, कार्यं च कारणं च ताभ्याम्, केचित् कार्यवशात्, केचित्च कारणवशात्, हितबुद्ध्यः =हिता बुद्धिर्येषान्ते हितकरा भवन्ति इति ।

भा०—माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से ही हित करने वाले होते हैं और दूसरे तो कार्य कारण रूपी स्वार्थ के लिए हितकारी बन जाते हैं ॥ ३८ ॥

तन्मे मित्रं हिरण्यको नाम सूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गता, हिरण्यकश्च सर्वदा अपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।

व्या०—तत् =तस्मात्, मित्रस्य सदा हितकरत्वात्, मे मित्र =मम गावसुहृद् ४ हि० मि०

‘द्विरण्यक’ इति नाम्ना प्रसिद्धः, सूचिकराजः राजा इति सूचिकराजः ‘दण्डवी’ नाम-
नद्यास्तत्रैव तस्मिन् विभं च तद् वनं च तस्मिन्, विवसति—वाचं करोति । एत-
द्विरण्यक इति = इत्येवम् आद्येण = विचारं सर्वं कर्षणात्, द्विरण्यकस्य विव-
= विक्रमं तस्य समीपं = विक्रमं, यथा । द्विरण्यक, सर्वदा—अवतरत्य अपावस्य
= पादस्य विज्ञस्य मानस्येति भावत् कृत्वा तथा कृतद्वारं = द्यतं इत्यादि विभं-
मन्त्रोक्तमार्गा वस्य तत् तादृश्यं, विवर् = विभं वृत्तिभ्यन्तर्गतं, कृत्वा विवसति
= विभंवा सप्त वसति ।

आ०—एतद्विद वेदा विव द्विरण्यक भाग का चूरो का राजा गण्डकी नदी के किनारे
विवस्य में रहता है, वह इन दोनों के वनलों को कटोता । वेदा विचार करके उन कर्तु-
द्विरण्यक के निवासस्थान (विव) पर गये । द्विरण्यक भी उन दिनों को कृत्वा ही कर्मों
कृत्वा का विव बनाकर रहता है ।

ततो द्विरण्यकः कपोताऽपपातमयाञ्चकितः सृष्णीं स्थिता । विव-
प्रीव उवाच—‘सखे द्विरण्यक । कथमस्मात्तु सम्पापसे । ततो द्विरण्य-
कस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय स्वसम्भ्रमं बहिर्निष्सृत्य आसीत्—आ ! पुण्य-
दानस्मि मियसुहृन्मे विवप्रीवः समायात—

आ०—तदा विवर् प्रति गमनावन्तरम् द्विरण्यकनाम् सूचिकराजः कपोता-
नाम् अपपाता = वेगात् पक्ष्यकृतसद्विठम् अचरोद्वर्षं, तरजाद् बहु भवं तरजात्
चकितः सम्भ्रान्तः सम्भ्रस्तः सन् सृष्णीं = मीनम्, विवता = तस्यै । ततः विव-
प्रीवायामा कपोतराजः, उवाच = उवाच, सखे = मित्र ! द्विरण्यक ! कर्षं = केन
इतुवा अस्मात्कृत्वा कपोताम् न सम्पापसे—न सम्पापवसि तता = विवप्रीवो-
द्विरण्यकनावन्तरम् द्विरण्यकनाम् सूचिकराजः, तस्य विवप्रीवस्य वचनं कर्षं,
प्रत्यभिज्ञाय—ज्ञान्वा परीष्व सम्भ्रमं—सम्भ्रमेण = आनन्दोत्साहैव सद्विठं यथा
एवात् तथा, विवरात् बहिर्निष्सृत्य विवप्रीवाऽसीत्—आसीत् आत् (आ-
सीत्—अस्मिन्) पुण्यदानम् = पुण्यमसित अरथ पुण्यतया अस्मिन् = मयापि, यद् मे-
मम विवसुहृत्—व्योपातीति विवः कोमलं हृत् परम सा सुहृत्—विवव्यासी सुह-
व्येति विवसुहृत्—आत्मेपारवत् सजा विवप्रीवा समायातः = आयतः ।

आ०—वि पर कर्तुता के जाने के बाद कर्तुता के आने को जाना ही प्रप्रीव
होकर वह द्विरण्यक सुखाप ही रहा, पर विवप्रीव बीना—विद द्विरण्यक ! तुम्हें क्यों
नहीं बुझते हो ! द्विरण्यक अपने मित्र के उन वचन को पहचान कर बड़े आनन्द जगना
के साथ बाहर जाया बीर बीना—बीरो वेदा पुण्योदय हुआ क्योंकि नाम है विव
विव विवप्रीव जाने है ।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।

यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ३९ ॥

अ०—यस्य मित्रेण सम्भाष, यस्य मित्रेण संस्थितिः, यस्य मित्रेण संलाप, (भवति) इह तत. पुण्यवान् नास्ति । व्या०—यस्य = जनस्य, मित्रेण = सुहृदा सह, सम्भाष = सम्यग् वार्तालाप भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह, संस्थितिः = एकत्र वास भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह संलापः = परस्पररहस्यविचारादिक च भवति, इह = अस्मिन् सप्तारे, तत = तस्माज्जनात्, पुण्यवान् = पुण्यशाली, अन्य कश्चिदपि नास्तीति ।

भा०—जिसका मित्र के साथ सम्भाषण होता है, जिसका मित्र के साथ रहना होता है, तथा जिसका मित्र के साथ रहस्य विचार होता है, उस पुरुष के समान पुण्यशाली दूसरा कोई नहीं है ॥ ३९ ॥

अथ पाशवद्भ्रातृत्वात् सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच—
सखे ! किमेतत् ? चित्रग्रीव उवाच—‘सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्म-
कर्मणः फलमेतत्’ ।

व्या०—अथ = अहिर्निःसरणानन्तरम्, एतान् = कपोतान्, पाशवद्भ्रातृत्वात् = पाशेन बद्धास्तान्, इष्ट्वा, सविस्मयः = विस्मयेन आश्चर्येण सहित सन्, चणः = चणमात्रम्, स्थिरावा = स्तब्धत्वेनाऽवस्थाय, (स हिरण्यक) उवाच = उक्तवान्, सखे ! = मित्र ! चित्रग्रीव ! एतत् पाशवन्धनम्, किं = किं किमित्त जातम् ? चित्रग्रीव उवाच = प्रत्युक्तवान्—सखे ! = मित्र हिरण्यक ! एतत् अस्माकं = सर्वेषां कपोतानाम्, प्राग्भवं प्राक्तनम्, प्राक्तन च तज्जन्म, प्राक्तनजन्म, तस्मिन् कृत कर्म तस्य, पूर्वभवकृताऽनिष्टस्येत्यर्थः, फल = परिणाम अस्तीति ।

भा०—बाहर आने के बाद जाल से दँधे हुए सब कबूतरों को देखकर आश्चर्य के साथ क्षणमात्र स्तब्ध हो के हिरण्यक बोला—मित्र चित्रग्रीव ! यह बन्धन कैसे हुआ ? चित्रग्रीव ने कहा—मित्र हिरण्यक ! यह बन्धन हमारे पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है ।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च

यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।

तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च

तावच्च तत्र च विधात्वशादुपैति ॥ ४० ॥

अ०—यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाऽशुभम् आत्मकर्म (भवति) विधात्वशात् तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तावच्च तत्र च तच्च उपैति । व्या०—यस्मात् = युक्कारणाच्च, येन = करणेन च, यथा = येन

प्रकारेण च, यदा = यस्मिन् काले च यत् = चादत्तं च वाक्यम् = वाक्यपरिमाणं च, यत्र च = यस्मिन् स्थले च प्रामाण्यं अद्युर्न च प्रामाण्यार्थं = बुद्ध्या ई पारदर्शं च भाव-
 कर्म = भावनाया एवमत्र कर्म कर्तव्यं भवति । विद्यायुक्त्यात् = विद्याया यदा तस्मात्
 विद्याधीनतः, तस्मात्प्रकारेणात् तत्र च अत्रैव तथा च = तत्र च प्रकारेण,
 तथा च = तस्मिन् काले, तावत् परिमाणं च, तत्र च स्थले तत् = तादृशं प्रामा-
 ण्यं कर्म, अत्रैति = अत्र स्थित भवति ।

आ०—मितं कारणं हे मितं कारणं हे मितं प्रकारं हे मितं कार्यं ये वेदा, शिल्पा
 शोध-यथा चर्षो चर्षो चो-चो घृण वा अद्युर्न कम कम योगमा किञ्चा हीना इ भाग्यवत् हे
 इत कारणं हे इत कारणं हे, कृषी प्रकारं हे कृषी समयं ये वेदा ही शोय वा यदा कर्त्त
 एतत् मे वत् प्रामाण्यं कर्म कर्मवत्कर्म मे परिणत ही मे अस्मिन् ही अत्ता ही ३४ ३

रोगशोकापरीतापबन्धनम्यस्तमानि च ।

आत्माऽपराधबुद्ध्याणां फलान्मेतानि वेद्विद्यम् ॥ ४१ ॥

अ — रोगशोकापरीतापबन्धनम्यस्तमानि एतानि च वेद्विद्यम् आत्माऽपराध-
 बुद्ध्याणां फलानि (भवन्ति) । आ० — रोगा = कासीरन्वाविना शोक = मायसिकविचिन्ता
 च अपरीताप = भाषाविद्या वेदाया च बन्धनं = पातादिविचिन्त्या च अस्तमानमिविचिन्ता
 शीतोपाशुषो वा, इति रोगशोकापरीतापबन्धनम्यस्तमानि (इतरतरङ्गानु-अप-
 र्णस्य हीर्षात् किञ्चवाही कश्चिज्जदेव इति परैर्हीर्षता) एतानि अतोऽप्यहीनि वेद्विद्यं-
 कासीरिनाय आत्माऽपराधबुद्ध्याणाम् = अस्तमानं एवैषात् अपराधः कृष्णकर्मणि हे
 एव बुद्धस्तवस्तेषाम् फलानि = परिचाम्या अस्तीति ।

आ०—उप, शोक, वेदा, कर्म च यत्र अत्रैव वाक्यपरिमाणं वेदपरिणतं मे
 हीना इ वे तत्र अत्रैव विदे बुद्ध कर्म कम बुद्ध वे कर्म ही ३४ ३

पठकफुत्था हिरण्यकः (सा मूपिका) विद्यम्रीयस्य बन्धनं तेषु
 सत्वरपमुसर्पति तत्र विद्यम्रीय यथाच—मिथ । मा मैवं कुठ (किन्तु)
 प्रथममस्मदाभिताम्भमेतेषां तावत् पार्यादिस्थि मम पार्श्वपश्याच्चे-
 त्स्पति । हिरण्यकौऽप्याह—अहमस्मदाभिता, इस्ताद्य मे कमेता,
 तदेतेषां पार्श्वैरेषुं कथं समर्थो भवामि ? तत् यावन्मे इस्ता म
 कुठ्यन्ति तावत् तत्र पार्श्वं स्थिति । तदन्तरमप्येतेषां बन्धनं यावत्
 यावन्मे त्स्त्वामि । विद्यम्रीय उवाच—‘अस्त्येवं तथाऽपि यथाशक्ति
 बन्धनमेतेषां लभ्यते । हिरण्यकेन उक्तम्—मात्मपरिवर्तनेन यदा
 धितानं परिवर्तनं तत्र नीतिवेद्विर्न सम्मतम् ।

आ०—एतत् उक्तं यथावत् प्रत्याभासार्थं वा हिरण्यकनात्ता बुद्धिः, विद्य-

प्रीवस्य = कपोतराजस्य, बन्धनं = पादानियन्त्रणम्, छेत्तु = विदारयितुम्, सत्वर = द्रुतम्, उपसर्पति = चित्रप्रीवस्य समीपे गच्छति, तत्र = तस्मिन् समये, चित्रप्रीवः = कपोतराज, उवाच = उक्तवान्, मित्र ! = सुहृद् ! हिरण्यक ! मा मा = न हि न हि, एव = प्रथम मम बन्धनच्छेदनप्रयासम्, कुस् = विधेहि, किन्तु प्रथम = पूर्वम्, अस्मान् आश्रिता अस्मदाश्रितास्तेषाम् = अस्मद्दरश्याणाम् एतेषां कपोतानाम्, तावत् = साकल्येन, पादान् = बन्धनानि, छिन्धि एव विदारय, पश्चात् = अनन्तरम्, मम (चित्रप्रीवस्य) बन्धन = पाशम्, छेत्स्यसि = विदारयिष्यसि, हिरण्यकनामा मूपिकराजा, अपि, आह—ब्रवीति, अहम् अल्पशक्तिः = अल्पा लघ्वी शक्तिः सामर्थ्यं यत् यस्य स, स्वल्पबलवान् भवामीति । किञ्च मे (हिरण्यकस्य) दन्ता = दशना, कोमला, जज्ञं रिताश्च भवन्तीति तत् = तस्माद्धेतो, एतेषां = सर्वेषां कपोतानाम्, पादान् = बन्धनानि, छेत्तु = विदारयितुम् कथ = केन प्रकारेण, समयं = क्षमः भवामि, तत् = तस्माद् असमर्थत्वाद्धेतोः, मे = मम, दन्ताः = दशना, यावत् = यावत्समय, न द्रुतयन्ति = मम न भवन्ति, तावत् = तदवधिकालम्, तव (ते चित्रप्रीवस्य) पाशं = बन्धनम्, छिन्धि = अहं खण्डयामि, तदनन्तरं = ते बन्धनच्छेदनात् परम्, एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धनमपि यावत् शक्यम् = यावता यत्नेन छेत्तु शक्यते तावत्, छेत्स्यामि = खण्डयिष्यामि, (एतच्छ्रुत्वा) चित्रप्रीवः = कपोतराज, उवाच—एवम् अस्तु = यत् तवाऽ-मिमत तदेव भवतु, तथाऽपि पूर्वम् एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धन यथाशक्ति-शक्तिम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाशक्ति = यावच्छक्य तावत्, खण्डय = एवं विदारय, ततो हिरण्यकेन मूपिकराजेन उक्तम्—आत्मनः = स्वस्य परिश्रयागः = इतिः तेन = स्वविनिमयेनेत्यर्थं । आश्रितानाम् = अनुजीविनाम्, यत् परिश्रयः = परिश्रयणम्, तत् नीतिवेदिनाम्—नीतिं विदन्ति इति नीतिवेदिनास्तेषां = नीतिज्ञानाम्, न सम्मतम् ।

भा०—यह मुनकर हिरण्यक नाम का चूहा चित्रप्रीव नामक कपोतराज के बन्धन को काटने के लिये शीघ्रता से जाता है । इतने में चित्रप्रीव ने कहा—मित्र ! ऐसा मत करो । प्रथम हमारे आश्रित इन सब कवूरों के बन्धन काटो, पीछे मेरा बन्धन काटना, तब हिरण्यक ने कहा—मैं अल्पशक्ति वाला हूँ—और मेरे दांत निर्बल हैं, इसलिये इन सब के बन्धनों को कैसे काट सकूँगा, तो भी जब तक मेरे दांत नहीं टूटेंगे तब तक तुम्हारे (चित्रप्रीव के) बन्धन को काट डालू, उसके बाद सबके बन्धनों को जहाँ तक बन सकेगा काटूंगा । तब चित्रप्रीव ने कहा—अच्छा वैसा ही सही, तो भी जहाँ तक बन सके, इन सबके बन्धनों को पहले काटो । तब हिरण्यक ने कहा—अपने को छोड़कर आश्रितों का रक्षण करना यह नीतियों का सम्मत नहीं है ।

यत्—आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

अ०—आवर्त्ये चर्चं रचैत् चर्चैरपि दारान् रचैत् । इत्यैरपि चर्चरपि अतमानं सततं रचैत् ।

श्लो०—आवर्त्यान्मुमिवादिदिपहाम् चर्च्यन्विचारार्थं तस्मिन् आपत्तिपमिहारा-
वेत्पर्यः । चर्चं = कल्पद्रुमवर्णनिकम् रचैत् = संसृष्ट कोशे स्थापयैत् चर्चैरपि = चर्च
मुच्यमानादिमिरपि सर्वैस्त्वविभिन्नेषाम्पीति वाक्यत् । दारान् = विचारां शिवम्
रचैत् = ज्ञातेषु दारैरपि चर्चैरपि च = दारव्यादिविभिन्नेषु च अतमानं = रचम्
सततं = कित्वाकामम् रचैत् = ज्ञापयेत्ति ।

श्लो०—द्वान्मह आदि आद्यैर्लो दूर करके के शिबे नव का संसृष्ट करवा और चर्चने
को शोध कर विचरि में रही हुई को रखा करवा और को तथा नव दोषों को शोध
कर भी आपत्तिमल चर्चनी (अतमानं) रखा करवा आदिषु ० ४२ ॥

अन्वय—चर्चार्थकाममोक्षार्थां प्राप्याः संस्थितिहेतवाः ।

ताम् विद्यता किञ्च हर्तं ? रक्षता किं च रक्षितम् ॥ ४३ ॥

अ०—प्राप्याः चर्चार्थकाममोक्षार्थां संस्थितिहेतवाः (अन्वयः) ताम् विद्यता कि
ञ्च हर्तम् (भवति) रक्षता (च) किं च रक्षितं (भवति) । श्लो०—प्राप्याः = असादा,
रक्षणीयव्यमिति वाक्यत् । चर्चं च चर्चं काममोक्षार्थां चतुर्णां पुस्तकार्थव्यमि-
त्यर्थः । संस्थितिहेतवाः-अन्वयैः = संरक्षणत्वे हेतवाः = कारणानि भवन्ति ।
ताम् = प्राप्याम् विद्यता = विचारयता अथवा किञ्चि वस्तु, च हर्तं = विचारयितं
भवति ? ताम् प्राप्याम् रक्षता = रक्षयता च अथवा किं वस्तु, च रक्षितम् ? अर्थात्
चर्चयेत् रक्षितमिति ।

श्लो०—मान ही चर्च, चर्च, काम और शोध इन चारों पुस्तकों के कारण ही रक्षणीय
मान के साथ करने चर्चों के नया साथ नहीं किया ? अर्थात् उन पुस्तकें चर्चा और मान
(नीयव) का रक्षण करने चर्चों के किञ्च नीय का रक्षण नहीं किया ? अर्थात् उनका
रक्षण किया है ॥ ४३ ॥

विद्यतामिह उच्यते—सद्ये । नीतिस्तथात् ईदृश्येन किञ्चिद्दमस्तथा-
मित्याम्यं दुःखं सोढुं चर्चयाऽसमर्थास्तेषुं श्चिमीमि ।

श्लो०—विद्यतामिह नामा कपोतराजः, उच्यते = उच्यमानं उच्ये = मित्र ! विरन्वक !
(तावत् वाक्यात्कृतौ) नीतिः, ईदृशी = इदमिह दृश्यते इति ईदृशी, मयता वादृशी
कल्पते स्वविभिन्नेषु आभिप्रेतयन्तम् अन्वयमित्येतादृशी, रक्षयता विद्यतामिह,
किन्तु वरन्तु, अहम्, अस्माकम् आभिप्रेतयन्तम् = तेषां कपोतानाम् दुःखं
सोढुम् चर्चया = चर्चयन्तरेण अस्माकम् = अस्मां च अस्माभिः, तेषु हेतुना, इदम् =
'अस्मादाभिप्रेतानां कल्पार्थं वाक् किञ्चि' इति अन्वयम्, श्चिमीमि = कथयामि ।

भा०—चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक ! नीति तो तुमने कही वैसी ही है, लेकिन क्या करूँ, अपने अनुजीवियों के कष्ट को सहन करने के लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, इस लिये ऐसा बोल रहा हूँ ।

यत—धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।

सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४४ ॥

अ०—प्राज्ञ परार्थे एव धनानि जीवितञ्च उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति सन्निमित्ते त्याग वरम् । व्या०—प्राज्ञ = प्रज्ञ एव प्राज्ञ बुद्धिमान् जन, परार्थे=परेषाम् अर्थ प्रयोजन तस्मिन्, परकार्यसिद्धयर्थम्, धनानि=रूप्यकादीनि, जीवितञ्च=आत्मप्राणांश्च, उत्सृजेत्=भ्रजेत् । कुत ? इत्याह—विनाशे=घनस्य विनाशे, जीवितस्य च मरणे, नियते सति=निश्चिते सति, सन्निमित्ते=सत्=शोभनम्, उत्तम निमित्त—कारण परोपकाररूपतस्मिन्, सत्कार्यसिद्धावित्यर्थः । त्यागः=घनजीवितयोर्विसर्जनम्, वरम्=ईषत्प्रिय भवतीति ।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य परोपकारमें ही अपने धन तथा जीवन का उपयोग करें, क्योंकि धन तथा जीवनका नाश कभी न कभी जरूर होगा, इससे सत्कार्यमें लगाना अच्छा है ॥४४॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

व्या०—अय=वक्ष्यमाणप्रकारः, अपरः=द्वितीयोऽपि, असाधारणः=न साधारणः असाधारण-मुख्य, हेतुः=कारण भवतीति—

भा०—यह भी एक दूसरा मुख्य कारण है—

जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।

मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद् भविष्यति ॥ ४५ ॥

अ०—मया सह एषां जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यम्, (भवति) तद् ब्रूहि, मत्प्रभुत्वफलं किं कदा भविष्यति ? व्या०—मया = चित्रग्रीवेण, सह, एषाम् = एतेषां सर्वेषां कपोतानाम्, जातिः=कपोतत्वम्, द्रव्य = पद्मचञ्चवादिसम्पत्, बल=शक्तिः सामर्थ्यं, तेषाम्, चकारेण सहवासादीनां समग्रः । साम्यम्=एकरूपता अस्ति । तत्=तर्हि एव सति, ब्रूहि = कथय, मम प्रभुत्व मत्प्रभुत्वं तस्य फल = मम आधिपत्यस्य कर्तव्यफलम्, किं=किंरूपम्, कदा = कस्मिन् समये, भविष्यति, नैव भविष्यतीति ।

भा०—मेरे साथ इन सब के जाति, सम्पत्, बल ये सब बराबर हैं, मेरे में इन सबका आधिपत्य ही अधिक है । अब कहिये अगर मैं इनका इस वक्त रक्षण न करूँ, तो दूसरा आधिपत्य का कौन सा फल होगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—विना वर्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।

तन्मे प्राणभ्ययेनाऽपि जीवयैतान् ममाश्रितान् ॥ ४६ ॥

न — एते वर्तव्यं विद्या ममाश्रितकं वैष त्वत्कथितं तद् मे प्रथम्यवैवाऽपि एताम्
ममाश्रिताम् शीघ्रम् । आ— एते—इमे सर्वे कसोटा, वर्तव्यं—वृत्ति, विद्या—अते मम
अश्रितकं—अश्रितविद्य, वैष त्वत्कथितं—मुत्कथित, तत्—तस्मात् हेतोः मे—मम आश्रितो
एव विद्याश्रितस्तेन अपि एताम् मम आश्रिताम्—मदनुश्रितानां सेवारक्षणम् कपो-
लात् शीघ्रम् = त्व प्रथमे रत्न ।

भा— वै सर कभृत् र देउव वही केशे, तो भी मेरा धन नहीं छोडते हैं इतकिये मेरे
जीवन के लखे से भी मेरे आश्रित इन सर को रखा करो ॥ ५६ ॥

विद्य—मांसमूत्रपुरीषाऽस्त्विपूरितेऽन्न कश्चिदेवे ।

विष्णुवारे विद्यायाऽऽस्थां यथा पाहाय मित्र मे ॥ ५७ ॥

न— मित्र ! मांसमूत्रपुरीषाऽस्त्विपूरिते विद्यवारे अन्न कश्चिदेवे आरवा विद्याय मे
यथा पाहाय । आ— हे मित्र ! = हे भ्रात्रे !, मांसं च = विधितक-मूत्र च पुरीषे च
अस्ति च तीः पूरितं पूर्णं तस्मिन् विष्णुवारे—वाक्यहीने, अन्न—अस्तिन् कश्चिदेवे—हे
आरवा—ममताय अत्तरम्, विद्याय—परितवम् मे—मम यथा—अनुश्रितो विरचमा-
श्रितो कीर्तय, पाहाय = रत्न । मांसमूत्रपुरीषाऽस्त्विपूरितेऽन्नेति—पाठ्यन्तरम् ।

भा— हे मित्र ! मांस मूत्र म् इतिर्वा रत्न स्रष्टे मेरे हुए रत्न कथिच कठीर हैं
ममता वा त्वत् कर मेरे प्रत्यागतकरकर कर का रखन करो ॥ ५७ ॥

अपरम परय—यदि नित्यमनित्येन निर्मलं महाबाहिना ।

यथा कायेन लम्बेत् तन्न कर्ष्यं मपेत्त किम् ॥ ५८ ॥

न— यदि अनित्येन महाबाहिना कायेन मित्रं निर्मलं यथा लम्बेत् तु तद्
किं कर्ष्यं न मपेत् । आ— यदि = यदि न नित्यम् अनित्यं केन = विनाशिका
महाभि बहुतीति महाबाही, तेन—मूत्रपुरीषादिपूर्णेनाऽनुश्रितेन, कायेन—शरीरेन नित्य-
य—अविनाशि प्रथम् मिमलं = विद्युद्यय यथा—धीर्ति, लम्बेत्—लम्बेत् प्राप्येत् 'तु
पृथ्वायां विकल्पे च' इत्यन्तरः । अनुश्रितोः हिरण्यक ! तत्—अर्हि किं वस्तु न कर्ष्यं
कर्म काः यथा—न प्राप्तः, अर्थात् सर्वोऽपि कर्ष्य इति ।

भा— यथा अनित्य तथा महाबाही अनुश्रित शरीर है नित्य भीर विद्युत् यथा विक्रे,
तो तथा नहीं विना कर्ष्यं न कृष्य विद्या ८

यथा—शरीरस्य गुणानाम्बु दूरमस्यान्तमन्तरम् ।

शरीरं क्षणवित्यन्ति कल्पान्तरस्थापिनो गुणाः ॥ ५९ ॥

—शरीरस्य गुणानाम्बु अन्तरम् आद्यन्तं दूरं (अश्रित), शरीरं क्षणवित्यन्ति
(अश्रित), गुणा कल्पान्तरस्थापिनो (अश्रित) । आ—शरीरस्य—आद्यन्तं गुणायां—
अश्रितमन्तरस्थापिनो अश्रितमन्तरस्थापिनो अश्रितं = अश्रितः विकल्पता, अश्रितम्—अश्रि-
तानं दूरमन्तरस्थितं महत्परिचितम् । तत्र हेनुवाह—इटीरिति । शरीरं—आद्य-

क्षणविष्वंसि = क्षणेन अकस्माद् विध्वंसते नश्यति, क्षणमङ्कुरमित्यर्थः । धर्मादयो गुणास्तु कल्पान्तस्थायिनः = कल्पस्य महाप्रलयस्य अन्तः क्षेपस्तं यावत् तिष्ठन्ति इति कल्पान्तस्थायिनः, महाप्रलयपर्यन्तं स्थितिमन्त इत्यर्थः ।

भा०—शरीर और गुणों में महान् विभेद है, क्योंकि शरीर तो अकस्मात् क्षणमात्र में नष्ट होने योग्य है और धर्मादि गुण तो महाकल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ष्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकित सन् अब्रवीत्—‘साधु मित्र ! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते’ । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां कपोतानां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान् सादरं सम्पूज्य आह—सखे चित्रग्रीव ! सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ सति दोषमाशङ्क्य आत्मनि अवज्ञा न कर्तव्या ।

व्या०— हिरण्यकः, इति = चित्रग्रीवस्य हर्येवं वचनम्, आकर्ष्य, प्रहृष्टमना = प्रहृष्टं सन्तुष्ट मनो यस्य स तादृश, अत एव च पुलकितः=पुलका-रोमाञ्चा सञ्जाता अस्येति पुलकितः रोमाञ्चाग्र सन्, अब्रवीत्, हे मित्र ! साधु साधु = स्वया शोभनमुच्यते, अनेन आश्रितवात्सल्येन = आश्रितेषु वात्सल्य स्नेहाऽतिशयस्तेन, त्रैलोक्यस्याऽपि = त्रयाणां लोकानां समाहार, त्रिलोकी, (समाहारद्विगुं ईप्सु च) त्रिलोकी एव त्रैलोक्य तस्य अपि, प्रभुत्व=स्वामित्वम्, स्वपि=भवति, युज्यते=युक्तं भवति, तेन=हिरण्यकेन, एवमुक्त्वा=इत्येव प्रशसावाक्यमभिधाय, सर्वेषां कपोतानां, बन्धनानि=पाशा, छिन्नानि=विदारितानि, ततो हिरण्यकः सर्वान्=अशेषान् कपोतान्, सादरम् = आदरेण सहित यथा स्यात् तथा, सम्पूज्य = सम्यक् पूजयित्वा, आह = उक्त्वा, सखे ! चित्रग्रीव ! अत्र = एतस्मिन्, जालबन्धनविधौ सति = जालेन बन्धनं तस्य विधि भवनम्, तस्मिन् सति, दोष=स्वस्य अविमृश्यकारितारूपमपराधम्, आशङ्क्य = विचिन्त्य, आत्मनि=स्वस्मिन्, अवज्ञा=स्वस्याऽनादरः, न कर्तव्या स्वया इति ।

भा०—चित्रग्रीव का वचन सुनकर हिरण्यक आनन्दित और पुलकित होकर बोला—हे मित्र चित्रग्रीव ! तुमने ठीक कहा, आश्रितों पर इस प्रकार के वात्सल्य से तुम्हारे में त्रिलोकी के प्रभुत्व की योग्यता है, ऐसा कहकर उस हिरण्यक ने सब कबूतरों के बन्धनों को काट डाला । उसके बाद हिरण्यक आदरपूर्वक सब कबूतरों की पूजा करके बोला—मित्र चित्र ग्रीव ! इस जाल के बन्धन में अपने अधिचार्यकारितारूप अपराध को मानकर आत्मा के प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं करना ।

यत्—योऽधिकाद् योजनशतात् पश्यतीहामिषं स्वग ।

स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

भा०—इहय स्वग योजनशतात् अधिकाद् आमिषं पश्यति, स एव प्राप्तकालस्तु

पादवर्णं च परवति । आ०—इह—अस्मिन् क्षेत्रे, वा वायु—क्षेत्रे = वायव्ये नक्षत्रे
 इति वायु = श्येनपक्षी भोजनक्षतात् = भोजनार्थं कर्तं तस्मात्, अत्रिकात्—अत्रिक-
 पुरात्, अताम्बिकभोजनमपि दूरे स्थितवामपि इत्यर्थः । आम्बिक—अम्बिकं मांसाभिकम्,
 परवति = अम्बिकोचवति, किन्तु अ एव श्येनः, मासकाकस्तु = यथाः प्रत्याहवा कम्ब
 (दूरतः) अन्तको वरव च वाहका सन् तु = पुत्रः, पादवर्णं वाच्यत्वात् = व्यावहि-
 लीर्णवार्णम् च परवति = वाग्बिकोचवतीति ।

आ०—एत वन्ये ये श्वेन (वाग) यदा ही भोजन इर को दूरी ते भी वन्य परवर्
 मंतादि भी देह्या है किन्तु वर वसकी दूतु विक्रम जाती है उन वर तावदे स्थित वा
 को भी वरी देह लक्षणा ॥ ५ ॥

अपरव—शशिद्विवाकरयोर्मैह्वीचरं राजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
 मतिमत्तञ्च विद्योक्त्य दृष्टिर्तां विदित्तो बलव्यमिति मे मतिः ॥
 न०—अत्रिद्विवाकरयोर्मैह्वीचरं राजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं च मतिमतां दृशि-
 त्तां विद्योक्त्य मे मतिः (अवति) अहो ! विधिः बलवार् इति ।

आ — कदा विद्वत्पुत्रा अस्ति वरव इति अस्ती चन्द्रमा विवाकरः सूर्यस्तयोः
 इह्वीचरम् अदेवन्वाहुना पीडनम्—अपराधम् । राजभुजङ्गमयोः = यदा इस्ती भुज-
 ङ्गना = अर्पितयोरपि = अस्ती वाहुमानिवाकसमर्भयोरपि तयोः बन्धनं = मनुजैव
 मन्वादिवा च अंनयम् । मतिमता—मतिः—वाग्मिमोचरा ही। अस्ति एवामिति
 मतिमत्तरतेर्वा = विद्वत्परिचयः । इतिह्येव वाचः इतिह्यता तात् = अत्रिद्विवाकरा
 च विद्योक्त्य = इहः स्थितव मे = मयः, मतिः = अस्ती, अहो ! = अहोर्ने विधिः =
 देवम् बलवार् = अत्रिका अर्भविवाग्मकम् इति = इत्याकारिका जवति । हुतमि-
 कन्वितपुत्रम् ।

आ०—अत्र तस्य सूर्य को भी मह (राहु) इन रीका देकर हाथो तथा सूर को
 मनुका तथा मन्वे से व-वर् देकर नीर पिका होवे वर भी वरिजा देकर—इहो
 विद्वत होता है कि—तपका माता (पातव) वरवार् है ॥ ५१ ॥

अन्वय—श्रीमैकान्तविहारिणोऽपि विद्वदाः सम्मान्युचस्थापद्
 अयमन्ते निपुणैरम्याधसञ्ज्ञिज्ञान्मत्स्याः समुद्रादपि ।
 पुनीतं किमिहोऽस्ति किं सुचरितं का स्थानस्थाने गुणः
 कालो हि व्यसनप्रधारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ ५२ ॥

न०—श्रीमैकान्तविहारिणो अपि विद्वदाः अन्वर् अय्यन्तुवन्ति विपुर्णैः अन्व-
 चञ्चिकाला समुद्रात् अपि मत्स्या व-वन्ते । इह किं पुनीतम् अस्ति ? किं सुचरि-
 तम् ? स्थानस्थाने का गुणा (अस्ति) ? हि व्यसनप्रधारितकरः कायः दूरादपि
 गृह्णाति । आ०—श्रीमैकान्तविहारिणो अपि विद्वदाः अन्वर् अय्यन्तुवन्ति विपुर्णैः अन्व-

विहरन्ति इति व्योमैकान्तविहारिणः = गगनगामिन इत्यर्थः । तादृशा अपि विह
गाः=पक्षिण , आपदं=विपत्तिपाशबन्धनादिरूपाम्, सम्प्राप्नुवन्ति=अधिगच्छन्ति ।
निपुणैः = मस्यवचनिष्णातैः, अगाधसलिलत्—अगाधानि=अतलस्पर्शानि सलि-
लानि=जलानि यस्मिन् स' तस्मात् = तादृशादपि समुद्रात्=पारावारात्, मस्या=
मीना , बन्धन्ते=धियन्ते । इह =अत्र संसारे, किं दुर्नीत =किं दुश्चरितम् अस्ति,
(किं प्रश्ने) । किं च सुचरितं=सुनीतिः अस्ति ? स्थानलाभे=स्थानस्य निष्पाश-
प्रदेशस्य लाभः प्राप्ति' तस्मिन् सति, वा क गुणः अस्ति ? हि =यस्मात्, व्यसन-
प्रसारितकर —व्यसने विपद्दि प्रसारितौ विस्तारितौ करौ हस्तौ येन स तादृशः,
कालः =मृत्युः, दूरादपि, गृह्णाति =स्वग्रासतां प्रापयति ।

भा०—केवल आकाश में विहार करने वाले निरपराध पक्षी भी आपत्तियों को पाते हैं,
चीवर लोग अगाध समुद्र से भी निरपराध मत्स्यों को पकड़ लेते हैं, तो फिर इस जगत् में
क्या सुनीति और क्या दुर्नीति ! दोनों में कुछ भेद मालूम नहीं पड़ता और उत्तमस्थान
मिलने पर भी क्या लाभ है ? क्योंकि काल (मृत्यु) विपत्ति रूप हाथों को फैलाकर दूर से
ही सबको पकड़ लेता है ॥ ५२ ॥

इति प्रबोध्य आतिथ्यं कृत्वा आलिङ्ग्य च तेन संप्रेषितश्चित्रग्री-
वोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ, हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः ।

व्या०—इति=इत्थम्, तेन हिरण्यकेन, प्रबोध्य=आश्वासनं विधाय, आतिथ्य =
न तिष्ठति भोजनादिकम् एकस्थले इति अतिथिः, तस्य सेवा आतिथ्यम्, कृत्वा =
विधाय, आलिङ्ग्य =आस्त्रिय, संप्रेषितः =विष्टः, चित्रग्रीवनामा कपोताऽधिपः,
परिवारेण सहित' सपरिवार', यथेष्टदेशान्=स्वामिमत्प्रदेशान् प्रति, ययौ=जगाम,
हिरण्यकनामा मूपिकराजोऽपि स्वस्य विवर स्वविवरम्, प्रविष्टः ।

भा०—हिरण्यक ने ऐसी सान्त्वना देकर और अतिथिसंस्कार करके आलिङ्गन (परस्पर
मिल) कर चित्रग्रीव को बिदा किया, चित्रग्रीव अपने परिवार के साथ स्वच्छिन्न देशों
के प्रति गया, हिरण्यक भी अपने बिल में ब्रुत गया ।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ।

पश्य मूपिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धना ॥ ५३ ॥

भा०—(जनेन) यानि कानि शतानि मित्राणि च कर्तव्यानि, कपोता मूपि-
कमित्रेण मुक्तबन्धना, (बभूवु) पश्य । व्या०—यानि कानि च=यादृशानि तादृ-
शानि नीधानि महान्ति वा, शतानि=बहुशतसङ्ख्याकानि, मित्राणि=सखाय', कर्त-
व्यानि =जनै विधेयानि । कपोता=बहव पारावता, मूपिक पुत्र मित्र तेन=कुट्ट्रेण
उन्मुक्तमित्रेण, मुक्तबन्धना=मुक्त द्विज जालस्य बन्धन वेपान्ते, तादृशा, बभूवु,
पश्य=तदेतद् अवलोकय ।

मा०—बीरे वा बड़े बहुत से मित्र करने चाहिये, क्योंकि देखिये तब बहुत बुराफ
मित्र से भी बन्धन से कुछ ही मने ॥ ५३ ॥

अथ लघुपतनकनामा काका सर्वहृत्ताम्रदर्शी साक्षर्यम् इदमाह—
'अहो हिरण्यक ! स्नाप्योऽसि भतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीं कर्तुमि
च्छामि भतस्त्व मां मैत्र्येणाऽमुमहीतुमर्हसि' पतन्तुत्वा हिरण्यकोऽ
पि विहराऽभ्यस्तच्छाह—'कस्त्वम्' ? स जूते—लघुपतनकनामा वाय-
सोऽहम् । हिरण्यका विहस्याऽऽह—का त्वया सह मैत्री ?

मा०—अथ०अनन्तरम् सर्वहृत्ताम्रदर्शी—सर्वं च तत् हृत्ताम्रं च सर्वहृत्ताम्रं
तत् परपति इति सर्वहृत्ताम्रदर्शी—विहारीव हिरण्यकबोर्जाकमोचकनहृत्ताम्रं एव
धीकुर्बन् 'लघुपतनक'नामा काका=बापका दासर्षम्=बापसेन सहितं बस
स्वात् तया, इह०इधरमात्रवचनम् आह=उत्तरवात् अहो ! (बापकाकोकमन्-
यव) । हे हिरण्यक ! त्वं स्नाप्योऽस्यर्हसमीप, अस्मिन्भवसि । अतः०अतएव हेतोः,
अहम् (बापका) अपि त्वया (हिरण्यकम्) सह, मैत्रीं—सोहाई बनतुजय कर्तुम्
इच्छामि=चाह्नामि । अतः० अस्मात् हेतोः, त्वं=मयात् आह (बापकापरि),
मैत्र्येण=मित्रमात्रेण अनुमहीतुम्=अनुमई कर्तुम् अर्हसि=ज्योत्सोऽसि मां निर्भ
हृत्वा कृतकृत्यं कृत इति भावः । हिरण्यका (अनुक) अपि पतत् = काकोकन
कृत्वा०सम्भगाकर्ष्यं विहरत्य अनन्तरम् तस्मात्—विहरसम्भत वृत् आह०उत्तर
वात् एव = मयात् का बाका अतया च को स्वच्छिदितोषा अस्ति ? या बापका,
जते०कथयसि अहम् लघुपतनक'नामा बापका०आकाकाठीवा अस्मि । तदा हिर-
ण्यकः, विहस्याऽऽह कृत्वा आह=उत्तरात् त्वया (काका) सह मैत्रीं=मित्रता,
का ? = किन्त्या स्वात् ? इत्येव बापसेन सह मैत्रीं च बुद्धोत्तरम् ।

मा —उसके बाद तब हुआ-त भी देखिये वाता लघुपतनक नामक बीरा बापकेपुत्रक
रत प्रकार बीका—'हे मित्र हिरण्यक ! तुम बहुत से दोस्त (दोस्त मण्डल) हो रहस्य
से भी तुमसे मैत्री करना चाहता हू किन्ता से तुमको अनुमहीत करे । हिरण्यक (पूरा)
भी ऐसा अनुकर विषय के बीना से ही बीका—'तु भय है ? काक बोला—'ये लघुपतनक
नाम का बीका हूँ नच हिरण्यक ईत कर बीका—'तुम्हारे साथ किन्ता हैती ?'

अत —यद् येन युज्यते सोके बुधस्तत् तेन योजयेत् ।

अहमर्षं मयात् मौल्य कर्षं प्रीतिर्मन्विष्यति ॥ ५४ ॥

० —कोक येन वत् युज्यते बुधा तत् तेन सह योजयेत्, अहम् अहम् (अस्मि)
मयात् मौल्य (अस्मि) प्रीति कर्षं भविष्यति ? मा०—कोके=संसारे, वैच
व्यक्तिविरोधैव सह वत्=ज्यो स्वच्छिदितोषा, युज्यते=योजयितुं युज्ये भवति बुध
बीकात् अथ तत्=स्वच्छिदितोष, तेन=बीकाभ्यच्छिदितोषैव सह योजयेत्=

अह मूषिकः, अन्न = काकस्य भक्षयम् अस्मि, भवान् = च काकः, मम मूषिकस्य भोक्ता = अत्ता अस्ति । तथा च भावयोः, भक्षयभक्षकयोः, प्रीतिः = सौहार्दं, कथं केन प्रकारेण, भविष्यति = सम्पत्स्यते ? न कथमपीत्यर्थः ।

भा०—तसार में जो जिसके साथ ओढ़ने योग्य होता है, बुद्धिमान् जन उसी के साथ उसको जोड़ता है । मैं (चूहा) तेरा (काक का) खाद्य (भोजन) हूँ और तू (काक) मुझ को (चूहे को) खाने वाला है । तब कैसे प्रीति हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥५४॥

अपरञ्च—भक्षयभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्ते कारणं मतम् ।

शृगालात् पाशवद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥५५॥

भा०—भक्षयभक्षकयोः प्रीति विपत्ते कारण मतम्, (भवति) शृगालात् पाशवद्ध असौ मृगः काकेन रक्षित । व्या०—भक्षितुं योग्य भक्षयः, भक्षयश्च भक्षकश्च तयो = खाद्यखाद्यकयोः, प्रीतिः सौहार्दं, कदाचित् अवश्यम्, आपत्ते. = आकस्मिकविनाशस्य, कारण = निमित्तम् असाधारणहेतु, मत = विदुषां सम्मतमस्तीति । विपत्तेरेव (कारणमिति पाठान्तरम्) तथा हि—शृगालात् = भक्षककपटमित्रात् जम्बुकात् पाशेन जालेन बद्ध नियमितः, असौ = अयोग्यमित्रभावदृष्टान्ततया स्मरणविषयीभूत, मृग = भक्षयनिष्कपटहरिण, काकेन = केनचित् घायसेन बन्धुरूपेण, रक्षित = पाशादुन्मोषित ।

भा०—भक्षय और भक्षक इन दोनों की प्रीति विपत्ति में हेतु बन जाती है, जैसे मित्र शृगाल द्वारा जाल में फँसाये गये मृग को कौबा ने बचाया ॥ ५५ ॥

वायसोऽब्रवीत्—कथमेतत् ? हिरण्यकः कथयति—

भा०—शुपतनक नाम का कौबा बोला—‘शृगाल द्वारा फँसाये गये मृग को काक ने मुक्त किया’ यह कथा किस प्रकार है । हिरण्यक कहता है—

कथा २

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानी । तस्यां चिरात् महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् दृष्टपुष्टाङ्ग केनचित् शृगालेनाऽवलोकित । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—आ ! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—‘मित्र ! कुशलं ते ?’ मृगेणोक्तम्—‘कस्त्वम्’ ? स ब्रूते—‘क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम् । अथाऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवत् एकाकी निवसामि, इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः स बन्धुर्जावलोकां प्रविष्टोऽस्मि, अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यमिति’ । नृगेणोक्तम्—‘एवमस्तु’ ।

म्या — मयाचक्षेते=मयाचक्षते वाचपदे, चम्पकवती=चम्पकवतीवाग्वा प्रसिद्धा, चरन्वानी = महारण्यम् (महारण्ये वीष् आनुक च), अरिष्ठ = विरहते । तस्याश्च चरन्वानीवाग्वा, सुमत्र काकत्र ती=हरिणवाचसी वमी विरात् = बहुसमवात् नष्ट ता=व्याहृत परमेव, च स्वेहेव = प्रेम्णा प्रेमपूर्वकौ इत्यर्थः । विवसत=व्यासं कृपता । इहनुहात्=इहानि पुष्टानि च अहानि वस्य ह्य = पुष्कलितमांसपूर्णवरीरः इत्यर्थः । स्वेच्छवा = स्वस्व (सुमरच) इच्छा = अविर्भावः तथा, भ्राम्भन् = भ्राम्भति इति भ्राम्भन् = भ्रमनं कर्त्तुं च यथा = पूर्वोक्तं च हरिणा, केनचित्=केन केनापि अपरिचितेव शृगाकेव=अनुकेव अवलोकित=दृष्टः । शृगाक=अनुक, तं=सुमर, दृष्टा = अवलोकय अचिन्तयत् = चिन्तनं कृतवात् वा = वाचयत् । कर्म = केव प्रकारेण पुष्कलितम्=अतिरमणीयं महारखाहु । पतन्मांसम्=पतस्व सुपस्व मीरं पिहितम् अक्षयमि = अरवामि । अवनु = अस्तु -पुष्कलितम्मित्यर्थः । तत्त्वम् = प्रथमम्, विवासं=जा शृगाकं प्रति अस्व हरिणस्व विवासमायम् यथाश्रामि = अहं अवनवामि इति=इत्येवम् आकोष्य = विचिन्त्य उपसृतम् = सुवक्षमीये एवम्, अक्षयीत्=सा शृगाक उक्तमात् मित्र । एवै हरिण ! के=एव कृष्णक=वेमम् वर्तते ? तेन सुपेव उक्तम्—त्वम् (अरवकर्ता) का = को व्यक्तिविशेष इति ? अ=अप्यकम्, मूढे = अक्षयति अहं 'इहनुहि' नामा—इहा = स्वल्पा इहिविचारव्यक्तिर्एव वा इति, इहनुहि=अथ वाम वस्व वा इति इहनुहिवामा अनुक=शृगाक, अमि अक्षारण्ये = पतसिमात् वने, अनुहीय=अनुमि=मित्रैः हीम=रहिता सत् एकमकी= अद्वितीय एव सुतवत्=सुत इव विवसमि = वासं करोमि इहापीय = अनुवा, त्वात् = मकलतम् मित्रम्=अनुम् आसात् = प्राप्य अवनुः=अनुवा सहितः इय वीवावा संसारिवा कोक=स्वितिः त मित्रकामप्रपुच्छनुकमिधितिमित्यर्थः । अविद्योद तिम = कर्मो मवामि अनुमा = धामप्रथम् तव (हरिणस्व) अनुचरेव = एवमेव अहचरेव वा, मवा (शृगाकेव) सर्भवा अविद्यम्यमिति । सुपेक=हरिणैव उक्तम्= अविद्यितम्, दुर्ष=वया त्वं कथयसि तथा अस्तु = अनुचरो भूत्वा अहविवापी भव ।

मा—'मया' इत्यने चम्पकवत वाम अथ मवा अरव्य ही वत अरव्यने वुत तवती हरिण नीर श्वेता वे शोभो गात्र प्रिय ते रहते मे रवेच्छा ते मूढे विरते इहनुहात् वत एव श्वे किलो शृगाक ? इवा । एव को इवकर शृगाक वे लीवा—'वा । हा । वत् इन्द्र मात कैते वामे को मिके ? अन्वत्, अरव वतश्वे विद्यत ह् इता विचारकर तमये वाके शोका-मिच हरिण ! तुम कृष्ण ते हो ! वृष शोका-तुम कीव हो ! शृगाक शोका-मै इहनुहि वाम अ शृगाक ह् नीर वत वम मे संव-साव एहि एवमश्वे एत लहव शोकर वसता ह् केकिन अर तुम कैशे मित्र श्वे गाकर फिर मित्रवहित शोष इवा नीरकोक को स्विति मे अविद्य इवा ह् अर तुन्वता अनुचर ववकर मे तुन्वारे ताव ही एवा वृष शोका—अन्वत्, वेता ही हो ।

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ । तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति, तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—‘सखे चित्राङ्ग ! कोऽयं द्वितीयः ?’ मृगो ब्रूते—‘जम्बुकोऽयमस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः’ । काको ब्रूते—‘मित्र ! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता, तन्न भद्रमाचरितम्’ ।

व्या०—ततः पश्चात् = तदनन्तरम्, भगवति = ऐश्वर्यवति, मरीचिमालिनि = मरीचीनां किरणानां माला = मण्डलम् अस्ति अस्य इति मरीचिमाली तस्मिन्, सवितरि = सूर्ये, अस्तम् = अस्ताद्विं गते याने सति = सायंकाले, तौ = मृगशृगालौ, मृगस्य वासभूमिं = निवासस्थानम् गतौ = जग्मतुः, तत्र = तस्यां वासभूमौ, ‘चम्पक’-वृक्षस्य शाखा तस्याम्, मृगस्य चिरमित्रम् = चिरकालीन सखा, ‘सुबुद्धि’नामा = शोभना बुद्धिर्यस्य स, सुबुद्धि नाम यस्य स इति सुबुद्धिनामा, काकः = वायसः निवसति = वास करोति, तौ मृगशृगालौ, दृष्ट्वा = अवलोक्य, काकः अवदत् = उवाच, सखे ! मित्र ! चित्राङ्ग !, अयम् = एष उपस्थित, द्वितीय = अपर, कः = नाम्ना जाता च कोऽस्ति ? मृग = स हरिणः, ब्रूते = कथयति, अयं जम्बुकः = शृगाल, आवयो, सख्य = मित्रताम्, दृच्छन् = अभिलषन्, आगत अस्ति, काकः न स वायसः, ब्रूते, मित्र चित्राङ्ग ! अकस्मात् = विना परीक्षणं दृष्टि, आगन्तुना सह = नूतनाऽऽगतेन अज्ञातकुलस्वभावेन सह, मैत्री = सख्यम्, न युक्ता = न योग्या, तत् = तस्मात् हेतो, स्वया भद्रः = ज्ञेयकर, न आचरितम् = न अनुष्ठितम् ।

भा०—उसके बाद मगवान् किरणमण्डलयुक्त सूर्य के अस्त हो जाने पर वे (शृगाल-मृग) दोनों मृग के निवासस्थल में गये उस निवासस्थल में चम्पा के वृक्ष की शाखा पर मृग का प्राचीन मित्र सुबुद्धिनाम का कौवा रहता था, वन दोनों (शृगाल-मृग) को देख कर बोला-मित्र चित्राङ्ग ! यह दूसरा कौन है ? मृग बोला-यह जम्बुक है और अपने दोनों से मित्रता करने को आया है । काक बोला-मित्र चित्राङ्ग ! एकदम अनजान व्यक्तिसे मित्रता करना उचित नहीं है, इसलिये तुमने यह ठोक नहीं किया ।

तथा चोक्तम्—अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित् ।

मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गव ॥ ५६ ॥

अ०—अज्ञातकुलशीलस्य कस्यचित् वामो न देय, हि मार्जारस्य दोषेण जरद्गव गृध्र हत । व्या०—कुलं च शीलञ्च कुलशीले, न ज्ञाते अज्ञाते, अज्ञाते कुलशीले यस्य स तस्य = अपरिचितवशम्बन्धमायस्येभ्यर्थ, कस्यचित् अपि व्यक्ते, वासः = स्वगृहे आश्रय, न देय = न दातव्य । हि = यत, मार्जारस्य = कस्यचित् अपरि-

विदित्व विद्याकृत्य होकेन = अथवाचैव विदित्कर्मण्येव अर्थात्वा = अस्मिन् श्रीम
 पाथो वसी वरुष याः इतिदीपो वृद्धाः अर्थात्कथामा वसी पूजाः अन्वो वसिष्ठिः
 वृद्धा = विद्याविता ।

या — अत्रिणे पुत्र त्वयाव अत्रि अपीरिषि ह्ये एते अत्रि एी व्यक्ति को नाम
 नहीं देना चाहिये क्योंकि अपने नाम में रिषि विद्या के शेष से वृद्ध नहीं होने का
 क्या वा ॥ ५६ ॥

तौ व्याहृतु—‘कथमेतत् ?’ काकः—कथयति ।

या०—ये पूजा और श्रवण दोनो बीके—पीव और विद्या के क्या अत्रि प्रकृत
 है ? कते कदी अत्रि करता है—

कथा ३

अस्ति मागीरथीतीरे गृध्रकूटश्रमि पर्यंते महान् पर्वदीपुसा ।
 तस्य कोटरे वैशुविपाकात् गणितनक्षत्रमया अर्थात्कथामा गृध्रा प्रति-
 वसति । अथ कथया तन्वीयमथ तद्बुद्धिवातिना पक्षिणाः स्वाऽऽ
 ह्यापत् किञ्चित् किञ्चित्पुष्टस्य तस्मै वृत्ति तेनाऽऽश्री जीवति तेषां
 श्रमपकरसाञ्च करोति । अथ कथायित् दीर्घकर्मन्तमा माञ्छीरः पाक्षशा-
 वकान् महस्यितुं तत्राऽऽगतः । ततस्तमावाप्तं ह्युप पक्षिश्रमपक्षैर्मया
 र्त्तः कोलाहलाः कृताः । तद्बुद्ध्या अर्थात्कथामा तत्कम्—कोऽयमायाति ?
 दीर्घकर्मो गृध्रमवलोक्य समपमाह—‘हा ! इताऽस्मि’ यतोऽप्यं मं
 व्यापादयिष्यति ।

या०—मागीरथीतीरे—मागीरथस्य इत्यम् इति मागीरथी (पुत्रा कविप्रथम प्रायेण
 वृषात् स्वपूर्वपितामहात् वसिष्ठस्य अर्थात्कथामागतममम् अर्थात् नृपदीर्घकर्मो
 एवा राजा तपस्तपसा महान् स्वर्गात् बुद्धिवातिनाय इति तत आरम्भ महात्मा
 ‘मागीरथी’ सता) तस्मा तीरं तस्मिन् = महात्मा गृध्रकूटश्रमि गृध्रा पक्षिणाः
 वसन्ति कृते परम स गृध्रकूट तत्राव वरुष सा गृध्रकूटश्रमि तस्मिन् वसन्ते =
 मागीरथी महात्माविद्यात् वसिष्ठकूटश्रमि तस्य अस्ति अत्रिणे तस्य अर्थात्कथामा
 कोटरे = अत्रिणां गतिं वैशुविपाकात् = वैशुविपाकात् अत्रिणाः अत्रिणां
 तत्रात् गणितनक्षत्रमया = अत्रिणां वसन्ति तत्रात् गणितनक्षत्रमया (अत्रिणां
 अत्रिणां वसन्ति तत्रात् गणितनक्षत्रमया इति नाम वरुष या अर्थात्कथामा,
 गृध्रा गृध्रवशी गृध्रातीव प्रतिवसन्ति अत्रिणाः । (अत्रिणां वरुषात्) तद्बुद्ध-
 यायित् = अत्रिणां पर्वदीपुषं वसन्ति इति तद्बुद्धिवातिना, पक्षिणाः = अत्रिणां वस-
 विना, कथया = कथया तन्वीयमाय = तस्य अर्थात्कथामा गृध्रस्य श्रीर्षं एवम् तस्ये,

स्वाहारात् = स्वेषां पक्षिणाम् आहारं स्वाद्यं तस्मात् किञ्चित् = कियन्मात्रं खाद्यम्, उद्वृष्टय = अतिरिक्तमवस्थाप्य, ददति = प्रपच्छन्ति । असौ = अयं जरद्गवः, तेन = पक्षिदत्तस्त्राद्येन, जीवति = जीवनं निर्वाहयति, तेषां = तत्रस्थानां पक्षिणाम्, शावकरक्षाम् = शावकानां बालानां रक्षा = त्राणम् ताम्, च करोति । अयं = अनन्तरं कदाचित् = एकस्मिन् समये, दीर्घकर्णनामा = दीर्घौ लम्बमानौ कर्णौ श्रोत्रे यस्य स दीर्घकर्णः, स एव नाम यस्य स इति दीर्घकर्णनामा, मार्जारः = बिडालः, पविशावकान् = पक्षिणां शावका बाला तान्, भक्षयितुम् = अत्तुं खादितुम्, तत्र = पर्कटीवृक्षाऽधोभागे, आगतः । ततः = तदनन्तरम्, आयाग्तम् = आयाति इति आयात् त आयान्तम् = आगच्छन्तः, त = बिडालम्, इष्ट्वा = अवलोक्य, भयेन आर्त्ता तैः = भयविद्वलैः, पक्षिणां शावका तैः = पतत्रिबालैः, कोलाहलः = कलकलायमानः भयार्तनादः, कृतः = प्रारब्धः । जरद्गवेन = तेन जरद्गवनाम्ना वृद्धगृध्रेण, तत् = कोलाहलः, श्रुत्वा = आकर्ण्य, उक्तम् = अभिहितम् । अयम् = एष इष्टिविषय इयं किं, क ? किंजातीयकिंनामा च ? आयाति = आगच्छति । दीर्घकर्णः = तन्नामा स मार्जारः, गृध्रः = त गृध्र गृध्रपक्षिणम्, अवलोक्य, सभयः = भयेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह = उवाच, हा ! हन्त ! हन्त = अहं विनाशितः, अस्मि = भवामि, यत् = यस्मात् हेतोः, अयं = गृध्रः माम् (बिडालम्) व्यापादयिष्यति = मारयिष्यति ।

भा०—मागीरधा गङ्गा के तट पर, 'गृध्रकूट' नाम के पर्वत पर पाकड़ का बड़ा वृक्ष है, उसकी कोटर (पोल) में दुर्भाग्यवाला तथा जीर्ण नख और नेत्र वाला ऐसा एक 'जरद्गव' नाम का गीध पक्षी रहता था। उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षिगण दया करके अपने अपने भोज्य वस्तुओं में से कुछ कुछ हिस्सा बचाकर उस गीध को देते थे, उससे गीध अपना जीवननिर्वाह करता था और पक्षियों के बच्चों की रक्षा करता था। एक समय 'दीर्घकर्ण' नाम का बिडाल उन पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये उस स्थल पर आ पहुँचा, आते हुए बिडाल को देखकर पक्षियों के बच्चे भयभीत होकर कोलाहल करने लगे, यह सुन कर जरद्गव गीध ने कहा—जौन इधर आ रहा है ! तब दीर्घकर्ण नाम का बिडाल उस गीध को देख भयभीत होकर बोला, हाय हाय ! मैं मारा जाता हूँ क्योंकि यह गीध मुझे मार (नीर) डालेगा।

अथवा—तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।

आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद् यथोचितम् ॥ ५७ ॥

अ०—यावत् भयम् अनागतं (भवति) तावत् भयस्य भेतव्यम्, तु भयम् आगतं वीक्ष्य, नरः यथोचितं कुर्यात् । व्या०—यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, भयं = भीतिकारणम् अनागतं = उपस्थितं न भवति, तावत् = तावत्कालपर्यन्तं, भयस्य = भयकारणात् (सम्बन्धे षष्ठी) भेतव्यं = जनैः त्रसितव्यम् । तु = किन्तु, भयं = ५ हि० सि०

मीतिश्च अनात्मत्वम् = अचरित्यतम् वीच्य = ज्ञात्वा, परः = बन्धोचितम् = बन्धयोग्यम्
 वतिकुर्वात् = प्रतीकारं विद्वन्वात् ।

धा०—अथ एक मय न आवा हो तत्र एक मय से कर्त्ता चाहिये । केहिम अथ न
 सामने वा एवा तत्र तो बसन्धी दूर करये वा प्रत्यय कर्त्ता चाहिये ॥ ५७ ॥

अबुधाऽऽसिधधाने पलायितुमक्षमा । तद्यथा मथितस्य तथा
 मबद्ध, तावत् विद्यासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि इत्याहोष्य
 तमुपसृत्याहबोत्—‘माथै । त्वाम् अमिदस्ये’ । पुत्रोऽबद्धत्—‘कस्तवम् ।
 सोऽबद्धत्—‘माज्ञातोऽहम् । पुत्रो मूले—‘दूरम् अपसर मो धेत् इस्त-
 ष्योऽसि मया’ । माज्ञातोऽबद्धत्—अपता तावत् मद्रक्षनम् तदा यद्यै
 बध्यस्तदा इन्तव्यः ।

धा०—अबुधा = इहावीम्, अतिप्रधाने = अत्रदूरत्व पुत्रस्वात्मिकिद्वे अन्-
 तोऽसि अत एव पलायितुं = पलायन यन्तुम् अक्षमा = अक्षय अस्मि । तत्-
 तस्मात् असमर्थात् हेतोः मया = येन प्रकारेण मथितस्य तथा = तेन प्रकारेण
 अचतुःभारं वीचयं वा वतिकुर्वि भवत्, किन्तु इत्यर्थः । तावत् = अथम्, विद्यासं-
 मां प्रति विद्यासमायम् कर्त्ता = उपवित्वा, अत्य = अत्रदूरत्व पुत्रत्व धनीत्वं =
 विकृत्य उपमथ्यामि, इति = अथम्, आहोष्य विचारं = अत्रदूरत्व उपपत्त्य
 धनीप समासात् अक्षयित्वा अमिदित्यात् । अर्थ = आत्मनीच दूर ! त्वाम् अमिदस्य,
 अमिदस्यै = अस्तवमं मनमामि । पुत्र = अत्रदूरत्वा, अबद्धत् = इवाच अर्थ = मयात्
 का ? विद्यातीचा असि ? सा = वीचकर्मः माज्ञाता अबद्धत् = अक्षयत् अर्थ
 माज्ञाता = विद्याज्ञातीचा, अस्मि । पुत्रो मूले = अथवति दूर = दूरप्रदेशम् अपसर-
 त्वं अपद्ध । मो धेत् = यदि न यत्पुंसि । तदा एव मया पुत्रेण इन्तव्यः = विहा-
 ष्यिष्या, असि = मयसि । माज्ञाता = विद्यात्वा, अबद्धत् = अक्षयत् तावत् = अक्षयत्
 मय वचनं = मद्रक्षनं = मे वाक्यम् अचरान् = आकर्त्तव्यम्, ततः = अक्षयतामन्त-
 रम् यदि अर्थ (माज्ञाता) अक्षयत् = अक्षयत् अर्थेत् ययामि । तदा इन्तव्यः = तदा
 पुत्रेण विचारवा ।

धा०—अथ अपि लक्ष्य हीने ० मी वाच मो नहीं लक्ष्यः । अन्ध, मो हीन्य ही नर
 हो केहिम अथम वीच अथ विद्यात् अक्षय करके लक्ष्य नें काळ । ऐव लोचकर वीचके लक्ष्ये
 वाकर वीच-अर्थ वीच । अथये मी अथम अर्था हैं । वीच वीच-पुत्र वीच हो । अथये
 कदा मी विद्यात् हैं । वीच वीच-दूर वा नहीं से नहीं तो मी अथ काळवा । विद्या
 वीच-अथम मी अथम लक्ष्ये, वीच अथ मी अथये वीच हैं वी मार काहिने

अतः—जातिमात्रेण किं कश्चिद् अक्षयते पूज्यते कश्चित् ।

अथवाहार् परिहाय यस्या पूज्योऽथवा मयेत् ॥ ५८ ॥

अ०—(जनैः) कश्चित् कश्चित् जातिमात्रेण वक्ष्यते पूज्यते किम् ? अथवा व्यवहार परिज्ञाय वक्ष्यः पूज्यः भवेत् । न्या०—कश्चित्—कुत्रचित् स्थाने, कश्चित् अपि व्यक्ति, जातिमात्रेण = जातिरेव जातिमात्र तेन = चाण्डालत्वेन हन्तव्यः, ब्राह्मणत्वेन पूज्य इत्येव जातिव्यवहारेण । किम् (प्रश्ने) पृच्छामि । वक्ष्यते=हन्त्यते, पूज्यते=अर्च्यते ? वा । अथवा=किन्तु, व्यवहारम्=आचार श्रेष्ठ कनिष्ठ वा, परिज्ञाय=ज्ञात्वा, वक्ष्यः=नाश्य, पूज्य =अर्च्यो वा भवेत् ? इति ।

भा०—किसी भी स्थल में क्या जातिमात्र से ही कोई मारा जाता है या पूजा जाता है ? नहीं, किन्तु आचरण के अनुसार मारने योग्य और पूजने योग्य होता है ॥ ५८ ॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?' सोऽवदत्—'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । युष्मान् 'धर्मज्ञानरताः प्रेमविश्वासभूमयः' इति पक्षिणः सर्वे सर्वज्ञ ममाग्रे प्रस्तुवन्ति, अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञाः, यन्माभतिर्थं हन्तुमुद्यताः ?' गृहस्थधर्मश्च एव—

न्या०—गृध्रः = जरद्वगव पक्षी, ब्रूते = कथयति, ब्रूहि = कथय, किमर्थं = कस्मै प्रयोजनाय, आगतोऽसि ? स दीर्घकर्णनामा विट्वाळ, अवदत् = उवाच, अहम्, नित्य = त्रिसन्ध्य स्नाति, इति निरयस्नायी, निरामिषाशी = मामिष मांसम् अश्नाति अस्ति इति आमिषाशी, स न भवतीति निरामिषाशी, ब्रह्मचारी = ब्रह्म = अर्च्योत्तसां व्रत चरितुं शीलमस्य इति ब्रह्मचारी, चन्द्रस्य अयनमिव अयनम् अस्मिन् इति चन्द्रायणम्, चन्द्रायणमेव चान्द्रायणम् (एकैकं प्रास हासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत् इति) तद्व्रतं कृच्छ्रम्, आचरन् = अनुतिष्ठन्, अत्र = अस्मिन्, गङ्गायाः तीरं तस्मिन् तिष्ठामि = निवसामि । सर्वे = गङ्गातीरस्था प्रायश सकलाः, पक्षिणः = पक्षिण, सर्वदा सर्वस्मिन् काले, ममाग्रे = मम पुरत, युष्मान् = भवतः सर्वान्-धर्मश्च ज्ञान च धर्मज्ञाने धर्मज्ञानयो रता धर्मज्ञानरता, प्रेमा च विश्वासश्च प्रेम-विश्वासी तयो भूमयः स्थानानि तादृशा इति प्रस्तुवन्ति = प्रकर्षेण प्रशंसन्ति । अत = एतस्माद्देतो, भवद्भ्य विद्यावयोवृद्धेभ्यः = विद्या च वयश्च विद्यावयसी, ताभ्यां वृद्धा मत्ता अधिका तभ्यः = तादृशेभ्य श्रीमद्भ्यः । धर्मं = धर्मस्वरूपम्, श्रोतु = श्रातुम्, इह भवतां सन्निधौ, आगतोऽस्मि । भवन्तश्च यूयञ्च, एतादृशाः = ईदृशा, धर्मवेत्तार सन्ति । यद् = येन धर्मज्ञानेन हेतुना, अतिर्थं माम् = क्षिज्ञासु माम्, हन्तुम् = नाशयितुम्, उद्यताः = प्रवृत्ता भवन्ति । (लज्जाजनक वचनमेव) एष = अग्रे वक्ष्यमाण, गृहस्थधर्मं = गृहैः दारे सह तिष्ठन्ति इति गृहस्थास्तेषां धर्मं, कर्त्तव्यविषय अ

आ०—शेष के कदा-शोक, वहां क्यों आया है। विवाह शोक-में कितने विद्वान्
 काम करता हैं, वांछिति कहीं आया है मध्यमं मय वाञ्छता हैं और वाञ्छायन मय को
 करता हुआ एक मय के तय पर रखा है। वहुन से वही शोक-पीडन मेरे पास आकर मन
 'पर्यन्तन के श्रेयो शीत मैन मय विवाह के पास है'—देती वाचकी प्रार्थना करते हैं।
 रत्नमि विवाहक तय वधोदक आन को समझ कर आन से पर्यं का रसकन अपने
 आया है। (किन्तु) आन तो श्रेते पर्यं है कि वृद्ध मतिवि की मारने को देवात हो नये।
 पुरस्कर्तं देता है—

अपवप्युचितं कर्ष्यमातिष्यं पृष्टमागते ।

शेषुः पार्ष्वगतान्ध्र्यायां शोषसंहृष्टे शुभा ॥ ५९ ॥

आ०—पृष्टम् आगते गरी अपि क्वचित्क आतिष्यं कर्ष्यं शुभा पार्ष्वगतान्
 शेषुः श्रान्ता व कर्षसंहृष्टे । आ०—पृष्टं = अथवा आगतेऽन्तमुपस्थिते गरी अपि
 क्वचित् अपि क्वचित् = अतिष्यं आतिष्यम् = अतिशयः प्रत्यक्षः, कर्ष्यं = कर्ष्यं
 श्रेयः श्रेयस्तेषु कर्षं करोति—दुष्ट इति । शुभा = उद्वारः, पार्ष्वगतान् = पार्ष्वं श्रान्त-
 श्रेयं गता उत्थानम् = एवञ्चावावा कर्ष्यदिकामदित्यर्थः । शेषुः = शेषाद्येवकर्ष्यं
 अपि शुभान् श्रान्ता व कर्षसंहृष्टे = अथ कर्ष्यं इति ।

आ०—अथवे वर (मायक) के आये हुये श्रेयस्य की अतिशय उत्थार करवा करिए।
 क्योंकि दुष्ट अथवा श्रान्त को अथवा श्रान्त कर्ष्ये मन्ते शुभ से गरी इत्यादि ॥ ५९ ॥

किञ्च—यदि अन्नं मयस्ति तथा सुधीतेनाऽपि क्वचित् तावदतिष्यि
 पूज्य एव ।

आ०—किञ्च = अथवा, यदि = यदि, कर्ष्यं = अथवा कर्ष्यं, मास्ति = उपस्थितं व
 अथवा तथा = उत्थारकवत्सायान् सुधीतेनाऽपि = सुमधुरेव श्रेयस्तेषु अपि
 क्वचित् वाञ्छानेव अतिशयः = पृष्टमागता अन्वायता । पूज्या = साक्षात् इति ।

आ०—श्री वर वर में मय उत्थार व हो तो वसु कर्ष्य केवक वपुः मयि है
 अतिशय उत्थार कर्ष्ये योग्य है ।

तथा शेषं—पुत्रानि भूमिद्वयं वाक् वतुषीं च सुनुता ।

एताभ्यपि सतां गद्दे माच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ६० ॥

आ०—पुत्रानि भूमि उद्दे वतुषीं सुनुता मय व वतुषीं अपि सतां गद्दे कदाचन
 व अच्छिद्यन्ते । आ०—पुत्रानि = पुत्राणां वादिकम् भूमि = विषयार्थं श्रेयं उद्दे
 उद्दे = वरमञ्जलात्मायं अथवा वतुषीं = वतुषीं वतुषीं सुनुता = विषयार्थं
 वाक् = वाणी च । पुत्रानि अपि = उच्छानि पुत्राणी अपि सतां = साक्ष्यं की
 विवाहे कदाचन = कदापि व अच्छिद्यन्ते = व अनुपस्थितानि अस्ति ।

भा०—तृणोंका बनावा आसन, मूषि, बल और चौथी सुमधुर वाणी ये चार तो साधु-
जनों के घर में अवश्य होते हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—वालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।

तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ६१ ॥

अ०—वालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा गृहम् आगत, तस्य पूजा विधातव्या,
अभ्यागत सर्वस्य गुरु । व्या०—वालो वा = शिशुर्वा, यदि वा वृद्धः = अथवा वृद्धा-
वस्थ, युवा वा = यौवनावस्थो वा, (य कोऽपि भवेत्, किन्तु स्वस्य) गृह = निवा-
सम्, आगतः = प्राप्त भवेत्, सर्हि तस्य = अतिये, पूजा = सत्कारादिकम्, विधात-
व्या = कर्तव्या । यत सर्वस्य = जनस्य, अभ्यागतः = अतियि, गुरुः = पूज्य ।

भा०—बालक, वृद्ध या जवान, जो कोई घर में आया हुआ अतियि है, उसका सत्कार
करना चाहिये । क्योंकि अतियि सबके लिये गुरुत्व पूज्य है ॥ ६१ ॥

अपरञ्च—निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।

न हि सहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६२ ॥

अ०—साधव निर्गुणेषु अपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति, चन्द्रः, चाण्डालवेश्मनः ज्यो-
त्स्नां न हि सहरते । व्या०—साधवः = सत्पुरुषा, निर्गुणेषु अपि = पुण्यरहितेषु अपि,
सत्त्वेषु = प्राणिषु, दयां = कृपाय, कुर्वन्ति = बिद्धति । सत्र इद्वान्त - चन्द्रः = शशी,
चाण्डालवेश्मनः = चाण्डालस्य वेश्म तस्मात्, अपचादिगृहात्, ज्योत्स्नां = कौमु-
दीम् न हि सहरते = न आकर्षति । (चाण्डालवेश्मनि इति पा०)

भा०—साधुजन निर्गुण जीवों पर भी दया करते हैं, क्योंकि चन्द्रमा भी अपनी
चांदनी को चाण्डाल के घर से हटा नहीं लेता है ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—अतिथिर्तस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।

स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ६३ ॥

अ०—यस्य गृहात् अतियि भग्नाश प्रतिनिवर्तते, सः तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यम्
आदाय गच्छति । व्या०—यस्य = गृहस्थस्य, गृहात् = भवनात्, अतियि =
अभ्यागत, भग्ना = हता = अफला, आशा = अभिलाषा भिद्येच्छा यस्य सः = अपूर्ण-
मनोरथ सन्निस्यर्थ प्रतिनिवर्तते = प्रत्यावर्तते प्रत्यागच्छति । सः = अतियि,
तस्मै = गृहिणे, दुष्कृत = स्वीयपापम्, दत्त्वा = प्रदाय, पुण्यञ्च = गृहस्वामिनः धर्मञ्च,
आदाय = गृहीत्वा = अपहृत्य । गच्छति = याति ।

भा०—जिसके घर से अतियि हताश होकर लौट आता है, वह अतियि उस गृहस्थ
को अपना पाप देकर और गृहस्वामी का पुण्य ले कर चला जाता है ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।

पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेधमयोऽतियिः ॥ ६४ ॥

७०—उत्तमस्व वर्णस्व गृह्य आगता वीथ्य अपि वयाभोगर्ह, वृद्धवीथः, (वता) सर्वैरेवमपा अतिथिः । न्या —उत्तमस्व=उत्तमस्वरथापि वर्णस्व = ब्राह्मणादेः अपि गृह्यं = मन्वन्तम् आगता = प्राप्ता, वीथ्य अपि=हीनश्रुतिरपि अतिथिप्रापेक्षया अतिथिः, वयाभोगर्ह = वयोचितम् वृद्धवीथः = छम्माववीथः, (वता) अतिथि—अभ्यापताः सर्वैरेवमपा=अर्थेभ्याः द्वेषेभ्या अपुषकस्वरूपः, मन्वन्तीति ।

७१—उत्तम ग्राह्यादि के वर वर आता हुआ अथि वर के वी अतिथि वधेनैव सत्कार करते योग्य है । क्योंकि अतिथि सर्वैरेवमन होता है ॥ ६४ ॥

गृह्योऽपदत्-‘मार्जारो हि मांसवधिर, पश्चिद्यपक्ष्याश्च अन्य निव-
सन्ति तेनऽहमेव ब्रवीमि’ । तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्षी
स्पृष्टति मृते च—मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीथ्यगोपेर्हं तुष्करं मृतं वा-
ग्नायणम् अश्वघ्नितम् यथा परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्रा-
णाम् —‘अहिंसा परमो धर्मः— इत्यथैकमस्मयम्’ ।

७१—गृह्यो = अरद्वयः, अपदत् = अनिदितवाद् द्विभिविधये मार्जारः=विद्याया
मांसघ्नः=जाति मांसादेः घ्निक आश्रुता वयस्य धर्ममांसासी भवति । अथ च अत्र
वृत्तिमन् परकीर्तुवै पश्चिद्यपक्ष्याः=पश्चिमां वृत्तिर्वा आश्रयाः=वाक्या, निवसन्ति
वाक् कुर्वन्ति तेन हेतुना, अहम् (गृह्य) एवम् = दूरमपसर’ इति वचनं अवीमि
अभिहितवाद् अस्मि । मार्जाराः = विद्यायाः, तत् = गृह्यस्य वचनम् श्रुत्वा=आकर्ष्य,
(इस्ताम्बाद्) भूमि-वृत्तिकाम् स्पृष्ट्वा = संस्पर्श कर्षी=अवमहूवद् स्पृष्टति
आप्याहवति । (‘मांसवधि’ इत्यैतद्गृह्यवाचकवचनैव (विद्यायाः) आमार्यं पापस-
कृतमाकृष्टमावा घ्नं तापरिहाराय भूमिं स्पृष्ट्वा अग्रे च स्पृष्टवामिति मया) मृते
च=अजिनकते च मया (विद्यायेन) धर्मघतिपाहर्कं साकं धर्मशास्त्रं श्रुत्वा=आकर्ष्य
वीथरायैव (सता) वीथः बहः रथाः मांसादिविचयवृत्त्या वरस्य सा तैवरापरि-
तैव घता, इदम्=इतत्, तुष्करम्=तुष्केन कियते इति तुष्करम्=अतिव्याघ्रसाध्य
वाग्नायणम्=अश्वघ्नितम् अथर्व अथर्व अथर्वमासकामो वसिष्ठम् तत् कृष्णं, चन्द्रो
वचम् (वृक्षं दासयेत् वृक्षे टाकते च वरिचर्षवेत्) तादृशं मतम्, अश्वघ्नितम् =
अश्वघ्नितम्, वताः = वारमात्रेताः, वरस्वरम्=वरम् परम् इति वरस्वरम्=अश्वोन्वयं,
विवदमानानां = विद्वदमतप्रतिपाद्यानामपि धर्मशास्त्रानां = अन्वयिपर्यांतरवृत्ती-
नाम् अहिंसा = सर्वथा मन्वन्त कर्मजा वाचा अहिंसाश्रित्यमेव, वरसा = वेदान्तम्,
धर्मः = अस्ति इति अत्र अस्मिन् दिग्बै, द्वैकमात्रम् = एकम् अविद्वद् मन्वन्तम्=अनि-
याया तावर्ष वैवाण्ठमि तेषां भावः मनमेदाः न मन्तीति भावः । सर्वेषु शास्त्रेषु
प्रामिहितानुमतिर्न हरवते अतः मयाअपि वि स्पृष्टेव वाग्नायणं अस्तिमिति नार्ह
पश्चिद्यपक्ष्याद् द्विभिव्यामीति ।

भा०—गीध बोला—'बिडाल मांस का प्रेमी होता है और इस वृक्ष पर पक्षियों के बच्चे रहते हैं इसलिये मैं यहाँ से चले जाने को कहता हूँ' ऐसा सुनकर बिडाल ने (दोनों हाथोंसे) पृथ्वी (मिट्टी) को छूकर दोनों कान छूए और कहने लगा—'मैंने धर्मशास्त्र सुनकर मासादि की वृष्णा छोड़कर अतिकठिन चान्द्रायण व्रत किया है, क्योंकि परस्पर मित्र मित्र निर्णय बताने वाले धर्मशास्त्रों का 'अहिंसा परम धर्म' है' इस बात में तो एक ही मत है ।

यत—सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये ।

सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६५ ॥

अ०—ये नराः सर्वहिंसानिवृत्ता, ये च नरा सर्वसहा, सर्वस्य आश्रयभूताश्च, ते नरा स्वर्गगामिनः । व्या०—ये नरा = जना, सर्वहिंसानिवृत्ता = सर्वेषां भक्ष्या-ऽभक्षयाणां प्राणिनां हिंसा = हननम्, तस्या (पञ्चमी) निवृत्ता = नराद्मुख्या विरता भवन्ति, ये च नरा = जना सर्वसहा = सर्वसुखदुःखमानाऽपमानादिक सहन्ते इति सर्वसहाः = सर्वसहिष्णव भवन्ति । अथ च सर्वस्य = सुखिन दुःखिनो वा शरणागतस्य प्राणिनः, आश्रयभूताः = आधारभूता, भवन्ति, ते नरा, स्वर्गं गच्छन्तीति स्वर्गगामिनः = स्वर्गवासिन भवन्ति ।

भा०—जो लोग सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त हों तथा सर्वदुन्दों के सहनशील हों और सबके आश्रयदाता हों, वे लोग अवश्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ६५ ॥

अन्यच्च—एक एव सुहृद्धर्मो निघनेऽप्यनुयाति यः ।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६६ ॥

अ०—एक धर्म एव सुहृद्, य निघने अपि अनुयाति, अन्यत् सर्वं तु शरीरेण समं नाशं गच्छति । व्या०—एक = केवल, धर्म एव = एवकार इतरव्यावर्तक, धर्म एव नान्य इत्यर्थः । सुहृत् = मित्रं भवतीति । कुत ? इत्याह—य = धर्मः, निघनेऽपि = मरणे सत्यपि, अनुयाति = अभीष्टफलदानार्थम् अनुगच्छति, अन्यत् सर्वं तु = धर्माऽतिरिक्त पुत्रकलत्रादिक याह्य वस्तुजात पुन, शरीरेण समं = कायेन सह, नाशं = ध्वंसम्, गच्छति = प्राप्नोति ।

भा०—एक धर्म ही मित्र है, क्योंकि वही मरने के समय साथ जाता है और सब पुत्र स्त्री आदि का सम्बन्ध शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है ॥ ६६ ॥

किञ्च—योऽस्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यताऽन्तरम् ।

एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्य प्राणैर्विमुच्यते ॥ ६७ ॥

अ०—य यस्य मांसं यदा अस्ति, (तदा) उभयो अन्तरं पश्यत । एकस्य क्षणिका प्रीतिः, अन्य प्राणै विमुच्यते । व्या०—य = य. प्राणी, यस्य = प्राणिन, मांसं = पिशितम्, यदा = यस्मिन् काले, अस्ति = भक्षयति, तदा उभयो = भक्षयम-

सकचोदुचोऽ अन्तरं = प्रयेद्यत् परवत् = आच्छेदकपत् सूत्रमिति शेषः । सकच = सकचरत् प्राचिः, सकिः—सकमाकरप्राचिः, मीतिः—सूत्रसूत्रमो सकचीति । अन्ता = सकचप्राची तु प्राचीः = अनुमि, विपुण्यते = विपुण्यते इति ।

मा०—यो प्राची तित प्राची का प्राच जला ई इव दोषो मे पर दो देखिये । प्राची प्राके को सकचान एहि दोषो ई और सूत्रे के प्राच ही प्राचे ई ॥ १७ ॥

अपि च—मर्त्तव्यमिति पद् बुद्ध्यं पुत्रपत्योपजायते ।

शक्यस्तेऽनुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ १८ ॥

मा०—पुत्रपत्य मर्त्तव्य इति पद् बुद्ध्यं उपजायते तेष अनुमानेन प्रा अपि परिरक्षितुं शक्यः । आ०—पुत्रपत्य=पुत्रि शरीरे श्येते इति पुत्रः तस्य शक्यत्वेत्थर्त्तः । 'मर्त्तव्यम्' इति=मम मर्त्तव्य स्थिति चिन्तना पद् बुद्ध्यं=प्राचं सकच परवत्प्राचते—अपत्यं सकचि तेष अनुमानेन सकच क्त्वा मर्त्तव्येन सकच प्राचि तदा अन्वत्प्राचि मर्त्तव्य सकचं बुद्ध्यं=सकच इति अनुमित्या परोऽपि अनुमित्ये अपि प्राची परिरक्षितुं = विनाहृष्टिक्तानुं शक्यत्वेन शक्य=अनुमानेन । 'अप्यते प्राञ्जुमानेन परेन परिरक्षितुं'मिति प्राञ्जुत्तरत् ।

मा०—अप्ये को (एही प्राची के सम) 'अप्ये मर्त्तव्य मर्त्तव्ये' ऐही शिला के शिला बुद्ध्य हीता ई अन्ता ही बुद्ध्य सूत्रे को मी हीता ई शिला सकचर क्त्वा मी शिला को शिला मर्त्तव्य प्राचिये ॥ १८ ॥

पद्, बुद्ध्यं—स्वच्छन्दव्यवहारेण प्रकृत्याऽपि प्रपूर्यते ।

अस्य बुद्ध्योऽवस्थाऽयं कः कुर्यात् पाठकं महत् ॥ १९ ॥

मा०—(पद् सकचरत्) स्वच्छन्दव्यवहारेण प्राच्येन अपि प्रपूर्यते । अस्य बुद्ध्योऽवस्थाऽयं कः कुर्यात् पाठकं कुर्यात् । आ०—पद् सकचरत् इति शेषः । स्वच्छन्दव्यवहारेण = स्वच्छन्दः अभिप्रायो अस्मिन् तेष = स्वच्छन्देन स्वच्छन्दा स्वभावत् इति प्राचत् प्राचत् प्राचः सकचातस्तेन = सकचरत्प्राचिकमन्तरेण अनुमानेनैत्थर्त्तः । प्राच्येनापि = (काले श्रुतीया) प्राच्यव्यवहारेणापि प्राच्येति श्रुते क्वो । अस्य = बुद्ध्य बुद्ध्योऽवस्था = बुद्ध्यं च सकचरत् च बुद्ध्योऽवस्था इत्यं = प्राच्येन प्राच्येन विधिं सकचरत् तस्मैत्थर्त्तः । अर्थे = मितिसे कः = को कर्त्ता, महत् पाठकं शक्यत्वेनाप्यस्य अत्युत्तं प्राच्यं कुर्यात् = प्राच्ये ? न कोऽवस्थितः ।

मा०—और मी श्रुते, अर मम मे प्राच्यव्यवहारेण प्राच्ये, मम प्राच्ये के मी ईद मर एकते ई, एव क्वर के श्रुति द्विगतक मम प्राच्ये शिला प्राच्य ॥ १९ ॥

पार्थ विश्वात्म्य स मन्वोरस्तुकोदरे स्थितः । ततो दिनेषु मच्छस्तु मसौ पक्षिणावकाशकस्य स्वकोदरप्राचीय प्रत्याई प्राच्येति । मय देवान-

पत्यानि खादितानि; तैः शोकार्त्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समा
रब्धा । तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटराग्निःसृत्य बहिः पलायितः । पश्चा-
त्पक्षिमिरितस्ततो निरूपयद्भिरस्तत्र तरुकोटरे शावकाः खादिता इति
(सर्वैः पक्षिभिः) निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि-
'अज्ञातकुलशीलस्ये'त्यादि ।

व्या०—स मार्जारः=दीर्घकर्णः, एवम्=इत्युक्तरूपेण, विश्वास्य=जरद्गवस्य
मानसे विश्वासं जनयित्वा, तरुकोटरे=तरो पर्यट्टवृक्षस्य कोटरे कुत्रचिद् गङ्गरप्रदेशे,
स्थित = वास करोति । ततः दिनेषु गच्छसु = कियति काले व्यतीते सतीत्यर्थं ।
असौ=विद्यालः, पक्षिशावकान्=पक्षिणां शावकास्तान्, आक्रम्य=मारयित्वा,
स्वकोटरं=निजनिवासगङ्गरम्, आनीय=प्रापय्य, प्रत्यहम्=अहनि-अहनीति प्रत्यहम्
(वीप्साऽर्घेऽप्ययीभावो व्याप्यर्थे द्वितीया), प्रतिदिवसमित्यर्थं । खादति=भक्षति ।
अथ येषां=पक्षिणाम्, अपत्यानि=शावकाः, खादितानि=भक्षितानि, तैः=
पक्षिभिः, शोकार्त्तैः=शोकेन आर्त्ताः तैः, विलपद्भिः=विलपन्ति इति विलपन्त, तैः
विलपद्भिः=शोककु-खितै विलाप कुर्वन्निश्च सद्भिः, इतस्ततः=अस्मिन् तस्मिन्
प्रदेशे, जिज्ञासा-ज्ञानम् इच्छा जिज्ञासा = नष्टशावकाऽन्वेषणमित्यर्थं । समारब्धा ।
मार्जारः दीर्घकर्णं, तत् = पक्षिकृत शावकाऽन्वेषणम्, परिज्ञाय=ज्ञात्वा, कोटरात्=
वासभूतगङ्गरात्, निःसृत्य = निर्गत्य, बहिः पलायितः । पश्चात् = मार्जारपलायनो-
त्तरकाले, पक्षिभिः इतस्तत्र, शावकानिति शेषः । निरूपयद्भिः=अन्वेष्यद्भिः सद्भिः,
तत्र तरुकोटरं=वृक्षगङ्गरे, शावकास्थीनि=शावकानाम् अस्थीनि, प्राप्तानि—
अवलोकितानि । अमन्तरम् = अस्त्यप्राप्यनन्तरम्, अनेनैव = जरद्गवेन गृध्रेण
एव अस्माकं शावकाः खादिताः इत्येव विनिश्चित्य=अध्यवस्य, स गृध्रः व्यापादितः=
मारित । अत उक्तकथाऽऽत्मकदृष्टान्तस्य पूर्वं सम्भावितत्वाद् हेतो, अहं = लघु-
पतनकनामा ब्रवीमि 'अज्ञातकुलशीलस्येत्यादि' (श्लोकः) ।

भा०—वह विद्याल इस प्रकार जरद्गव नामक गीध को विश्वास दिलाकर उस वृक्षकी
कोटर में रहने लगा और प्रत्येक दिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ कर अपनी कोटर में
लाकर खाने लगा । अब जिन जिन के बच्चों को वह खा गया था वे सब पक्षी शोकालुर
हो विलाप करते हुए अपने बच्चों को खोजने लगे । वह विद्याल 'खोज होने लगी' इस
बात को जानकर वृक्ष कोटर में से निकल कर अन्यत्र भाग गया । उसके बाद खोज करते
हुए पक्षियों ने उस कोटर में अपने बच्चों की इच्छियाँ पायीं । तब सब पक्षियों ने 'इस
जरद्गव नामक गीध ने ही हमारे बच्चों को खा लिया है' ऐसा निश्चय करके उस गीध
को मार डाला । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अज्ञातकुलशील' इत्यादि ।

इत्याकपर्यं स जम्बुक सकोपमाह—'गृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवा-

अपि अद्भुतकुलश्रीम एव भासीत् । तत् कथं भवता सह पत्न्य
स्नेहाऽनुवृत्तिवत्तरोत्तरं वर्धते ।' ॥

भा०—सा श्यामा, इति—इत्येवं कथं काक्यवचनं आकर्ण्य—शुभा लघोर्ल
क्येपेव अहितं यथा स्वात् तथा, आह—उवाच । कृपण प्रवमर्द्धवहिनो—श्वमे व
तर्द्धं च प्रवमर्द्धं प्रवमर्द्धवत्त्वं दिवं तस्मिन् भवत् अत्र युगस्य अद्भुत-
कुलश्रीम—कुलं च श्रीमं च कुलश्रीमे न ज्ञाते कुलश्रीमे वस्य सः तादृश, सर्वेषां
परिचयरहित एव भासीदित्यर्थः । तत्—तर्द्धपि भवता सह वत्स्य युगस्य स्नेहाऽनु-
वृत्तिः = स्नेहस्य अनुवृत्तिः बन्धवत् । उत्तरोत्तरं—उत्तरस्मात् उत्तरमिति पञ्चमी-
तात्पुत्र्य, कथं = केन हेतुना प्रकारेण वा, वर्धते ? ।

भा०—यद् श्याम रीता ह्यन्य श्वमेपूर्वक शोक—'रत हरिण के पिबार के प्रव
दिन ह्यम नो रो हरिण के कुलश्रीम को वही जानते थे रो पी ह्यन्यारे स्य रत हरिण का
स्नेहमान अतएव न्ये न्येन जाता है ।'

अनया—यत्र विद्वज्जगो नास्ति इत्याप्यस्तथाऽऽस्पृधीत्यपि ।

निरस्तपात्रे देशे परण्योऽपि मुमावते ॥ ७० ॥

भा०—यत्र विद्वज्जगो नास्ति तत्र अनपचीः अपि रक्षन्वा, निरस्तपात्रे देशे
परण्योऽपि मुमावते । भा०—यत्र अस्मिन् प्रदेशे, विद्वज्जगो = वेदो इति विद्वत्
विद्वान्भाषी अत्र विद्वज्जगो पन्धितो लोकः, नास्ति—न वर्तते तत्र—प्रदेशे, अनपचीः
अनया मन्वा भी इतिर्वस्य सा निजानीभोऽपीत्यर्थः । रक्षन्वा = अर्द्धसमीपः,
सम्यद्वशीको भवतीति । अस्मिन्नर्थे इत्याम्बमाह—निरस्तैपि । पत्रिा शूक्रे निवर्तीति
वाक्वा शूक्रे, निरस्तः अत्र पात्रो वस्मात् सा तस्मिन्—शूक्रेणै देशे = प्रदेशे,
परण्यः परण्यवामा हुमा इतिगतोऽपि अत्र मुमावते = अनुमा हुमो भवतीति
मुमावते शूक्रेण यजमानं विन्दति यथा तथैत्वयुसन्धेवत् ।

भा०—अनया ज्ञां धिान् अत्र वही है वही अत्र इति वाक्य भी स्वयन्तीव शोण
है वेदो वि—इत्यन्व श्वमे वं परण्य भी वहा शूक्रे यथा जाता है ॥ ७० ॥

अनया—अयं निजः पद्ये वेति राजन्व जमुषेतसाम् ।

उद्धारचरितानां तु वस्तुष्वैव कुमुम्बकम् ॥ ७१ ॥

भा०—कुमुषेतसाम् अयं निजः पद्ये वा' इति अत्रवा उद्धारचरितानां तु वस्तुषु
एव कुमुम्बकम् । भा०—कुमुषेतसाम्—कुमु इत्तं वेतो मावसं वेचन्तेषां—भीचात्रवा
वाम् अत्रय—अनुकम्बदि, निजः = आप्नीच। परो वा = अत्रवा अत्रमीच, इति
अत्रवा = विचारना, अत्रतीति शेषः । उद्धारचरितानां तु—उद्धार्य = औदार्यपूर्व
चरितं = विचारनाऽऽदिकं वेदां तेषां = अद्भुतमावावात्तु, वस्तुष्वैव—वस्तुषु इत्यस्ति
आनुष्ठीमन्कमेव, कुमुम्बकम्—अत्रमीचवर्षात्तयम् भवतीति शेषः ।

भा०—हल्के चित्त वाले लोगों की—‘यह अपना है—यह पराया है’—ऐसी बुद्धि होती है । उदा० चित्तवाले तो समग्र पृथ्वी के जनों को ही कुटुम्बी मानते हैं ॥ ७१ ॥

यथा चाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि । मृगोऽब्रवीत्—
‘किमनेन उत्तरोत्तरेण ? सर्वैरेकत्र विधग्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः
स्थीयताम् ।’

व्या०—अयं = मत्समीपवर्ती, मृगः = हरिणः, यथा यादृक् मम बन्धुः = मित्रं भवति, तथा तादृक् भवान् अपि मम बन्धु, (तत) मृग. अब्रवीत् = उक्तवान्, अनेन = पूताह्णनिस्तरवेन उत्तरोत्तरेण = उत्तरादुत्तरेण वाक्प्रपञ्चेन, किम् = अल्लसिधर्थं । सर्वैः = अस्माभि समस्ते, विधग्भाऽऽलापैः = विधग्भेण विश्वासेन आलापाः, सस्मापास्तैः सुखम् = आनन्दम्, अनुभवद्भिः, स्थीयताम् ।

भा०—जैसे वह मृग मेरा मित्र है, वैसे तुम भी मेरे मित्र हो । मृग बोला—इन निरर्थक उत्तर प्रत्युत्तरी से क्या काम है ? चलो, हम सब एक स्थान में सार्थक वार्तालाप का आनन्द लेते हुए बैठें ।

यत्—न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः ।

व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ॥ ७२ ॥

प्र०—कश्चित् कस्यचिद् न मित्रम्, कश्चित् कस्यचिद् न रिपुः, व्यवहारेण मित्राणि तथा रिपवः जायन्ते । व्या०—कश्चिदपि जनः कस्यचिदपि जनस्य व्यक्ति-विशेषस्य, मित्रं = बन्धु, न भवतीति । एव कश्चिदपि जन, कस्यचिदपि जनस्य, रिपुः = शत्रुरपि न भवतीति । किन्तु व्यवहारेण = अनुकूलेन प्रतिकूलेन वा आचरणेन कार्येण वा, (लोका परस्पर) मित्राणि = सुहृद् बन्धव तथा रिपवः = शत्रवश्च, जायन्ते इति ।

भा०—स्वभाव से न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु है । किन्तु अच्छा बुरा व्यवहार होने से ही परस्पर मित्र और शत्रु हो जाने हैं ॥ ७२ ॥

काकेन उक्तम्—‘एवमस्तु’ । अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः । एकदा निभृत शृगालो ब्रूते—‘सखे मृग । एतस्मिन्नेव वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति, तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि’ । तथा कृते सति मृग प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति । ततो दिनकनिपयेन क्षेत्रपतिना तद् दृष्ट्वा पाशास्तत्र योजिता । अनन्तरं पुनरागतो मृगः तत्र चरन् पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्—‘को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात् प्रातुं मित्रादन्य. समर्थ ?’ । अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्य उपस्थितोऽचिन्तयत्—‘फलितस्तावदस्माकं कपटप्रवन्ध., मनोरथसिद्धिरपि बाहुल्या-

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया । उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रहे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र बिना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है ?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हृद्धिर्थां मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे !' वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—'हे सखे जम्बुक ! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो ।

यत्—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।

मार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ ७३ ॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात् । व्या०—आपत्सु = विपत्सु समुपस्थितासु मित्र = सुहृदम्, जानीयात् = परीक्षेत । युद्धे = समरे उपस्थिते सति, शूर = वीरम्, परीक्षेत । ऋणे = ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम् = अकपटं जन परीक्षेत । वित्तेषु = धनेषु, क्षीणेषु = नष्टेषु सत्सु, भार्या = स्वपरनीम्, परीक्षेत । व्यसनेषु = दुःखदि-
वसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत ।

भा०—आपत्ति में मित्र को, युद्ध में शूरवीर को, ऋण में सत्यवादी को, गरीबी में स्त्री को और दुःख पढ़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है ॥ ७३ ॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ७४ ॥

अ०—य उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धवः । व्या०—य = जन अपरिचित सन्नपि, उत्सवे = विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने = विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे = दुष्प्रापा मिच्छा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राज-
द्वारे = प्रतिपत्तकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने = शवदाहस्थाने च, तिष्ठति = तनुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धव भवतीति बोध्यम् ।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय अशामाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राक्षसविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहते हैं ॥ ७४ ॥

जम्बुक. पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं धन्य' श्रूते च—'सखे ! स्नायुनिर्मिता पाशा, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

स्ये मविष्यति । यथा एतस्य बलवत्स्यमानस्य मांसाऽसुखितानि कस्यीनि
मया कबर्ष्यं प्राप्तव्यानि । तानि च बाहुस्येन मम भोजनानि मविष्य-
न्ति । स च मृगस्तं हृष्टा उल्लासितो मृते—‘खद्ये । द्विन्वि तावन्मम
बन्धनम् सत्वरं प्रापस्व ममम् ।

॥१॥ — काशेन उच्यते = अविहितम् दृश्यम् = ममता बहुविधीयते तथास्तु
भवतु । अयम् = यथात् प्रातःप्रमये सर्वे काकप्रभृतयः, यथाऽभिमतदेशे—एवस्वर्गि-
नतभूयदेभ्यः मताः = प्रतिभता । दृश्यम् = दृक्स्मिन् काशे, सा मताः, विदुतस्य
दृक्प्रत्यये मृते धृगिति रोषः । खद्ये ! दृक्स्मिन् यत्रैकदेशे = अरन्वा-अरन्वा
धत्वप्ते = सत्ये परिपूर्वम् खद्ये = कुचिभूमि, कश्चि = विपते । यद् एव = एव
न्तिकम् यत्न्या = प्रापस्य तां तत् खद्ये दृश्यमिति । तथा मृते कश्चि = यत्रै
सति सा धृगः प्रत्ययः = प्रतिविषयम् तत्र यत्रै मया धरम् कादृति = मयवति ।
तथा = तदवन्तरं निवकतिषयेन = किचदिषु गन्धसु धरन्, येष्वप्य पठितेव
येवस्वर्गिना तद् दृष्टा = यत्रै मयितयस्वर्गिन ज्ञात्वा तत्र = यत्रै, यथा = यत्र
कल्पयन्वाक्यम्, बोधिताः । अन्तरं पुनः भावतो यथा तत्र यत्रै चरत् पाशे =
काशे, यथा धृक् अकित्तवत् = मयसि प्रयातवात् पाशवत् मया दृक्प्रत्यये
काकवाक्यम् = काकस्य ममस्य पाशवत्तयात् इव अन्तरकादित्यर्थः, यथा
पाशवत् प्राप्तुं = रचितुम् मिथ्यान्वयावारिकमुद्भवत्, अन्वा काः समीपं मविष्यति ?
य कोऽपीत्यर्थः । अन्तरे = तस्मिन्नेव समये सा कन्मुक्, तत्र यत्रै भावत्त
मिथ्याः सद् अकित्तवत् = अयसि कृतवत् । तावत् = वाक्वाक्यद्वारे अस्माकम्
कपटप्रकला = कपटेन प्रकल्प कल्पयन्वा, कश्चि = अकल्पे यथा । मेवमम्, यत्रै-
रक्षितिरिति = मयोऽमीहसन्वाद्भवति, बाहुस्येन = परिपूर्वतया, मविष्यति ।
यथा = यस्मिन्नेतो, उल्लासनावत् = अन्तःकाः द्विन्विभावस्य व्यापाद्यमानस्यैति
पाशवत् । एतस्य = मृगस्य मांसाऽसुखितानि = मांसम् अहम् दृक्चि वैति मांसा-
हक (इन्द्रः, प्रत्ययान्वादेकवजाः) तेन विद्यानि = धमृच्छवि, कस्यीनि तथा
अवत्स्यं प्राप्तव्यानि । तानि च कस्यीनि बाहुस्येन मम भोजनानि मविष्य-
न्तीति । [सा अकल्पको यथा तं मयाक दृष्टा, उल्लासिताः = उल्लास धृक् तं
कन्मुक् मृते—हे कद्ये ! कन्मुक् । तावत् = वाक्वाक्यद्वारे अस्माकम्
कपटप्रकला—वाक्वाक्य द्विन्वि = अन्तःका मांसावत् = अस्मिन्नि भावस्य = एव ।

॥२॥—काशे मे कदा—‘ईसा ही ही’ । एतके वाक् प्रकल्पक कल्प मयि एव यत्रै
मयो को यत्रै मये । एक वाक् दृक्प्रत्यये मयाक दृष्टा, उल्लासिताः = उल्लास धृक् तं
कन्मुक् मृते—हे कद्ये ! कन्मुक् । तावत् = वाक्वाक्यद्वारे अस्माकम्
कपटप्रकला—वाक्वाक्य द्विन्वि = अन्तःका मांसावत् = अस्मिन्नि भावस्य = एव ।
यथा—काशे मे कदा—‘ईसा ही ही’ । एतके वाक् प्रकल्पक कल्प मयि एव यत्रै
मयो को यत्रै मये । एक वाक् दृक्प्रत्यये मयाक दृष्टा, उल्लासिताः = उल्लास धृक् तं
कन्मुक् मृते—हे कद्ये ! कन्मुक् । तावत् = वाक्वाक्यद्वारे अस्माकम्
कपटप्रकला—वाक्वाक्य द्विन्वि = अन्तःका मांसावत् = अस्मिन्नि भावस्य = एव ।

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया । उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—‘यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र विना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है ?’ उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—‘मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे ।’ वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—‘हे सखे जम्बुक ! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो ।

यत्—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृगे शुचिम् ।

भार्या क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ ७३ ॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात् । व्या०—आपत्सु = विपत्सु समुपस्थितासु मित्रं = सुहृदम्, जानीयात् = परीक्षेत । युद्धे = समरे उपस्थिते सति, शूर = वीरम्, परीक्षेत । ऋणे = ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम् = अकपट अनं परीक्षेत । वित्तेषु = धनेषु, क्षीणेषु = नष्टेषु सत्सु, भार्या = स्वपत्नीम्, परीक्षेत । व्यसनेषु = दुःखदिग्घसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत ।

भा०—आपत्ति में मित्र की, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है ॥ ७३ ॥

अपरश्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्मिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ७४ ॥

अ०—य उत्सवे व्यसने चैव दुर्मिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धव । व्या०—य = जन अपरिचित सन्नपि, उत्सवे = विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने = विपत्तिकाले, दुर्मिक्षे = दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्धाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे = प्रतिपन्नकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने = शवदाहस्थाने च, तिष्ठति = सनुमनोवचनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धव भवतीति बोध्यम् ।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहते हैं ॥ ७४ ॥

जम्बुक. पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—‘दृढस्तावदयं बन्ध’
ब्रूते च—‘सखे ! आयुनिर्मिता. पाशा’, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

इन्दीः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते न सम्पद्या सम्पत्ते तदा प्रमाते यत् स्वया वक्ष्यम्यं तत् कर्तव्यम्' इति । अन्तर्गतं स कश्चिः प्रहोषकश्चै मुपमत्प्रागतमवलोक्य इतस्ततोऽभिव्यन् तव्यवियं तं ह्युवाच— 'सखे ! किमेतत् ? मृगेभ्योक्तम् 'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् । तया बोक्तम्—

आ—अनुक्तम् = अज्ञातम्, वार्त्तं, सुहृत्तुम् = वार्त्तं वारम् विद्योन्वाद्यन्त-
 वात् = ममसि कृतवान् अथ पाठस्य कथाः इत्यं = कथितवता, जेस्तीति सेवा ।
 (तावत्त्वत्वे) मते च—सखे वृत् ! स्वानुनिर्मिता—स्वामुनि हेतुत्वं त्वं त्वं-
 वादीविद्योते, विमिता = इतिता, पाठा = आकारम्बर इति तत् = तस्माद्देवो,
 इतिवापरे नयमाकादियवनिवैवात् आनुनिमित्तपासावामस्वरवात्वापैति हेतो-
 रिति वाचत् । अथ, अहत्कथाप्रो सुखो हि सुहृत्स्वामिवात् 'अहत्क' इत्युच्यते,
 तस्य वापरे, इतात् = स्वानुपायात् कर्त्तव्यं इत्युच्यते, स्पृशामि ? मित्र ! मृग !
 यदि (त्वं स्वस्व) चित्ते, सम्पद्या = मम जीवनात् नतं सुहृत् सम्पत्ते मय्यक्तम्—
 इति कृत्वा विपरीतं बुध्यमित्यर्थः । तावत्तं बुद्धं च सम्पत्ते वैत् । तदा प्रमाते त्वया
 चत् वक्ष्यम्यं मोक्षवोपायकणम्, तत् वैद्यस्वाम्यायमनापूर्वमेव मया कर्त्तव्यमिति ।
 अन्तर्गतं = अज्ञात् अज्ञातम्, प्रहोषकश्चै = प्रार्थनार्थे, मुपमत्प्रागतमवलोक्य
 इतस्ततोः = समन्तात् अन्विष्टम् = अन्वेषणं कुर्वन् तत् तवादिभ्यः = तादृशी
 विद्या स्थितिरित्य तत् पाठवद्भवित्यर्थः । तं = मृगम् इहा ववाच—सखे मृग ।
 एतत् = पाठवत्त्वत्कणम्, किं = किं निमित्तं प्रवर्तसि ? मृगेण वक्ष्यम्—एतत् =
 वक्ष्यम् अवधीरितम् = अवज्ञातम् असुतं चत् सुहृद्वा मित्रस्य वाच्यं वच्यं तस्य
 फलं = परिणामा अस्ति ।

आ—मृगश्चै द्विरण के वन्वव को वार-वार देख कर मन में सोचा कि 'यह वन्वव
 ती क्या अवगत है । और कहा कि—'मित्र द्विरण ! स्वानु के मया हेतु हे वाच ही ।
 आज परिहार के रोग है हाँतो हे वक्ता लार्त्तं देते वक्तं ? क्वोचि परिहार को वार्त्त
 काला विपिक्त है । मित्र मृग ! यदि तुम अपने चित्त में विपरीत नहीं माओ हो तुपर हेतु-
 रवासी के वागमन से पूर्व ही भी तुम वहीगे हो मैं वक्तव्य । इतके बाद चत् श्रीमा लार्त्त-
 काल के समय वृत्त को नहीं जाया हेतुकर इत-इत कोने कोने व-वम में देते हुए वृत्त
 को देखकर बोला—'सखे वृत् ! यह वचन देते हुआ ?' वृत् वीणा—'मित्र वृत् वचन नहीं
 जानने का यह वचन है' कहा जो है।—

सुहृद्वा द्वित्यमानां या मृष्योति न प्रापितम् ।

विपत् सखिद्विता तस्य स नरा शत्रुमन्त्रा ॥ ७५ ॥

७५— वा द्वित्यमानां सुहृद्वा प्रापितं च मृष्योति तस्य विपत् सखिद्विता आ =

नरः शत्रुनन्दनः । व्या०—य. = जम., हितकामानां = हितम् अनुकूलम् इष्टं काम-
यन्ते इति हितकामा. तेपा = हितार्थिनाम्. सुहृदाम्—शोभन हृदय येषान्ते तेषां=
बन्धूनाम्, भाषितम् = उपदेशप्रचनम्, न शृणोति = नाङ्गीकरोति, तस्य=जनस्य,
विपत् = विपत्ति, सन्निहिता = उपस्थिता निकटवर्तिनी भवति, सः=तादृशः, वरः=
जनः, शत्रुनन्दनः = नन्दयतीति नन्दन, शत्रूणामानन्दकरो भवतीति ।

भा०—जो लोग हितकारक मित्रों के बचनो को नहीं मानते हैं उनको आपत्तियों
शीघ्र आती हैं और वे शत्रुओं के आनन्ददाता बन जाते हैं, क्योंकि उनको आपत्तिमग्न
देखकर शत्रु लोग खुश होते हैं ॥ ७५ ॥

काको ब्रूते—‘स वञ्चकः काऽऽस्ते ?’ मृगेणोक्तम्—‘मन्मांसार्थी
तिष्ठत्यत्रैव’ । काको ब्रूते—‘मित्र ! उक्तमेव मया पूर्वम् ।’

व्या०—काक ब्रूते = कथयति, सः वञ्चकः = प्रतारक शृगालः, क = कश्चिन्प्र-
देशे, आस्ते = तिष्ठति ? मृगेण उक्तम्—मन्मांसार्थी = मम मांसम् अर्थायते इति
मन्मांसार्थी शृगालः, अत्रैव = प्रदेशे, तिष्ठति । काक ब्रूते—मित्र मृग ! मया पूर्व=
प्रागेव, उक्तम् = अभिहितम् ।

भा०—काक बाला—‘वह ठग शृगाल कहाँ है ?’ मृग ने कहा—‘मेरा मांस खाने की
इच्छा रखने वाला वह यहाँ ही है’ । काक ने कहा—‘वह तो मैंने प्रथम ही कहा था’ ।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।

विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७६ ॥

भा०—मे अपराधः न अस्तीति एतद् विश्वासकारणं न, हि नृशंसेभ्यः गुणवता-
मपि भयं विद्यते । व्या०—मे = मम, अपराधः = दोषः, नास्ति = न विद्यते, इति एतत्त्व-
एतावच्चिन्तनम्, विश्वासकारण—विश्वासस्य कारणं विश्वासकारणं = निसर्गकुरे
प्रत्ययहेतु, न भवतीति शेषः । हि निश्चयार्थं । नृशंसेभ्यः = नृशंसि हिंसन्ति
ये ते नृशंसा तेभ्यः, गुणवतामपि—गुणा सन्ति येषामिति गुणवत् तेषां = निरप-
राधानामपीत्यर्थः । भयम् = अनिष्टाशङ्का, भवत्येव ।

भा०—‘मेरा कुछ भी अपराध नहीं है ? इसलिये यह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं
करेगा’ ऐसा विश्वास कभी नहीं रखना चाहिये ! क्योंकि क्रूर पुरुष निरपराधियों का भी
पूर्ण अनिष्ट करता है, अतः उससे डर रहता है ॥ ७६ ॥

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाप्यमरुन्धतीम् ।

न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गताऽऽयुषः ॥ ७७ ॥

भा०—गतायुषः दीपनिर्वाणगन्धं न जिघ्रन्ति, सुहृद्वाप्यं न शृण्वन्ति, अरुन्धतीं
न पश्यन्ति । व्या०—गतम्

गतायुषः = निकटनिधना जना दीप-

शिन वशिन कृताः तेषां = वक्ष्यमानां नामानि अर्थः । अहपता = अहं विश्वासं च कुर्वताम्, आशावताम् = आशाः स्वेष्टमाप्तिविषयका मनोरथविशेषाः ताः सन्ति येषां तेषाम् = अर्थिनामित्यर्थः । किं = किं कार्यम्, वक्ष्यितव्यं = वक्ष्यन्त्या साधितव्यम्, अस्ति ? न किमपीत्यर्थः । उपजाति वृत्तम् ।

भा०—अगत में मधुर वचनों से प्रलोभित किये हुए तथा कपट से वश में किये हुए एव अदाकृत और आशावाले जनों को बधित करना कोई अच्छा काम नहीं है, इसलिए तुमने यह काम अच्छा नहीं किया ॥ ७९ ॥

अन्यथ—उपकारिणि विश्वन्वे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् ।

तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे । कथं वहसि ॥८०॥

अ०—य. उपकारिणि विश्वन्वे शुद्धमतौ पाप समाचरति, असत्यसन्ध तं जनं हे भगवति वसुधे ! (एव) कथं वहसि ? व्या०—यः=जनः, उपकारिणि-उपकरोतीति उपकारी तस्मिन् = उपकारतः परे, विश्वन्वे = कृतविश्वासे, शुद्धमतौ=शुद्धा अकपटा विमला मतिर्यस्य स तस्मिन् = कपटरहिते, एसाहो जने, पापं = कपटव्यापारम्, समाचरति=सम्यग् ज्ञात्वा करोति । असत्यसन्धम्=असत्ये कापट्यव्यवहारे सन्धा=प्रतिज्ञा यस्य त प्रतारणप्रधानम्, त तादृशम्, जनम्, हे भगवति ! = ऐश्वर्य-शालिनि पूज्ये वसुधे ! = वसुन्धरे ! एव कथं=केन प्रकारेण वहसि ? । आर्या जातिः ।

भा०—हे भगवति पृथिवी ! तुम ऐसे लोगों को कैसे धारण करती हो ? जो उपकारी, शुद्ध विचार वाले एव विश्वस्त जनों के साथ विश्वासघात का पाप करते हैं ॥ ८० ॥

दुर्जनेन समं सख्यं वैरञ्चाऽपि न कारयेत् ।

उष्णो दहति चाऽङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ८१ ॥

अ०—दुर्जनेन समं वैर सख्य चापि न कारयेत् । उष्ण अङ्गारं करं दहति शीतसख कर कृष्णायते । व्या०—दुष्ट जनः दुर्जनेन तेन=सखेन समं=सार्धं, वैरं=शत्रुतां, तथा सख्यं=मिश्रतां चापि न कारयेत् । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रवयति-उष्ण इति । उष्णः=प्रदीप्तः, अङ्गार = अलातम्, कर = तस्मिन् दहति, अथ च शीतः अनुष्णः स 'कृष्णाल' इत्यर्थः, कर कृष्णायते = कृष्ण करोति ।

भा०—दुर्जन से वैर अपवा मित्रता कुछ भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह दोनों स्थिति में अनिष्ट करता है, जैसे तप्त अङ्गार छूने से हाथ को जलाता है और ठण्डा होने पर छूने से काला करता है ॥ ८१ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

भा०—अथवा दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं

कर्णे

रौति शनैर्विचित्रम् ।

द्विप्रं विकल्प्य सहसा प्रविशत्यद्याहः

सर्वं यत्तस्य वरितं मयाका करोति ॥ ८२ ॥

न — मयाका कर्तव्य सर्वं वरितं करोति ताक पादयोः पतति ब्रह्मासं वारति कर्मे किमपि विचित्रं कर्त्तुं क्षमैः रीति द्विप्रं विकल्प्य अद्याहः सहसा प्रविशति ।
 व्या०—मयाका = मयाकायातीया। स्वैरुक्तवितेषु, कर्त्तव्य = बुद्धवत्त्वं सर्वं = बुद्धविकल्पं वरितं = वाच्यं करोति । तदेव वरितं = वरितं । प्रत्यन्तपूर्वम् अपि समीप इत्यर्थः । पादयोः = अवावां चरणयोः, पतति तदा ब्रह्मासंभृते मांसं ब्रह्मासं पूढे अपचिरं मांसं खादति । कर्मे च यत्ना विचित्रं कर्त्तुं मयुरं च किमपि कापट्यमर्थं क्षमैः क्षमैः रीति द्विप्रं = अवेत्तहारं विकल्प्यन्वयकल्प्य अद्याहः = अपीताः सत् सहसा = अस्मिति प्रविशति । वसन्तति कर्त्तुं वृत्तम् ।

भा०—मयाकं ये अत्र पुन्य का तर चरिष्य पिच्छा इ—वैधे कि मयाकं प्रथमं दर्शो पर विरणा ई, पीठे पीठ पर मांसं खाता ई कथो मे वाचर कापट्यवृत्त योवता ई नीर द्विप्रं ईककर अन्तःप्रवेश करता ई ॥ ८२ ॥

तथा च—बुद्धेना प्रियवादी च नैतद्विश्वाप्तकारणम् ।

मधु तिष्ठति विद्याप्रे इति द्वासाहर्त्तं विषम् ॥ ८३ ॥

न — बुद्धेनः प्रियवादी चैतत् विद्यापकारणं न विद्याप्रे मधु तिष्ठति इति तु द्वासाहर्त्तं विषम् । व्या बुद्धेना = कर्म, प्रियवादां—विषं वदतीति प्रियवादी = मधुरमापी इत्यन्वयं प्रियवादिषु विद्यापकारणं = विद्यापकरणं कर्मणो तु न भवति यथा बुद्धेनस्य विद्याप्रे—विद्याया अग्रं तस्मिन् = इत्यन्वयं मधु = मधुमधुरं वचो मार्गं तिष्ठति अथ च इति = अन्तःकारणे तु द्वासाहर्त्तं विषं तिष्ठतीति ।

भा०—बुद्धेन पुन्य विष योवता ई केचित् प्रियवचनं ही ही वक्तव्यं विद्याप नहीं करण, कथोकि वल्लो भीम मे ही वदुता रहती ई अन्तःकारण मे तो कापट्यवृत्तौ वदर मात रहता ई ॥ ३ ॥

अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिर्लंगुलहस्तस्त्र प्रवेद्याम् भाष्यच्छब्दं क्यकोन्यः ऽवलोकिता । तमवहाक्य क्यकोन उक्तम्—'सुखं मृग ! त्वमात्मानं मृतवत्सन्वर्यं चातेनोदरं पूरयित्वा पादाम् स्तम्बीकृत्य तिष्ठ भर्त्तुं तव वासुधी चक्षुषा किमपि विज्ञिष्यामि यदा भर्त्तुं दास्युं करोमि तदा त्वमुत्थाप्य सत्वरं पलायिष्यसे' । मृगस्तथैव क्यकवधनेन स्थितः । तदा क्षेत्रपतिन्य हर्षोत्फुल्लोचनेन तयाविधो मृग आलाकिता, अथा ऽसां—मा। स्वर्गं मृतोऽसि ?—इत्युक्त्वा मृगं पन्थनात् मोचयित्वा पादान् संबरीहृ (संप्रहीतुं) सत्वरं (सपत्नो) बभूव । तदा

क्रियद्दूरे अन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा सत्त्वरमु-
त्थाय पलायित । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात् क्षिप्तेन लगुडेन
शृगालो व्यापादितः ।

व्या०— अथ = अनन्तरम्, प्रभाते, लगुडहस्त लगुडो हस्ते यस्य सः एतादृश, क्षेत्रस्य पतिः स्वामी, त प्रदेश प्रति आगच्छन् = आगमन्, काकेनावलोकित = दृष्ट काकेन त क्षेत्रपतिम् अवलोक्य उक्तम् = मृगाय अभिहितम्—सखे मृग ! त्वम् आत्मानं = स्वशरीर, मृतवत् = मृतमिव, सन्दर्श्य = दर्शयित्वा, उदर वातेन = पवनेन, पूरयित्वा, पादान् = चरणान् स्तब्धीकृत्य = अस्तब्धान् स्तब्धान् कृत्वा इति स्तब्धीकृत्य, स्थिरीकृत्येत्यर्थः । तिष्ठ = अवस्थान कुरु, अह चञ्च्वा = चञ्चवग्रेण, चक्षुषी = लोचने, किमपि = शनै शनै, विलिखामि = विकर्षामि, यदा अह शब्द = निनाद, करोमि = करिष्यामि, तदा, एव सत्त्वर = स्रष्टिति, उत्थाय, पलायिष्यसे = धावित्वा अन्यप्रदेश गमिष्यसीति । स मृगः काकस्य वचनेन = उपदेशानुसारेण, तथैव = यथाकथित तदवस्थ एव, स्थित = अवतस्थे । ततः तद्दुत्तर, क्षेत्रपतिना = क्षेत्रस्य पति तेन, हर्षोत्फुल्ललोचनेन हर्षेण उत्फुल्ले लोचने यस्य स तेन = पाशावद्धमृगदर्शनजन्यानन्दप्रयुक्तविस्फारितनेत्रेण तथाविध = तादृशी विधा पाशावद्धावस्था यस्य स तादृश, मृगाः = हरिण आलोकित, अथ = आलोकनानन्तरम्, असौ = क्षेत्रपति, आ = आक्षर्ये, हर्षं अभ्ययम् । स्वयं = स्वेनेव मत्प्रयत्नमन्तरेणैव, मृतोऽसि = निधन गतोऽसि त्वम्, हस्येत्त् उक्त्वा मृग, धन्धनात् = पाशात्, मोक्षयित्वा = मुक्तवन्ध कृत्वा, पाशान् = विस्तीर्णजालानि, मवरीदु = सङ्घेस्तुम्, सहस्रमिति यावत्, सत्त्वर = शीघ्रयत्नो बभूव । तत = अनन्तर क्षेत्रपतौ, क्रियद्दूरे = किञ्चित् दूरम्, अन्तरिते = व्यतिगते सति, स मृग काकस्य शब्द पूर्वकृतसङ्केतानुसार श्रुत्वा सत्त्वरमुत्थाय पलायित = प्रधावितवान् । त = पलायमान मृगम्, उद्दिश्य = लक्ष्मीकृत्य, तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात्—क्रोधात्, निक्षिप्तेन = बलात् क्षिप्तेन, लगुडेन = दण्डेन, शृगाल = मध्ये स्थितो वञ्चको जग्वृकः, व्यापादित = मारित मरण गत इति भाव ।

भा०—उस के बाद प्रभात में काक ने उस खेत के मालिक को हाथ से उण्डा लेकर खेत में आते हुए देखा । उसे देख कर काक ने कहा—'मित्र हरिण ! तुम अपने को मृत के सदृश दिखाकर, श्वास से पेट को फुलाकर, पैरों को कड़ाह से फौलाकर पड़े रहो, मैं त्नोंच से तुम्हारी आँखों को धीरे धीरे नीचता (छूता) हूँ, जब मैं बोलूँ, उसी समय तुम घठ कर एकदम भाग जाना' । वह मृग काक के कहने से वैसा ही मृतवत् हो गया तदनन्तर खेत के मालिक ने (दूर से ही) प्रसन्नतापूर्ण नेत्रों से फँसे हुए मृग को देखा, किन्तु समीप आने पर कहा—'अहा ! अपने से ही मर कर पड़े हो'—ऐसा कहकर मृग को

पान्थन से झुक करके बाण को स्थगित करते करते थोड़ी दूर गया कि बाण का चक्र हुआ और बलवत् घुलकर वृष रक्षणम चककर बाणा । तब क्षेत्रपति ने स्थगित हो कर पीछे से आगे हुए वृष के अरर देखे और से आगे केसे कि वह आगे से पीछ में खिसा हुआ अथवा अर बाणक मर गया ।

तथा चोर्थ—त्रिमिर्बर्षेऽत्रिमिर्मासैस्त्रिमिः पक्षैस्त्रिमिर्दिनेः ।

अत्युत्कृष्टैः पापपुण्यैरिद्वैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अ — (अर्थ) अत्युत्कृष्टैः पापपुण्यैः फलम् इद्वैव त्रिमिः वर्षैः त्रिमिः मासैः त्रिमिः पक्षैः त्रिमिः दिनेः अश्नुते । ००१०—अत्युत्कृष्टैः = अतिशयैः, पापपुण्यैः—पापानि च पुण्यानि च तैः—अचर्मचर्माचरमेव, अविश्वमानं, फलम्—पुण्यमुक्तमकपरिमाणम्, इद्वैव—अस्मिन्नेव कस्मिन्नि, त्रिमिः वर्षैः—वर्षाः, वर्षत्रयेष्वेवर्षाः । त्रिमिर्मासैः—मासत्रयेष्वेव त्रिमिः पक्षैः—पक्षत्रयेष्वेव, त्रिमिर्दिनेः—दिनत्रयेष्वेव वा अश्नुते = भुङ्क्ते ।

आ०—अतिशय पाप पुण्य के फल इतने अल्प में तीन वर्ष में अथवा तीन मास में, तीन पक्ष में वा तीन दिन में योग्यता वक्षता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—‘मक्षयमक्षययोः प्रीतिः’ इत्यादि ।

आ०—एतन्निरे मे वक्षता है कि—‘मक्षयमक्षययोः प्रीतिः’ एतन्निरे ।

(इति सूयवापसम्भृगाहक्या)

अथः पुनराह—(अथ नै किर से अथा)—

अक्षितेवाऽपि भवता नाऽहाये मम पुण्यका ।

त्वयि जीवति जीवामि विजयीव ह्याऽनम ॥ ८५ ॥

अ — हे अथव । भवता अक्षितेवाऽपि मम पुण्यका आहारो च त्वयि जीवति विजयीव ह्य जीवामि । आ०—हे अथव । विभाष । भवता = त्वया, अक्षितेवाऽपि आक्षितेवाऽपि, त्वज्जयैवाऽजीवर्षाः । मम पुण्यका—परिपूर्वतिसिद्ध, आहारा—मोक्षार्थं च अक्षीरित । किन्तु त्वयि = भवति जीवति जीवति इति जीवत् तस्मिन् सति, विजयीवमानका कपोतरात्र ह्य जीवामि (अविश्वत्प्रावीण्ये कर्) ।

आ०—हे विभाष । शिरान्तक वृषिकरात्र । पुनश्चै काने से वेत्त अथवा जो पूर्वकर से बड़ी हीमा और पुनारे जीवित रहने पर मैं जी विजयीव के अथवा इदुव से भावक एक वा अनुभव करेगा ॥ ८५ ॥

अथच—तिरक्षामपि पिम्बासो दृष्टः पुण्यैककर्मवाम् ।

सतां हि साधुशीलस्यात् स्वमाषो न निपतते ॥ ८६ ॥

अ — पुण्यैककर्मना तिरक्षामपि पिम्बासो दृष्टः हि सतां साधुशीलस्यात् स्वमाषो न निपतते । आ०—पुण्यैककर्मना—पुण्यं पुण्यमर्षं दृष्टमेव दृष्टं कर्म वेत्तां से पुण्यैक

कर्माणस्तेषाम्=धार्मिकाणामित्यर्थः । तिरश्चा=पश्चाद्दीनामपि, विश्वास=विभ्रम, दृष्ट=इत्यते बहुधा । तत्र हेतुमाह=नतामति । हि=यस्माद्धेताः, सतां=धार्मिकाणां सत्पुरुषाणाम्, साधुशीलत्वात्-साधु=सौम्य हितकर कापट्यरहित शील येषान्ते साधुशीलाः, तेषां भावस्तस्मात्, स्वभाव=स्वेषां भाव हितकरत्वादिसद्गुणाऽ-शुरूपो निसर्गाः, न निवर्तते=कदाचिदपि न विलीयते इति ।

भा०—केवल पुण्यशील कार्यो को करनेवाले पशुओं का भी विश्वास करना चाहिये । क्योंकि जो साधु स्वभाव वाले होते हैं उनका सत्स्वभाव कभी नहीं बदलता है ॥ ८६ ॥

किञ्च—साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।

न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥ ८७ ॥

भा०—प्रकोपितस्यापि साधोः मन विक्रियां न आयाति हि तृणोल्कया सागराम्भः तापयितुं न शक्यम् । व्या०—प्रकोपितस्य=प्रकर्षेण कोपितस्य क्राधतस्यापि, साधोः=सज्जनपुरुषस्य, मन=चित्त, विक्रियां=विकारम् न आयाति=न प्राप्नोति, हि, तथा हि तृणोल्कया=तृणस्य घासस्य उल्का अग्नि-ज्वाला तथा तृणवह्निशिखयेत्यर्थः । सागराम्भः=सागरस्य समुद्रस्य अम्भः जलम्, तापयितुं=उष्ण कर्तुं, न शक्यमिति ।

भा०—क्रोध दिलाने पर मा सत्पुरुषों के हृदय में कुछ भी विकार नहीं होता है, जैसे घास को अग्नि समुद्र के जल को गरम नहीं कर सकती है ॥ ८७ ॥

हिरण्यको द्रूते—'चपलस्त्वम्, चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः' ।

व्या०—हिरण्यकः स मूषिकराजः द्रूते=स्व चपलः=चञ्चलप्रकृतिः असि, चपलेन=चपलस्वभावेन जनेन, सह=सार्धम्, स्नेहः सर्वथा=सर्वप्रकारेणापि न कर्तव्य इति ।

भा०—हिरण्यक ने कहा—'तू चपल है, चपल स्वभाववालों के साथ किसी प्रकार से स्नेह नहीं करना चाहिये' ।

तथा चोक्त—मार्जारो महिषो मेघः काकः कापुरुषस्तथा ।

विश्वासात् प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नो हितः ॥ ८८ ॥

भा०—मार्जार महिष मेघ काकः तथा कापुरुष एते विश्वासात् प्रभवन्ति, तत्र विश्वासः नो हितः । व्या०—मार्जारः=विडाल, महिषः=लुणाय, मेघः=उरग्नः, काकः=घायस, कापुरुष=कुत्सित पुरुष, एते पञ्च विश्वासात्=तेषु विश्वासकरणात्, प्रभवन्ति=अनिष्ट कर्तुं प्रभव समर्थाः भवन्ति । अत एव सत्र=तेषु पञ्चसु विश्वास कदाऽपि हित-हितकर, नो=न हि, भवति । (नोषित इति पाठान्तरम्) ।

भा०—विडाल, मैमा, भेदा, काक तथा कापुरुष ये पांच विश्वास करने से ही अनिष्ट करने में समर्थ बनते हैं, उनका विश्वास कभी हितकारक नहीं होता ॥ ८८ ॥

किञ्चाम्यत्—‘शत्रुपक्षो भवानस्माकम् । शत्रुषु सन्धिर्न विद्येया’ ।

भा०—किञ्चाम्यत्=अस्यद्वि अविद्याकारणमस्तीति श्लेषः । तदेवं सर्वं न-
ति शत्रुपक्ष एव । अत्रापि=त्वं विद्यायाः, अस्माकं=द्विकाम्यात्, शत्रुपक्षो भवतीति ।
शत्रुणा दाहं सन्ध्या=सैकर्म न विद्येय इति ।

भा०—नोर भो, तुम (कीना) इत्यो शक्तिं वादि के शत्रु हो रहस्ये दाह के
नाम देक नहीं रहना चाहिये ।

शत्रुपक्षतः—शत्रुषु न हि सन्ध्यात् संश्लेषेणाऽपि सन्ध्या ।

सुतसमपि पानीय शम्भयत्पेव पावकम् ॥ ८९ ॥

भा०—सुखिहेवापि सन्ध्या शत्रुणा न हि सन्ध्यात् । सुतसमपि वाचीर्न
पावकं शम्भयत्पेव । भा०—सुखिहेवापि=सुखिहेवापि सन्ध्या=शत्रुणा मेक-
करणेन, शत्रुणा दाहं न हि सन्ध्यात्=नैव सन्धिहेत् । तदेव शत्रुपक्षेव शत्रुपक्षि-
तुपक्षिहेत् । अत्रिवा अतीव तसमपि वाचीर्न पावकम्=अपि, शम्भयत्पेवेति ।

भा०—शत्रु के दाह दृष्ट सन्धि करने पर भी शत्रु पूर्ण विद्या कमी नहीं रहना
चाहिये । क्योंकि कीना तुम भी वन्म एक शक्ति को शत्रु पर देना है ॥ ८९ ॥

दुर्जनाः परिहर्तव्यो विद्ययाऽसकृत्तोऽपि सन् ।

मन्विन् भूयिताः सर्पः किमसौ न मयङ्कृत ॥ ९० ॥

भा०—विद्ययाऽसकृत्ता दाहं अवि दुर्जनाः परिहर्तव्या, अविवा भूयिता असी
सप किं मयङ्कृत न (भवति) । भा०—विद्यया=वद्विद्यया करणेन, असकृत्ताः दुष्ट
शत्रु अवि दुर्जनाः=दुष्टजनहेत् सन्हेत् तदा का, परिहर्तव्या=तच्छत्रुः । तदा वि-
मन्विना भूयिता=द्विरोरानेन असकृत्ता, असी=पराहता, सर्पः=अमी किमिति
करने । मयङ्कृतः=मयापहो न भवति अर्थात् अवापेवेत्पक्षः ।

भा०—दुर्जन दुष्ट के विद्या होवे पर भी शत्रुपक्ष तर्जना त्याग रहना ही अविन है
क्योंकि अवि से शत्रुपक्ष हीवे पर भी सर्व तथा मयमव को देने वाप्य है ॥ ९० ॥

यत्प्राप्त्यं न तच्छत्र्यं यच्छत्र्यं शत्रुपक्षेव तत् ।

लोडके शकटं पाति न च नीर्गच्छति स्वप्ने ॥ ९१ ॥

भा०—यत् प्राप्त्यं तत् न शत्रुपक्ष, यत् शत्रुपक्षं तत् शत्रुपक्षेव, शकटं शकटं न
पाति स्वप्ने च नीर्गच्छति । भा०—यत्=यत्प्राप्त्यं अत्रपक्ष=सर्वथा प्रा-
प्त्यं न शत्रुपक्षं तत् न शत्रुपक्षेव=तच्छत्र्यं सर्वथा प्राप्त्येव न भवतीति । अत्र च
यत् शत्रुपक्षं तच्छत्र्यं=शत्रुपक्षेव, तत्=शत्रुपक्षं सर्वथा शत्रुपक्षेव भवति । तथा हि-
शकटं=शकटं, शकटं=शकटवापविद्यया, न पाति=न शत्रुपक्षि । स्वप्ने च, नीर्गच्छति
च शत्रुपक्षि ।

भा०—जो असम्भावित है वह कमी नहीं हो सकता और जो शक्य है वही सम्भव हो सकता है । जैसे जल में रंग नहीं चलता और स्थल में नौका नहीं चल सकती ॥ ९१ ॥

अपरध—महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।

भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९२ ॥

अ०—यः महता अपि अर्थसारेण शत्रुषु विरक्तासु भार्यासु च विश्वसिति, तस्य जीवन तदन्तं (भवति) । व्या०—यः=जन, महता अपि=गुरुणाऽपि, अर्थसारेण=श्रेष्ठप्रयोजनेन, शत्रुषु=अनिष्टकारिषु, विरक्तासु=स्वस्मिन्नमनस्कासु, भार्यासु=स्त्रीषु च, विश्वसिति=विश्वास करोति, तस्य=विश्वस्तजन्तस्य, जीवनम्=आयु, तदन्तम्=स विश्वास एव अन्तो नाशो यस्य तत् तदन्तं भवतीति ।

भा०—बड़े भारी प्रयोजन के लिये भी शत्रु में तथा अपने में स्नेहशून्य स्त्री में जो लोग विश्वास रखते हैं, उस विश्वास में ही उनका प्राणनाश हो जाता है ॥ ९२ ॥

लघुपतनको घृते—'श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि ममैतावानेव सङ्कल्पः, यत् त्वया सह सौहृद्यम् अवश्यं करणीयमिति । अन्यथा अनाहारेणाऽऽत्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामीति' ।

व्या०—लघुपतनकनामा काकः घृते-मया सर्वं=समस्त भवदुःख, घृतम्=आकृ-
णितम्, तथाऽपि=सर्वस्मिन् श्रुतेऽपि, मम पृतावाम्=वच्यमाणस्वरूपः, सङ्कल्पः=
मनोरथः, अस्तीति शेष । तदेष दर्शयति—यदिति । स्वया मूषिकेण सह सौहृद्यं=
मैत्र्यम्, अवश्यं=निश्चयात्, करणीयं=कर्तव्यमिति । अन्यथा=यदि मैत्र्यं न
करिष्यसि, तदा तव द्वारि=अङ्गणे, अनाहारेण=अनश्ननेन, आत्मानं=शरीरम्,
व्यापादयिष्यामि=नाशयिष्यामीति ।

भा०—लघुपतनक काक ने कहा—'मैंने तुम्हारा कहना सब सुना, लेकिन मेरा तो यही सङ्कल्प है कि—तुम्हारे साथ मित्रता करना, अगर मित्रता नहीं करोगे तो तुम्हारे द्वार पर ही अनशन व्रत करके प्राण तन दूँगा' ।

तथा हि—मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ ९३ ॥

अ०—दुर्जनः मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च भवति, सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्यो आशु सन्धेयश्च (भवति) । व्या०—दुर्जनं=दुष्टजन, मृदा निर्मित घटः मृद्घट स इव, सुखभेद्यः=सुखेन अनायासेन भेत्तुं शक्यः, दुःसन्धानं=दुष्कर सन्धान पुन सयोगो यस्य स पृताहशक्यं भवतीति । सुजनस्तु=सज्जनस्तु, कनकघटवत् कनकेन निर्मित घटः स इव, दुर्भेद्यः दुःखेन महताऽऽयासेन भेत्तुं शक्यः, अथ च आशु=घटिति, सन्धेयः=सन्धानं योग्यो भवतीति ।

आ०—विद्ये का महा वीर्य बल महार के भी कुछ बाण है और बहुत प्रयत्न करने पर भी फिर इन दुश्मनों का शोकन नहीं हो सकता है वैसे ही दुर्मेव का छत्र भी स्वयं विभिन्न से विभक्त हो जाता है और अनेक ब्रह्मण करके पर भी अन्धी तरह से नहीं हो सकता है और उत्तम का पर अन्धी प्रयत्न नहीं हो पाता है अतः होने पर बल प्रयास से फिर कुछ सकता है । वेद उक्तव का छत्र भी बल देता है पर नहीं होता है और भीका मूल हो जाने पर भी फिर अत्यन्तप्रयत्न से उत्तम बन जाता है ॥ ११ ॥

किञ्च—ब्रह्मत्वात् सर्वज्ञाहारां विभिन्नात् सूयपक्षिणाम् ।

मयाहोमय मूर्खाणां सङ्घर्षं दर्शयत् सत्यम् ॥ १२ ॥

अ०—सर्वज्ञोहारां ब्रह्मत्वात् सूयपक्षिणां विभिन्नात् मूर्खाणां मयाहोमय सङ्घर्षं दर्शयत् सङ्घर्षं (जवति) । आ०—सर्वज्ञोहारां = सर्वेषां रक्तकाण्डवादीनां कोहाराणाम् ब्रह्मत्वात् = ब्रह्मत्ववशात् (मेकैव जवतीति सम्बन्धः) । सूयपक्षिणाञ्च = सूयाञ्च पक्षिणाञ्च तथात् विभिन्नात् = वैसे वृषे का प्रोक्तविकारादिभिभिन्नात् मूर्खाणां जवत् = अस्मात्पितृवत्तत्काणाम् होमय = विभिन्नान्यपक्षिणात्मैव च, सतां = अस्तुत्वाभावात् दर्शयत् = परस्परान्यकोकमयाहादीय, सङ्घर्षं = मेकैव च ईश्वरता इति वाक्य । जवतीति शेषः ।

आ०—एव अन्धार के बहामो का वेश दुर्बलान के कारण से होता है और बहुत-विधियों का वेश केशों में जोसवादि विभिन्न से वय मूर्खों का वेश वय के वा शीव से होता है और अत्यन्तों का वेश दर्शन मात्र के ही हो जाता है ॥ १२ ॥

किञ्च—वारिकेससमाकारा इत्यन्ते हि सुहृत्तमाः ।

अन्ते बहुरिकसस्य बहिरेव मनोहरा ॥ १३ ॥

अ०—सुहृत्तमः वारिकेससमाकारा हि इत्यन्ते अन्ते बहुरिकसस्य बहिरेव मनोहरा । आ०—सुहृत्तमाः = साधुवशा, वारिकेससमाकाराः—वारिकेसेव समा सङ्घात आकारो येषान्ते = वारिकेससङ्घवत् बहिः कस्मिन्, अन्तस्तु मधुरा हृत्पर्वा । इत्यन्ते जनेति शेषः । अन्ते = दुर्बलास्तु बहुरिकसस्य = बहुरिकसस्य कोकस्य अन्धार इव आकारो येषान्ते बहुरिकसस्य अन्तःप्रधानकीटविरहसङ्घातव्यद्विषुक्त हृत्पर्वाः । बहिरेव = अन्तःप्रधान मनोहरा = मनः हरन्त इति मनोहरा = वृत्तौ हसन्तीया मधुरीत्यर्थाः ।

आ०—अत्यन्त वारिकेस के वय से तरह कर के अन्त भीर भीतर से जति मधुर रहते हैं । सुहृत्त वय कर से उत्तर भीर भीतर से वर के वय के अन्धार अन्धर से अन्तःप्रधानवदि के समाव अन्तवदि देव से कुछ होते हैं ॥ १३ ॥

अत एव सतां सङ्घटिरिष्यते । (अतः साधुवशों की सङ्घटि चाहते हैं) ।

अन्यत्र—स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयास्ति विक्रियाम् ।

भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९६ ॥

अ०—साधूनां स्नेहच्छेदेऽपि गुणा विक्रियां न आयान्ति, हि मृणालानां भङ्गेऽपि

तन्तवः अनुबध्नन्ति । व्या०—साधूनां=सज्जनानाम्, स्नेहच्छेदेऽपि=स्नेहस्य प्रणयस्य छेदेऽपि कदाचित् भङ्गेऽपि, गुणा. दयापरहितकरत्वाद्यः, विक्रियाम्=अन्यथाभावं, न आयान्ति = न प्राप्नुवन्ति, हि=तथा हि, मृणालानां=कमलनालानाम्, भङ्गेऽपि=छेदे सत्यपि, तन्तवः=तदन्तस्थसूच्यमसूत्राणि, अनुबध्नन्ति = सुसश्लिष्टा एव तिष्ठन्ति ।

भा०—साधुजनों का स्नेह टूटने पर भी उनके गुण सदा सद्गुण प्री रहते हैं, दुगुण नहीं हो जाते । क्योंकि कमल का नाळ टूट जाने पर भी उनके अन्तर्नाळ में अधिक तन्तु अलग नहीं होते हैं ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।

दाक्षिण्यञ्चाऽनुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ ९७ ॥

अ०—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सुखदुःखयो सामान्यं दाक्षिण्यम् अनुरक्तिः सत्यता च सुहृद्गुणाः । व्या०—शुचित्वं=पवित्रता अकृत्रिमत्वमित्यर्थ । त्यागिता=दानशीलता, शौर्यं=वीरता, सुखदुःखयोः=सुखदुःखयोः सुखदुःखे, तयोः सुखदुःखयोः सुखे च दुःखे चेत्युभयत्र, सामान्यम्=समानभाव, दाक्षिण्यम्=भौदार्यं सारस्यं च, अनुरक्तिः=सदाऽनुराग, सत्यता=सत्यस्य भावः, एतानि सर्वाणि, सुहृद्गुणाः=सुहृद् गुणा, मित्रगुणा भवन्ति ।

भा०—पवित्रता, दानशीलता, शूराता, सुखदुःख में समानता, उदारता, अनुराग, सत्यता ये सब मित्र के गुण हैं ॥ ९७ ॥

‘एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत् प्राप्तव्यः ?’ इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिः निःसृत्याऽऽह—‘आप्यायितोऽहं भवता-मेतेन वचनामृतेन’ ।

व्या०—एतैः=प्रदर्शितरूपैः, गुणैः=स्वधर्मैः, उपेत=युक्तः, भवदन्यः=भेदः मूषिकावध्न्य अपर, कः सुहृत्=मित्रभूतः, प्राप्तव्य इति । हिरण्यकोऽपि इत्यादि तद्वचनं=तस्य काकस्य वचनं विश्वासपूर्णवाक्यम्, आकर्ण्यं=श्रुत्वा, बहिः=विषयाद् बहिर्भागे, निःसृत्य=निर्गम्य, आह=भवतां=पूजयानाम्, एतेन=पूर्वोक्तेन, वचनामृतेन=वचनम् अमृतमिव तेन अहम् आप्यायितः=द्रवीकृत, संतोषित इत्यर्थः ।

भा०—‘इन सब गुणों से युक्त तुम्हारे बिना दूसरा कौन मित्र मिलेगा ?’ इत्यादि वचन को सुनकर हिरण्यक अपने विवर से बाहर निकल कर बोला—‘आह ! आपके अमृत वचनों से मैं बहुत प्रसन्नचित्त हुआ हूँ’ ।

तथा बोध्यम्—धर्मात् न तथा सुधीतकर्मणोः स्वार्थं न मुखावली
 न श्रीशम्भुविलोपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यपि तम् ।
 प्रीत्यै सञ्जनमापितं प्रभवति प्रायो यथा वेतसाः
 सपुत्रस्या च परिच्छ्रितं सुकृतिनामाहुहिमन्त्रोपमम् ॥१८॥

भा०—सपुत्रत्वा परिच्छ्रितं सुकृतिनामाहुहिमन्त्रोपमं च सञ्जनमापितं यथा
 वेतसाः प्रीत्यै प्रायो प्रभवति तथा धर्मात् सुधीतकर्मणोः स्वार्थं न मुखावली न
 प्रत्यङ्गमप्यपि श्रीशम्भुविलोपनम् अपि न सुखयति । भा०—सपुत्रत्वात्—उत्तमद्वयान्ता-
 दिवा, परिच्छ्रितम्—पुत्रार्थकम्, सुकृतिना—पुत्रवताम् आहुहिमन्त्रोपमम्—
 आहुहिः आकर्षणं तर्पणं चो मन्त्रः स एव उपमा यस्य तत् कधीकरामन्त्रसदृशं
 च सञ्जनमापितं—महासञ्जनवचनम्, यथा—आहक वेतसा प्रीत्यै प्रायो—अधिकृतया
 प्रभवति—समर्थं भवति तथा—तादृक धर्मात्—धर्मैः प्रीत्योप्यना आर्तः तपिना
 तत्, तादृशं जनमित्यर्थो (कर्म) । सुधीतकर्मणोः—सुधीतकर्मणि च तांनि कर्मणि
 च तौ अतिशीतकर्मणोः, कृतं स्वार्थं (कर्म) न सुखयति (शीतकर्मणि) इत्यन्वयः ।
 एवं मुखावली—पुत्रत्वाम अपि न सुखयति, एवं प्रत्यङ्गम्—अङ्गे अङ्गे इति प्रत्यङ्गं
 सवाङ्गे इत्यर्थः । अपितं—अपि तत्, श्रीशम्भुविलोपनम्—श्रीशम्भुविलोपनं चान्यत्र
 विलोपनं च न सुखयतीति । (आर्षुकरविरचितं वृत्तम्) ।

भा —सपुत्र बोधिसव इति चो षी तुमार्थं वृत्त, यदीकरव मन्त्र के त्वाव ऐमत्वा
 सुहृन्मव वा यत्र नितना विप को वत्त करता है कतवा प्रीत्यतापतव कव यो
 हीपव कर्मो षी त्वाव मुखाहार तथा मन्त्र ने किम मन्त्रव भी इतिव यही हैता है ।
 अन्वय—एहस्यभेदो याकमा च नैप्युर्षं अज्ञाधितता ।

कोषो मिःसत्यता घृतमेतन्मिःसस्य दूपयम् ॥ १९ ॥

भा —एहस्यभेदा वाप्या वैप्युर्षं अज्ञाधितता कोषा मिःसत्यता घृतम् इत्य-
 मिःसस्य दूपयम् अस्ति ।

भा — एहस्यभेद—गुहात्मन्त्रस्य भेदः = अन्वयः प्रकाशयन्, वाप्या—अवाहीनां
 प्रायश्चा वैप्युर्षं—अज्ञाता विषयता, अज्ञाधितता—अज्ञानं अन्वयविरतं विरतं मया तस्य
 भावा कोष—कोषो, मिःसत्यता—असत्यता मिःसत्वादादित्यत्र घृतम्—अज्ञादीना च,
 इत्यर्थं मिःसस्य—सुहृद्भावस्य दूपयम्—अज्ञात्वात् दूपयकपरमित्यर्थः ।

भा—गुहावातां को मन्त्र प्रकाश करवा यदीकर वा प्रीत्या, कृता एहस्य
 विप को मन्त्रवनिगना कोव रक्षवा, अज्ञाव कोषवा, वृण कोषवा है तव विपता है
 दूपयकम् है १॥

अनेन अचनकमेव तत् एकमपि दूपयं त्वयि न ज्ञापयेते ।

भा — अनेन—पूर्वोक्तेन तव अचनकमेव—अचनकां कमा अचरोत्तरकवयम्

तेन तत् = पूर्वोक्तम् असुहृद्, एकमपि = तदन्यतममपि, दूषणं स्वयि = भवति, न लघयते = न प्रतीयते इति ।

भा०—एन सष पूर्वोक्त तुम्हारे वचनों से मालूम होता है कि उनमें से एक भी दूषण तुम्हारे में नहीं है ।

यत्—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुद्ध्यते ।

अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते ॥ १०० ॥

अ०—पटुत्व सत्यवादिष्व कथायोगेन बुद्ध्यते, अस्तब्धत्वम् अचापल्यं प्रत्यक्षेण अवगम्यते ॥

व्या०—पटुत्व = दृढता, सत्यवादिष्व = सत्य वदतीति सत्यवादी तस्य भाव, सत्यपरायणतेत्यर्थ । कथायोगेन, कथाया, वार्ताया योग प्रसङ्गस्तेन, बुद्ध्यते = ज्ञायते अनुमीयते । अस्तब्धत्वम् = जाड्यराहित्यम्, उस्ताहृष्वमिति यावत् । अचापल्यम् = चपलस्य भाव चापल्य चञ्चलता तन्न भवतीति अचापल्य स्थिरता, धीरतेति यावत् । प्रत्यक्षेण = दर्शनेनैव, अवगम्यते = प्रतीयते इति ।

भा०—वाक् चतुरता तथा सत्यवादिता ये दोनों वार्तालाप से मालूम होते हैं, और प्रत्यक्ष से तो उस्ताह शक्ति तथा धीरता ये दोनों निश्चित होते हैं (अतः तुम मित्रता के योग्य हो) ॥

अपरश्च—अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत् स्वच्छान्तरात्मनः ।

प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०१ ॥

अ०—स्वच्छान्तरात्मनः सौहार्दम् अन्यथैव भवेत्, हि शाठ्योपहतचेतसः वाणी अन्यथा प्रवर्तते । व्या०—स्वच्छ = कापट्यादिशून्यः निर्मल, अन्तरात्मा = अन्तःकरण मानस यस्य स तस्य निर्दोषान्तकरणस्येत्यर्थः । सौहार्दं = सुहृदो भाव मित्रता, अन्यथैव = अन्यप्रकारेणैव, भवेत्, हि = निश्चयार्थ । अथ च शाठ्योपहतचेतसः = शठस्य भावः शाठ्य धूर्तता तेन उपहतव्याप्तं चेतो यस्य तस्य धूर्तस्येत्यर्थः । वाणी = वार्तालाप, अन्यथा = अन्यप्रकारेण, प्रवर्तते = नि सरतीति ।

भा०—स्वच्छान्त करण वाले की मैत्री दूसरी रीति से ही (उत्तम भाव से ही) होती है और शठात्मा पुरुष की तो वाणी दूसरे ढङ्ग से निकलती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०२ ॥

अ०—दुरात्मनाम् मनसि अन्यद् वचसि अन्यत् कर्मणि अन्यद्, महात्मनां मनसि एक वचसि एकं कर्मणि एकम् । व्या०—दुरात्मनाम् = दुष्टान्त करणानां जनानाम् । मनसि = हृदये, अन्यत् = अन्यप्रकार वर्तते, वचसि = वाक्ये, अन्यत् तदन्यथा वर्तते, कर्मणि = कर्तव्यविषये वर्तते इति, महात्मनां = महा-

पुत्रप्राप्तिं तु, मन्वन्ति—पुत्रं वृद्धाचार्यं वन्दन्ति तदेव पुत्रं कर्मन्वन्ति तदेवेकम्, वाक्त्रयकर्मस्तु अविपरीतमेव वर्तते इति ।

भा०—कच पुत्रो के मन्त्र-करणे नुप वृत्ता ही नीर कुत्र वृत्ता ही वधन ये एता ही नीर तीवरा ही कुत्र करमी नै एता ही । महात्मा पुत्र के डरन नै की एता ही वही बोक्ते ही नीर नेता ही करते ही ॥ १ ॥ २ ॥

‘तद्भवतु भवतः अमिमत्तमेव’ इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विषयं भोजनविशेषैर्वापसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गतः । तदा प्रसृति तयोः जम्बोऽभ्याहारप्रदानेन कुशलप्रप्तौः विभ्रम्माज्ञापैश्च कियत्कस्योऽतिवर्तते । एकदा क्षुपतमको हिरण्यकमाह—‘सखे ! वायसस्य कष्टतरङ्गभ्याहारमिदं स्थानम् । तदेतत् परिस्पृश्य स्थानम् स्तरं गन्तुमिच्छामि’ । हिरण्यको ब्रूते—

भा०—तत्-तरमात् पूर्वोक्तवार्तिकत्वादिहेतोः, भवतः-काकस्य अमिमत्तमेव-अमिकवित्तमेव मन्तु-अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यका = सुपिकराजः, मैत्र्यं = प्रणयं विद्या-अभ्यासा भोजनविशेषैः-भोजनार्थां प्रयत्नभोजनपदार्थानां क्लेशं वृत्तव्यञ्जनात्, वापसं = कस्य सन्तोष्य = तृप्तं कृत्वा, विवरं = विद्यां प्रविष्टः । तदा वायसः = कस्य अपि स्वस्थानं प्रतिपत्ता । तदा-तस्मात् द्विषतात् प्रसृति-अपराधं तयोः-काकमुक्त्वा, अभ्योभ्याहारप्रदानेन = जम्बोभ्यासैः आहारस्य प्रदानेन कुशलस्य प्रप्तौ, विभ्रम्माज्ञापैश्च-विद्यासत्यं आत्मार्थं कथामि, कियत्कस्य = कियत् कस्य, अतिवर्तते-विद्वन्वृत्तिः । क्षुपतमका काका एकदा हिरण्यकं सुपिकमाह— सखे ! वायसस्य = कस्यस्य कष्टेन कस्या आहारो भस्मिन् तत् तादृशं इदम् = तत्त्वं स्थानं = स्थानं, बर्हिः । तदेतत् = तस्माद्धेतोः एतत् परिस्पृश्य = विद्यां, स्वागत्यारम्भं = अन्वयं स्वार्थं गन्तुमिच्छामि । हिरण्यका, ब्रूते—कचवति—

भा०—जम्बो पुत्रादी लब्धास्तुतार ही ही पिता कच कर हिरण्यक विद्या करके अदेकविन पीचन के काक की लम्बुड करके अपने विवर नै कुत्र गया, काक भी अपने विद्यात स्वाय पर चला गया । कच दिन से दोबो का परस्पर भोजन देना, कुशल तस्यात् वृद्धा, वाताभ्यं करवा लम्बुडि से कुत्र सम्यं लगीत ही रहा है । एक दिन क्षुपतमका के हिरण्यक से करा—‘मित्र ! काक का भोजन वृत्त लम्बु में अति कठिनार्थं के निक रहा है । अतः एतं स्थानं की कीच कर अन्वयं आवा पाएता हूँ’ । हिरण्यक हीन—

स्थानजज्ञा य क्षोमन्ते वृन्ताः केदा लब्धा मता ।

इति विद्याय मतिमाह स्वस्थानं न परिस्पृशेत् ॥ १०३ ॥

भा०—वृन्ताः केदाः लब्धा मता स्थानजज्ञा य क्षोमन्ते मतिमाह इति विद्याय स्वस्थानं न परिस्पृशेत् । अथ — वृन्ता-वृद्धावा, केदा-कथा, लब्धा = करवाया,

नराः=मनुष्या , स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्तः, न शोभन्ते, अत मतिमान्=बुद्धिमान्, इति विज्ञाय=इत्येवं सम्यग् विविश्य, स्वस्थानं=स्वस्य आत्मनः स्थान योग्यपदम् , न परित्यजेत् = विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत् ।

भा०—दात, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे ॥ १०३ ॥

काको ब्रूते—‘मित्र ! कापुरुषस्य वचनमेतत्’ ।

भा०—काक ने कहा—‘मित्र ! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है ।

यत—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।

तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १०४ ॥

भा०—सिंहा सत्पुरुषाः गजाः स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काकाः कापुरुषाः मृगा तत्रैव निधनं यान्ति । व्या०—सिंहा=केसरिण , सत्पुरुषाः=सज्जना , गजा=करिणः, स्थानं=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य=परित्यज्य, गच्छन्ति । किन्तु काकाः=वायसा , कापुरुषा =कुसिता पुरुषा निर्बलपुरुषा , मृगा =हरिणादयः, तत्रैव=स्वनिवासे एव, निधनं=मरण, यान्ति=गच्छन्ति ।

भा०—सिंह, सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं ॥ १०४ ॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विन स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः

यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापाऽर्जितम् ।

यद् दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते

तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्त्वृष्णां छिन्नत्यात्मनः ॥ १०५ ॥

भा०—मनस्विन वीरस्य स्वविषय क ? विदेशो वा कः स्मृतः, (स) य देश श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जित कुरुते । दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरण सिंह यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरै आत्मन तृष्णां छिन्ति । व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतसः, वीरस्य=शूरस्य, स्वविषय =स्वस्य विषय देश क ? विदेश =परदेश वा क ? स्मृतः=कथितः । (स) धीर , य, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देश, बाहुप्रतापार्जितम्=श्राद्धे प्रसापेन अर्जितः स्वायत्तीकृत तम्, भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थ । कुरुते । यत दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्रा प्रधानदन्ता , नखाः, लाङ्गुल=बालधिः (लाङ्गुल इति दीर्घप्रयोग साधु, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोऽनुरोधादनुसन्धेय) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य स , एतादृश सिंह =मृगेन्द्र , यद् वनं (कर्म), गाहते=प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरै =हताः भ्यापादिता ये द्विपेन्द्रा द्वाभ्यां मुखदृष्ट्वाभ्यां पिबन्तीति द्विपा गजा , द्विपानाम् इन्द्रा श्रेष्ठाः तेषां रुधिरै

मांसादिभिः, अतमवा = स्वस्व तुष्णां कायप्रवृत्तिबाल्यां, द्विषति = विचारयति
पुत्रवतीति वाच्यत् । (कामूकविश्वैरितं वृक्षम्) ।

भा०—सामर्थ्यबुद्धि और बुद्धि के क्षेत्र का अपना देश और क्षेत्र का पर देश है ।
अर्थात् क्षेत्र नहीं । पर जिस देश में जाता है वहाँ अपने बुद्धिबल से ही जीवनपरि परिणो
को प्राप्त करने ही रहता है क्योंकि वस्तु तक पहुँचने से ही बुद्धि के देश द्विषतिवत्
वचन में जाता है वहाँ अपने बल से हमने जो क्षेत्र पर अपनी जीवनवृत्ति चलाता है ३१ ५४

द्विरव्यक्तो ज्ञूते—'मित्र क्व वाप्तव्यम् ?

भा०—द्विरव्यक्त वे क्या—'मित्र, क्या मांगे ?

तथा चोप—बलस्येकेन पादेन विद्वस्येकेन बुद्धिमात् ।

माऽसमीप्य पर स्थानं पूर्वमायतनं स्पजेत् ॥ १०६ ॥

भा०—बुद्धिमात् बुद्धेय पादेन चरति बुद्धेय विद्वति परं स्थानम् असमीप्य
पूर्वम् आगतम् न त्यजेत् । अथ—बुद्धिमात् = बुद्धिर्विषयेऽस्वासी बुद्धिमात् अथ,
बुद्धेय पादेन = चरत्येव, चरति = यच्छति एकैव अपरेण च पादेन विद्वत्स्वभावात्-
मवच्छिन्यते ततः परम् = अग्रिमम्, आयामित्थानं कथम्, असमीप्य = सम्यग्
अपरीप्य अचरकोप्य पूर्वम् = अपकथ्यं स्वार्थं न त्यजेत् ।

भा०—बुद्धिमात् मनुष्य एक देर से चलता है और एक देर से स्थान छोड़ता है, अर्थात्
जाते ही एक देरकर चलता है । इसीमें प्राण करते योग्य स्थान को छोड़ना ही नहीं किया किने
किना प्रथम स्थान नहीं छोड़ना चाहिए ३१ २ ३

वापसो ज्ञूते—'मित्र ! अस्ति सुनिश्चितं स्थानम् । द्विरव्यक्तोऽ
वत्—'किं तत् ? वापसा कथयति—अस्ति दृष्टकारण्ये कर्पूरवी
रामिषानं सरः । तत्र चिरकाञ्चोपाहितः प्रियसुहृन्म मन्थराऽभिधानः
सुमः सहजवार्मिका प्रतिवसति । पश्य मित्र !—

भा०—वापसाकाञ्चो ज्ञूते—मित्र ! द्विरव्यक्त ! सुनिश्चितं स्थानम् परीक्षितं
स्वायंभवकम् अस्ति । द्विरव्यक्त = मुनिकरान्, अचरत्—'किं तत् ? किंमिषानं
तत्त्वामिति । वापसा कथयति—दृष्टकारण्ये = दृष्टक च तदर्थं च तस्मिन्
दृष्टकारण्येऽप्ये। कर्पूरवत् शीतम् इति (पुरा दण्डो नाम दृष्टाकुरवतीयो राजा सु-
चार्यस्व कन्वां बलवीरवान् ततः सा बुधितवकिद्विपादेन बुधककचवाह्यसिद्धि
का तत्र दिवहा इत्यं च अरन्धं आत्स्य, तत आरन्धं 'दृष्टकारण्य'मिति नाम इति
रामावती कथा) । गौरामिषानं—कर्पूरवत् गौरम् इति कर्पूरवीरम् = दृष्टकम्
तत्रैव गुमानुकरण्य अभिधानं वरत् तदिति । सरः = चरोवरम्, अस्ति = अस्ति । तत्र चरो-
वो । चिरकाञ्चोपाहितः = चिरकाञ्चोपार्जितः मित्रत्वेन प्राप्तः, मेऽप्यम् सुहृद्व्यभि-
कम्, सहजवार्मिका सहजः वार्मिका स्वभावात् चर्ममित्रः 'मन्थराभिधानं' मन्थर-

इति नाम यस्य तथोक्त, कूर्मः = कच्छपः, प्रतिवसति = वासं करोति, मित्र ! = सखे !, परय अवधानं कुरु, शृणु इति यावत्—

भा०—काक ने कहा—‘मित्र हिरण्यक ! एक सुपरिचित स्थान है ।’ हिरण्यक ने कहा—‘कौन सा ?’ काक ने कहा—‘दण्डक वन में कर्पूरगौर नामक सरोवर है, वहाँ पर बहुत काल से परिचित स्वभाव से धार्मिक मेरा मित्र मित्र ‘मन्यर’ नाम का कच्छप रहता है । ख्याल करो मित्र !—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।

धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित् तु महात्मनः ॥ १०७ ॥

अ०—सर्वेषां नृणां परोपदेशे पाण्डित्यं सुकरं, तु कस्यचिन्महात्मनः धर्मे स्वीयम् अनुष्ठानं (सुकरम्) । व्या०—सर्वेषां=यावताम्, नृणां=मनुष्याणाम्, परोपदेशे=परस्मै परस्य वा उपदेशवशं तस्मिन्, पाण्डित्यम् = पण्डितस्य भावः नैपुण्यम्, सुकरम् = सुखेन क्रियते तत् सुकरम् अकठिनं भवति, तु=किन्तु, कस्यचित्, महात्मनः=सत्पुरुषस्य, धर्मे, स्वीयम्=स्वकीयम्, अनुष्ठानम्=वधनानुरूपवर्तनं भवतीति ।

भा०—परोपदेश करने में पाण्डित्य दिखाना सब मनुष्यों को सहज है । परन्तु—अपने धार्मिक अनुष्ठान का आचरण कोई एक महात्मा ही करना है ॥ १०७ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह—तत्किमत्राऽवस्थाय मया कर्तव्यम् ?

व्या०—स च कूर्म, भोजनविशेषैः=भोजनानां विशेषा बहुविधत्वैः, अनेक-विधपकान्नैरित्यर्थः । मां=मां काक, संवर्धयिष्यति=ससम्मानं पालयिष्यति, पुष्टिं प्रापयिष्यतीत्यर्थः । हिरण्यक मूषिक अपि आह—तत्=तस्मात् एतादृशभोजन-दातु मित्रस्य सखादिति हेतोः, मया = मूषिकेण, अत्र=एतस्यले शुष्कभूते प्रदेशे, अवस्थाय = स्थिराया, किं कर्तव्यम् ? किन्तु गन्तव्यमेवेति भावः ।

भा०—इह कच्छप अच्छे मोलनों से मुझको पुष्ट करेगा । हिरण्यक ने भी कहा—तब तो मैं भी यहाँ रह कर क्या करूँगा ?

यत—यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च वान्धवः ।

न च विद्यागम कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १०८ ॥

अ०—यस्मिन् देशे सम्मानः न, वृत्तिः न, वान्धवश्च न, कश्चित् विद्यागमश्च न, तं देशं परिवर्जयेत् । व्या०—यस्मिन् देशे = स्थलविशेषे, सम्मानः = सम्यक् मानः सत्कारः, नास्ति, वृत्तिः = जीवनसाधनम्, नास्ति, वान्धवश्च = वन्धुरेव वान्धवसुहृज्जनः, नास्ति, कश्चिदपि, विद्यागमः = विद्यायाः शिक्षायाः आगमः प्राप्तिः नास्ति, तं देशं, विज्ञः पुरुषः अवश्यम्, परिवर्जयेत् = परित्यजेत् ।

भा०—जिस देश में सम्मान, आविष्कार, वन्धुजन तथा किसी प्रकार का विद्याप्राप्ति नहीं उस देश का त्याग करना चाहिये ॥ १०८ ॥

अतो भामपि तत्र मन्य । वायसोऽवदत्-‘पवमस्तु’ । अथ वायस-
स्तेन मित्रेण सह विचित्रालापमुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो
मन्थरो दूरादेव लघुपतनकम् अवलोक्य उत्थाय यथोचितमातिथ्यं
विधाय मूषिकस्याऽप्यतिथिसंस्कारं चकार ।

व्या०—अतः अस्मात् स्थानात्, माम् (मूषिकम्) अपि, तत्र=कूर्मस्थले, नय=
प्रापय, स्वमिति शेषः । वायस=काक, अवदत् पत्रम्=तथा, कस्तु अक्षु इति । अथ=
पश्चात्, वायस=काक, तेन=मूषिकेण मित्रेण सह, विचित्रालापमुखेन विचित्राश्च ते
आलापा. तेभ्य सुखेन, विविधवार्ताजन्याऽऽनन्देनेत्यर्थः । तस्य पूर्वोक्तस्य कपूर्-
गौराख्यस्य सरसः, समीपम् अम्तिकं, ययौ जगाम । ततः=सरोमिकटे गमनानन्तरम्,
मन्थरः तन्नामा कूर्मं, दूरादेव, लघुपतनक नाम वायसम्, अवलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय=
जलादुत्तीर्य, यथोचितम्=यथायोग्यम्, आतिथ्यं काकस्य संस्कारम्, विधाय=कृत्वा;
मूषिकस्य अपि=हिरण्यकस्यापि, अतिथिसंस्कारम् आतिथ्यविधानम्, चकारेति ।

भा०—इसलिय मुझे भी वहाँ ले चलो । काक बोला—‘अच्छा पेसा ही सही’ ।
उसके बाद काक मित्र हिरण्यक के साथ अनेक वार्तायें करते हुए उस सरोवर के समीप में
गया । और—‘मन्थर’ नामक कछुप ने दूर से ही ‘लघुपतनक’ मित्र काक को देखकर
उठकर यथायोग्य अतिथि संस्कार करके मूषिक का भी आतिथ्य संस्कार किया ।

यत—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।

तस्य पूजा विधातव्या सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११२ ॥

अ०—गृहम् आगत बालो वा यदि वा वृद्ध युवा वा, तस्य पूजा विधातव्या,
सर्वत्र अभ्यागतो गुरुः । व्या०—गृहम्=स्वनिवासभूमिम्, आगतः अकस्मादुपस्थि
त, बालः यदि वा वृद्धः युवा वा य—कश्चिन्नवति, तस्य सर्वविधस्य अतिथेः, पूजा
=अभ्युत्थानादिना संस्कारपूजा, विधातव्या=कर्तव्या, यत अभ्यागत=अतिथि,
सर्वत्र=आश्रमचतुष्टयेऽपि, गुरु = गुरुवत् सेव्य इति ।

भा०—घर आये हुये बालक अथवा युवा अथवा वृद्ध चाहे कोई भी अतिथि हो,
उसकी पूजा तथा संस्कार अवश्य करना चाहिये, क्योंकि सब आश्रमियों के लिये अतिथि
गुरुत्व है ॥ ११२ ॥

तथा—गुरुरग्निद्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।

पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११३ ॥

अ०—अग्नि द्विजातीना गुरु, ब्राह्मण वर्णानां गुरु, पति एकः स्त्रीणां गुरु,
अभ्यागतः सर्वत्र गुरुः । व्या०—अग्नि=वृद्धि, द्विजातीनां=ब्राह्मणत्रयवैश्यानां
त्रिवर्णानां, गुरु=पूजनीयः, पति=भर्ता एक=मुख्य पति, स्त्रीणां=नारीणाम्, गुरु=

पुण्यवीचः, वेदधीनस्य भवति अन्त्यात्तु—अतिशित्तु, सर्वत्र—सर्वेषु क्वचनवायेषु, पुण्यं क्वचनवीच इति ।

आ०—आद्यस्य इति एत एत हीनं कवी का पुत्र इति ई, आद्यस्य चतुर्षु कवी का पुत्र ई जी का पति ही पुत्र ई नीर इति चित्तं एतस्य पुण्यस्य पुण्यवीच ई ॥ १११ ॥

अपरम्—इत्यमस्याऽपि सर्वस्य श्रीषोऽपि पुण्यमप्यस्य ।

पुण्यवीचो यथापोम्बं सर्वद्वेषमयोऽतिशिया ॥ ११४ ॥

न — इत्यमस्यापि सर्वस्य पुण्यं आत्मता यीचा अति यथापोम्बं पुण्यवीचः, अतिशिया सर्वद्वेषमया । आ० — इत्यमस्याम्प्यस्येहत्यापि, सर्वस्य आद्यस्यादीनां क्तु-र्वात्मिकमत्त्वं पुण्यं = विवाहम् आत्मता अतिशियैव समुपस्थिता । यीचा अस्या कर्मणा आत्मकृत्येऽपि आत्माद्येऽपि, यथापोम्बं = यथापोम्बं पुण्यवीचः = इत्यम-वीचा, यथा, अतिशिया सर्वद्वेषमया = सर्वे च तै वैवा तम्मवा तत्त्वक्य इति ।

वायसोऽवदत्—‘सन्ने । मन्धर ! सविरोषपूजामस्मैविधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां पुण्यः क्वचनयत्स्यात्करो द्विरभ्यक्तममा मूषिकपुत्राः, यतस्य गुणस्तुतिं विद्वत्सहस्रद्वयेषाऽपि यदि सर्वपुत्रा कदाचित् कर्तुं समर्थे स्यात्’ इत्युक्त्वा विद्वद्गीषोपाकृष्यानें यमितवान् । ततो मन्धरा सात्वं द्विरभ्यक्तं सम्पूज्याऽऽह—‘मद्र ! आत्मनो निर्वैश्वानरममन-कारणम् आत्मनातुमर्हसि’ ? द्विरभ्यक्तोऽवदत्—‘कथयामि श्रूयताम्—

आ०—वायसः वाय इत्य—सखे मन्धर ! कञ्चन ! अस्मै द्विरभ्यक्तमप्युचिकरात्वाय अविरोषपूजाम्विधेयेन सद्य वर्तमानं यथा स्वयत् तथा पुत्रां सम्पारय त्वं विधेहि । यत अर्थं कृषिकरात्, पुण्यकर्मणास्य—पुण्यं कर्म वैश्वानरो गुण्यकर्मणा देवां सुकृतजा-त्स्वामित्त्वर्षः पुरीचा = पुरी अग्रे स्थिता, यत्र च काश्चर्यरत्नकरा काश्चर्यस्य = इवावाः रत्नकरा समुद्रभूत अस्तीति । सर्वपुत्राः—सर्वस्य पुत्राः यैश्चाप्य, अति विद्वत्-पुत्रसहस्रैः—हेहि आत्मा इति विद्वत्, विद्वानां सहस्रं तेषु द्विसहस्ररत्नकरामिरपि इत्यर्थः । यतस्य = कृषिकरात्स्य गुणस्तुतिं गुणाणां स्तुतिं यत्र कर्तुं कदाचित् कस्मिंश्चिन् कश्चित्कृतिकात्वे मत्तर्षः = कश्चित्मात्रं पारतन्त्रं स्यात् । इत्युक्त्वा विद्व-द्गीषस्य = कथोतरात्स्य उवाचवाचं = इत्यमत्त्वं यन्निवृत्तम् = कश्चित्कथात् । ततो तच्छ्रुत्वा मन्धरा = तन्नामा कञ्चन द्विरभ्यक्तं—द्विरभ्यक्तं, सात्वं—सात्वं इति सम्पूज्य = तन्मक वाद्यप्राकृत्याऽऽत्मनादित्य सात्त्वं आह—मद्र ! मायो ! कृषिकरात् ! आत्मनः स्वस्य अनेति वायत् । निर्वैश्वानरममनकारणमन्धरिर्वैश्वानरं च तत् यत्र तस्मिन् आममनं तत्र कारणं हेतुत्वं आत्मनातुम् आत्मकर्म यन्निवृत्तम्,

अहंसि=योग्योऽसि, हिरण्यकः=मूषिकराज, अवदत्, कथयामि, श्रूयताम्=आक-
र्ष्यताम् ।

भा०—काक ने कहा—सखे मन्थर ! इन मूषिकराज की पूजा विशेष रूप से करो, क्योंकि धार्मिकों में अग्रगण्य, करुणा के समुद्ररूप, हिरण्यक नामके ये मूषिकराज हैं, शेषनाग भी दो हजार लीनों से इनके गुणों का वर्णन करने में कदाचिद् (कल्पान्तर में) पार पा सकते हैं। ऐसा कहकर चित्रग्रीव नामक कपोतराज का आख्यान सुनाया। उसके बाद मन्थर नामक कच्छप आदरपूर्वक हिरण्यक की पूजा करके बोला—'सौम्य ! मद्र ! आपका इस निर्जन वन में आने का क्या कारण हुआ सो बताइये।' हिरण्यक नामक चूहे ने कहा—'कहता हूँ सुनो—

कथा ४

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽऽवसथ । तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति । स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षासहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति, अहं च तदन्नम् उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः, तेन सह नानाकथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । तं तथाविधं दृष्ट्वा वीणाकर्णो उवाच—'सखे किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ?'

भा०—चम्पकाभिधानायां = 'चम्पका' इत्यभिधा यस्याः सा तस्याम्, नगर्यां = पुर्याम्, परिव्राजकाऽऽवसथ = सर्वं परित्यज्य व्रजन्ति इति परिव्राजका सन्यासिन, तेषाम् आवसथः आश्रमः अस्ति । तत्र आश्रमे, 'चूडाकर्णो' नाम = 'चूडाकर्ण' इति नाम्ना प्रसिद्धः, परिव्राजक = सन्यासी, प्रतिवसति । स च चूडाकर्णः, भोजनाऽवशिष्ट-भिक्षासहितं = भिक्षया प्राप्तम् अन्नं भिक्षा (मध्यमपदलोपी समासः) ओदन-विक भोजनात् अदनात् अवशिष्ट च तत् भिक्षास्य तेन सहित युक्तम्, भिक्षापात्रम् = काष्ठकपालात्मक भाजनम्, नागदन्तके = नागस्य करिण दन्त इव दन्तोऽग्रे यस्य स नागदन्त स एव नागदन्तकः नागदन्तसदृशे गृहभिसौ प्रोथिते दाहमयकीलके इत्यर्थः । अवस्थाप्य = निघाय, स्वपिति = निद्रां करोति । अहञ्च उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं प्रतिदिन, तदन्नम् अवशिष्टाञ्च भक्षयामि । अनन्तरं = कियति समये गच्छति सति चूडाकर्णस्य प्रियसुहृद्, 'वीणाकर्णो' नाम परिव्राजकः सन्यासी, समायातः उपस्थितः, चूडाकर्णः सन्यासी तेन वीणाकर्णेन सन्यासिना सह नानाकथाप्रसङ्गा-वस्थितः नाना बहुविधाः याः कथा तासां प्रसङ्ग अवतारण तस्मिन् अवस्थित समासक्तः अपि, मम त्रासार्थं त्रासाय इदमिति त्रासार्थम्, मम भयप्रदर्शनार्थम्, जर्जरवंशखण्डेन वनास्य खण्डः वंशखण्डः, जर्जरः जीर्णः वशाखण्डः वष्टिकारूपः तेन, भूमि-

सम्बन्धवधुमिम्, अथाव्ययस्यैवादिवात् । तं ब्रह्मकर्मम्, तथाविधम् अन्वयमवत्, इहा बीजात्म्यं कथाम्—‘सद्ये ! ब्रह्मकर्म ! किमिति किमर्थम् मम कथाविरक्त कथायां विरक्त विरक्तुराया, अन्वयस्य अन्वयमवत्कम्, मयाम् भवतीति शेषः ।

धा०—अन्वय नाम शो वादी में संवाली अ नाम है वतये 'ब्रह्मकर्म' नाम क वच संवाली रखा है वह भिन्न अ-बोध करके अविज्ञान शो वाज में रखकर हीं वर अन्वय कर छे जाता वा । तब में इतिरिच कुर कुर कर अन्वय शो जाता वा । एव वात इत ब्रह्मकर्म प्रियमिच 'बीजात्म्य' नाम क संवाली वरों वाच और ब्रह्मकर्म शोवा कर्म के साथ विविध कथानों में कथनिय होये वर धी मुझे वराने के किने पुराने अन्वय वीं के इच्छे से वधीन में वाचन करवा वा । तब वाचन करते हुए अन्वये ईश्वर बीज कर्म में क्या 'मिच पुन मेरी क्या शो शेषकर अन्वय मम वरों करते हो ।'

वतः—मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टि कथाऽनुपगो मसुरा च वाली ।

संज्ञोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनश्च सदानुरक्तस्य जनस्य सप्तम् ॥ ११५ ॥

व —मुखं प्रसन्नम् दृष्टिश्च विमला, कथाऽनुपगो, वाली च मसुरा रवेहा अविद्य, सम्भ्रमदर्शनश्च सदा अनुरक्तस्य जनस्य सप्तम् । ११०—मुखं=वदवम् प्रसन्नम्=अहर्षं लोकादुत्थमित्यर्थः । दृष्टिः=अवलोकनम् विमला=अमङ्गलिकरता-दुःखोत्थम्, कथाऽनुपगो=कथाया वचने अनुरागः इत्याहः प्रवचनोपेयाह इत्यर्थः । वाली=वाक्य च मसुरा=कटुवाटुल्या मयोरवगत्यर्थः । रवेहा=सीति अविद्या=परिपूर्णः । सम्भ्रमदर्शनम्=सम्भ्रमेण दुःखवा दर्शनम् अवलोकनम् पुनः पुन-र्दर्शनमित्यर्थः, एतत् कदा=अर्थः, अनुरक्तस्य=स्नेहवराकामर्हं एतस्य जनस्य=मित्रस्य कथम्=विद्मं भवतीति । (उपवातिवृत्तम्)

धा०—मुख वर प्रसन्न, प्रेक्षणीयं दृष्टि, वली में शीति वाली में मसुरा, अन्वय रवेहा वारम्बार ईश्वर, वे धा विद्मं तरा प्रेक्षणीय में होये है ॥ ११५ ॥

अदृष्टिर्वाग्मं हृतपूर्वभाषणममानर्गं बुद्धरिताऽमुधीर्तनम् ।

कथाप्रसङ्गेन च नामविरस्तुतिर्विरक्तमावस्य जनस्य सप्तम् ॥ ११६ ॥

व०—अदृष्टिर्वाग्मं हृतपूर्वभाषणम् अमानर्गं बुद्धरितामुधीर्तनम् कथाप्रसङ्गेन च नामविरस्तुतिः, अवस्य विरक्तमावस्य कथनम् । वा —दृष्टि दर्शनं तस्या दार्ढ्यं दृष्टिर्वाग्मं तत्र भवतीति अदृष्टिर्वाग्मं=अधीकनम् । हृतपूर्वभाषणम्=पूर्वं कथ-मिति हृतपूर्वम् तत्र च नामवम्=अत्र हृतोपकारवाङ्मानीकत्वम् अमानर्गम्=अमान्यम् अमान्यम्=अज्ञकाराऽभाव इत्यर्थः । बुद्धरितामुधीर्तनम्=बुद्धि विद्यामि च तावि अरितावि तेषां वेचकम् अनुधीर्तनम् इत्यर्थः । कथाप्रसङ्गेन=कथायां वाता-मौ प्रसङ्गेन प्रालम्बिकवातां वामनीत्यर्थः । नामविरस्तुति नाम्नाः विरस्तुति इत्यर्थः अवस्य अनुप्यस्य विरक्तमावस्य=उदासीनताया कथनं विद्मं भवतीति ।

भा०—दृष्टि न देना, किये हुए उपकार का अनङ्गीकार करना, सत्कार नहीं करना, दुराचरण को प्रकाशित करना, वार्ता प्रसङ्ग में याद भी नहीं करना, ये पाँच चिह्न मनुष्यों के विरक्त भाव को बताने वाले हैं ॥ ११६ ॥

चूडाकर्णेन उक्तम्—‘मद्र ! नाहं विरक्त’, किन्तु पश्य अयं मूषिको ममाऽपकारी सदा पात्रस्थं मिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति’ । वीणाकर्णो नागदन्तमवलोक्याह—‘कथमयं मूषिकः स्वल्पवलोऽप्येतावद् दूरमुत्पतति ? तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम् ।’

व्या०—चूडाकर्णेन सन्यासिना उक्तम्, मद्र सौम्य ! अहं न विरक्तः स्वया सह कषायाम्, किन्तु पश्य अवलोकय, अयम् अग्रवर्ती मूषिकः, मम अपकारी अपकरोति इति अपकारी हानिकर्ता, सदा प्रत्यहम्, उत्प्लुत्य, पात्रस्थं मिक्षाया पात्रे तिष्ठतीति तादृशम्, मिक्षान्नम्, भक्षयति खादति इति तद्भयार्थं भूमिं ताडयामि, न तु तव कषायामपि विरक्तो भवामीति भावः । वीणाकर्णं संन्यासी, नागदन्तमिति प्रोथितम् अयुक्तप्रदेशस्थं तं कीलकम्, अवलोक्य आह—‘अयं मूषिकः, स्वल्पवल्. अपि=स्वल्प कीलकप्राप्यर्थमपरिपूर्णं घलम् उत्पतनसामर्थ्यं यस्य स’ तादृशं सन्नपीत्यर्थं, एतावत् दूरम् अयुक्तैः उत्पतति, तत् तस्माद् हेतोः, अत्र=उत्पतने, केनाऽपि कारणेन हेतुना भवितव्यम् स्यात्तव्यमिति ।

भा०—चूडाकर्णं ने कहा—मद्र ! मैं तुम्हारी बातों में विरक्त नहीं हूँ, किन्तु देखो यह चूहा मेरा अपकार करने वाला है । यह रोनाना कूद कर पात्र में से मिक्षान्न को खा जाता है । तब वीणाकर्ण—ऊँची खँटो को देखकर बोला—यह चूहा थोड़ा बलवाला होने पर भी इतना ऊँचा कैसे कूद सकता है, इसमें कुछ कारण होना चाहिए ।

क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—‘कारणञ्चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति ।’

व्या०—क्षण=किञ्चित्काल, विचिन्त्य=विचार्य, उक्तम्=अत्र उन्दुरो. कूर्दने, कारणञ्च—हेतुस्तु, धनबाहुल्यमेव=धनस्य भूमिनिषिसद्रभ्यस्य बाहुल्य विपुलत्वम् एव, प्रतिभाति = विज्ञायते इति ।

भा०—सन्यासी ने थोड़ा देर तक विचार करके कहा—खूब धन ही इसके कूदने का कारण मालूम होता है ।

यत्—धनवान् बलवांश्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

प्रभुत्व धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ ११७ ॥

व्या०—सर्वं धनवान् लोके सर्वदा बलवान्, हि राज्ञामपि प्रभुत्व धनमूलम् उपजायते । व्या०—सर्वं = समस्त, धनवान् = धनमस्याऽस्तीति धनवान् सुव-

अविद्यन्वविषयव्याप्ती ज्ञानः, बोधे = संसारे सर्वज्ञत्वपरिमित्त्वं प्रवेष्टे, स्वदेष्टे वारदेष्टे
 वेत्तव्यं । सर्वज्ञा = सर्वपरिमित्त्वं ज्ञाने, सुमित्त्वे सुमित्त्वे च समये वक्ष्यन्त्वन्वत् सर्वविद्या
 कृत्वा तद्व्याप्यतीति वक्ष्यात् वाच्यत्वमित्यात् भवतीति । द्वि-वत्, राज्ञामपि =
 मृगतीक्ष्णमपि (वत्) प्रसूतं वृषतिवमाविपत्त्वमिति वाचत् (ज्ञातीति शेष)
 (तदपि) वचनकृतम् = वचनमेव कृतं वक्ष्ये तत् इत्यकारवक्तव्ये, उच्यते =
 सम्पन्ते इति ।

भा०—तत्रैव वचनान् बोधे इति संसारे सर्वज्ञे तदा ही वक्ष्यात् हीते र् इति
 राधा बो भी प्रमुना वच के मताय हे ही प्राज्ञ हीती र् ॥११००॥

ततः अविद्यमादाय तत्र परिग्रहकेन विवरं कथित्वा विरसञ्चितं
 मम धर्मं पृहीतम् । ततः प्रवृत्तिं प्रत्यहं निजशक्तिहीनः सस्वोत्साह
 रहितः स्वाहात्मन्पुत्र्यादयितुमक्षमः सन्नासं मन्त्रं मन्त्रम् उपसर्पन्
 ब्रूयात्कर्मणाऽवलोकिताः । ततस्तेनोक्तम्—

भा०—ततः = तदन्तरम् तेन परिग्रहकेन संन्यासिना अविद्यन्वन्वते
 ज्ञानेनेति अविद्यं कुर्यात् आदाय = पृहीत्या, विवरं = मम वाच्यकृतं अविद्यन्
 विद्यार्थं विरसञ्चितं = अविद्यममेव मम पृहीतम्, मम धर्मं = सर्वज्ञानं पृहीतम् मम
 इत्यम् । ततः प्रवृत्तिः = तत्रमात्मान्नाहारम् मन्त्रं = प्रतिदिवसम् विजयतिहीना =
 (अहं) विजयति कृत्वा कृतीरचकृत, तथा हीना इत्याः, स्वोत्साह रहिता = अर्थात् मया
 धर्मं वा तस्य ज्ञानाहः वैर्धम् प्रयोगो वा हेन रहिताः इत्याः सन् । स्वाहात्मनि स्वस्य
 आहारम् उपसर्पन्वन्व अवि ज्ञानादयितुम् = उपसर्पन्वितुम् । अक्षमः = अक्षमः सत्,
 सन्नासं = ज्ञानेन सहित तथा स्वात् तथा मन्त्रं मन्त्रं = ज्ञाने, ज्ञाने, उपसर्पन्वन्व
 ज्ञान्या गन्धन् मन्त्रं ब्रूयात्कर्मणा = संन्यासिना अलोकिता, एव संन्यासी मी
 कृत्यादयितुम् । ततः = इहा, तेन संन्यासिना, कृतं = कथितम्—

भा०—इतरे वार बोधने च द्विवार केकर वह संन्यासी विद्य बो पीरकर वृत्त
 धन ते तद्विद्य नव्यिन एते इव मेरे न बो के तथा वृत्त दिन के इतिदिन इतीरकर
 ते ही मन् के ज्ञानार् ते ए-व ओर उर-पूर्व भागार बो भी प्राज्ञ करने र् ज्ञानार्
 होना इहा मी ज्ञाना वचना बो पीरे वीरे वा एता वा कि ब्रूयात्कर्म वाचके इति संन्यासीने
 कृते वेवा ? देवक वी ।—

एतन्न जलवालोको यन्नाज्ञपति पविष्ठतः ।

पश्येन मूपिचं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ ११८ ॥

भा०—अथैव वक्ष्यात् ज्ञानार् इतिवत् भवति एवं चार्थे पञ्चातिजगती
 गते इति च वच । भा०—बोधा = ज्ञाने, ज्ञानेन मन्त्रेण वक्ष्यात् अर्थात् विद्यमानार्थ-

वान् भवति, धनात् च पण्डितः=बहुविधकलाकौशलवेत्ता भवति, एनम्=एते
गच्छन्त पापं=सत्यपि द्रव्ये पराधादिहरणारमकपापकर्तारम्, स्वजातिसमतां
गतम्=स्वस्य उन्दुरो, जाति जातीया दरिद्रा मूपिका तसमतां धनशून्यतया
सप्तदशतां गत, मूपिकं परय = अवलोकय । स्वमिति दोष ।

भा०—लोग धन से ही बलवान् तथा धन से ही पण्डित होते हैं, इस पापाचारी
अपनी जाति के धर्म (दरिद्रता) को प्राप्त हुए मूपिक को तुम देखो ॥ ११८ ॥

किञ्च—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याऽनपमेघसः ।

क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ११९ ॥

अ०—अर्थेन तु विहीनस्य अक्षपमेघसः पुरुषस्य सर्वा क्रिया. ग्रीष्मे कुसरितो
यथा (तथा) विनश्यन्ति । अ०—अर्थेन तु = द्रव्येण च, विहीनस्य = विशेषेण
रहितस्य, दरिद्रस्येत्यर्थः । अयं च अक्षपमेघसः = अक्षया बुद्ध्या मेघा बुद्धिर्यस्य सः
तस्य, पुरुषस्य, सर्वाः=समस्ताः, क्रियाः = कार्याणि, ग्रीष्मे = ग्रीष्मसमये, कुस-
रितः = कुस्रिताः स्वक्षपजलाः सरिताः नद्याः, यथा नश्यन्ति, तथा विनश्यन्तीति ।

भा०—द्रव्यरहित तथा बुद्धिहीन मनुष्य की सब क्रियायें ग्रीष्म काल में छोटी नदियों
की तरह सूख जाती हैं ॥ ११९ ॥

अपरञ्च—यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।

यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥ १२० ॥

अ०—लोके यस्य अर्थाः तस्य मित्राणि, यस्य अर्थाः तस्य बान्धवाः, यस्यार्थाः
स पुमान्, यस्यार्थाः स हि पण्डितः । अ०—लोके=संसारे, यस्य यज्जनस्य, अर्थाः=
द्रव्याणि, विद्यन्ते, तस्य=पुरुषस्य, सर्वे मित्राणि=असुहृदोऽपि सुहृदो भवन्ति । यस्य
च जनस्य, अर्थाः भवन्ति, तस्य पुरुषस्य, सर्वे बान्धवाः=अबान्धवा अपि बान्धवा
भवन्ति । यस्याऽर्थाः सन्ति स एव पुमान्, श्रेष्ठपुरुषत्वेन=प्रतिष्ठितव्यक्तित्वेन,
बान्धव्यते, यस्य च जनस्य अर्थाः सन्ति, स एव पण्डितवन्मानितो भवतीति ।

भा०—संसार में जिसके पास द्रव्य हो उसके सब मित्र बन जाते हैं, जिसके पास
द्रव्य हो उसीके सब बान्धव भी बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो वह मनुष्य बड़ा गिना
जाता है, जिसके पास द्रव्य हो वही पण्डित गिना जाता है ॥ १२० ॥

अपरञ्च—अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।

मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १२१ ॥

अ०—अपुत्रस्य गृहं शून्यम्, सन्मित्ररहितस्य मूर्खस्य च दिशः शून्याः, दरिद्रता
सर्वशून्या । अ०—अपुत्रस्य=नास्ति पुत्रो यस्य स तस्य पुत्ररहितस्य मनुष्यस्य,
गृहं=निवासभवनम्, शून्यम्=अप्रकाशितम्, निरर्थकमिव भवतीति । सन्मित्र-

द्विजस्य = जन्तु प्राहु मित्रं सुहृत् तेष द्विजाः सुत्याः तस्य, कदा। नञ्जीन
 लोचनौ । दृष्टान्तस्य सूत्रस्य च = स्वर्गं सुहृत्स्य जन्तस्य च, द्विजाः = प्राःप्यादि
 निष्पन्नकामि सुत्याः = अयमकामिता मयन्ति । इत्यन्ते इति शेषः । र' इत्या
 इत्यादीयता सर्वसुत्या = सर्वविधसुत्यास्तानुश्लेषार्थः ।

धा०—पुनरहित का मूर शून्य वा माध्यम पदता है, अन्वितरहित मूर्त पदप को
 तत्र विद्यते शून्य बाधत पदता है नीर र्हित श्रे ती तत्र अकार श्रे शून्यता दिङ्म
 पदता है ॥ १२१ ॥

अपरस्य—द्विज-प्राग्भारणाऽपि द्विज-धमभरं स्पृतम् ।

अस्पृशकोटोम धरणं द्विज-धमतिबुन्धम् ॥ १२२ ॥

अ०—वचनश्लोकाः । आ०—द्विजस्य = वचसुत्यात्वात् वाग्नि अरथात्
 कृत्येण वा, (एवमन्ते ये वचसी) द्विजस्यमपेयम मरणात्तन्नेत्येवार्थः । द्विजस्य
 द्विजता, अवरं = अवरं अवरं हीमं कश्चिद्, स्पृतं = पमितम् (अन्ते) द्विज-
 स्यमरणादीर्घान्ते अरथं-विक्रमं तु अस्पृशकोटोम = अस्पृशकोटी नक्षत्रा कश्चि तेष
 मकटीति । द्विजस्यं तु अतिबुन्धम् = अति अल्पम् बुन्धेव धातुते यत् अत् अति
 बुन्धम् अन्वीयवकश्चरमित्यर्थः ।

धा०—द्विजता नीर मरण इव शेषो मे द्विजता ही अति हीम वस्तु है लोकि
 मरण का ती श्रेता ता ही बुन्ध हीम है, द्विजस्य तो नीरस्य पर बुन्ध देता है-॥ १२१ ॥

अन्वय—सानीन्द्रियाभ्यविक्रमाणि तत्रैव नाम

स्य बुद्धिरप्रतिहता वचनं तत्रैव ।

अर्षोऽप्यथा विरहिता पुत्रवाः स पञ्च

अन्वयः इत्येन मकटीति विचित्रमेतत् ॥ १२३ ॥

अ०—तामि अदिककामि इन्द्रियाणि तदैव नाम का अप्रतिहता बुद्धिः, तदैव
 वचनम्, स पञ्च पुत्रवाः अर्षोऽप्यथा विरहिता वचनं अन्वयः मकटीति वृत्तद्विचित्रम् ।

आ०—इत्यादीयस्येति अर्थद्वयार्थम् । ताभिः अन्वयवद्वाचां पुत्रवत्त्वं नामि
 अन्ति तान्नेत्येवार्थः । अदिककामि-विक्रमाणि कल्पवन्विरास्यसहितार्थि न अन्ति
 इत्यदिककामि इन्द्रियाणि-अन्वयादीनि अन्ति । तदैव-नाम वचनवद्वारवत्त्वं तदैव
 नाम तदैव नाम अस्तीति । अन्वयवद्वाचां वाचसी बुद्धिः अन्वयि सा वाचसी
 वृत्त अप्रतिहता तीपना बुद्धिः अति अस्तीति । तदैव = वचनवत्त्वात् वचनमाशीत्
 तदैव वाचकमेव, वचनं-वाक् अस्ति । स पञ्च-वचनवद्वाचां द्विजस्यवत्त्वम् इत्य
 वृत्त अन्वयः पुत्रवा अस्ति । तवाग्नि अर्षोऽप्यथा-अर्थस्य इत्यन्वयः अन्वयः अर्थेव
 विरहिता = सुत्याः अत् वचनं = वचनमात्रसमयेव अन्वयः = अन्वयः अति विरहेण
 मकटीति वृत्त परं विचित्रं = विरमवकरं शोभ्यम् ।

भा०—धनावस्था में पुरुष की जो सतेज इन्द्रियाँ थीं, वे ही इन्द्रियाँ, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि, वही वाणी और वही पुरुष है, लेकिन धन की गरमी उतर जाने से क्षणमात्र में वह निस्तेज हो जाता है ॥ १२३ ॥

पतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं—‘ममाऽभावस्थानमयुक्तमिदानीम्’ ।

भा०—इस प्रकार चूडाकण का सब कथन सुन कर मैंने सोचा कि इस दारद्रावस्था में मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है ।

तथा चोक्तम्—अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थं यत्ने च पौरुषे ।

मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत् कुतः सुखम् ॥ १२४ ॥

भा०—दैवे अत्यन्तविमुखे, पौरुषे यत्ने च व्यर्थं, मनस्विनः दरिद्रस्य वनात् अन्यत् कुतः सुखम् । व्या०—दैवे = विष्टे अत्यन्तविमुखे (सति) = अत्यन्त विपरीते सति, पौरुषे = पुरुषस्य अथ पौरुषः तस्मिन् पुरुषसम्बन्धिनि, यत्ने = प्रयत्ने च, व्यर्थं = विफले सति । मनस्विनः = अभिमानधनस्य सगर्वस्य, दरिद्रस्य = धनशून्यस्य जनस्य, वनात् अन्यत् = धनमन्तरेण, कुतः = कस्मात् श्यानात्, सुखं भवति ? कस्मादपि नेत्यर्थः ।

भा०—माग्य के अत्यन्त विपरीत होने पर और पुरुष-प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर धनशून्य मनस्वी पुरुष को अरण्य से अतिरिक्त स्थान में कहीं भी सुख नहीं है ॥ १२४ ॥

अन्यच्च—मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।

अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम् ॥ १२५ ॥

भा०—मनस्वी काम म्रियते, तु कार्पण्यं न गच्छति, अनलः निर्वाणम् अपि आयाति, शीततां न याति । व्या०—मनस्वी = तेजस्वी अभिमानी जन काम = यथेष्टम्, म्रियते = प्राणान् विजहाति, तु = किन्तु, कार्पण्यं = दीनताम्, न गच्छति = न अङ्गीकरोति । यथा अनलः = अग्नि, (जलेन) निर्वाण = विध्वंसम्, अपि कामम् आयाति = प्राप्नोति, किन्तु, शीतताम् = अनुष्णतां तु, न याति = न स्वीकरोति ।

भा०—तेजस्वी पुरुष मरण को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन दीनता की इच्छा नहीं करते हैं । क्योंकि अग्नि जल से नष्ट तक हो जाता है, किन्तु शीतता को कभी ग्रहण नहीं करता ॥ १२५ ॥

किञ्च—कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।

सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्यंत घनेऽथवा ॥ १२६ ॥

भा०—मनस्विनः कुसुमस्तवकस्येव द्वे तु वृत्ती, सर्वेषां मूर्ध्नि तिष्ठेद् वा, अथवा घने विशीर्यंत । व्या०—मनस्विनः = तेजस्विनः जनस्य, कुसुमस्तवकस्य द्वे = कुस-

निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्वुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निघनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १२९ ॥

अ०—यथावद्बोध्य । व्या०—जन इति अस्याहार्यम् । दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्,
हियमेति=लज्जाम् आप्नोतीत्यर्थं । हीपरिगतः=हिया परिगत लज्जाव्याप्त,
जन, सत्त्वात्=पराक्रमात्, परिभ्रश्यते=परिहीयते, निस्सर्व पराक्रमशून्य
जन, परिभूयते=पराभवमाप्नोति, पराभवात्=तिरस्कारात्, निर्वेदं=स्वस्य चिक्का-
रम्, आपद्यते=अनुभवति, निर्विण्ण =चेखिद्यमान, शुच=शोकम्, एति=
प्राप्नोति, शोकपिहित =शोकेन पिहितः आकृत, बुद्ध्या परित्यज्यते = तस्य बुद्धि-
र्नश्यति, ह्यर्थः । निर्वुद्धि =बुद्धिहीन, क्षयं=नाशम्, एति, इति अहो ! आश्च-
र्यम् । निघनता =दरिद्रता, सर्वापदां =यावतां दुःखानाम्, आस्पद = स्थान कारणं
भवतीत्यर्थं । (शादूलविक्रीडित वृत्तम्) ।

भा०—दरिद्रता के कारण लज्जा आती है, लज्जा के मारे पराक्रमी कार्य नहीं कर
सकते, अपराक्रमी का परामव होता है, परामव से दुःख होता है, उसको शोक रहता है,
शोक से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धिहीन का नाश होता है, अहो ! दरिद्रता सभी
आपत्तियों का स्थान है ॥ १२९ ॥

किञ्च—वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं

वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राऽभिगमनम् ।

वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-

वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम् ॥१३०॥

अ०—मौन कार्यम् इत्यपि वर, यत् अनृत वचनमुक्तं न च (तत् वरं), पुंसां
क्लैब्यं वर परकलत्राऽभिगमनं च न (वरं), प्राणत्यागः वरं, पिशुनवाक्येषु अभि-
रुचिश्च न (वरं), भिक्षाशित्वं वरं, परधनाऽस्वादनसुखं च न (वरम्) । व्या०—
मौन-अभाषणम्, वर=मनाक् प्रियम्, श्रेष्ठमित्यर्थं । किन्तु—यत् अनृतम्=असत्यं
वचनं=वाक्यम्, उक्तं=कथितं भवति तत्र च वरमिति । एवम् पुंसां=पुरुषाणाम्,
क्लैब्यं=नपुंसकत्वम्, वर=मनाक्प्रियम्, किन्तु—परकलत्राऽभिगमनं=कलत्र स्त्री
तदभिगमनं तत्सम्भोगं न च वरमिति । एवम्, प्राणत्यागः =प्राणानां जीवनस्य
त्याग विनाश, वर=मनाक्प्रियः, किन्तु =पिशुनवाक्येषु =स्रलोक्तिषु, अभिरुचिः=
अभिलाषः, न च वरम्, एव भिक्षाशित्वं =भिक्षामोक्षित्वम्, वरम्, किन्तु परधना
स्वादनसुखम् =परस्य धनं द्रव्यं तस्य आस्वादनम् उपभोगं तदात्मकं च सुखं
तत्र वरं (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा०—मौन रहना उच्यते किन्तु असत्य बोलना अच्छा नहीं, नपुंसक होना

नञ्छा है किन्तु पराधी-नमन नञ्छा नहीं, मरणा नञ्छा है किन्तु कर्त्तव्य नञ्छा परी
 विद्या काया नञ्छा है पर पराध काया नञ्छा नहीं ॥ ११ ॥

वरं शून्या शय्या न च खलु वरो दुष्टवृत्तमो

वरं घेस्या पत्नी न पुनरविनीता कुम्भवधूः ।

वरं वासोऽरण्ये न पुनरविशेषाऽधिपपुरे

वरं प्राणस्यागो न पुनरधमानामुपयमः ॥ १११ ॥

अ — शून्या शय्या वरम् । दुष्टा वृत्तम् न च वराः कस्तु । घेस्या पत्नी वरम्
 पुनः अविनीता कुम्भवधूः च । अरण्ये वासः वरम् । पुनः अविशेषाऽधिपपुरी च ।
 प्राणस्यागो वरम्, पुनः अधमानामुपयमो च वरम् । अथा— शून्या = अवाहिरक्षिता,
 शय्या = गोशय्य अथि वरं = श्रेष्ठम् । दुष्टवृत्तम् = दुष्टवृत्तम् । वराः = श्रेष्ठः,
 न च खलु भवतीति । घेस्या = गमिका, यद्योन्वेव स्वीकृता पत्नी वरम् पुनः =
 किन्तु अविनीता = अविनीता अनुकूलानामविनिता इत्यविनीता फलशुभानामा-
 रक्षिता, कुम्भवधूः = कुम्भवधूः, च वरम् । अरण्ये = निर्जनस्थाने वासः = अरणी वरम्,
 पुनः = किन्तु अविशेषाऽधिपपुरे = वासि विशेष विज्ञान परम् अथ अविशेषः तादृश
 अधिपः राजा तस्य च वरं पुरं नमरं तस्मिन् वासो न वरमिति । प्राणस्यागो =
 मरणम्, वरम् पुनः = किन्तु, अधमाना = दुष्टानां कल्याणम्, अधमानो च वरमिति ।
 (विचारिणीवृत्तम्) ।

भा — शय्याया का शून्य रथा कल्प है किन्तु वरने दुष्ट है न च रथा कल्प
 नहीं । घेस्या को पत्नी वराना नञ्छा है किन्तु पुनः कुम्भवधू नञ्छा नहीं । अरण्यवात
 नञ्छा है किन्तु अविशेष राजा के वरत ये रथा कल्प नहीं । वरना नञ्छा है किन्तु
 नमन वरों का मरणम् नञ्छा नहीं ॥ १११ ॥

अथि च—शेषेण मानमिक्षिर्णं ज्योत्स्नेव तमो जरेण कावचयम् ।

हरिहरकयेव दुरितं शुभशातमप्यर्पिता हरति ॥ ११२ ॥

अ — शेषा अक्षिर्णं मानम् इव ज्योत्स्ना तम इव वरा कल्पन्वम् इव हरि-
 हरकया दुरितम् इव अर्पिता शुभशातमपि हरति । अथा— शेषा = शेषः, अक्षिर्णं =
 समस्तम्, मानमिक्षिर्णं = शेषा हरति । ज्योत्स्ना = कौमुदी तम इव = अल्प-
 वया हरति । वरा = वाचयम् कावचमिव = शीघ्रवाहितं वया हरति । हरि
 हरकया = हरिः किन्तु हरः अहरा वयोः कया शुभाशुभात्, दुरितमिव =
 वया दुरितं पातकं हरति तथा अर्पिता = अर्पनादृष्टिपि शुभशातमपि = शुभावा
 क्तमपि हरति ।

अथा—शेषा (शीघ्र) शैव शीघ्र च वाच वरती है, कल्प है नञ्छा का

नाश करता है, वृद्धावस्था जैसे सौन्दर्य का नाश करती है, हरि हर कथा जैसे पापों का नाश करती है, वैसे ही याचनावृत्ति सैकड़ों गुणों का नाश कर देती है ॥ १३२ ॥

तत् किमह परपिण्डेन आत्मानं पोषयामि ? कष्टं भोः । तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् ।

भा०—तब फिर क्या मैं पराश्र से शरीर का पोषण करूँ? वह भी बड़ा कष्ट है, क्योंकि पराश्र भोजन भी एक यमालय जाने का स्वतन्त्र कारण है ।

अन्यच्च—रोगी चिरप्रवासी पराश्रभोज परावसथशायी ।

यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ॥ १३३ ॥

अ०—यथावद्बोध्य । न्या०—रोगी = दीर्घव्याधिग्रस्त, चिरप्रवासी = चिर प्रवसति दूरदेशे वास करोति, अथवा चिर प्रवसति प्रवासगमन करोतीति । तादृश जन, पराश्रभोजी = परस्य अन्नमुहके इति, पराश्राद्, परावसथशायी = परस्य आवासनिवासभवन तस्मिन् शेषे इति परगृहशयनशील दूर्यर्थ । तादृश जन यत् किमपि जीवति, तत् जीवन = मरणमेव मरणसमानमित्यर्थः । यच्च तस्य मरणं स च, अस्य = तादृशस्य जनस्य विश्राम शान्तिरिति । (आर्यावृत्तम्) ।

भा०—रोगी, बहुतकाल परदेशवासी, पराश्रभोजी, परगृहनिवासी, इन चारों का जीवन मरणतुल्य है और मरण विश्राम के तुल्य है ॥ १३३ ॥

इत्यालोच्याऽपि लोभात् पुनरपि तदीयमन्नं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

भा०—ऐसा सोचते हुए भी लोभ से पुन उस सन्ध्याती के अन्न को खाने का (ग्रह = हठ) विचार मैंने किया ।

तथा चोक्त—लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।

तृषार्तां दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानव ॥ १३४ ॥

अ०—लोभेन बुद्धि चलति, लोभ तृषां जनयते, तृषार्तं मानव परत्र इह च दुःखमाप्नोति । न्या०—लोभेन = घनलिप्सया, बुद्धि, चलति = विचलिता भवतीति, लोभः = धनलोभ, तृषाम् = उत्कटेच्छाम्, जनयते = उत्पादयति, तृषार्तं = तृषया श्रुत तृषार्तः घनतृष्णापीडित, मानव = मनो अपत्यपुमान् मानव जन, परत्र = परस्मिन् लोके, इह च = अस्मिन् लोके च, दुःखं = विविध कष्टम् आप्नोतीति ।

भा०—लोभ से बुद्धि चलायमान होती है, लोभ से धनकी उत्कटेच्छा होती है, धनेच्छावान् मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में बड़ा दुःख पाता है ॥ १३४ ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाऽचिन्तयम्—'लुब्धो ह्यसन्तुष्टो नियतम् आत्मद्रोही भवति' ।

श्लो०—तस्याः तद्वत्प्रकारेण देव = श्रीमन्नर्चनेन संस्थापित्या, अर्चनेन संस्थापयेत्यत्र अर्चनेनाः वा अर्चयन्त्यस्त्वन्तव तादृशिता = सादृश्यता, मन्त्रं मन्त्रं = उच्यते अर्चने उपलक्ष्यं = उपलक्ष्यन् अर्चयन् अर्चयित्वात् = विचारं कृतवान्-कृत्या = इत्यर्थोक्त्या, अस्तस्युक्तः = अस्तस्य उक्त्या, अथा, विवर्त = विवर्तयत्यस्य ज्ञान्यजोष्टी = अतएव त्रुण-तृणिति ज्ञान्यजोष्टी स्वप्रविष्टकारि मन्त्रतीति ।

श्लो०—उतथै वास यत्र श्रीमन्नर्चनेनास्य संस्थापिता इति धर्मं वक्ष्यन्ते ये तावन् क्रिया इत्यादि शीरे-शीरे पत्रे-पत्रे सौम्ये ज्ञान्य क्रि—ज्योतीं चौर ज्ञान्योऽपि दोषा विस्तारैश्च ज्ञान्योऽपि कथमा ई ।

तथा च—अस्तस्युक्त्योः अस्तस्युक्त्याऽभिपठारमाऽभितेन्द्रियाः ।

सर्वा यथापहस्तस्य यस्य सुर्वं न मानसम् ॥ १३५ ॥

न—अथ मानसं च सुर्वं, (तादृशो वा) अस्तस्युक्त्या, अस्तस्युक्त्या, अभिव्यक्त्या अभितेन्द्रिया, तस्य सर्वा यथापहसा (मन्त्रिता) । श्लो०—अथ यथापहसा यथापहसा-अस्तस्युक्त्या य सुर्वं = अस्तस्युक्त्या मन्त्रिता, तादृशो वा, अस्तस्युक्त्या = अर्थोक्त्या, अस्तस्युक्त्या = अस्तस्युक्त्या, अभिव्यक्त्या = अस्ति विवर्तयत्यस्य ज्ञान्योऽपि स्वभावो यस्य वा, संभवहीना इत्यर्थः । अभितेन्द्रियाः = य जिताभि विपुष्ट्याभि इन्द्रियाभि देव इ, अथैन्द्रियाः, इत्येतादृशस्य तस्य = अथस्य सर्वा यथापहसात्ता एव आपहसा = विव्यक्त्या, अस्तस्युक्त्या ।

श्लो०—अस्तस्य मनस्युक्त्योः सर्वो देवाः श्रीमन्नर्चनेनाः संस्थापिता चौर ज्ञान्योऽपि मन्त्रे ई कथमो ज्ञानो आपहसिता ज्ञानो ई ॥ १३५-४

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सम्पत्तयस्य यस्य मानसम् ।

तथापहस्युक्त्यापहस्यं ननु चर्मापहस्यं भू ॥ १३६ ॥

न—अथ मानसं अस्तस्य सर्वाः सम्पत्तया, अस्तस्युक्त्यापहस्यं तस्य चर्मापहसा इति । श्लो०—अथस्य = अथस्य मानसं = अस्तस्युक्त्या, अस्तस्युक्त्या-अर्थोक्त्या मन्त्रिता तस्य = अथस्य सर्वाः = अर्थोक्त्या, अस्तस्युक्त्या = अस्तस्युक्त्या, अस्तस्युक्त्या । तत्र अस्तस्युक्त्या—अस्तस्युक्त्या । अस्तस्युक्त्यापहस्यं तस्य गूढौ आपहसा वाही अथो अथ इति तस्य अथस्य भू = अस्तस्युक्त्या चर्मापहसा इत्यर्थोक्त्या अस्तस्युक्त्या अस्तस्युक्त्या इति मन्त्रिता इति मन्त्रिता इति । अस्त इति अस्तस्युक्त्यापहस्यं ।

श्लो०—अस्तस्य मनस्युक्त्योः सर्वो देवाः श्रीमन्नर्चनेनाः संस्थापिता चौर ज्ञान्योऽपि मन्त्रे ई कथमो ज्ञानो आपहसिता ज्ञानो ई ॥ १३६

अथस्य—अस्तस्युक्त्यापहस्यं यत् सुर्वं इत्यर्थोक्त्यापहस्यं ।

कुतस्तस्युक्त्यापहस्यं यथापहस्यं ॥ १३७ ॥

अ०—सन्तोषामृतवृष्टानां शान्तचेतसां यत् सुखं तत् धनलुब्धानाम् इतश्च इतश्च धावतां कुतः ? व्या०—सन्तोषामृतवृष्टानां = सन्तोषं वृष्णाऽऽभावः स एव अमृतं तेन वृष्टानां वृष्टिमताम्, शान्तचेतसाम् = शान्तं चोभरहितं चेतः मनो येषां न्ते तेषां स्थिरान्तःकरणानां जनानां, यत् = पारशं सुखं भवति । तत् = तादृशं सुखम्, धनलुब्धानाम् = धने द्रव्ये लुब्धा लोलुपाः सेपाम्, इतश्च इतश्च धावतां = समन्तात् प्रवेशान्तरे परिभ्रमतां जनानाम्, कुतः = कस्माद्देतो. स्यादिति ।

भा०—सन्तोषरूप अमृत से वृत्त शान्तचित्तवाले जनों को जो सुख मिलता है, वह सुख धन के लोभी हथर ठपर दीइनेवाले को कहीं से मिले ॥ १३७ ॥

किञ्च—तेनाऽऽचीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।

येनाऽऽशा पृष्ठत. कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १३८ ॥

अ०—येन आशा पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यम अवलम्बितम्, तेन सर्वम् अधीतम्, तेन सर्वं श्रुतम्, तेन सर्वम् अनुष्ठितम् । व्या०—येन = पुरुषेण, आशा = विविधा-स्तृष्णा, पृष्ठत = पश्चात्, कृत्वा विहायेत्यर्थः । नैराश्यम् = आशाशून्यत्वम्, अवलम्बितम् = आश्रितम्, तेन = पुरुषेण, सर्वम् अधीतम् = सर्ववेदादिक पठितम्, तेन सर्वं श्रुतम् = नीतिशास्त्रादिकमाकर्णितम् । तेन च सर्वम् अनुष्ठितम् = तपश्चरणा-दिकमाचरितमिति ।

भा०—निसने आशाओं को पीछे रखकर निराशा का अवलम्बन किया है उसने सब पढ़ लिया, सब श्रवण कर लिया तथा सब अनुष्ठान भी कर लिया ॥ १३८ ॥

अपि च—असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।

अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १३९ ॥

अ०—असेवितेश्वरद्वारम् अदृष्टविरहव्यथम् अनुक्तक्लीबवचनं कस्यापि जीवनं धन्यम् । व्या०—असेवितेश्वरद्वारम् = न सेवितम् अनाश्रितम् ईश्वरस्य धनवजनस्य द्वारं गृहाऽङ्गणं यस्मिन् तत्, धनिकाऽधीनतानपेक्षमित्यर्थः । अदृष्टविरहव्यथम् = न दृष्टा विरहस्य दृष्टजनवियोगस्य व्यथा कष्टं यस्मिन् तत्, दृष्टवियोगजद्दुःखानुभवरहितमित्यर्थः । अनुक्तक्लीबवचनम् = न उक्तं क्लीबस्य दीनतायाः वचनं यस्मिन् तत् 'मां रक्ष' इति वचनाऽवसराऽप्राप्तमित्यर्थः । एतादृशं जीवनं तु कस्यापि जनस्य धन्यमिति प्रशस्यतरं भवतीति ।

भा०—जिसको अपने जीवन में धनी के घर नहीं जाना पड़ा है और न तो स्वन्नो के विरह का दुःख देखना पड़ा है तथा 'मैं असहाय हूँ, मेरा रक्षण करो' ऐसा दीन वचन नहीं बोलना पड़ा है ऐसे पुरुष का जीवन धन्य है ॥ १३९ ॥

यत्—न योजनशतं दूरं बाह्यमानस्य तृष्णया ।

सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थं भवति नादर. ॥ १४० ॥

न०—दुष्कृता वाङ्मयावस्थ चोद्यमवर्तं दूरं च समुद्रस्य कण्ठोऽपि अर्थे आहारा
 च भवति । अथा०—दुष्कृता = दुष्कृतार्था, वाङ्मयावस्थ = वाङ्मयावस्थानस्य अवस्थ
 चोद्यमवर्तमपि = चोद्यमानोद्यमपि अतश्चोद्यमदूरप्रदेशोऽपि अर्थवर्षः । च दूरं अस्मि-
 क्कण्ठे न मातीति । अथ च समुद्रस्य = समुद्रस्य अवस्थ तु, कण्ठोऽपि = कठौ
 वाङ्मयावस्थानस्य चोद्यमवर्तं अर्थवर्षः । अर्थे = दुष्कृतावस्थानस्य चोद्यमवर्तं,
 आहारा = आहारा च भवति ।

अथा०—दुष्कृते से नार्तं ननुप्य हो चोद्यम चो मो दूर वही मानके है और कण्ठो
 ननुप्य चो हाव में माह दूषे मो चोद्यम में आहर वही होता H १४ ।

तत्र च अथस्थोऽपि तत्रार्थपरिच्छेदाः शेषान् ।

अथा०—इत्यपि ननु भवतीति किं ननुप्य अर्थं करके च निर्णय करवा हो
 भवति है ।

अथे धर्मो ? भूतदया किं सौकर्यं ? मित्यमरोगिता जगति ।

का स्नेहा ? सज्जाया किं पाण्डित्यं ? परिच्छेदाः ॥ १४१ ॥

न — अयति का धर्मः भूतदया, किं सौकर्यं मित्यमरोगिता का स्नेहा, सज्जाया,
 किं पाण्डित्यं परिच्छेदाः । अथा — अयति धर्मसो का धर्मः धर्मस्य किं स्वकथं ?
 (इति प्रश्नः) (उत्तरम्)—भूतदयेति भूतदया = भूतानां प्राणिवान् अयति दया
 कथना का धर्मः भवतीति । किं सौकर्यं = सुकृत्यं किं स्वकथं ? (इति प्रश्नः)
 मित्यं = धर्मोऽपि, अरोगिता = भीरोगिता सुखम् (इत्युत्तरम्) । का स्नेहा = स्नेहा
 किं स्वकथं ? (इति प्रश्नः) सज्जाया = सज्जामो भावाः, अर्थोऽपि सुखदुःखसम-
 मान् एव स्नेहा (इत्युत्तरम्) । किं पाण्डित्यं = पाण्डित्यस्य किं स्वकथं ? (इति प्रश्नः)
 परिच्छेदाः = कर्तव्याः अर्थवर्तव्यं च पाण्डित्यमित्युत्तरम् । (आर्थावृत्तम्)

अथा०—अयति मे धर्मं न्या दत्तु है । प्राणि-मान कर दवा करवा धर्म है । एक का
 न्या स्वकथ है । एवा भीरोगी रहवा हो एक है । स्नेह का न्या स्वकथ है । सज्जामो
 हो स्नेह है । पाण्डित्य किच्छेदो करके है । कर्तव्याऽर्थव्यं का निर्णय करवा हो
 पाण्डित्य है ॥ १४१ ॥

एवा च—परिच्छेदा हि पाण्डित्यं यदापद्य विपत्तयः ।

अपरिच्छेदाकृत्यं विपद् स्तुः पदे पदे ॥ १४२ ॥

न०—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं (भवति) विपत्तयः यदापद्य अपरिच्छेदाकृत्यं वा
 विपदा पदे पदे स्तुः अथा०—परिच्छेदो हि = कर्तव्याऽर्थवर्तव्यं च पाण्डित्य-
 मिति भवति अतः विपत्तयः अविपदोऽपि यदापद्याऽन्वयस्याप्यपि पाण्डित्यात् आपद्याः,
 वापद्याः, विपदा इत्यर्थः । भवतीति शेषः । अपरिच्छेदाकृत्यं वाच्यं = परिच्छेदस्य
 विपत्तयः कर्तव्याः परिच्छेदाः कर्तव्याः हे च भवतीति अपरिच्छेदाकर्तव्यं अपरि-

स्वेदकृतृणाम्, मिश्रयरहितानामित्यर्थः । विषयः=आपत्तयः, एते एते=कार्ये कार्ये भवन्तीति ।

भा०—पाण्डित्य को ही परिच्छेद कहते हैं, क्योंकि विपत्तियों का अन्त पाण्डित्य से होता है । परिच्छेद (कर्तव्याकर्तव्यविचार) नहीं करने वाले को आपत्तियों क्षण क्षण में आती रहती हैं ॥ १४२ ॥

तथा हि—त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत् ॥ १४३ ॥

अ०—कुलस्यार्थं एकं त्यजेत्, ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत्, जनपदस्यार्थं ग्रामं (त्यजेत्) आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत् । व्या०—कुलस्यार्थं=कुलस्य अर्थे कुलमर्थादाया रक्षणार्थम्, एकं=कमपि आत्मीय पुत्रद्वारादिकम्, त्यजेत्=परिहरेत् । ग्रामस्यार्थं=ग्रामस्य अर्थे स्वग्रामजनानाम् उपकाररक्षणार्थं तु, कुलं=कुटुम्बादिकम् त्यजेत्=परिहरेत्, जनपदस्यार्थं=जनपदस्य देशस्य अर्थे उपकाररक्षणार्थं च ग्रामं स्वजन्मभूमिम् त्यजेत्=परिहरेत्, आत्मार्थं=निजहितार्थं तु, प्रतिकूलं पृथिवीमपि=जनपदारिभकां भूमिमपि, त्यजेदिति ।

भा०—कुल की मर्णादा के रक्षण के लिये घर के एक व्यक्ति का त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये और ग्राम की रक्षा के लिये कुलत्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये । देश की रक्षा के लिये ग्रामत्याग करना पड़े तो वह भी करना और देश का भी त्याग करने से आत्मरक्षा होती हो तो देश भी त्याग देना चाहिये ॥ १४३ ॥

अपर च—पानीयं वा निरायासं स्वादुञ्च वा भयोत्तरम् ।

विचार्य्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ॥१४४॥

अ०—निरायास पानीयं वा, भयोत्तर स्वादु अन्न वा, विचार्य्य, खलु, यत्र निर्वृतिः तत् सुखम् इति पश्यामि । व्या०—निरायासम्=नि नास्ति आयासः प्रयास यस्मिन् तत् पानीयं=जलं वा, भयोत्तरं=भय भीति उत्तरमुत्तरकाले यस्य तत्, भीतिसङ्कलमिष्यथ । स्वादु=सुमिष्टम्, अन्न भोजन वा, एतयोर्मध्ये विचार्य्यं=सुचिन्त्य, खलु यत्र निर्वृतिः=यत्रानन्द निश्चयेन भवति, तत्सुखं=सुखकरमिति, पश्यामि=निर्धारयामीति ।

भा०—बिना प्रयास से मिला हुआ जल, और पीछे से विकार-प्रयुक्त दुःख का भय कराने वाला मिष्टान्न भोजन, इन दोनों में विचार करके जिससे शान्ति होती है वही सुखकर है—ऐसा निर्धारण करता हूँ ॥ १४४ ॥

इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः ।

ऐसा विचारकर मैं निर्जन वन में आया हूँ ।

८ हि० मि०

कथा—वर्षं वनं व्याज्यमश्विनोऽसेवितं शुभाश्रया पञ्चशुभान्मुमह्वयम् ।
 तुष्यामि शय्या वसतं च वस्तुत्वं न कल्पुमन्वे चमहीमजीवन्म् ॥

भा०—(वच) शुभाश्रया पञ्चशुभान्मुमह्वयं तुष्यामि शय्या वसतं च वस्तुत्वं
 (तादृशं) व्याज्यमश्विनोऽसेवितं वनं वरश्च तु कल्पुमन्वे चमहीमजीवन्म् च (वरश्च) ।

व्या०—(तत्र वसे) शुभाश्रयाऽशुभा वृद्ध वृष आश्रया गृहकपो भवति । पञ्च-
 शुभान्मुमह्वयन्वराशि इतिपत्राणि कर्मणि अङ्कुरिमपत्वादीनि कल्पुमि कल्पयि च
 तेषां कर्मणं मोक्षणं फलं च भवति । तुष्यामि शय्याऽश्विनोऽसेवितं भवति । वसतं
 च = वस्तुत्वं, वस्तुत्वं = वृष्टावत् भवति । तादृशं व्याज्यमश्विनोऽसेवितं व्याज्यं चमे-
 न्द्राय तौ सेवितं सङ्कुलं बहुवच्यं वरश्च तदेव वरश्च = मेवस्वरमिति मन्वे । विन्दु-
 वस्तुमन्वेऽश्विनोऽसेवितं इत्यन्विषयवाचां मन्वे चमहीमजीवन्म् = मन्वे चमहीम जीवन्म् इति मन्वे
 वत् जीवन्म् तत्र वर्षं भवतीति मन्वे । (वंशस्वमित्थं वृष्टय) ।

व्या०—विद्य वनं नै वृद्ध ही वर ई वन कश्च च जीवन् तथा मदी च वर जीवा ई
 वत् चो वन्वा ई वस्तुत्वं के वस्तु ई शैते व्याज्य-मन्वे तै सेवित वन मी वृष्टा मन्वे ई
 विन्दु वस्तुत्वं के जीव मी मन्वे चमहीम जीवन् मन्वे मन्वे ई २ २ ५ ४

तथा अस्मत्पुण्योद्घातनेन मिथेप्याहं कोहाशुवृत्त्याऽनुपृष्टीतिः ।
 अनुपृष्टा च पुण्यपरम्परया मन्वाश्रया स्वर्गं पदं मया प्राप्तं ।

व्या०—तत्र मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं अस्मत्पुण्योद्घातनेन मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं पुण्यस्व पुण्य-
 तद्विषयसङ्कुलस्य वृद्धा परिवाका तस्मात् अनेन मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं मिथेप्याहं कोहाशुवृत्त्याऽनुपृष्टीतिः
 मन्वा मन्वे वृष्टा, कोहाशुवृत्त्या = कोहाश्विनोऽसेवितं अनुपृष्टीतिः तथा वस्तुत्वं जीवन्-
 जीवन्मन्वे । अनुपृष्टीतिः = मन्वा वृष्टाया वृष्टा । अनुपृष्टा च = वृष्टाया च, पुण्यपरम्परया
 पुण्यस्व मन्वाश्रया परम्परा पद्धितया पुण्योद्घातनेन मन्वा । मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं = मन्वा
 पुण्यस्व मन्वाश्रया मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं वरश्च = वरश्चोद्घातनेन, मन्वा प्राप्तं = मन्वा इति ।

व्या०—वच मे वानि च वर वरान् पुण्योद्घातनेन त वत् विषय मन्वे के कोहाश्रया तै
 वृष्टाया अनुपृष्टीतिः मन्वा । मन्वा मन्वे को पुण्योद्घातने तै मन्वा (वरश्च) च मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं
 ही मन्वे मन्वा ।

अथ—संसारविषयवृत्तस्य द्वे पदं रसवत्प्रज्ञे ।

काम्यममृततरसात्वाद् सङ्गमा सञ्जनैः सह ॥ १४६ ॥

भा०—संसारविषयवृत्तस्य काम्यममृततरसात्वाद्, सञ्जनैः सह सङ्गम (इति) द्वे पदं
 रसवत्प्रज्ञे । व्या०—संसारविषयवृत्तस्य विषयवृत्तं विषयवृत्तं, संसार वृष विष-
 यवृत्तं तस्य काम्यममृततरसात्वाद् = काम्यं च अमृतमित्य इति काम्यममृतं तस्य
 मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं मन्वाश्रयाऽश्विनोऽसेवितं सङ्गमा सञ्जनैः सह सङ्गम तै, सह सङ्गम

सदा समागम इत्यर्थः । इत्येव द्वे एव, रसवत्फले-रसाः सन्ति अनयो इति रसवती, रसवती च ते फले च भवत इति ।

भा०—ससार रूप विषवृक्ष के काव्यरूप अमृत का रसास्वादन और सत्पुरुष का समागम ये दो ही मधुर रसवाले फल हैं ॥ १४६ ॥

अपरश्च—सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् ।

असारे खलु ससारे श्रीणि साराणि भावयेत् ॥ १४७ ॥

भा०—असारे खलु ससारे सत्सङ्गः, केशवे भक्तिः, गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् इति श्रीणि साराणि भावयेत् । व्या०—असारे = सारशून्ये तुरुद्धे, संसारे = जगत्क्रे, सत्सङ्गः = सतां साधुजनानां सङ्गः समागम, केशवे = परमेश्वरे, भक्ति = प्रेमातिशय, गङ्गाऽम्भसि = गङ्गाया अम्भः जल तस्मिन्, निमज्जनं = स्नानम्, इत्येतानि श्रीणि साराणि = स्थिरफलानि सन्वीति, भावयेत् = चिन्तयेत् ।

भा०—असार ससार में सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति, गङ्गास्नान, ये तीन ही सार हैं, उनका सेवन करना चाहिये ॥ १४७ ॥

मन्थर उवाच—

३ अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-

आयुष्यं जलविन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम् ।

धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं

पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १४८ ॥

भा०—(जगति) अर्थाः पादरजोपमाः, यौवन गिरिनदीवेगोपमम्, आयुष्यं जलविन्दुलोलचपलं, जीवन फेनोपमं य निश्चलमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं धर्मं न करोति, स जरापरिणतः पश्चात्तापहतः शोकाग्निना दह्यते । व्या०—(जगति) अर्थाः = द्रव्याणि पादरजोपमा = पादस्य चरणतलस्य रजः धूलि उपमा चणविधो-गित्वेन उपमानं येषान्ते तादृशा भवन्ति । यौवन = तारुण्यम्, गिरिनदीवेगोपमं = गिरे शिखरिण या नदी निक्षरिणी तस्या वेग उपमा चणस्थायित्वेन उपमानं यस्य तत् तादृशं भवतीति । आयुष्यं = मनुष्यशरीरमपि जलविन्दुलोलचपलं = जलस्य विन्दुवः कणा त इव लोलं च तत् चपलं चेति भवति, चणमङ्कुरं भवतीत्यर्थः । जीवनम् = आयुः, फेनोपमं = फेनस्य उपमा अकस्मान्नष्टस्वभावत्वेन सादृश्यं यस्य तत् तादृशं भवतीति । (एतावताऽपि) यः निश्चलमतिः = निश्चला स्थिरा मतिर्यस्य, दीर्घदर्शित्यर्थः । स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं = स्वर्गस्य य अर्गलं प्रतिबन्धं तस्य उद्घाटनं विनाशकं इत्यर्थः । तादृशं धर्मं = सुकृतं न करोति = नार्जयति । सः जरा

यत — निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।

परार्थभारवाहीव स फलेशस्यैव भाजनम् ॥ १५१ ॥

अ०—य. निजसौख्यं निरुन्धान. धनार्जनम् इच्छति, स परार्थभारवाही इव फलेशस्यैव भाजनम् । व्या०—य = जन, निजसौख्यं = निजस्य स्वमात्रस्य सौख्यं तृप्तिं शान्तिमयजीवनम्, निरुन्धान = निरुन्धन् सन् आत्मानं फलेशयित्वेत्यर्थः । धनार्जनं = धनस्य द्रव्यस्य अर्जनम् सकलनम् इच्छति = अभिलषति । स = जनः, परार्थभारवाही इव = परार्थं परनिमित्तं भारस्य काष्ठपापाणादे गुरुपदार्थस्य वाही वहनकर्ता रासभ इव यथा फलेशभाजनं भवति तथा फलेशस्य द्रव्योपार्जन-प्रयासस्य भाजनं भवति, न तु तत्फलं भुङ्क्ते ।

भा०—जो मनुष्य अपने को आराम न देकर केवल द्रव्योपार्जन ही करता है, वह मनुष्य दूसरे के लिये भार ढोने वाले गदहे की तरह केवल फलेश का ही पात्र बनता है ॥

तथा चोक्त—दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।

भवाम् किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५२ ॥

अ०—यदि दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनः (भवन्ति) तदा तेनैव धनेन वयं किं धनिनो न भवाम् ? । व्या०—यदि पक्षे दानोपभोगहीनेन = दानं च उपभोगश्च ताभ्यां हीनेन उपभोगेन च शून्येन, धनेन = विपुलेनाऽपि द्रव्येण जना धनिनो धनघन्तो भवन्ति । तदा = तस्मिन् पक्षे तेनैव धनेन = तस्य धनिनं द्रव्येणैव, वयमपि = द्रव्यशून्या वयमपि किं = कथम्, धनिनो न भवाम् ? तस्मिन् द्रव्ये दानोपभोगशून्यत्वाया द्वयोः समानत्वादिति भावः ।

भा०—अगर दान तथा उपभोग स शून्य जो द्रव्य है उससे यदि लोग धनी कहाते हैं तो हम भी उस (दूसरों के) धन से धनी क्यों न कहावें ? ॥ १५२ ॥

यत—धनेन किं ? यो न ददाति नाऽश्नुते

वलेन किं ? यश्च रिपून् न बाधते ।

श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत् .

किमात्मना ? यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १५३ ॥

अ०—य न ददाति न अश्नुते (तस्य) धनेन किम् ? । यश्च रिपून् न बाधते (तस्य) वलेन किम् ? यश्च धर्मं न आचरेत् (तस्य) श्रुतेन किम् ? । यः जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् ? । व्या०—य = धनाढ्यो जनः, न ददाति = सत्पात्रे दानं न करोति, न च अश्नुते = न स्वयं भुङ्क्ते, तस्य = धनाढ्यस्य, धनेन, किं ? = किं साधितं ? किं च फलं ?, न किमपीत्यर्थः । यश्च = बली जनः, रिपून् = शत्रून्, न बाधते = न पीडयति, तस्य बलवतः बलेनापि किम् ? बलस्य =

किं चकम् ? न किञ्चिद्विपर्ययः । चकम् = प्राञ्जाल्यवधौको जगत्, चमा = सहा
 चारादिर्न, च आचरेत्कम् वाचयेत् तस्य अधीतव्याख्यस्य जनस्य, सुतेच=आञ्जाल्य-
 वेनापि किञ्चिद्व्याख्यानस्य किं चकम्, न किञ्चिद्विपर्ययः । चकम् = जगत् विरिञ्चिचम्
 किलापि संवमितानि इतिञ्चिवापि नैव सा तादृशो न भवेत् तस्य=अनुपपन्नस्यममोऽपि
 किम् ? मोक्षद्वयवसमर्प्यस्य अनुपपन्नस्यममोऽपि किं चकम् न किञ्चिद्विपर्ययः ।

भा — जो वही न दान देता है न खाता है कतके वन का थोरे फल नहीं है जो
 वही पुत्र न पुत्र ही नष्ट नहीं देता है कतका वन निम्नक है जो पण्डितजन वर्ध नहीं
 वाकते हैं कतका साम्बित्य निम्नक है देते ही जो विरिञ्चिच नहीं है कतका थोवन ही
 निम्नक है ॥ १५३ ॥

अप्यथ—असम्मोघेन सामान्यं कृपणस्य धन परैः ।

अस्येदमिति सम्बन्धो हासौ बुद्धौ न गम्यते ॥ १५४ ॥

भा—कृपणस्य धनम् असम्मोघेन परैः सामान्यम् हासौ—‘दुःखेन अल्प इत्यम्’
 इति सम्बन्धो गम्यते । भा—कृपणस्य=अल्पवस्तुतरस्य धनम्=अल्पम् अल्पमोघेन
 उपमोघराहित्येन अनुपपन्नत्वादित्यर्थः । परैः—अनरहितैः जनैः, सामान्यं=अधमावम्
 तुल्यमित्यर्थः । परन्तु हासौ = शौरदिवा धनवापे अस्ति दुःखेन = तत्राञ्जाल्यपरम्-
 दुःखेन, ‘अल्प बुद्धितस्य कृपणस्य इत्थं इत्यम्’ इति सम्बन्धः = स्वस्वामित्यकृपण-
 गम्यते = हासते, वाचयेति ।

भा—कृपण पुत्र का वन—मोक्षरहित होने से वन त्यापी के प्रति तथा कृपापी के
 प्रति समान है केवल इत्यं का कतकाय वाक होने से विश्वो दुःख होता है कतके ही
 कतका मरिचिचन नष्ट हो जाता है ॥ १५४ ॥

अपि च—न देवाय न विनाय न वस्तुभ्यो न आत्मने ।

कृपणस्य धनं याति वद्वितस्करपार्ष्णिभैः ॥ १५५ ॥

भा—कृपणस्य धनं देवाय न विनाय न वस्तुभ्यो न, आत्मने च न याति
 (अपि तु) वद्वितस्करपार्ष्णिभैः द्विषते । भा—कृपणस्य=अल्पवस्तुस्य धनस्य धनम्
 इत्यम् देवाय न = देवसेवार्थं न याति विनाय न = विप्रसेवार्थं न याति वस्तुभ्यो
 न = वस्तुवाद् उपभोगाय च न याति किन्तु—वद्वितस्करपार्ष्णिभैः = वद्विा अग्नि
 तस्कराः शौराः पार्ष्णिभः राज्ञाः तैः द्विषते = वद्वन् शीघ्र इत्यर्थः ।

भा—कृपण पुत्र का इत्यं देवता के द्विषे, राज्ञ के द्विषे, वस्तुवर्ग के द्विषे और
 अपने धन के द्विषे उपभोग में नहीं जाता है किन्तु अग्नि, शौर वा राजा वगैरे धन
 वाता है ॥ १५५ ॥

तथा शौचं—दानं प्रियवाकसहितं ज्ञानममर्षं समाऽन्वितं शीर्षम् ।

त्यागसहितम्ब विदं दुर्धममेतच्चतुर्ममम् ॥१५६॥

अ०—प्रियवाकसहित दानम्, अगर्वं ज्ञानम्, अमाऽन्वितं शौर्यम्, त्यागसहितञ्च वित्तम्, एतच्चतुर्भद्रं दुर्लभम् । व्या०— प्रियवाकसहित= प्रिया मधुरा या वाग्वाणी तथा सहित दान सत्पात्रे वितरणम्, अगर्वं=नास्ति गर्वो यस्य तत् अगर्वम् अभिमानरहित ज्ञानं=शास्त्रजन्यदिव्यविद्या, अमाऽन्वितं=अमया तितितया अन्वित युक्तम्, शौर्यं = शूरत्वम्, त्यागसहितञ्च = त्यागः दान तेन सहितञ्च वित्त द्रव्यम्, एतच्चतुर्भद्रं = चतुर्णां भद्राणां समाहारः चतुर्भद्रं कल्याणचतुष्टयम्, दुर्लभं = दुष्प्रापम् भवतीति ।

भा०—प्रियवचन-पूर्वक दान, गर्वरहित पाण्डित्य, अमायुक्त शूरता दानयुक्त द्रव्य, ये चारो ज्ञेय-पदार्थं दुर्लभं हैं ॥ १५६ ॥

उक्तञ्च—कर्तव्यः सञ्चर्यो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चर्यः ।

पश्य सञ्चर्यशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ १५७ ॥

अ०—नित्य सञ्चर्य कर्तव्य, अतिसञ्चर्य न कर्तव्य, सञ्चर्यशीलः असौ जम्बुकः धनुषा हतः परय । व्या०—नित्य सर्वदा, सञ्चर्यः = द्रव्यसकलनम्, कर्तव्यः = विधेयः, अतिसञ्चर्य = अत्यन्तं निरवधि. सञ्चर्यस्तु न कर्तव्यः, सञ्चर्यशीलः = कार्मुकेण, हतः = नाशित इति ।

भा०—सदा सञ्चर्य करना चाहिये, लेकिन उचित का त्यागकर अतिसञ्चर्य नहीं करना चाहिये । क्योंकि अतिसञ्चर्य करने वाला यह शृगाल धनुष से मारा गया ॥ १५७ ॥

तावाहतु —‘कथमेतस ? मन्थरः कथयति—

भा०—भूषिक तथा काक दोनों बोले—‘यह जम्बुक का वृत्तान्त कैसा है ?’ तब मन्थर कहने लगा—

कथा ५

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवीमर्च्यं गतः । तत्र तेन मृग एको व्यापादितः । ततो मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । ततस्तेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेण हतः । शूकरेणाप्यागत्य प्रत्तयधनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो मुष्कदेशे हतः छिन्नद्रुम इव पपात ।

व्या०—कल्याणकटकवास्तव्य = कल्याणकटकनाम्नि देशे वास्तव्य वासकारी भैरवो नाम व्याधः = मृगयुः, आसीत् । स च व्याधः, एकदा = एकस्मिन् समये, मांसलुब्धः = मांसे लुब्धः सतृष्णा सन्, धनु = कार्मुकम्, आदाय = गृहीत्वा, मृगं =

शब्दो यस्य सः तादृशनाम्ना स्यात् इति, जम्बुकः=शृगालः, परिभ्रमन्=परिभ्रमतीति पर्यटति इति परिभ्रमन् पर्यटन् सन् । तान् शृगालं शृगश्च व्याधश्च सर्पश्च शूकरश्चेति तान्, अपश्यत् । आलोक्य=इष्ट्वा च, अचिन्तयत्=विचारं कृतवान्—अहो इति हर्षे, भाग्य=दैवम्, अद्य=अस्मिन्दिने, मे=मम, महद्भाग्यं समुपस्थितं=फलितम् ।

भा०—और उस व्याध तथा शूकर के तडफटाने से उसके पैरों से एक सॉप मर गया । उस समय आहार के लिये घूमते हुए दीवाराव नामक जम्बुक ने मरे हुये शृग, व्याध, सर्प, शूकर इन चारों को देखा । देख कर सोचा भी—ओह ! भाग्य है, आज मुझे बड़ा भोजन मिल गया है ।

अथवा—अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् ।

सुखान्यापि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १५९ ॥

भा०—यथैव देहिनाम् अचिन्तितानि दुःखानि आयान्ति, तथा सुखान्यापि (आयान्ति) इति मन्ये । अत्र दैवम् अतिरिच्यते । व्या०—यथैव=यद्वत्, देहिनां=शरीरिणाम्, अचिन्तितानि=न चिन्तितानि आकस्मिकानि, दुःखानि=आपत्तयः, आयान्ति, तथा सुखानि अपि आकस्मिकानि, आयान्ति । इति=अहं मन्ये, अत्र=अस्मिन् सुखदुःखागमने, दैव=भाग्यमेव, अतिरिच्यते=सर्वमूर्धन्यतया तिष्ठति ।

भा०—जिस प्रकार शरीरधारियों को आकस्मिक दुःख आते हैं वैसे ही आकस्मिक सुख भी आते हैं, इनमें दैव ही प्रधान है ॥ १५९ ॥

भवतु, एषां मांसैः मासत्रयं समधिकं भोजनं मे भविष्यति ।

भा०—अच्छा हुआ, इन सबके मांस से तीन महिने तक मेरा भोजन खूब चलता रहेगा ।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ शृगशूकरौ ।

अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १६० ॥

भा०—नर एक मास याति, शृगशूकरौ द्वौ मासौ, (यात्) अहि एक दिनं याति, अद्य धनुर्गुणं भक्ष्य । व्या०—नरः=व्याधशरीरमासम्, एक मासम्=एक-मास व्याप्य, याति=भक्ष्यतां गच्छति, शृगश्च शूकरश्च तौ, शृगस्य मांसं शूकरस्य च मांसम्, द्वौ मासौ=मासद्वयं व्याप्य, याति इति । अहिः=सर्पमांसम्, एकं दिनं व्याप्य, याति=भक्ष्यत्वं गच्छति, अद्य=अस्मिन्दिने तु धनुर्गुणं=धनुष-कार्मुकस्य गुणं मौर्वी चर्ममौर्वीचर्म, भक्ष्य=भक्षणीय इति ।

भा०—मनुष्य मांस एक मास चलेगा, दो मास तक शृग तथा शूकर का मांस चलेगा, एक दिन सर्प के मांस से गुनरेगा । आज तो यह धनुष की सूखी स्नायुमय रस्ती ही खा लेनी चाहिये ॥ १६० ॥

ततः प्रथमपुत्रमुत्सायामिर्षं निम्न्वापु कोवृण्डकर्म स्त्रयुवन्धनं
 आहामि इत्युक्त्वा तथाऽकरोत् । ततश्चिच्छन्ने स्वायुवन्धने पुत्रम्
 उत्पत्तितेन वज्रुपा इदि निर्मिष्य स कीर्षणाय पञ्चत्वं गतः । अतोऽह
 ब्रवीमि 'कर्तव्यं सञ्जयो मित्यम्' (१५७) इत्यादि ।

आ०—ततः=तस्मात् अग्रे कोवृण्डकर्मोच्यते इति हेतुनेत्यर्थः । प्रथमपुत्र-
 उत्सायं=प्रथमा वाची वृत्रुपा योक्तुमिच्छा तस्यां कृत्याम्, इर्षं=पुरास्त्वित्तव
 निम्न्वापु=निम्न्वापु, कोवृण्डकर्म=कोवृण्डे कामुके कर्मं यद्यत्, एतापुःकर्म=
 एतापुः कर्मवाची तस्या वन्धनं कर्मयत्तव आन्वमित्यर्थः । आहामि=अपि ।
 इत्युक्त्वा तथा=कर्ममोक्षार्थमप्युच्यते अकरोत् । तत आहमे भवति स्वायु-
 वन्धने=आन्वित्तव वन्धने क्षिप्त्वे=क्षिते सति वृत्रुप उत्पत्तितेन=आकर्षणवशात्
 एवैवम् उत्सर्पता वज्रुपा=कामुकेकर्मणेव इदि=इद्वचमवैते, निर्मिष्य=आहता,
 स=कीर्षणवशात् शयत्क, पञ्चत्वं=मरणं गतः । अतो=अस्मान्हेतोः, ब्रवीमि=
 कथयामि 'कर्तव्यं' इत्यादि ।

आ०—एत हेतु ते प्रथम वृत्रुपा मे वर त्यागव्यं वज्रुप मे वीही इर्षं त्वत्तु की रसो
 आ हं देमा क्वक्व आये क्वा वज्रुपक्व वीही इये वृत्रु त्वत्तु के इये वर केन ते
 क्वा वृत्रुप वज्रुप शयत् के इरव मे क्वा नीर शयत् मर वना, इत्युक्त्वे मे क्वता ह
 कि—'कर्तव्यं'—इत्यादि ।

तथा च—यद्वाति यद्वाति तदेव चविन्दो धनम् ।

काम्ये मृतस्य श्रीहन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ १६१ ॥

अ०—यद् धनं ददाति यद् अरवाति चविन्दा तदेव धनम्, काम्ये मृतस्य दारै
 रपि धनैरपि श्रीहन्ति । आ०—यद् धनं ददाति=सात्प्राप्ते वितरणं करोति यद् च
 धनम् अरवाति=स्वर्णं मुक्त्वे, चविन्दा=चविद्युक्तस्य इदं धनम् इति सार्वकं
 यदति । यत् काम्ये कथा, मृतस्य=चविन्दा, दारैः=कर्मवैस्सह अपि धनो अपि
 च श्रीहन्ति=आत्मन्मनुभवन्तीति ।

आ०—ये वर वाच मे दिव्य जाता हे नीर अरवे वरमेव मे धी जाता हे नही
 वरवातो वर वर अकता हे वृत्रुप क्वा । क्वेदि -अरवे वाच ती वरवात् के वर
 तथा की ते धी वृत्रु ही वीय कोवा करते हे ॥ १६१ ॥

किञ्च—यद्वाति विशिष्टेभ्यो यथाश्वासि द्विने द्विने ।

तप्ते वित्तमहं मन्वे शोर्षं कस्यापि रक्षसि ॥ १६२ ॥

अ०—द्विने द्विने वर विशिष्टेभ्यो ददाति, यत् अरवाति तद् ते विषय (इति)
 अहं मन्वे शोर्षं कस्यापि रक्षसि । आ —द्विने=द्विने=अद्वि अद्वि यद्=वर

द्रव्यम्, विशिष्टेभ्य = श्रेष्ठसत्पात्रेभ्यः, ददासि = अर्पयसि, यश्च = घनम्, स्वयम्
अरनासि = स्वोपभोगार्थं व्यय नयसि, तत् = वित्तम्, ते = तवास्ति इति अष्ट
मन्ये = स्वीकरोमि। अथ च शेष = दानाऽऽनाऽतिरिक्त द्रव्यन्तु, कस्यापि = कस्य-
चिदन्यस्योपभोगार्थम्, रक्षसि = स्थापयसि इति ।

भा०—जिस द्रव्य का सत्पात्रों को दान दते हो और अपने भी उपयोग में खर्च करते
हो वही तुम्हारा है और बाकी सब दूसरे के लिये ही रखते दो-पेसा मैं समझता हूँ ॥१६२॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन ।

भा०—जाने दो, इस समय गई बातों के विवेचन से क्या काम है ?

यत—नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।

आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नरा. पण्डितबुद्धयः ॥ १६३ ॥

अ०—पण्डितबुद्धय नरा अप्राप्य न अभिवाञ्छन्ति, नष्ट शोचितु नेच्छन्ति,
आपत्सु अपि न मुह्यन्ति । व्या०—पण्डितबुद्धय = पण्डितानां बुद्धिरिव बुद्धिर्येषान्ते
स्थिरमतय, नरा=जना, अप्राप्य प्राप्तुं योग्यप्राप्य न प्राप्यम् अप्राप्यम्=अलभ्यम्
नाभिवाञ्छन्ति=प्राप्तु नेच्छन्ति, नष्ट=नाश गत वस्तु च, शोचितु=शोकविषय
कर्तुम्, नेच्छन्ति=नाभिलषन्ति । आपत्सु = दुःखद्विपत्तिषु प्राप्तासु सतीषु, अपि
न मुह्यन्ति = मोह न कुर्वन्ति इति ।

भा०—पाण्डित्ययुक्त बुद्धिवाले मनुष्य अप्राप्य वस्तु को इच्छा नहीं करते हैं, नष्ट
वस्तु का शोक नहीं करते हैं, आपत्ति में अधीर नहीं होते हैं ॥ १६३ ॥

तत् सखे ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् । यतः—

भा०—इसलिये सखे ! मृषिक ! तुमको सदा उत्साह-सहित रहना चाहिये । क्योंकि—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा

यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।

सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां

न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १६४ ॥

अ०—(जना) शास्त्राणि अधीत्य अपि मूर्खा भवन्ति, य पुरुष क्रियावान् स
विद्वान्, औषधं नाममात्रेण सुचिन्तितम् आतुराणाम् अरोग न करोति । व्या०—
(जना) शास्त्राणि, वेदादीनि अधीत्य=पठित्वा अपि, मूर्खाः=कुण्ठिताचरणा भवन्ति=
अवसिष्ठन्ते । यस्तु पुरुष=जन, क्रियावान्=अधीतियोग्याचरणप्रचारणवान्, स एव
विद्वान्=यथार्थपण्डित । यथा औषध=मेपजम् । नाममात्रेण = तन्मात्रेण, सुचि
न्तितमपि = बहु स्मृतमपि, आतुराणां = रोगिणाम्, अरोग = रोगघ्नसम्, न
करोति । (उपजातिवृत्तम्) ।

या — हाथों को रफ़्तार की ओर दृष्ट कर दे रखते हैं जो अनुभव प्राप्त रफ़्तार पर हृत्कार परिलम्ब नाकने हैं वे ही यथार्थ विद्या है । एवं धार करने पर भी जीवन का नाम रोमी के योग का नाम नहीं करता है ॥ १२४ ॥

अन्वय—य स्वल्पमप्यप्यवसायमीरोः करोति विज्ञानविधिगुणं द्वि ।

अन्वयस्य किं हस्ततत्कस्वितोऽपि प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपाः ॥

अ०—विज्ञानविधिः अन्वयसाधनीरोः स्वल्पमपि गुणं च करोति । किं इह हस्त तत्कस्वितः अपि प्रदीपाः अन्वयस्य अर्थं प्रकाशयति किम् ? अ०—विज्ञानविधिः = विद्येयेन ज्ञायते इति विज्ञानं ज्ञानम् । तस्य विधिः विधानम् उपदेश इति वाच्यः । अन्वयसाधनीरोः अन्वयसाधनात् अनुज्ञानात् यीक वाञ्छुञ्चा । तस्य आचरणसूत्र- अन्वयस्येत्यर्थः । स्वल्पमपि—स्तोकमपि, सुल्पम्—उपकर्षं अर्थं च करोति । द्वि—तथाहि इह—अपुनि हस्ततत्कस्वितः—हस्तस्य स्वकरस्य चत् तत्कं तत्र स्थितम्—पूरीतः अपि प्रदीपाः, अन्वयस्य—अपुनिहीनस्य अवस्य अर्थम्—उपहारं वस्तुमार्तं, प्रकाशयति किम् ? प्रकटीकरोति किम् ? अर्थात् च प्रकाशयति (उच्यते—तदुच्यते) ।

आ०—जागरणहीन पुत्र को ज्ञानोपदेश गुण की नहीं करता है । कैट इत जोर में हाथ में रफ़्तार हुआ भी प्रदीप जन्मे को प्रकाश नहीं करता है ॥ १२५ ॥

तद्वन्न सखे दद्याऽतिशोषे च यमन्तिः करणीया यत्तदप्यतिकर्षं त्वया च मन्तव्यम् ।

या — एवं तस्मात्तेतो, अखे । मित्र । अथ = मम पृष्ठे दद्यामतिशोषे च दद्या- या अवस्थाया अतिशोष अतिकर्षणं तेष चान्ति—सुखस्त्विति, करणीया—अवकाश- नीया त्वया दृष्टवन्ति—या विचक्षिर्मम पूजाचरणानकपा अतिकर्षण्यतिशुद्धा- च मन्तव्यं = वाञ्छुसन्पेचमिति ।

आ०—दक्षिणे पित्र दृष्टः । एवं शिव जस्ता पीरे ही घर में ज्योतिष करो पर तेरे घर में विघात करना भी बहकन मठ मान्या ।

सुखमापतिर्तं सेष्यं बुद्धमापतिर्तं तथा ।

अकम्पत्परिवर्तन्ते बुद्धानि च सुखानि च ॥ १२६ ॥

अ०—आपतिर्तं सुखं तथा आपतिर्तं बुद्धं शेष्यम् । सुखमि च बुद्धानि च अकम्पत् परिवर्तन्ते । आ०—आपतिर्तं = समुपस्थितम् । सुखं शेष्यम् = अनु- भवनीयम् । तथा = तेष पक्षरेण आपतिर्तं बुद्धमपि शेष्यम् = अनुभवनीयम् । सुखानि च बुद्धानि च, अकम्पत् = अर्कं तथा अमति तथा परिवर्तन्ते = अमया आपच्छन्ति ।

आ०—जाता हुआ हाथ पीर बुद्ध बीमो को तरफ़ करना परदिने । ज्योतिष बनने में हाथ नीर हाथ चक्र को तरफ़ मुन्ने (जाते-जाते) रहते हैं ॥ १२६ ॥

अपरम्—निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।

सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ॥ १६७ ॥

भा०—मण्डूकाः निपानमिव, अण्डजाः पूर्णं सर इव, सर्वसम्पद विवशाः सोद्योगं नरमायान्ति । व्या०—मण्डूका = भेका, निपान = छद्मजलाशयम्, इव, अण्डजा = अण्डेभ्यो जाता अण्डजा. = पक्षिण, पूर्णं = प्रभूतजलयुक्तम्, सरः = सहागमिव, सर्वसम्पदः = सर्वाश्च ता सम्पद सर्वसमृद्धय, विवशाः = सोद्योगजनाऽधीनाः सत्य, सोद्योगम् = उद्योगेन सहित तम्, नर = जनम्, आयान्ति = समुपतिष्ठन्ते इति ।

भा०—मण्डूक जैसे जलाशय के प्रति जाते हैं, पक्षिण जैसे पूर्णं सरोवर के प्रति जाते हैं वैसे ही उद्योगपूर्ण जन के प्रति सर्वसम्पत्तियों विवश होकर आ पडती हैं ॥ १६७ ॥

अपि च—उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मी. स्वयं याति निवासहेतोः ॥ १६८ ॥

भा०—लक्ष्मी. निवासहेतोः स्वयम् उत्साहसम्पन्नम् अदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेषु असक्त शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च (जनम्) याति । व्या०—लक्ष्मीः = सम्पद्देवी, निवासहेतोः = निवास अवस्थानम् एव हेतुः निमित्त तस्मात् निवासरथम्, स्वयम् = आत्मनैव, उत्साहसम्पन्नम् = उत्साहेन उद्योगेन सम्पन्न युक्तः तम्, अदीर्घसूत्रम् = क्षीघ्रं चिरेण सूत्रयति सम्पादयति इति दीर्घसूत्र, स न भवति इति अदीर्घसूत्रः तम्, शीघ्रकार्यकारिणमित्यर्थः । क्रियाविधिज्ञम् = क्रियाणां कर्तव्यविषयाणां विषय विनियोगा. तान् जानाति विवेचयतीति क्रियाविधिज्ञं तम् यथायोग्यकार्यानुष्ठानवेत्तारमित्यर्थं । व्यसनेषु = मद्यधृतमृगयादिषु असक्तम् = न सक्त असक्त. तम्, अनिहितमानसमित्यर्थं । शूर = वीर्यवन्तम्, कृतज्ञम् = कृतम् उपकृत जानाति इति तम् कृतज्ञम्, उपकारवेत्तारमित्यर्थं । दृढसौहृदम् = दृढम् अन्तरायशून्यं सौहृदं मैत्री यस्य स तादृश जनम्, याति = अभिगच्छति । (उपजातिवृत्तम्) ।

भा०—लक्ष्मीं निर्विघ्न निवासस्थान के लिये उत्साही, शीघ्रकार्यकारी, कर्तव्यकर्तव्य विवेकशाली, व्यसनशून्य, शूर-वीर, कृतज्ञ और दृढमित्र ऐसे जो पुरुष हैं उनके यहाँ स्वयं जाकर रहती है ॥ १६८ ॥

विशेषतश्च—विनाऽप्यर्थैर्धीर स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं

समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।

स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयां

धृतिं सैर्हींश्वा किं धृतकनकमालोऽपि लभते ॥ १६९ ॥

॥—वीरा जयैः विवाह्यि बहुमाचोचतिपरं रूचति कुपना जयैः प्रम-
 बुचोदये परिमववर्षं वाति या वृत्तकवकम्याका जयि स्वभावात् प्रकृता गुणसु-
 द्याम्भसिदिविषयां सैहीं वृत्तिं कमते किय ? । आ०—वीरा = सुदेवो विजुषो जय
 जयैः विवाह्यि = ब्रह्मामि विवाह्यि बहुमाचोचतिपरं = बहुमावा बहुकोकादा
 उचतिः अम्पुदपा तयोः परं स्वार्थं तादृशीं स्थितिमित्थर्कं, रूचति कमते=विन्दति
 इति । कुपना = देवहीवा जयः, जयैः = ब्रह्मैः समाबुक्त प्रकृति परिमववर्षं = परि-
 मवस्व अपमानस्व अपकृष्टताया वा परं स्वार्थं वर्धति । तथा हि—आ = कुञ्जर,
 वृत्तकवकम्याका जयि = वृता कवकस्य सुवचस्व माका येन वा उपचयिषः प्रकृति,
 स्वभावात् = विद्ययात् उच्यतात् = उपचयं प्रकाशमावात् गुणसमुद्भवाया
 सिदिविषयात् = गुणायां शौर्वाहीनां समुद्भवा समुदावा यस्य अवाप्तिः प्राप्तिः तस्या
 विषया सूचिका ताम् बहुगुणबोधबोधिकामित्थर्कः । एतादृशी सैहीम् = सिद्धस्व
 इवं सैही ताम् वृत्तिं = कल्पितम् कमते = विन्दति किय ? अर्थात् येन विन्दति
 इति (विचरिषी वृत्तम्) ।

आ०—वीर पुत्र इत्यहोम होमे पर नो बहुकम्यम तथा अम्पुदम श्ये वाते ही वीर
 बहुकम्यपुत्र यो जयन् जय वरामय ही वाते ही । नह वत वयार्थं ही । नथेकि कुल कुलने
 यावा वारन करने पर नो त्यागविक्रम जयन् होये वाक्ये तथा शौर्वाहीनतन्त्र श्ये वृत्ति
 करने वाक्ये सिद्ध श्ये कल्पित (वैश्वर्वाकिका) श्ये जयो वही वा सक्ता ॥ १२५ ॥

किय—अन्वयामिति हि मवस्ते किं गतविमवो विपाद्मुपयासि ।

करमिहृतकन्पुकसमाः पातोत्पाता मबुष्याजाम् ॥ १७० ॥

न — अन्वयम् इति ते मव, किं गतविमवः विपाद्मव अपवाप्ति हि अन्वयान्ता
 पातोत्पाता करमिहृतकन्पुकसमाः । आ — अदि अन्वयम् = अन्वयः अस्मि इति
 इत्यैवंविधं ते = तत्र मवः = अविभावा, अरित तर्हि किं = कवम् ? गतविमवा =
 गताः, विमवाः विमवाः सम्पत्तयो अन्व सा एतादृशा तम् विपाद्मवैव्य अ-
 यासि=आप्सि । हि = गता, मबुष्याजाम् = अन्वयान् पातोत्पाता=गताः अन्वयान्
 श्येति पातोत्पाता अन्वयानुचयः । करमिहृतकन्पुकसमाः = करेण हस्तेन मिहृता
 ताहित वा कन्पुका यैन्पुका येन प्रमा अन्वयः अन्वयः । (नार्वावृत्तम्) ।

आ०—मै अन्वयम् इ एता अदि अन्वयम् मव ही ती अदि विमव अदी रहने पर अन्वी
 योव अर्थात् ही अन्वी — अन्वयम् वा अन्वयम् तथा अन्वयम् दाव ही मारि इवे वैद श्ये
 नह होनी रहनी हे ।

अन्वयम्—अन्वयम् अतिशेपेत् सा हि अन्वयम् विमिता ।

गर्भानुत्पतिते अन्वयम् मातु प्रकृष्टत स्तमौ ॥ १७१ ॥

न — अन्वयम् न अतिशेपेत् हि वा अन्वी विमिता, अन्वी अन्वी अन्वयम्

मातुः स्तनौ प्रस्रवतः । व्या०—वृथयर्थ=जीविकार्थम्, अ अति चेष्टेत—अति प्रयासं न कुर्यात् । हि—यतः, सा—वृत्तिः, धात्रैव = विधात्रा एव, निर्मिता = प्रथमतः निर्धारिता भवति । यथा हि जन्तौ = बाले, गर्भात् = उदराशयात्, उत्पत्तिते = ऊर्ध्वं बहिः निःसृते सति, मातु = जनन्या, स्तनौ = पयोधरौ, निसर्गत एव प्रस्रवत = पय सुस्रवतः ।

भा०—जीविका के लिये अति चेष्टा नहीं करना, क्योंकि विधाताने ही जीविका का निर्माण किया है । बालक के गर्भ के बाहर आते ही उसके लिये माता के स्तनों से दूध बहता है ॥ १७१ ॥

अपि च सखे ! शृणु (और भी सुनो मित्र)

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।

मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १७२ ॥

अ०—येन हसा शुक्लीकृता, शुकाश्च हरितीकृता, येन मयूराश्च चित्रिता, स ते वृत्तिं विधास्यति । व्या०—येन विधात्रा, हसा=हसपक्षिणः, शुक्लीकृता = शुभ्रवर्णा कृताः, शुकाश्च=कीराश्च, हरितीकृताः=हरिङ्गणा कृता, येन च विधात्रा, मयूरा=शिखिनः, चित्रिताः=विचित्रवर्णा कृता उत्पादिता, सः=स एव विधाता, ते = तव, वृत्तिं = जीविकाम्, विधास्यति = समुपस्थापयिष्यतीति ।

भा०—जिस विधाता ने हंसों को सफेद बनाया, सुगों को हरा बनाया और जिसने मयूरों को रङ्गविरङ्गा बनाया, वही विधाता तुम्हारी भी जीविका चलायेगा ॥ १७२ ॥

अपरञ्च सतां रक्षस्यं शृणु, मित्र ! (और भी बड़े लोगों का रहस्य सुनो, मित्र !)

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।

मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥ १७३ ॥

अ०—अर्था अर्जने दुःखं जनयन्ति, विपत्तिषु तापयन्ति, सम्पत्तौ च मोहयन्ति, (अतस्ते) कथं सुखावहाः ? । व्या०—अर्था = द्रव्याणि, अर्जने=उपार्जने सकलीकरणे, दुःखं = बहुप्रयास क्लेश, जनयन्ति = उत्पादयन्ति । विपत्तिषु = क्षीरादि-कृतहरणादिषु, तापयन्ति = परितापम् उत्पादयन्ति । सम्पत्तौ = बहुविधे ऐश्वर्ये सति, तु, मोहयन्ति = मद जनयन्ति । (इत्यस्माद्धेतो अर्था) कथं = केन प्रकारेण, सुखावहा = सुखम् भावहन्तीति सुखावहा सुखसम्पादका भवन्ति, न कथमपीत्यर्थः ।

भा०—धन को प्राप्त करने में भी कष्ट होता है, चोरादि के छे जाने से क्लेश होता है, खूब सम्पत्ति हो जानेसे मन्दोन्मत्तता आती है । अब कष्टो द्रव्य किस स्थिति में सुखदायी है ? ॥

अथ—अर्थात् यस्य विच्छेदा वरं तस्य निरीहता ।

प्रसाङ्गनादि पशुस्य वृषादस्यर्थात् वरम् ॥ १७४ ॥

अ — यस्य अर्थात् विच्छेदा तस्य निरीहता वरम् । पशुस्य प्रसाङ्गनात् वृषात् अस्पर्धं वरम् । अथ — यस्य = यजमानस्य (अथर्वं वृषा वृषाच्छायात्) अर्थात् वामादावादिअर्थात्पर्ययम् विच्छेदा = विच्छेदस्य अथवा ईहा अर्थात्विच्छेदा भवति तस्य = तजमानस्य निरीहता = विः भास्ति ईहा वेहा यस्य तस्य भावस्तथा अर्थ-विराम वृष वरं = वेहा मवाक्यिषो भवति इति । तथा द्वि—पशुस्य = अर्धमस्य प्रसाङ्गनात् = अर्धमस्यप्रसाङ्गनात् वृषात् = अथमत एव, अस्पर्धं = अ स्पर्धं, वरं भवति ।

भा०—(अथर्वं अर्थे वृषात् वेहा हे विच्छेदे) अर्थार्थं अर्थे वं तापकृत इत्यपि की वेहा करणा, वृषो वष प्रसिद्धी वेहा ही वरी करणा वेवस्वत है वेहे अथर्व वं वर वृषात् वरि अथर्व वे वीथे की अर्थार्थ प्रथम वे अथर्व का अर्थ ही वरी करणा वेहा है ।

अथ—यथा क्षामिपमाक्षयो पक्षिमिः श्वापदैर्भुवि ।

अक्षयते सखिभ्यो मत्स्यैस्तथा सर्वत्र विचक्षन् ॥ १७५ ॥

अ — क्षामिषं यथा आकाशे पक्षिमिः भुवि आरदैः सखिभ्यो मत्स्यैः मत्स्यै तथा विचक्षन् सर्वत्र (अक्षयते) । अथ—क्षामिषं = मत्स्य (अक्षयते) यथा आकाशे = यथार्थे, पक्षिमिः = अक्षय मक्षयते भुवि = भुवस्तथै, आरदैः = द्विजपक्षिमिः मत्स्यै, सखिभ्यो = अक्षयते, मत्स्यैः = आरदादिभिः, अक्षयते = अक्षयते तथा विचक्षन् = विषं यजमानस्यामतीति विचक्षन् यजमानना, सर्वत्र = सर्वेषु स्थलेषु, अक्षयते = अर्थैः इत्युपतारकैः प्रतीयते इति ।

भा०—मात की वेहे आकाश में वृषा का भाते है इति वं द्विजपक्षी का भाते है वर में मत्स्य आदि का भाते है, वेहे ही अथर्व का भी तथा अर्थे वं वृष-वोरति वर के वेहे है ॥ १७५ ॥

अथ—राजतः सखिभ्यो मत्स्यैः स्वजगद्वि ।

मयमर्षवतां नित्यं मृत्याः प्राणभृतामिव ॥ १७६ ॥

अ — प्राणभृतां मृत्योरिव अर्षवतो राजतः सखिभ्यो मत्स्यैः चौरता स्वजगद्वि नित्यं अथ (भवति) । अथ—प्राणभृताम् = प्राणात् विद्यति इति प्राणभृता वेचाम् अरिभ्यो मित्यर्थः । मृत्योरिव = मरणात् यथा मयं भवति, तथा अर्षवतां = अर्षवतां यथा मयं राजतः (पश्यामस्तस्मै) राजा भवते, सखिभ्यो = अकात् अन्ते = अर्थे, चौरता = तस्मिन् एव अर्थवद्वि = एवो अर्थः अन्तुपभृतिः तस्मात् अवि नित्यं = सर्वदा अर्थ = प्रीति, भवति = वर्तते ।

भा०—प्राणी को जैसे मृत्यु से मय रहता है वैसे ही घनाढ्य को राजा से, जल से, अग्नि से, चोरों और स्वजनों से भी निरन्तर मय रहता है ॥ १७६ ॥

यथा हि—जन्मनि क्लेशबहुलो किन्तु दुःखमतः परम् ।

इच्छासम्पद् यतो नास्ति यश्चेच्छा न निवर्तते ॥१७७॥

प्र०—यत क्लेशबहुले जन्मनि इच्छासम्पत् नास्ति, यश्च इच्छा न निवर्तते, अत पर दु ख किं नु ? व्या०—यत = यस्माद्धेतोः, क्लेशबहुले = कष्टप्रधाने, जन्मनि = जीवने, इच्छासम्पत् = इच्छानुरूपा सम्पत् इच्छासम्पत् (मध्यमपद् लोपी समास) इच्छानुसार सम्पत् नास्ति न मिलति । अथ च यत्, इच्छाऽपि = सम्पत्तृणाऽपि, न निवर्तते = न शाम्यति । (वद मो.) अत परम् = अस्मादन्यत्, दु ख = कष्टम् । किं नु ? (नु-वितर्कं) किं = कीदृशा भवति ?

भा०—(क्या कारण है कि) क्लेशमय सत्तार मे इच्छाऽनुसार सम्पत्ति नहीं मिलती है और इच्छा की निवृत्ति भी नहीं होती है । इससे ज्यादा और कौन सा दु ख है ? ॥१७७॥

अन्यच्च भ्रातः शृणु—

धन तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते ।

लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १७८ ॥

अ०—धन तावत् असुलभ, लब्ध कृच्छ्रेण पाल्यते, लब्धनाशः यथा मृत्युः, तस्मादेतत् न चिन्तयेत् । व्या०—धन=द्रव्यम्, तावत्=भावी, असुलभ=न सुखेन लभ्यते । लब्धम् = अर्जित सत्, अपि, कृच्छ्रेण = महता कष्टेन, पाल्यते = रक्षयते, लब्धनाश लब्धस्य धनस्य नाश इत्यर्थः, यथा=यद्वत्, मृत्युः=तद्वत् मृत्युसमदु खदो भवति । तस्मात् एतत् = द्रव्योपार्जनादिक, न चिन्तयेत् = न समीहेतेति ।

भा०—धन प्रथमतः कष्ट से मिलता है, मिलने पर दु ख से उसका रक्षण करना पड़ता है और प्राप्त करने के बाद उसका नाश होना मृत्युसमान कष्टदायी होता है । इसलिये द्रव्य का चिन्तन ही नहीं करना चाहिये ॥ १७८ ॥

सा तृष्णा चेत् परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः ।

तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यञ्च शिरसि स्थितम् ॥ १७९ ॥

अ०—सा तृष्णा परित्यक्ता चेत् क दरिद्रः ? क ईश्वर ? । तस्या प्रसरो दत्तश्चेत्, दास्यञ्च शिरसि स्थितम् । व्या०—सा=पूर्वोक्ता, तृष्णा=धनस्पृहा, (जनेन) परित्यक्ता=छिल्लीनीकृता चेत् ! (तदा तस्य जनस्य इष्टयां) क दरिद्रः=बनशून्य, कश्च ईश्वर=धनी, तृष्णारहितस्य विरक्तस्य दारिद्र्यम् ऐश्वर्यञ्चेत्युभयमपि सममित्यर्थः । तस्या = धनतृष्णायाः प्रसरो = अवसर, दत्त चेत् ! (तदा अवश्य) दास्यं=दास्यम्, शिरसि = मस्तके, स्थित भवति आरोहतीत्यर्थः ।

६ हि० मि०

भा०—यह तुम्हा अगर त्याग कर ही कम ती (वत विरक्त तुम्ह की छटि में) कीर रहित है ! और कील नमी है ! (कीरें नहीं है) और यदि तुम्हा की अवसर रिक्त यमा तो अवसर ही तुमन के छिर वर बालन भास्य हो पाता है ॥ १७५ ॥

अपरण—यवृ पक्षे हि वाञ्छेत ततो वाञ्छ्य प्रवर्तते ।

प्राप्त एवाऽर्पताः सोऽर्घो यतो वाञ्छ्य निवर्तते ॥ १८० ॥

भा०—यद् बदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छ्या मवर्तते यतः वाञ्छ्या निवर्तते य आर्था अवर्तत इव प्राणाः । भा०—यद् यद् वृत्तपक्षस्तु वाञ्छेत वाञ्छ्येव तद्वत् तदुपर वाञ्छ्या = इच्छा तुम्हा, प्रवर्तते = अविका भवति । यतः अस्मात् वस्तुन वाञ्छ्या = प्राप्तमविकाया, निवर्तते = विच्छेदा भवति य आर्थाः = तद्वस्तु, अवर्तत वस्तुतः, प्राप्त एव = कर्मण इति ।

भा०—मित्तमित्त वस्तु की इच्छा करते हैं वसते इच्छा पकी ही जाती है, मित्त वस्तु से इच्छा मिच्छ हो जाती है वही वस्तु वास्तविक में मिली है ॥ १८० ॥

किं बहुना विभ्रम्माज्ञापैः मयीष सहाऽव क्वाङ्गी वीयताम् ।

भा०—कन क्वाङ्गी क्या करण है ! मित्तात्पूर्वक वाञ्छेत करते हुए मेरे छान वही कीरव अतीत करो ।

वठ—अमरवाण्ठाः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणमङ्गुयः ।

परित्यागाच्च निस्तङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १८१ ॥

भा०—महात्मनां अन्वयाः अमरवाण्ठाः कोपः तत्क्षणमङ्गुयः परित्यागाच्च निस्तङ्गा भवन्ति हि । भा०—महात्मनाम् = अक्षरपरितायां अवाग्यत्, प्रववाञ्छेय यायाः अमरवाण्ठाः अमरवात् वा इति अमरवम् अमरवन् प्रयया अन्ते वैचान्ते, मरवाऽवविकाया यचन्तीति । एवं कोपाः = कोपावस्तु, तत्क्षणमङ्गुयः = तत्क्षणम् तत्क्षणे मङ्गुयः अन्तरबुद्धितीये वने एव विकल्पहीना भवन्तीति । एवं परित्यागाच्च = दायावस्तु निःशङ्काः = निः नास्ति शङ्का आशयिः वेतु वे तवाविधाः भवन्तीति । हि = विज्ञप्ते ।

भा०—बहावुक्तो वा त्वैव आमरवाण्ठ तिर होता है कीर इतनहुए होता है वाञ्छेत् त्वापैरहित होते हैं ८१

इति ध्रुस्या क्षुपुपतनत्रा प्रुत—धर्म्योऽस्ति मन्थर ! सर्वथा धामय-
णीयाऽस्ति ।

भा०—इति मन्थर का वचन सुबद्ध अनुपमव वीर्य—वन्व ही मन्थर ! तुव क
पकार से आनय करके बोले ही

यन—सम्त एव सर्ता मित्यमापनुद्धरणसमाः ।

गजानां पशुमपानां गजा एव पुरुष्यता ॥ १८२ ॥

अ०—सन्त एव नित्य सताम् आपदुद्धरणक्षमा, पङ्कमगनानां गजानां गजाः एव धुरन्धरा (भवन्ति) । व्या०—सन्त = साधुजनाः एव, सतां = साधुजनानाम्, आपदुद्धरणक्षमा = आपदां विपत्तीनाम् उद्धरणम् अपनयन तस्मिन् क्षमा समर्था (भवन्तीति) । तथा हि—पङ्कनिमग्नानाम् = पङ्के कर्दमे निमग्ना, तेषां गजानां = हस्तिनाम्, (उद्धरणे = बहि निष्कासने इति शेष ।) गजाः = करिण एव धुरन्धरा = धुर भार धरन्तीति धुरन्धरा, भवन्तीति ।

भा०—क्योंकि—सत्पुरुष ही सत्पुरुषों की आपत्तियों दूर करने में समर्थ होते हैं । जैसे कीचड़ में फँसे हुए हाथों को बाहर निकालने में हाथी ही समर्थ होते हैं ॥ १८२ ॥

अपरञ्च—श्लाघ्यः स एको भुवि मानवाना

स उत्तम. सत्पुरुष. स धन्यः ।

यस्यार्थिनो वा शरणागता वा

नाशाविभङ्गा विमुखा प्रयान्ति ॥ १८३ ॥

अ०—भुवि यस्य (सकाशात्) अर्थिनो वा शरणागता वा आशाविभङ्गाः (सन्त) विमुखा न प्रयान्ति, स एकः मानवानां श्लाघ्य, स उत्तम सत्पुरुष, स धन्यः । व्या०—भुवि = जगति, यस्य = ऐश्वर्यशालिन. जनस्य सकाशात्, अर्थिन = याचकाः वा, शरणागता वा = शरणम् आगता गृहागता वा केऽपि जना, आशाविभङ्गा = आशाया प्राप्यमिलापस्य विभङ्गो अफलता येषान्ते तथाविधा सन्त, विमुखा = पराङ्मुखा, न प्रयान्ति = न गच्छन्ति स एक = अद्वितीय. मानवानां = मनुष्याणा मध्ये, श्लाघ्य = प्रशंसास्पदम्, स एव च उत्तम = श्रेष्ठः सत्पुरुषः = सश्लाघ्य पुरुष । स एव च धन्य सफलमनुजजन्मा भवतीति ।

भा०—जगत् में जिस ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ मनुष्य के याचक तथा शरणागत जन आशा-भङ्ग हो जाने से लौट नहीं जाते वही ऐश्वर्यशाली जन मनुष्यों में श्लाघनीय है, वही उत्तम सत्पुरुष है, और वही धन्य है ॥ १८३ ॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्तिस्म । अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृगः केनाऽपि आसितस्तत्राऽऽगत्य मिलित । तत्पश्चादायान्तं भयहेतुं रुम्भाव्यमन्थरो जलं प्रविष्ट, मूषिकश्च विवरं गत, काकोऽपि उद्धीय वृक्षाग्रमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलम्बितः, पश्चात्—तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टा । मन्थरेणोक्तम्—भद्र मृग ! कुशलं ते ? स्वेच्छया उदकाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनभिदं सनाथी-

क्रियताम् । विवाहो मूठे—सुखकदासितोऽह मवतां धरममागत
 ततश्च मवन्तिः सह मित्रत्वमिच्छामि मवन्तश्च अनुकम्पयन्तु मैत्र्येण

भा०—तदेवं प्रकारेण, ते ० विरभ्यकदास, आहारविहारस्य = आहारेण एव
 विहृतः आहारविहारां स्वैच्छया आहारविहारस्य सुखाभाः = आचरन्ता एव
 सन्तुष्टाः = सन्तोषमिच्छताश्च सुखस्य ० आनन्दो यथा स्वात् तथा, विदलन्ति स
 अथ ० अचरन्तस्य कदाचित् = कस्मिंश्चित्काले, कदापि = केनचिद्दिवसे,
 सितः = धर्मं शीतः, विद्याह्वयामा सुख ० इतिहाः तत्र = मन्वाविवासे अथ
 मिच्छिता = सङ्गताः । तत्पश्चात् = तस्य श्रुत्वा स्वस्वत्वात् पुष्टोत्तरस्य आवाप्तत्वात्
 पञ्चतरस्य धवहेतुस्य अथस्व हेतुं कारणं स्वाचरुपस्य धम्माम् = विवाहं मन्वा
 तत्राम्य कर्मो कळे प्रविष्टः । श्रुतिक्रम विवरं = विक्रम्य पतन्प्रविष्टः । काकोर्ध
 वाचसोर्ध्वि कर्तुव्यं = इत्युक्तं वृत्तामयं = वृत्तस्य अर्थं धर्मतामस्य आरुह्य = अविधि
 कृता अनुपपत्तयेव कल्पेय, सुदूरम् = अतिदूरं निकम्ब = विरीचय कोऽपि कं
 एषि धवहेतुः = पीठिकरथं, य अचरन्वितः—य अचकोकितः । पश्चात् कृतवना
 अनुपपत्तयककालस्य कथनात् भवामाचसुचकथनात् आगत्य पुनः सर्वे = वृ
 एव, मिलित्वा = अङ्गन्व तत्रैव स्वके उपविष्टाः = उपनिवेष्टुः । मन्वरेण कल्पयेव
 कथम्—अहं सुय ! मिथं धवमवहरिण ! कुत्रथं ते ? यथात् सकुललोऽसि ? ।
 पञ्चवा = यथेच्छम् उपरुपाहातः = उपरुम् आदिर्धर्मस्य सा उपकारि यथा
 आहाराः = वाचादिवाप्य अनुकूलता = श्रुतायम् । अथ = मम पुत्रे, अथत्वायैव
 विवाद्येव वनमिहं = एतद्द्वयम् समाधीकृतताम् = अथत्वायैव वाचैव निवैव सर्व
 धर्माथं क्रियताम् विधीयताम् । विद्याहो मूठे—सुखकदासितः = सुखकेव आं
 दासितः धर्मं पमितः कथम् मवतां = कर्मकामुत्किलां धरममागता । तत्र
 तस्मिन्नेतोः मवन्तिः = धर्मैः सह मित्रत्वं = धरुपस्य हृष्यामि । मवन्तश्च = न
 सर्वे मैत्र्येण = मैत्रीकरमेव अनुकम्पयन्तु = अनुपुङ्गन्तु ।

भा०—एव प्रकारेण वे कर्मादि तत्र दण्डानुक्तं अन्तर विहार अदि करके हुए सन्ने
 पूर्वक तत्र से विनास करके वे । एव वार विवाहवाचक क्तन किती ध्याव से अथ
 किना हुआ नहीं आया । वस सुय के शीले आठे हुए वष के हेतु थे तनकर मन्व
 ये हुए तथा श्रुतिक्रि मं हुए तथा, कथ अन्तर वेव वर देठ तथा । वसरे व
 अनुपपत्तय कथ वे हूत तत्र देखा केकिन वष का हेतु थोरे विचार के लो नडा एव का
 के कर्म से वे एव फिर से मित्रकर देठे । मन्वर ने कहा—अहं सुय । तुम सुदूर से हो
 अथनी दण्डा के अनुपार कळ-कोमवादि प्रह्व करो भीर नहीं रदकर इत वष को एव
 करो । विवाह ये कथा—आव से मन्वीन हीकर मैं आरुको करण ये आया है भीर वाव
 ताव मित्रता करवा चाहण है । आर एव मित्रता रीकर कर अनुपम कीविर ।

यत्—लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि यस्त्यजेच्छरणागतम् ।

ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ १८४ ॥

अ०—यः लोभाद्वा अथ भयाद् वा अपि शरणागत त्यजेत्, मनीषिण तस्य ब्रह्महत्यासम पापम् आहुः । व्या०—यः ऐश्वर्यशाली जन, लोभाद्वा = द्रव्यादि-प्रलोभनेन, अथवा भयाद् = महत्कृतभीतिहेतोर्वा, अपि, शरणागतम् = शरणम् आगतं तम्, स्वाश्रयविश्वस्त जनम्, त्यजेत् = जह्यात्, साहसजनरक्षण न कुर्या-दित्यर्थं । मनीषिण = मनस्विनः बुद्धिमन्तः जना, तस्य = अरक्षकस्य जनस्य, ब्रह्महत्यासमं-ब्रह्मणः = ब्राह्मणस्य हत्या वधः हनन तेन समं, पापं = दुष्कृतं दुरितम्, आहुः = कथयन्ति ।

भा०—जो पुरुष (समर्थ होने पर भी) लोभ से अथवा भय से शरणागत का रक्षण नहीं करता है विद्वान् लोगों ने उसको ब्रह्महत्या के समान पाप कहा है ॥ १८४ ॥

हिरण्यकोऽप्यवदत्—मित्रत्वं तावदस्माभिः सह, अयत्नेन निस्पन्नं भवतः ।

भा०—हिरण्यक ने कहा—अनायास ही हमारे साथ तुम्हारी मित्रता रहें ।

यत्—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।

रक्षकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १८५ ॥

अ०—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागत व्यसनेभ्यश्च रक्षकम् (इति) चतुर्विधं मित्रं ज्ञेयम् । व्या०—औरसम् = उरसः जातं शरीरसम्बन्धादुरपन्नम् अपत्यादिकम्, कृतसम्बन्धं=कृतः नूतनो विहितः सम्बन्धः विवाहादिरूप आभाषणपूर्व-कारवरूपो वा येन तत् तादृशम्, तथा वंशक्रमागतं = वंशस्य कुलस्य यः क्रम परम्परा, तेन सह आगतम्, व्यसनेभ्यश्च=आकस्मिकाऽऽपन्नभ्यश्च, रक्षकं=रक्षणकारि, इत्येव चतुर्विधं = चतुष्प्रकार, मित्रं = सुदृढं ज्ञेयं = बोध्यमिति ।

भा०—मित्र चार प्रकार के होते हैं—एक अपना पुत्र-प्रपौत्रादि, दूसरा विवाहादि सम्बन्ध वाले सम्बन्धी जन, तीसरा वंश-परम्पराओं से चले आते पड़ोसी आदि, चौथा आकस्मिक आपत्तियों से बचाने वाले, ये चार मित्र हैं ॥ १८५ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषेण स्थीयताम् । तच्छ्रुत्वा मृग-सानन्दो भूत्वा कृतस्वेच्छाऽऽहारः पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरु-च्छायायामुपविष्टः ।

व्या०—तत्=तस्मात् मित्रत्वरूपहेतोः, स्वगृहनिर्विशेषेण=स्वस्य निजस्य त्व गृहात् नि नास्ति विशेषः मेदो यस्य स तेन स्वगृहमेदमाषशून्येनेत्यर्थः । भवता=त्वया, अत्र स्थीयतां=स्थितिः निवास क्रियतामित्यर्थः । तत्=हिरण्यकस्य वचनम्

कुत्सा मृगा = विजयवामा हरिणा, सानन्द = आनन्दपूर्वकं मृत्वा कुतस्तेष्व्याहारः
 कुतः अनुचितः कस्य इच्छया अज्ञाना योजनं येन सा, बभूवर्ष योजनं कुतस्तेष्वर्कः ।
 पापीय = कस्य, पीत्वा अनासन्नकरतस्त्वाद्यायाय = कस्य वासन्त्या समीपस्थैः
 वः परतस्तन्वयोऽनुसृतस्तव ज्ञानायाय परविहा = विषसात् ।

धा०—रुचिक्रमेण वपसा पर माकर तुम वहां ही रही । हिरण्यक के रत वपन को
 तुमकर कर वृष आनाचिठ हुआ और बड़े मोहन करके राजा को के वपन लीयरल
 परवृष्ट को ज्ञाना में बैठ गया ।

अथ मन्वयो ब्रूते—सखे मृग ! केन वासितोऽसि ? अस्मिन्निर्जने
 क्व कदाचित् किं व्याधाः सञ्चरन्ति ? मृगेण उक्तम्—‘अस्ति
 कश्चिद्विषये क्वमाह्वयो नाम मृपतिः स च विम्बितवध्यापारक्रमेण
 आगत्य अम्भ्रमागमदीतीरे समवेक्षितकृत्को वर्तते प्रातश्च तेभ्यः
 ब्राह्मण्य कर्पूरसरसमीपे मथितव्यम्’ इति व्याधानं मुखात् किं-
 वन्ती भ्रूयते तद्वापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथा कार्यं
 तथा आरभ्यताम् । तच्छ्रुत्वा कूर्मः समयमाह—‘मिथ । अज्ञानाया-
 ऽन्तरं गच्छामि । अथ मृगावपि उक्तवन्तौ—‘मिथ । एवमस्तु’ हिरण्यको
 विमृश्याऽप्रवीत्—पुनर्ज्ञानायाये प्राप्ते मन्वरस्य कुशलम् स्वप्ने गच्छ-
 तोऽस्य क्व विधा ?

आ — मन्वरा = मन्वरवामा कूर्मः, ब्रूते = कथयति । सखे मृग ! केवन्वा-
 वादिवा, वासित = वासं प्रापित, असि = मयसि ? अस्मिन्निर्जने = मनुष्यरहिते
 जने = अरण्ये स्वायम् = तुल्यकाः, कदाचित् = कस्मिन्मपि कश्चि, सञ्चरन्ति परिभ्र-
 मन्ति, किञ्च = इत्ये । मृगेण = विजयेन उक्तम्—कश्चिद्विषये = कश्चिद् इति नाम्ना
 वपाता विषया इया अस्मिन् क्वमाह्वयमा मृपतिः = राजा, अस्ति = विद्यते त
 च राजा, विम्बितवध्यापारक्रमेण = दिक्कां प्राच्यादिपदैज्ञानं विजयवध स्वावशी
 करवरप व्यापारा अनुष्ठानं तस्य ज्ञाना परम्परा तैव आगत्य = समेत्य अह
 भायानदीतीरे = ‘अम्भ्रमागा’ वाहनध्या तीरे = तदप्रदेशे समवेक्षितकृत्को =
 समवेक्षित सञ्चरन्ति कृत्को ज्ञानिरो येन सा तदाविधा मत् वर्तते प्रातश्च
 आनमिदि ज्ञानाकाळे तेन-वाज्ञा अथ = अस्मिन् वपे आयाय-क्रमेण कर्पूरसरा-
 समीपे = कर्पूरसरा समीपे निचये, मथितव्यम् इति = इत्येर्कृपा व्याधानं =
 तुल्यकाया मृगात् किं वन्ती = याथा अवते = तथा आकथयते । तद्वन्तना-
 ज्ञेयो प्राक्त = अत्रामिदि प्रातःकाले अत्रापि वृत्तिसम्वादाज्ञेऽपि अत्रावर्ध =
 विवृतिः मयहेतुकम् = अर्थ हेतुर्वस्य तत् मयककमित्यर्थः । इत्यालोच्य यथा =

येन प्रकारेण, कार्यं = कर्तुं योग्य तथा आरभ्यतां = विधीयताम्, तच्छुःषा, कूर्मः = मन्थरः, समयः = भयभीतः सन् आह = मित्र हरिण ! जलाशयाऽन्तरम् = अन्यः जलाशय इति जलाशयाऽन्तरम् अपरं जलहृद, गच्छामि = अपसरामि । ततः काकमृगौ अपि = काकश्च मृगश्च तौ अपि, उक्तवन्तौ = अभिहितवन्तौ मित्र ! कूर्म ! एवमस्तु = यथा कथयसि तथाऽन्यत्र गमनं कुरु, हिरण्यक = मूषिकः, विमृश्य = दीर्घं विचार्य, अश्वधीत-पुनः जलाशये = तद्भागे, प्राप्ते = अधिगते सति एव, मन्थरस्य = कूर्मस्य, कुशल = क्षेमम्, भविष्यति । स्थले = स्थलमार्गेण जलाशयान्तरं गच्छतः अस्य = कूर्मस्य, का विधा ? = मध्ये का दशा भविष्यतीति ? । (अर्थात् स्थले कथं गन्तुं पारयिष्यति)

भा०—मन्थर ने कहा—सखे मृग ! किससे भयभीत हुए हो ? क्या इस निर्जन वन में ब्याध लोग आते हैं ? मृगने कहा—‘कलिङ्गदेश में रुक्माङ्गदनाम का राजा है, वह दिग्विजय करता हुआ चन्द्रमागा नदी के किनारे पर शिबिर डालकर टिका है, प्रातः काल इस वन में कर्पूरसरोवर के समीप में आवेगा’ ऐसी व्याघ्रों की किंवदन्ती सुनी है, इसलिये सुबह यहाँ पर भी रहना भयजनक है । सो आप विचार करके जैसा करना हो वैसा कीजिये । यह सुनकर कूर्म भयभीत होकर बोला—मित्र मृग ! मैं तो दूसरे जलाशय में जाता हूँ । काक और मृग दोनों ने कहा—‘मित्र कूर्म ! जैसे हो करो ।’ पर हिरण्यकने विचारपूर्वक कहा—‘मन्थर जलाशय पहुँचने पर सुखी होगा । लेकिन पृथिवी पर जाते हुए इसका क्या हाल होगा ?

यतः—अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।

स्वभूमिः श्वापदादीनां राक्षानां सैन्यं परं बलम् ॥ १८६ ॥

अ०—जलजन्तूनाम् अम्भांसि, दुर्गनिवासिनां दुर्गम्, श्वापदादीनां स्वभूमिः, राक्षानां सैन्यं, च परं बलं भवति । व्या०—जलजन्तूनाम् = जलस्य जन्तवः प्राणिनः तेषाम्, जलचरणामित्यर्थः । अम्भांसि = जलानि, एव परं बलं भवति । दुर्गनिवासिनां = दुर्गं कोट्टे कोट्टमध्ये निवसन्ति इति दुर्गनिवासिनांस्तेषाम्, दुर्गं = कोट्ट एव परं बलं भवति । श्वापदादीनां = शुनः पदमिव पदं येषान्ते श्वापदाः व्याघ्रादयः ते आदियेषान्ते इति श्वापदादयः व्याघ्रादयो वनवासिनः मूषिकादयश्च बिलवासिनांस्तेषामित्यर्थः । स्वभूमिः = स्वेषां भूमिः निवासस्थलम्, तदेव परं बलं भवति, राक्षानां = नृपाणां, सैन्यं परं बलं भवतीति ।

भा०—जलजन्तुओं का परम बल जल ही है, किला के निवासियों का बल किला ही होता है, हिंस्र प्राणियों का बल अपना निवास स्थान ही है, और राजाओं का बल सैन्य ही होता है ॥ १८६ ॥

अथाप्युपायविश्वस्यताम् । तथा चोक्तम्—

किं नो वपाय ईदृशा वदिय ! अथा नो ई—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।

शृणुष्वेव हतो हस्ती यच्छता पशुधर्मता ॥ १८७ ॥

भा०—उपायेन हि यच्छक्यं तत् पराक्रमैः न शक्यम् । शृणुष्वेव पशुधर्मता यच्छता (सता) हस्ती हता । भा०—उपायेन = साम-दान-धैर्यदृष्ट-मात्रेण वाकादिप्रबोदेन हि—विजये यत् = यत् कर्तुं शक्यं = कर्तुं योग्यं भवति इति पराक्रमैः शौर्यादिकरणैरामि, न शक्यं = भावितुं कर्तुं योग्यं न भवतीति । तथा हि शृणुष्वेव = केवलम् श्रुत्वा एव पशुधर्मता = पशुस्य कर्तव्यत्व धर्मता नामैव कर्तव्यधर्ममार्गमाश्रित्यैवार्थः । यच्छता = यच्छता, (सता) शृणुष्वेव हि हस्ती = हती हता = विनाशित इति ।

भा०—उपाय ते यो तावत् होता ई वद यच्छक्यं ते नरी होता । शृणुष्वेव यो यत् वाक्यं ई यत् कर हानी यो यो नाप वा ॥ १८७ ॥

तद्यथा—

कथा ६

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलकौ नाम हस्ती । तमबद्धोक्त्य सर्वे शृणुष्वेव विश्वस्यताम् इति स्म यद्यप्येकेनाऽप्युपायेन श्रियते, तथाऽस्माकम् एतेन हेहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छामोक्षणं भवेत् । ततस्तन्मध्यादेकेन हृद्यशृणुष्वेव प्रतिज्ञा कृता—‘अथा बुद्धिमत्तावात्स्य मरुत् साधयितव्यम् अमन्तरं स यच्छक्यं कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साद्यच्छपात् मज्ज्यावाप—‘वेव । अक्षिपसाधं कुत । हस्ती ह्ते—‘कस्त्वम् ? कुत समापाता ? । साऽवदत् ‘अशुक्रऽहं सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिश्रित्वा मवाप्तकच्छं मस्थापिता यद्विद्य पादा स्थातुं न युक्तम्, तद्वाऽऽधीपत्येऽभिषेक्तुं मवान् सर्वैस्वामिगुण्यपेतो निक्षिपित ।

भा०—ब्रह्मारण्ये = ‘महा’ नामिन् वने कर्पूरतिलक इति नाम्ना क्वात्, इरती = हती अस्ति = वर्तते । सर्वे शृणुष्वेव = तद्ब्रह्मणा श्रुत्वा, विश्वस्यताम् इति = मन्त्रणा बुध्नन्ति स्म—यदि यत् = इरती केनाऽपि वपादेन श्रियते = नार्थं वास्तुतया तथा अत्रमात्र = वनवासिनाम् एतेन इरितया हेहेन, मासचतुष्टयस्य = मासाणां चतुष्टयं तस्य मासचतुष्टयस्यं प्रतिश्रवणं । स्वेच्छामोक्षणं = स्वेच्छा इच्छा एतास्ताम् अशुक्रं मोक्षमिति स्वेच्छामोक्षणम् भवेत् = इच्छात् । तथा = इत्येव मन्त्रणाऽमन्तरं तन्मन्त्रात् तेषां शृणुष्वेव नाम्नात् एतेन हृद्यशृणुष्वेव = हृद्यशृणुष्वेव शृणुष्वेव इति प्रतिज्ञा कृता, अथा बुद्धिमत्तावात् = बुद्धेः अन्वयात् वातुर्

तस्मात्, अस्य = हस्तिना, मरणं = निघनम्, साधयितव्य = घटयितव्यम्, अनन्तरम् = प्रतिज्ञां कृतेत्यर्थः । सः वञ्चक = धूर्तः वृद्धशृगाल, कर्पूरतिलकनाम्नः हस्तिना समीप=पुर प्रदेशं गत्वा, साष्टाङ्गपातम् = अष्टाङ्गं करद्वयपादद्वयहृदयहस्तद्वयललाटारम्भकैः सहितः भूमिस्पर्शपूर्वकः पातो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा, प्रणम्य = दण्डवच्चमस्कारं विधाय, उवाच—देव ! = स्वामिन् ! दृष्टिप्रसाद = दृष्टया अवलोकनेन, प्रसाद पवित्रं प्रसन्नतां वा, कुरु = विधेहि । हस्ती धूते—कस्वम् = स्व जात्यादिना कुलपरिचयेन च क असि ? कुत. ? = कस्मात् स्थानात् कस्माच्च हेतोः समायातः आगतोऽसि ? । सः वृद्धशृगाल अवदत्—जम्बुक = शृगालः, अस्मीति शेषः, अथ च सर्वे = समस्तैः वनवासिभिः = वने वसन्ति इति वनवासिनः तै, पशुभिः = आपदैः, मिलित्वा = सम्भूय, भवत्सकाश = भवतः सन्निधौ, प्रस्थापित = प्रेषित, अस्मीति शेषः । यद् यस्माद्धेतोः, राज्ञा विना = नृपतिमन्तरेण, अनृपतिना राज्येन स्यात् = व्यवस्थात्, न युक्तं भवतीति । तत् = तस्माद्धेतो, अत्र = प्तस्मिन्, अटवीराज्ये = अटव्या वनस्थस्या राज्ये = राज्यसिंहासने, अभियेक्षुम् = राजत्वेन स्वीकर्तुम्, सर्वस्वामिगुणोपेतः = सर्वे च ते स्वामिनः राज्ञः गुणाः शौर्यं दयादृपस्तेरुपेतः, अत एव भवान् = त्वमेव, निरूपितः = निर्धारितः ।

भा०—'वञ्च' वन में 'कर्पूरतिलक' नाम का हाथी रहता था, उसको देखकर सब शृगालों ने विचार किया—'किसी उपाय से इस हाथी का मरण हो जाय तो इसके शरीर से अपने सबका चार मास पर्यन्त यथेष्ट भोजन चलेगा' । यह सुनकर उस शृगाल में से एक वृद्ध शृगाल ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं बुद्धि की चतुरता से इसकी हत्या करा दूँगा ।' उसके बाद वह धूर्त वृद्ध शृगाल 'कर्पूरतिलक' हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोला—'देव ! दृष्टिपात करने से मुझे अनुगृहीत करिए ।' हस्तीने कहा—'तुम कौन हो और क्यों आये हो ?' शृगाल बोला—'मैं जम्बुक हूँ, और सभी वनवासी पशुओं ने मिलकर आपके पास मुझे भेजा है, क्योंकि राजा विना राज्य नहीं चल सकता है । इसलिये इस वनस्पली के राजसिंहासन पर अभियेक करने योग्य सर्वराजगुणों से युक्त आप ही निर्धारित किये गये हैं ।

यत्—कुलाचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।

धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ १८८ ॥

अ०—(य) कुलाचारजनाचारै अतिशुद्धः प्रतापवान्, धार्मिकः नीतिकुशलः, (भवति) स भुवि स्वामी युज्यते । व्या०—य. = पुरुष, कुलाचारजनाचारै = कुलस्य आचाराः वशागतरीतयः जनस्य आचारा लोकव्यवहारगतरीतयः तै. अतिशुद्ध = कलङ्करहित, प्रतापवान् = ऐश्वर्यशाली प्रभावशाली चेत्यर्थः । धार्मिक = धर्मनिष्ठः, नीतिकुशलः = नीतिशास्त्रनिपुणश्च भवति । स = तादृशः पुरुषः, भुवि = जगत्याम्, स्वामी = राजा नरपति, युज्यते = (जने) नियुज्यते ।

मा—कुम्भवार से तथा कोकवार से बणिष्ठक, मगरी, पार्थिव, वीरिपुत्रक यो हो वे ही द्वितीय में राजा के योग्य हैं ॥ १८८ ॥

अपरत्र पर्य—

राज्यार्थं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।

राज्यस्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्यां कुतो धनम् ? ॥ १८९ ॥

न — प्रथमं राज्यात् विन्देत् ततो भार्यां, ततो धनम्, अस्मिन् लोके राजसिद्धस्य सति भार्या कुता ? धनं च कुता ? । न्या — प्रथमम् = भार्यां राज्यार्थं पर्यवर्तिव, विन्देत् = भाग्येण ततो भार्यां = पत्नीं विन्देत् = अस्त्रीणां ततो धनं विन्देत् = पदार्थं च अस्मिन् लोके = संसारे राजसिद्धि = नृपती अस्ति = अविद्यमाने अतीत्यर्था, राजाकुलाद्यवसन्तरेणेति वाच्यं । भार्या = पत्नी कुता = कुत्र दक्षिता स्यात्, धनं च कुता ? अथमपि कथं दक्षितं भवेत् ? अथवा राजाभावाद् इति शक्यं ।

भा—प्रथमं राजा का भाग्य होना चाहिये, अतः राजा की वा प्रथम करवा चाहिये वीर तथा धन कमाया चाहिये । राज्य में राजा का अनुकूलन यदि न हो तो भी तथा इन्ध सन कष्टों से उपस्थित है तो यह लक्ष्य है ॥ १८९ ॥

अन्वय—पत्नीस्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।

विक्रमेऽपि हि पत्नीस्ये लीप्यते न तु भूपती ॥ १९० ॥

न — पृथिवीपति पत्नीस्य इव भूतानाम् आधारः हि पत्नीस्ये विक्रमेऽपि लीप्यते च तु भूपती । न्या — पृथिवीपतिः = पृथिव्याः पतिः, राजा पत्नीस्य इव = मेव इव भूतानाम् आश्रित्याम् आधारः लीप्यते इत्यर्थे वा प्रवर्तते । विक्रमः, तत्र पत्नीस्ये मेव विक्रमेऽपि कदाचित् अथर्वेऽपि लोके लीप्यते । तु = किन्तु, भूपती = राजसिद्धि विक्रमे = विक्रमे सति च लीप्यते ।

भा — राजा मेव ही राज्य अधिपति वा आधार है अतः ही मेव के बिना अस्मिन् जीवन उपस्थित नमा स है किन्तु राजा के बिना नहीं १९

विच—नियतविषयवर्ती प्रायशो बृहद्योगा—

ज्जगति परपद्योऽस्मिन् दुर्लभा साधुवृत्ताः ।

कुरामपि विक्रमं वा व्याधितं वाऽयमं वा

पतिमपि कुञ्जवारी वृद्धमीत्याऽभ्युपैति ॥ १९१ ॥

न — अस्मिन् परपद्ये अस्ति (सत्त्व) प्रायशो बृहद्योगात् विचरविषयवर्ती (सर्वत्र) साधुवृत्तस्तु दुर्लभा (सर्वत्र) कुञ्जवारी वृद्धमीत्याः कुञ्जवारी विक्रमं वा व्याधितं वा अयमं वा पतिम् अभ्युपैति । न्या—अस्मिन् = राजसिद्धिपुत्रे, अस्ति संसारे सर्वत्र = अस्मिन् लोके प्रायशो प्रायशो प्रायशो बृहद्योगात् अस्मिन् लोके अस्ति अस्मिन् परपद्ये विचरविषयवर्ती = विचरते वीरिपुत्रे विचरते इत्यर्थे

वर्तते य स नियतविषयवर्ती, (जनसमुदाय इति शेषः) भवति । यतः लोके साधुवृत्तस्तु=साधु समीचीनम् वृत्तम् आचरणं यस्य स एतादृशस्तु जनः, दुर्लभः= न लभ्यते । कुलनारी=सुकुलोत्पन्ना रूपगुणादिमती अपि नारी, दण्डभीत्या=राजशासनमयेन, क्रुश=निर्वलम् अपुष्टशरीरम्, विकल=केनचित् इन्द्रियेण शून्यं काणं वा बधिर वा कुरूप वेति, व्याधित=कफादिरोगग्रस्त वा, अधन=निर्धन वा, पतिम् अभ्युपैति=स्वभर्तारम् स्वीकुरुते ।

भा०—यह काम-लोभादि दोष के अधीन सत्तार प्रायश दण्ड के मय से ही अपने अपने पदार्यों में सतोष मान कर चलता है क्योंकि साधु आचरणवाले दुर्लभ होते हैं । कुलनारी भी दण्ड के मय से क्रुश, विकलाङ्ग, रोगी, निर्धन ऐसे पति की सेवा करती है ॥ १९१ ॥

तद् यथा लम्बवेला न चलति तथा कृत्वा सत्त्वरमागम्यतां देवेन । इत्युक्त्वा उत्थाय चलित । ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन् महापङ्के निमग्नः । हस्तिना उक्तम्— 'सखे शृगाल ! किमधुना विवेयम् ? महापङ्के पतितोऽहं म्रिये, परावृत्य पश्य ?' । शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वा उत्तिष्ठ, यस्मात् मद्विषस्य वचसि त्वया विश्वासः कृत तस्य फलमेतत् । तदनुभूयताम् अशरणं दुःखम् ।

भा०—तत्=तस्मात्, यथा=यावत्, लम्बवेला=लम्बस्य राज्याभिषेकसुहृत्स्य समय, न चलति=न अतिवर्तते, तथा=तेन प्रकारेण कृत्वा, सत्त्वरं=शीघ्रम्, आगम्यतां देवेन, इत्युक्त्वा, उत्थाय (वृद्धशृगाल) चलित=गन्तुं प्रवृत्त । तत राज्यलोभाऽऽकृष्टः=राज्यस्य लोभेन आकृष्ट आहतबुद्धि असौ कर्पूरतिलकनामा हस्ती, शृगालदर्शितवर्त्मना=शृगालेन प्रदर्शितयत् वर्त्म=कपटमार्गं तेन, धावन्=सवेग गच्छन् सन्, महापङ्के=गम्भीरकर्दमे, निमग्न=पतित । तत हस्तिना उक्तम्=सखे शृगाल ! अधुना=इदानीम्, किं विवेयं=निष्कामनोपाय क अनुष्ठेय ? । परावृत्य पश्य=प्रत्यावृत्य अवलोकय, अह महापङ्के पतित सन् म्रिये=मरणनिकटो भवामि । तत शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छस्य अग्रे यालधिप्रान्ते, हस्तं=शुण्ड, दत्त्वा, उत्तिष्ठ=उत्थितो भव । यस्माद्धेतो, मद्विषस्य=भाहृशस्य घूर्तस्य, वचसि=वाक्ये, त्वया विश्वास=विश्रम्भं कृत, तस्य=विश्वासस्य, एतत् पङ्कनिमग्नतारूपं=फलम्, अवगच्छ । तदेतत् अशरणं=न विद्यते शरणम् उद्धारकं कश्चिदपि यस्य, एतादृशम्, दुःखम्, अनुभूयताम्=भुज्यताम् ।

भा०—हमलिये जब तक मुहूर्त का समय न चला जाय आपको वहाँ पहुँचना चाहिये । ऐसा कहकर वह शृगाल बैठकर चला और राज्य के लोभवाला 'कर्पूरतिलक' हाथी भी शृगाल के बताने हुए मार्ग से दौटते दौटते गहरे क्रीचड़ में फँस गया । हाथी ने क्रुश—

मित्र गच्छतः । नव नवा चक्रे, देवो मे परे शीघ्र मे चैतकर करता हूँ । नवान मे ईत कर गया—देव ! मेरी पूँज को लूँज से चक्रे कर निकल जाओ । मेरे कैते चूर्त के चक्रे मे चारके विनाए किया रतका कर फल है नव अनिगारं दुःख का मोच करो ।
तथा चोक्तं—यदाऽसत्सङ्गोऽद्वितो मविष्यसि मविष्यसि ।

यदाऽसत्सङ्गमगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ १९२ ॥

भा०—(कवचो बधायुताः) यदा = यस्मिन् काले, असत्सङ्गद्वितो = अष्टौ
हुहावां सङ्ग प्रसङ्गः तैग रहितः शुद्धः, मविष्यसि तदा मविष्यसि = यीचरं चक्रे
विष्यसीत्पर्यः । यदा तु = असत्सङ्गगोष्ठीषु = अष्टौवावां चूर्तावां गोष्ठीषु = वातांतु,
पतिष्यसि = विनासं करिष्यसि तदा पतिष्यसि = यदाशुभपर्यंतं पतिष्यसीति ।

भा०—नव एक दुष्टों के संगसे चक्रे हो तब एक नवान मेडता से चक्रे है नव
दुष्ट के सह में नव चक्रे हो तब फिर एक टैति से अनोनति होती है ॥ १९२ ॥

ततो महापद्मे विमग्नो हस्ती शृगाक्षीर्मक्षिता । जतोऽहं प्रवीमि
'उपायेन हि पच्छन्वम् (१८७) इत्यादि ।

भा०—इतके चार चक्रे शीघ्र मे चैतकर करे हुये हस्ती को गच्छाई के चक्रे वावा ।
रतीके मे चक्रे है हि—'नवान से को चक्रे है' इत्यादि ।

ततस्तद्विषयवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव मन्थरस्तस्मिन्
शायमुत्पुञ्ज प्रचक्षिता । तेऽपि द्विरव्यक्तद्वया स्नेहादिर्षं शङ्कमान-
स्तममुत्सग्नुः ततः स्थले गच्छन् केवाऽपि व्यापेन चने पर्यटता स
मन्थर मासः, स च तं पृहीत्वा उत्थाय चतुषि बद्ध्वा 'अप्योऽस्मि'
इत्यभिधाय भ्रमणकौशात् क्षुत्पिपासाकुलाः स्वपृथगभिमुखं प्रयाता ।
अथ ते सुगन्धायसमूषिकाः परं विपादनुपगताः तममुपच्छन्ति स्म ।
ततः द्विरव्यक्तं विज्ञपति—

भा०—ततः = तदन्तरम तद्विषयवचनम् = तस्य द्विरव्यक्तत्वं द्वितं द्विकरं
वचनम्, अवधीर्य = अवज्ञाव महता भयेन विमुग्ध = अज्ञान इव मन्थराकुर्मः,
तस्मिन् अमुत्पुञ्ज = तदाधीनं अकस्म आक्षरं तदायत्, अस्तुम् = विहाय वचक्षिता =
प्रविचिता । ते द्विरव्यक्तकाकप्याः चरि चरिर्षं = चाविविचरिष्य आक्षुमावत् =
अभिहावाः अस्तः, स्नेहात् = मित्रेण, तं = कुर्मं अनुत्सग्नुः । ततः स्थले =
वृत्तिनाय, गच्छन् सन् स मन्थरा = कुर्मं, केवाऽपि चने पर्यटता व्यापेन वाता =
इह, स च व्याप' तं = मन्थर पृहीत्वा = वावाव चतुषि = चतुष्पात् बद्ध्वा,
'अप्योऽस्मि सज्ञापोऽस्मि' इति अभिधाय = वचनं भ्रमणकौशात् = वचन-
वचिनात् क्षुत्पिपासाऽनुका = कुच विपादा च क्षुत्पिपासे ताभ्याम् आकुञ्ज

व्याप्त सन्, स्वगृहाभिसुख=स्वस्य निजस्य षट् गृहं निवासपुर, तस्य अभिसुखं, प्रयात = प्रस्थितः । अथ = अनन्तरम्, मृगवायसमूपिकाः, परम् = अस्थन्त, विपाद = शोकम्, उपगताः (सन्तः), त = कूर्महर्तारं व्याघ्रम्, अनुगच्छन्ति स्म = अनुजग्मुः । ततः हिरण्यक मूपिकराजः, विलपति = विलाप साऽऽक्रन्दन-विलपन करोति—

भा०—हिरण्यक के हितकारी वचन को न मानकर बड़े भय से मुग्ध होकर मन्थर उस जलाशय को छोड़कर चल दिया, तब हिरण्यक, काक तथा मृग भी 'कूर्म अवश्य दुखी होगा' ऐसा समझकर स्नेह के वश में होकर पीछे २ चले । अनन्तर पृथिवी में चलते हुए मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखकर पकड़ लिया और धनुष में बाँध कर 'वाह खूब अच्छा हुआ' ऐसा बोलकर भ्रमण करने से क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होने के कारण जल्दी से घर को चल दिया । यह देखकर मृग, काक, मूपिक तीनों बड़े शोकातुर होकर व्याध के पीछे २ जाने लगे और हिरण्यक विलाप करने लगा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।

तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१९३॥

भा०—अहम् अर्णवस्य पारमिव यावत् एकस्य दुःखस्य अन्तं न गच्छामि, तावत् द्वितीयसमुपस्थितम् । छिद्रेषु अनर्था बहुलीभवन्ति । व्या०—अहम् अर्णवस्य = समुद्रस्य, पारम् = अपरतीरम् इव = यथा, न गम्यते, तद्वन् एकस्य दुःखस्य = कूर्ममित्रवियोगस्य वा स्वधननाशात्मकस्य वा चित्रग्रीवबन्धनजनितस्य कष्टस्य वा अन्तम् = अवसान विस्मरणमिति यावत् । न गच्छामि = न प्राप्तोऽस्मि, तावत् = तन्मप्ये पृथ, द्वितीयं = कूर्मबन्धनात्मकदुःखम्, उपस्थितम् । यत् छिद्रेषु = रन्ध्रेषु सासु, अनर्था = आपत्तय, बहुलीभवन्ति = बहुप्रकारका भवन्ति इति ।

भा०—समुद्र के अन्त के समान एक दुःख (धननाश अथवा चित्रग्रीव का बन्धन अथवा कूर्म का वियोग) का अन्त नहीं हुआ ठगने में मुझे दूसरा दुःख (कूर्म-बन्धन) भी उपस्थित हुआ क्योंकि छिद्र, अक्सर वा मीका मिलने पर बहुत से अनर्थ (दुःख) होते हैं ॥ १०३ ॥

स्वभावज्ञं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायत ।

तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ १९४ ॥

भा०—यत्, स्वभावज्ञ मित्र भाग्येनैव अभिजायते, तत् नु अकृत्रिमसौहार्दम् (मित्रम्) आपत्सु अपि न मुञ्चति । व्या०—यत् स्वभावज्ञ = स्वभावेन निसर्गेण, एव निरपन्न, मित्र = सुहृत्, भाग्येन = प्रादमयितपुण्येन एव, अभिजायते = स्वयोग गत भवति । तत् नु = तादृशव्याभाविकमित्रम्, अकृत्रिमसौहार्दं = न कृत्रिमम् अकृत्रिम तादृशं यत् सौहार्दं प्रेमभाव तत्, (कर्म) आपत्सु अपि = महतीषु

आपणु प्रज्ञासु अपि न मुञ्चति = न परित्यजति ।

भा०—यो श्वाभारिक विन ई नर काम्य तै मिकता ई । नर विन ननुभिन (त्याग मिकता को नदी आधितियों में नो नही छोड़ना ई ॥ १९४ ॥

अपि च—न मातरि न श्वारेषु न सोद्वर्षे न चाऽऽत्मजे ।

विश्वासस्तादृशः पुंसां पादश मित्रे स्वभावसे ॥ १९५ ॥

न —पुंसां स्वभावसे मित्रे तादृक विश्वास (भवति) तादृक च प्रान्त श्वारेषु च सोद्वर्षे च च आत्मजे (भवति) । भा०—पुंसां = बुद्धधन्याम् स्वय स्वभावैव ज्ञावते इति स्वभावजव = अनुभिमम् तरिमम् मित्रै = सुहृदि, तादृ तादृक, विश्वासा भवति तादृशः = तादृक विश्वासा, न मातरि विशेषेण मा या सा माता तस्यां जगन्मातृ च भवति । न श्वारेषु = पत्न्यामपि च भवति । सोद्वर्षे = क्षमायै पृथगिमम् श्वारे ज्ञावितः, सोद्वर्षः ज्ञाता तस्मिन् च भवति आत्मजे = आत्मनः स्वरमात् ज्ञावते स आत्मजा = स्वतजना तरिमजपि च भव

मा —दुर्षो को त्यागविक विन में वैता विवात होता ई वैता न पदा । को ये च भाग में और न तो पुत्र में ही होता ई ॥ १९५ ॥

इति मुहुः विचिन्त्य प्राह—'महो मे पुर्व्वेवम् ।

भा०—एत प्रकृत शरंवार विचार करके हितवक बोका करे । मित दुर्षोव ई'

पठः—स्वकर्मसन्तानविशेषितानि क्वक्षान्तपऽऽवर्तिष्टुमाऽऽशुभावि
इहैव दृष्टानि मयैव तानि क्वक्षान्तपक्षीव क्वक्षान्तपक्षि ॥ १९६

भा०—क्वक्षान्तराणि क्वक्षान्तराणि इव तानि स्वकर्मसन्तानविशेषितानि क्व क्षान्तराऽऽवर्तिष्टुमाऽऽशुभावि तानि मया इहैव दृष्टानि । भा० —क्वक्षान्तराणि = कर्म एव क्वक्षान्तरं अथवाचं प्रज्ञी येषां तानि इति क्वक्षान्तराणि = ज्ञापनीनि क्व नि ज्ञाप्यानि इत्यर्थः । तादृशाणि तानि क्वक्षान्तराणि = क्वक्षान्तरं परस्परं विनि दृष्टा नवत्वा इति क्वक्षान्तराणि क्वक्षान्तौ क्वक्षान्तौत्वामेव इत्यर्थः । त इव = क्वक्षान्तरोपासे क्षरीरे एव तदीयवाचवाचवत्त्वामेव इति भोक्षान्तरं चर्चा तया क्वक्षान्तरे एव मीचतुं बोधयति वाचीति अङ्गुवितसादृत्वात् । स्वकर्मसन्तान विशेषितानि = स्वल्प कर्मनि क्षुमाऽऽशुभावरणाणि तेषां क्वक्षान्ताः आरम्भमा, ई विशेषितानि = विकसितानि स्वकर्मसन्तानां क्रमेण क्वक्षान्ता ज्ञाप्यमावाचीत्यर् क्वक्षान्तराऽऽवर्तिष्टुमाऽऽशुभावि = क्वक्षान्ता क्वक्षान्तरं क्वक्षान्तरम् तानि ज्ञापयतीति वाचीति क्षुमाऽऽशुभावि च क्वक्षानि । तानि = क्वक्षानि मयैव इहै अनिमन्नेव क्वक्षानि दृष्टानिप्यु क्वक्षानि इति ।

भा०—वैदे क्वक्षान्तरैव क्वक्षान्ते को नवत्वं-बोधयति क्वक्षान्तै क्वक्षान्तरैव क्वक्षान्तै

भोग्य होती हैं, वैसे ही अपने किये हुये कर्म समूहों से उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ फल भी दूसरे जन्ममें भोग्य होते हैं । लेकिन मुझे तो दुर्भाग्यसे इस जन्ममें ही भोग करना पडा ॥

अथवा इत्थमेवैतत् । (अथवा यह सब ऐसे ही होते हैं)—

काय. सन्निहिताऽपायः सम्पदः पदमापदाम् ।

समागमाः साऽपगमा. सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ १९७ ॥

अ०—काय सन्निहिताऽपाय, सम्पद आपदां पदम्, समागमा. साऽपगमा, उत्पादि सर्वं भङ्गुरम् । व्या०—काय = पाञ्चभौतिको देहः, सन्निहिताऽपायः=सन्निहित समीपवर्ती अपाय. नाश मरण यस्य सः विनश्वरो भवतीत्यर्थ । सम्पदः= सम्पत्तय आपदाम् = नृपति-चौराद्युपद्रवाणाम्, पद=स्थान भवन्ति । समागमाः= हृष्टजनसयोगा साऽपगमा = अपगमेन वियोगेन नाशेन सहिता सन्तः भवन्तीत्यर्थ । उत्पादि = उत्पत्तिशीलम्, सर्वं=यावद्दस्तुजातम्, भङ्गुर = ध्वसस्वभावमिति भवति ।

भा०—शरीर विनाशस्वभाववाला है । सम्पत्ति सब दु ख का स्थान रूप है । मित्रादि-समागम सब वियोगान्त होते हैं, और उत्पत्तिशील सब नष्ट होते हैं । (इसलिये शोक क्यों करना) ॥ १९७ ॥

पुनर्विमृश्याऽऽह—(फिर से विचार कर बोला)—

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।

केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥

अ०—शोकारातिभयत्राण प्रीतिविश्रम्भभाजन मित्रम् इति इदम् अक्षरद्वयं रत्नं केन सृष्टम् ? व्या०—शोकारातिभयत्राणम्=शोकः विषाद एव अराति शत्रुः तस्मात् यत् भय तस्मात् त्राणं यस्मात् तत्, अथवा शोकश्च अरातिश्च भय चेति तेभ्य त्राण यस्मात् तत् तादृशम्, प्रीतिविश्रम्भभाजनम्=प्रीतिश्च विश्रम्भश्च तयोः भालनम्, स्नेहविश्वासयो. पात्रमित्यर्थ । 'मित्रम्' इति इदम् अक्षरद्वयम्=अक्षरयोः द्वय यस्मिन् तत्, इत्यक्षरद्वयम् रत्नम् = अमूल्य ललाम केन = विधात्रा, सृष्टम् = उत्पादितम् ।

भा०—शोक से, शत्रु से और भय से रक्षण करनेवाला, स्नेह तथा विश्वास का स्थान-रूप 'मित्र' ये दो अक्षर का नामवाला रत्न किस नहापुरुषने उत्पन्न किया है ? ॥ १९८ ॥

किञ्च—मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः

पात्रं यत् सुखदु खयोः सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते ।

ये चाऽन्ये सुहृद् समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽकुला-

स्ने सर्वत्र मिलन्ति तन्वन्निष्कार्यावा न त्रेतां निगता ॥१९९॥

न — यत् मित्रं नववयोः प्रीतिरद्यात्तर्षं चेतसा आनन्दं सुखदुःखयोः क
 पाद्यत्, इत् पुन्यवहमया कम्बते । ये च समुद्दिप्तमये इत्यादिमिच्छावाङ्मुखात्, अन्
 मुहृद्, ते सर्वत्र मिच्छन्ति तेषाम्पु विपत् तत्त्वविक्रमप्राया (यवति) । स्वा—
 मित्रं = सुहृद् नववयोः = ब्रह्मयोः, प्रीतिरद्यात्तर्षम् = प्रीत्याद्यन्तस्व रक्षस्व नव
 स्वावम् स्नेहात्परसस्वौचवमित्थर्षम्, भवतीति तदा । चेतसा = अन्तःकरणेन
 आनन्दम् = आनन्दवतीति आनन्दम् अङ्गादकरं भवति । सुखदुःखयोः सु
 च दुःखं च तयोः, यम पाद्यत् सुखे यति यममुक्तमात्रम् सुखे सति च यम
 दुःखमात्रं भवतीतिवर्षः । इत् = इत्तर्षं मित्रं पुन्यवहमया च पुन्यवता कम्बते
 आद्यायते । ये च, समुद्दिप्तमये = अन्त्यासमये इत्यादिमिच्छावाङ्मुखात् = इत्यस्य वनस
 अमिच्छायेन क्यकसत्वा आङ्मुखा, अन्ये = स्वार्थपरावचनम्, मुहृद् = मित्रानि भवन्ति
 ते तु = स्वार्थपरावचनस्तदाद्याः मुहृद्स्तु । सर्वत्र = स्वके स्वके विकल्पित । तेषाम्पु
 स्वार्थपरावचमिच्छायाम्पु, विपत् = आपत्ति, तत्त्वविक्रमप्राया = तत्त्वस्व मित्रवत्
 मिच्छा वरीचका प्राया प्रस्तरा भवतीति ।

धा— यो विप वेत्तो यो प्रीतिश्च नीचविक्रम इ तथा विपश्च आनन्दवाच इ ए
 तच्छुःकश्च तमानमत्तो इ इति विप कित्ती पुन्यवता यो मिच्छते इ नीर यो तस्यै इ
 तमय यै नव यो आद्या रक्षयेद्यते इति इति विप तौ सन कपर इत्यन् इ एते स्वार्थं विपे
 यो विपति तमय नै वरीचका यो वली इ ॥ १८८

इति बहु विकल्प्य हिरण्यकम्बिवाङ्मुखात्तुपतनक्याह—‘धात्वर्थं
 व्याघो वनाच्च गिासरति तावन्मन्धरं मोक्षयितुं परमा क्रियताम्’ ।
 तौ ऊचतुः— सत्वरं यथाकार्यमुपदिश’ । हिरण्यको मूते—‘विवाङ्गो
 वल्लभमीपं गत्वा मृतमिवाऽऽत्मानं निक्षेपं दृशोयतु, अकम्ब तत्सोपनि
 म्बित्वा अकम्ब किमपि विशिञ्चतु, नूनमनेन सुष्यकेन मृगमांसादिभ्य
 तव कच्छपं परिस्यस्य सत्वरं परस्तम्बम् ततोऽई मन्धरस्य कम्बं
 ऐस्यामि सञ्चिहिते सुष्यके मवद्भ्यां पञ्चायितम्बम्’ ।

वा — इति = इत्येवं प्रकारेण बहु विकल्प्य = अतिविकल्पं कृत्वा हिरण्यकम्
 मुचिकरात्तः विवाङ्गमुपतनकी = सुष्यको आह—अथं व्याघ—सुष्यक्य वनात्
 नरत्वात् वाचत् = वाचता समयेन व विध्वंसति = व विर्गन्वति तावन्तावता
 कायेन मन्धरं मोक्षयितुं = व्याघवन्धवात् सुखं कर्तुं (सुष्माभिः) कत्वा = वैद्म
 क्रियतां = विधीयताम् । तौ = काकहरिणौ ऊचतु यथा = येन प्रकारेण धर्म—
 योग्य भवति तत् सत्वरं = सीघ्रम् उपदिश = त्वमेव उपदिश । हिरण्यको मुचिके
 मूते विवाङ्गो = अथं हरिणः, वल्लभमीपं = वल्लभ्य समीपं गत्वा आत्मानं = स्वम्
 सुतमिन् निक्षेपं = न विच्छेत्तै वेदा वत्स्य तत् तवाविचत् दृशोयतु । अकम्ब, तत्त्व

मृगस्य उपरि, स्थिरत्वा = भवस्याय, किमपि = क्रीडादिमिपाऽऽभासम् चञ्चत्वा विलि-
खत्तु = चञ्चुपुटेन विकर्षत्, (तद्वलोक्य) मृगमांसाग्निना = मृगस्य मांसम् अर्धयते
इति मृगमांसार्था तेन, तथाविधेन, अनेन = लुब्धकेन, नूनम् = भवश्यम्, तत्र =
तस्मिन्नेव स्थले, कच्छप = मन्थर, परिगज्य, सत्वर = शीघ्रं, (मृगं प्रति) गन्तव्य
ततः = पश्चात्, अह मन्थरस्य बन्धन छेत्स्यामि । लुब्धके च (युधयो) सद्भिहिते =
समीपे आगते सति, भवद्गधां = युवाभ्यामपि, शीघ्रं पलायितव्यम् ।

भा०—इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने हरिण तथा काक से कहा कि—'जब
तक यह व्याध वन से बाहर न जाय तब तक ही मन्थर को छुड़ाने का प्रयत्न करना
चाहिये' । मृग और काक बोले—'जैसा करना उचित हो वह खस्ती कदो' । हिरण्यक ने
कहा—'चित्राङ्ग जल के समीप जाकर अपने को मृतवत् निश्चेष्ट बनावे और काक उसके
ऊपर बैठकर चञ्चु से नोचे । यह देखकर मृगमांस का लोभी वह लुब्धक जरूर मन्थर को
वहाँ ही छोड़कर हरिण के पास जायगा और पीछे से मैं मन्थर के बन्धन को काट
छाडूँगा, जब तुम लोगों के समीप में व्याध आ जाय तब तुम दोनों भाग जाना ।

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथाऽनुष्ठिते सति स
व्याधः परिश्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टः सन् तथाविधं
मृगमपश्यत् । ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्ट-
मना मृगान्तिकं चलितः । अत्राऽन्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्थरस्य
बन्धनं छिन्नम् । छिन्नबन्धनं कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः, स च मृगः
आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः, प्रत्यावृत्त्य लुब्धको
यावत् तत्तलमायाति तावत् कूर्ममपश्यन्नधिस्तथत्—'उचितमेवैतत्
ममाऽसमीक्ष्यकारिणः' ।

व्या०—ततः = तादृशविचार्य, चित्राङ्गलघुपतनकाभ्याम्, शीघ्रं, व्याधस्य पुरः =
जलाशयसमीपे गत्वा, तथा अनुष्ठिते सति = मृतवत्प्रवृत्ते सति, परिश्रान्तः स
व्याधः, पानीय = जल, पीत्वा, तरोः = वृक्षस्य, अधस्तात् = छायायाम्, उपविष्टः
सन्, तथाविध = मृतमिव मृगम्, अपश्यत् । ततः कच्छपं = मन्थरम्, जलसमीपे =
जलस्य समीपे, निधाय = स्थापयित्वा, कर्तरिकां = छुरिकाम्, आदाय = गृहीत्वा,
प्रहृष्ट प्रसन्नमनो यस्य तथाविध सन्, मृगान्तिक = मृगस्य अन्तिकम्, चलितः =
प्रस्थित । अत्रान्तरे = एतस्मिन् अवसरे, हिरण्यकेन, आगत्य, मन्थरस्य बन्धन
छिन्न = कर्तितम् । सः कूर्मः छिन्नबन्धनं = मुक्तबन्धनं सन्, सत्वर = स्वरया,
जलाशय = हृद प्रविष्ट । स च मृगः = चित्राङ्ग त = व्याधम्, आसन्न = निकटवर्ति-
नम्, विलोक्य = दृष्ट्वा, उत्थाय = उत्प्लुत्य, द्रुत = सत्वरम्, पलायित = धावित ।

सुखकः प्रत्याहारः = प्रत्याहारः वाच्यं तद्वत्कर्म = ततोः तद्वत्, आचारि = आचरन्
 भवति तावत् कर्म = कर्मवत्, अवरवत् = अविद्योक्तवत् सत् अविद्योक्तवत्, अचरन्
 चकारिव = अन्वगुं हित्वा करोतीति समीचकारो तथाविधो न भवतीति अन्व
 गीयः कारी अविद्योक्तकारो कारीत्वर्त्तः । तस्मिन्वाहकस्य मम = मन्मते एतद्वत्कर्म
 हामिर्मुखात्प्रसिद्धेति पश्चित्तमैक्योत्पत्तेयमेव व्यतमिति ।

भा०—ईहा विचार करके के वाह रूप और वाह दोनों के अन्तर उत्पन्न हुए
 आचरण किया । वाह हुआ अन्व ही वाही बीकर हुए के बीचे बैठते ही एतद्वत् रूप के
 देहकर कर्मवत् को कर्म के समीच रखकर हूरी केकर प्रत्यक्षा पूर्णक रूप की ओर बस
 रही अदतर में हिरण्यक के आकर मन्वर का वन्वय काय हुआ, वह मन्वर की वन्वी
 वाही में बसा गया और वर वह रूप की अन्व की समीच में आया देहकर कर्मवत्
 कर्मकर वाच गया । अन्व बीकर वर हुए के बीचे आया ही वही कर्मकर की ही
 देहकर चिन्ता करके अन्व वि-अन्वितार्त्त कर्म करने वाले धरे जिये वर उभय ही हुआ ।

वता—यो भ्रुवाणि परित्यज्य अमुवाणि निषेवते ।
 भ्रुवाणि तस्य ब्रह्मसि अमुत्वं नष्टमेव हि ॥ २०० ॥

य — यः भ्रुवाणि परित्यज्य अमुवाणि निषेवते तस्य भ्रुवाणि बरचन्ति अमु
 वष्टमेव हि । अ०— यः अन्व, भ्रुवाणि = विज्ञिताणि विज्ञकाणि वा, परित्यज्य =
 विहाय अमुवाणि = अविज्ञिताणि अचिरचकाणि वा निषेवते = अवकम्बते । तस्मिन्
 अवस्थ भ्रुवाणि = विज्ञकाणि स्वैवेव परित्यज्यत् बरचन्तीति अमुवत् = अवि
 ज्ञितान् प्रवसमेव स्वावर्त्तं न भवति अतस्तद्वष्टमेव वर्तते इति ।

भा०—ये यज्ञ्य मुव (विष्णु) वस्तु को त्याग कर अहृव वस्तु का अवकम्बन करता है
 वस्तु को मुव वस्तु त्याग से नष्ट हो लुब्धे और अमुव हो नष्ट हो है । (वस्तुजिये दोनों अन्व
 से वाने हीनी है) ॥ २ ॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशात्प्रतिपत्ताः कर्त्तव्यं प्रविष्टाः मन्वराह्वयस्य सर्वे
 मुत्तःऽऽपदाः स्वस्वार्त्तं गत्वा यथासुखमास्थिताः ।

—यः— ततोः = तत्पश्चात् अन्वीअन्वायाः, स्वकर्मवशात् = स्वस्य वत् अविद्युरन्व-
 वारित्वकर्म कर्म तस्य वशात् विराडा-वि-हता आत्मा वस्तु का तथाविधा सत्
 कर्त्तव्यं = विधिरं स्वस्वार्त्तं, प्रविष्टाः = यता । मन्वराह्वयस्य सर्वे = मन्वरकर्मकर्म-
 वृतिना सुख्यकर्म-मुत्तः— यथा आपत् वेवान्ते आपधिरहितः अन्वः, स्वस्वार्त्तं =
 स्वेषां स्वावर्त्तं गत्वा यथासुखं = मुत्तम् अवतिष्ठन्व वर्तन्ते इति यथासुखं वानि-
 र्त्तकम् आस्थितान्भवन्ति एव ।

भा०— ततो वाह वह अन्व अवर्त्त कर्मवष्टते निराह होकर अपने स्वावर्त्त यथा अन्व

और मन्थर चित्राङ्ग-लघुपतनक तथा हिरण्यक ये सब आपत्ति से मुक्त होकर अपने स्थान में जाकर आरामपूर्वक रहने लग गये ।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—‘सर्वे श्रुतवन्तः । सुखिनो वयम्, सिद्धं नः समीहितम्’ । विष्णुशर्मोवाच—‘एतद्भवतामभिलषितमपि सम्पन्नम्, अपरमपि इदमस्तु—

व्या०—अथ=काकादिकयासमाप्यनन्तरम्, राजपुत्रैः=राज्ञः पुत्रा तनया ते सानन्दम्=आनन्देन सहितं यथा स्यात् तथा, उक्तम्=अभिहितम्=सर्वे वयं=वयं सर्वे राजपुत्राः (भवदुक्तं मित्रलाभाख्य प्रबन्धम्) श्रुतवन्तः=आकर्णितवन्तः, अथ च सुखिनः=अतिदृष्टाः भवाम्, किञ्च न=अस्माकम्, समीहितम्=अभिलषितम्, यदासीत्, तत् सिद्धं=सम्पन्नमिति । तदा विष्णुशर्मोवाच—पृतावत्=मित्रलाभाख्यनिबन्धमात्रम्, भवतां=राजपुत्राणाम्, अभिलषितं सम्पन्नम्, अपि च, अपरमपि=मित्रलाभकयाऽतिरिक्तम्, इत्म्=वचयमाणमपि, अस्तु=भवतु—

भा०—कौवे आदि की कथा समाप्त होने पर राजपुत्रों ने आनन्द के साथ कहा—‘हम सब मित्रलाभाख्य नीति को श्रवण करके खूब सुखी हुए हैं, हमारी इच्छा पूर्ण हुई । तब विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—यह मित्रलाभ रूप नीतिविचार आपकी अभिलाषानुसार सम्पन्न हुआ और यह भी हो—

मित्रं यान्तु च सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां

भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मे स्थिताः ।

आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः

कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः ॥ २०१ ॥

भा०—सज्जना मित्रं यान्तु, जनपदैर् लक्ष्मी समालम्ब्यताम्, भूपाला शश्वत् स्वधर्मे स्थिता वसुधां परिपालयन्तु, व नीतिः नवोढा इव सुकृतिनां मानसतुष्टये आस्ताम्, भगवान् चन्द्रार्धचूडामणिः जनस्य कल्याणं कुरुताम् । व्या०—सज्जनाः=सन्तश्च ते जनाः साधवः, मित्रं=सुहृदम् । यान्तु=लभन्ताम्, जदपदैः=जनपद-घासिजनैरित्यर्थः । लक्ष्मीः=विविधा सम्पद्, समालम्ब्यतां=समासाद्यताम् । भूपाला=भुवः पृथ्वीं पालयन्ति इति भूपाला, शश्वत्=सर्वदा, स्वधर्मे=स्वेषां राज्ञां धर्मं प्रजारक्षणदिरूपो धर्मस्तस्मिन्, स्थिता=वर्तमानाः सन्तः, वसुधां=वसुधरां पृथ्वीम्, परिपालयन्तु=सरन्तु, सम्यग् भवन्तु इति । वः युष्माक (राजपुत्राणाम्) नीतिः=नीतिशास्त्रविज्ञानम्, नवोढा इव नवविधाहिता तरुणीव, सुकृतिनां=पण्डितानाम् मानसतुष्टये=मानसस्य अन्तःकरणस्य तुष्टिः सन्तोषः तस्य,

आस्तात् = भूयात् । अयथात् = अथपद्वाप्यवर्षैर्बर्षाहासी चन्द्रार्धवृत्तमिति =
 चन्द्रस्य वर्षम् इति चन्द्रार्धम्, चन्द्रार्धम् एव वृद्धमभिर्चस्य सा अर्धचन्द्र-
 प्रीतिः कुर्यात् अथत्वे = अथेकप्रकारस्य कथनात्मम् = अन्वयवृत्तमस्य विःशेषप्रकार-
 केऽनुभवविषयं शेषः, कुर्यात् = सम्पाद्यतु आविर्भावमिति । (अत्र स्थले
 नीलिर्नयोऽप्येव वा' इत्यस्य स्थले 'भीतिः प्रीतिः मया इति पाठान्तरम् ।) अर्ध-
 चन्द्रविरतिं वृत्तम् ।

आ—सम्भव पुरषो का विभो के प्राय लबालम हो देख एका देखतसे अने
 सम्पत्तियो से परिपूर्ण हो, एका जीव विरन्तर स्वर्गमें में रहते हुए शुद्धि का प्राप्न करे।
 आपका भीति विद्याय बृहत् विराट्पिता तस्मी के सवाव पुन्वहासी पंडितवर्गों के सम्प-
 करण को शुद्धि के सिद्ध हो, (यन्मत्) अर्धचन्द्र को चन्द्र में वारण करके एके बृहत्सौ
 जीव (प्रविद्यत) का सम्पन्न करे ११ २ ॥

॥ एषि च ॥

एषामिवात्मानो बभूवुः स्यादिति जनाः । इमं भीतिवचनेन युवा भीतिवर्तिर्भव ॥ १ ॥
 अपरते एषिमे प्राप्ते पुन्वे सामरस्यते । ऐवत्प्रवृत्तवचने कृत्वीरामुविदते ॥ २ ॥
 वीरविद्वान्प्रसन्नोर्ध्वं 'भीर्धुर्धु' विराट्पिता । भीकृत्प्रवृत्तवचनेः एषामिवात्मानोऽपिदतेः ॥ ३ ॥
 विद्वान्प्रसन्नोर्ध्वं वृत्तमिति ॥ (११११) विद्वे । वीरमप्ये पुन्यमप्ये वृत्तमिति ॥
 हितोपदेशमन्वयस्य मिश्रणमपिदते मः । विद्वेषतोऽप्यवन्वयवचनवात्पिद्वान्पिता ॥ ४ ॥
 कृत्वा मवापिदते देवे स्यात्प्रवृत्तवचने । एषामिवात्मानो स्यात्प्रवृत्तवचनं च मतीरतु ॥ ५ ॥

इति भीमहाईविक्रमज्ञान-सहस्रनामाचार्य-प्राङ्गु-बसोयती-वाम्यन्वा-
 च्य-वन्दित-भीकृत्प्रवृत्तवचन-आदिवात्प्रवृत्त-
 पिता हितोपदेशीय-मिश्रणमन्वयवचन-समाप्तम् ।



श्लोकानुक्रमणिका



पृष्ठ	श्लो०	पृष्ठ	श्लो०	पृष्ठ	श्लो०
२२१	अचिन्तितानि	७७	आपसु मित्र	२३	कीटोऽपि सुमन
२	अजराऽमरवत्	५३	आपदर्थे धन	१०५	कुसुमस्तबकस्यैव
८	अजातमृतमूर्खा	४५	आपदासापत	१३७	कुलाचारजना
३३	अज्ञातकुलशील	१३०	आमरणान्ता	१२	को धन्यो बहुभिः
६९	अतिधिर्यस्य	१४	आयु कर्म च	११२	को धर्मो भूत
१०५	अस्यन्तविमुक्ते	१४	आहारनिद्राभय	७	कोऽर्थ पुत्रेण
१०६	अर्थनाश मन	१३३	औरस कृतस	९३	को धीरस्य मन
११	अर्थाऽऽगमो	३३	हृज्याध्ययन	३४	गताऽनुगतिको
११५	अर्था पादरजो	४३	ईर्ष्या घृणी त्व	२४	गुणा गुणज्ञेषु गुणः
१०३	अर्थेन तु विही	६९	उत्तमस्याऽपि	९	गुणिगणगणना
१००	अष्टदिदान कृत	१२५	उरसाहसम्पन्न	९७	गृहरग्निद्विजाती
३१	अनिष्टादिष्टा	७७	उरसवे व्यसने	९०	घर्मात् न तथा
६	अनेकसशयो	२८	उरथायोऽथाय	९४	चलत्येकेन पादेन
९१	अन्यथैव हि	१८	उद्यमेन हि सि	१२७	जनयन्त्यर्जने
७९	अपराधो न	१७	उद्योगिन पुरुष	१२९	जन्मनि क्लेश
१०३	अपुत्रस्य गृह	८१	उपकारिणि विश्रब्धे	१२०	जलमग्निर्विप
१३५	अग्मांसि जल	११३	उपाजितानां वि	५५	जातिद्रव्यबला
७४	अय निष्कः परो	१३६	उपायेन हि यच्छु	६६	जातिमात्रेण किं
६८	अरावप्युचित	१२	अणकर्ता पिता	३४	तत्र पूर्वशत्रुवर्गो
४७	अक्षपानामपि	७१	एक एव सुहृद्दर्म	९६	तत्र मित्र ! न
३९	अवशेन्द्रियसि	१४१	एकस्य दुःखस्य न	१०४	तानीन्द्रियाणि
१५	अवश्यम्भाविनो	३०	कङ्कणस्य तु	६५	सावद्रयस्य भेत
४४	असम्भव हेम	११९	कर्त्तव्यं सन्नयो	८४	तिरश्चामपि
११८	असम्भोगेन	१८	काकतालीयवत्	६८	तृणानि मूमिरुद
२६	असाधना विक्ष	२०	काच काञ्चनस	१११	तेनाऽधीत श्रुत
१११	असेवितेश्वरद्वा	१४३	काय सन्निहिता	८४	त्रिभिर्वपस्त्रिभि
२२	अस्मिस्तु निर्गुणं	२५	काभ्यशास्त्रविनो	११३	त्यजेद्देक कुलस्यार्थं

१० हरिद्रात् भर कीन्धेव
 ११ वातव्यमिति च
 ११६ वात विषयात्
 १ वाते तपसि कीर्त्तये च
 ११ शोषधातुगर्हात्
 १ वातिद्रवात् द्विचमेदि
 १ वातिद्रवात्प्रमादात्
 ०९ शीतविर्वापघ्नम्
 ६६ कुर्वता परिहर्तव्यः
 ६९ कुर्वताः प्रियवाही च
 १ कुर्वतेव सम सचपय
 ६६ द्रवत्वात् सर्वाङ्गीहा
 ११ चयत्त्वो घामन्तुष्टो
 ११६ चमनामिति द्वि महा
 ५५ चमामि त्रीवित्तयेव
 १ चमवात् चकवात् को
 १९ चमिका कोविशो रा
 ११० चमैव किं ? को न
 १ चमैव चकवात् कोको
 ११९ चर्म तावद्मुकुमम्
 १० चर्मार्थं चरुकेको
 ५५ चर्मार्थं काममोक्षा
 ११६ चर्मार्थं चरुव विसेहा
 ०५ च कश्चिन् करवचिद्
 ० च तन्वरवामनो घण्टे
 ०० चरुको वाच्यवाचीनां
 ११६ च चराच न विद्याच
 १ च देवमवि लङ्घिन्व
 १ च चर्मलाच चरुतीनि
 १ च मानसि च दारैषु
 १११ च कोमलवतं दूरम्
 ११ च मन्त्रप्रजनादक
 ११५ च चकवात्प्रचय

११३ नात्यान्वमभिधान्
 १२ वाङ्मये विद्विता
 ६६ वारिकेकतमाकारा
 ११० विमर्शोर्ध्वं विद्
 ११५ विषाममिव मन्त्रका
 ११६ विवतविषयवर्ती मा
 ६९ विगुणेष्वपि सप्रेषु
 ९१ वपुर्ध्वं चकवादिर्ध्वं
 ११२ परिप्रेक्षो द्वि पाण्डि
 ६ परोक्षे कार्बहन्तारं
 ९५ परोपदेशे पाण्डित्य
 ११६ वर्धन्व इव मृताभां
 ११३ वामीर्ध्वं वा मिराचारं
 ११ वृष्यतीर्थे कृषं वेव
 १९ वृष्यन्ममकृतं कर्म
 १९ वृत्तकेषु च वाङ्गीर्त
 १६ वृत्तावधाने च दाने च
 ६१ व्राक पाह्वो वतति
 १५ व्रज्या वधात्प्रमया
 १९ व्राका वा वदि वा दृ
 ६० व्रक्षितैवाग्नि मवता
 ६१ व्रक्षजचक्रयो वी
 ९१ व्रमन्वन्वद् वचरव
 १०५ व्रमन्वी ज्ञिचये कार्म
 १ वर्तयस्मिति चरुद्वा
 १५ वरुचरुचर्वा वया वृष्टि
 ६ महताऽन्वर्धनारोम
 ०९ माता मिर्धं पिता केनि
 १ माता चतुर्विधा वेती
 १९ मन्त्रप्रवर्तारैषु
 ६५ मन्त्रार्ता वदितो मेवा
 १११ मानमेकं मतो वानि
 ५९ मानमूर्धुरीचाग्निव

१०३ मिर्धं पीठिरघात्वं
 ११० मिर्धं वानु च मन्त्र
 ५ मिर्धकाय सुहृदेव
 १ मूर्धं प्रसन्नं विवका
 ६० मूर्ध्नात्सुहृदेव
 ०० मन्त्र विद्मन्त्रो वा
 १० मया कल्पितः
 १९६ मया कल्पितमाकारे
 १९ मया क्लेशेव चक्रेव
 १९ मयोद्भवमितोर्ध्वं
 ११३ मद्योदया चित्तौ
 ११२ मद् वृद्धिं वदरवाति
 ० मद्वादि विविधेभ्यो
 १३ मद् वद्वं द्वि वा
 ६ मद् वेव वृज्यते
 १५ मद्मग्निं न वद्वदि
 १० मद्वात्प्रमहृदितो
 ६९ मद्मन्त्रं न तन्मन्त्रव
 ६५ मदि वित्तममिवेव
 ० मन्त्रे माने मन्त्र
 ५१ मन्त्राच्च वेव च वना
 ९५ मन्त्रिन् दैते न न
 १३ मन्त्र कल्प प्रमृगोऽपि
 १ मन्त्रार्थात्तरव
 ५१ मन्त्र मिर्धेव ल
 ५६ वानि कायि च मि
 ११० वेव सुवकीकुटा ईती
 ०१ योऽस्ति चरव वदा
 ५० योऽधिकान् कोमच
 ११५ यो अवापि चरि
 ६ योवर्धे चकवादि
 ९ यद्वचयेतो वाग्ना च
 ११६ राजता कश्चिदा

पृष्ठ	श्लो०	पृष्ठ	श्लो०	पृष्ठ	श्लो०
१३८	राजान प्रथमं	४२	शङ्कामिः सर्वमा	२	सर्वद्रव्येषु विद्येव
१९	रूपयौवनसम्पन्ना	५६	शरीरस्य गुणानां	४०	सर्वस्य हि परीक्षयन्ते
५२	रोगशोकपरीताप	५८	शशिदिवाकरयो.	७१	सर्वहिंसानिवृत्ता ये
१०९	रोगी चिरप्रधासी	८६	शत्रुणा न हि सं	११०	सर्वा सम्पत्तय
९६	लोकयात्रा भय	१२३	शास्त्राण्यधीर्यापि	४०	स हि गगनविहारी
४४	लोभात् क्रोध	८९	शुचिस्त्वं र्यागिता	१२९	सा तृष्णा चेत्
१३३	लोभाद्वाऽथ भया	२८	शोकस्थानसहस्रा	८५	साधो प्रकोपित
१०९	लोभेन बुद्धिश्चलति	१४३	शोकारातिभय	१	मिद्धि साध्ये सत्ता
१०	वरमेको गुणी पुत्र	१	श्रुतो हितोपदेशो	१२४	सुखमापतित से
८	वर गर्मन्तावो वर	१३१	श्लाघ्यः स एको	४१	सुजीर्णमन्नम्
१०७	वर मौन कार्यम्	४७	पह दोषा पुरुषेणेह	४३	सुमहान्यपि
११४	वर वन व्याघ्रग	३	सयोजयति त्रिषैव	७८	सुहृदां हितकामानाम्
१०६	वरं विभवहीनेन	११४	संसारविपवृत्तस्य	१०८	सेवेव मानमखिल
१०८	वर शून्या शाला	४८	संहतास्तु हरन्तीमे	९३	स्थानमुत्सृज्य गच्छ
४६	विपदि धैर्यमथाम्युद	,,	सहतिः श्रेयसी	९२	स्थानभ्रष्टा न
३	विद्या ददाति विनयम्	८०	सलापितानां मधुरै	८९	स्नेहच्छेदेऽपि
४	विद्या शस्त्रज्ञ शास्त्रज्ञ	९	स जातो येन जातेन	१४२	स्वकर्मसन्तान
१२५	विनाऽप्यर्धैर्धीर	४५	स यन्धुर्यो विपन्नानां	१४१	स्वभावजन्तु
५५	विना वर्तनमेवैते	११५	सस्सङ्ग केशवे	७२	स्वच्छन्दवनजामेन
१२६	दृश्यं नातिचेष्टेत	१३०	सन्त एव सतां	१३	हा हा पुत्रक !
४२	बुद्धस्य वचन ब्राह्म	११०	सन्तोषामृततृप्तानाम्	२१	हीयते हि मति
५८	व्योमैकान्तविहा	४७	सम्पदि यस्य न		



संस्कृत-स्वय-शिक्षकप्रभा

प्रारम्भिक हिन्दी स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों को संस्कृत पढ़ाने-पढ़ाने की दृष्टि से दूर करने के लिये यह पुस्तक लिखी गई है।

मूल्य - ००

संस्कृतपाठमाला

महापण्डित राहुल साँहूव्यापन

सुषमतापूर्वक संस्कृत भाषा को अधिष्ठित करने के लिये विद्वान् श्रेष्ठक के पाठक-वाक्यिकाओं के मासिक स्तर का ध्यान रखते हुए पाँच भागों में इस पुस्तक की रचना की है। इन्हें पढ़कर आप विषय ही संस्कृत भाषा और साहित्य का रस छे सकेंगे। अणु, ग्रहण, अक्षर, आदि सभी मनोरम।

प्रथम भाग ०-१ द्वितीय भाग - ०२ तृतीय भाग ०-३२

चतुर्थ भाग - ०३ पंचम भाग - १ मूल्य १-२ भाग १-३२

संस्कृत-व्याकरण की उपक्रमणिका

पं० गोपालचन्द्र दयली

मातृभाषा को हाथ सहज ही संस्कृत की शिक्षा देने के लिये संस्कृत के मातृ विद्वान् स्व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने यह 'संस्कृत व्याकरण की उपक्रमणिका' बरम्ब में लिखी थी। उसी का यह हिन्दी अनुवाद है। इसमें सन्धि, लक्षण, वाचस्प, समास आदि विषयों के संक्षिप्त विवरण हिन्दी में लिख दिये गये हैं। यह विद्यासागर की कक्षा ० ८ के छात्र इस छोटी पुस्तक से संस्कृत व्याकरण के प्रारम्भिक विषयों को समझ सकेंगे।

मूल्य १-३२

संस्कृत-व्याकरणम्

पं० रामचन्द्र झा व्याकरणशास्त्रार्थ

('अभेदपरिहृद्द हरमंगा संस्कृत विश्वविद्यालय' की प्रथमा परीक्षा में अतिथर्य द्वितीय पत्र के लिये परीक्षा-पाठ्य-संस्कृत ग्रंथ)—इसमें (१) लक्षणसन्धि (इति लक्षण आद्युक्त इतिरेषि अत्र उपर्ये रीर्य, एषोऽन्यथात्कः सुप्रो के आचार पर), (२) अणुन एव विद्यते सन्धि (लोः कुवा कुा पुन्य भू, लक्ष्य करोऽन्ते, करोऽनुनासिकेऽनुनासिके वा, यत्करोऽति, अरि च मोऽनुत्वार, पञ्चासदात्तत्वं इति, ती क, इतो होऽन्यतरत्वात् अतो रोरःपुतादपुतो, इति च, इव सुप्रो के आचार पर) तथा (३) शब्दार्थ, वाचस्प एव इत्यन्त, लोऽन्यत्वं, समास कारण का कारणचय विवेचन तथा परीक्षेयबोधी अन्वयार्थ प्रश्न की संस्कृत हिन्दी दोनों में दिए गए हैं।

मूल्य १ २

प्रारम्भिकानम्—बीकान्वा संस्कृत सीरीज अक्षित, बाणपत्नी-?

॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

श्रीनारायणपण्डितसंगृहीतः

हितोपदेश-सुहृद्भेदः

‘किरणावली’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकार

पण्डित हरगोविन्द शास्त्री

हिन्दीव्याख्याकार

पण्डित प्रद्युम्नपाण्डेयः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

१९८३

प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत शीरीष भास्विष्ठ वाराणसी
मुख्य चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण पञ्चम वि सं २४
मूल्य रु १ -

© Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99 Gopal Mandir Lane

Post Box 8 Varanasi-221001 (India)

Phone 63145

इमान्दिरक

कृष्णव्यस अक्षरद्वयी

पा० भा० ११८

कोड, (विद्या सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१
(भारत)

संपादकीय

हितोपदेश व्यावहारिक, लौकिक, नैतिक, सामान्य नैतिक एव राजनीतिक ज्ञान से पूर्ण छोटी-छोटी कथाओं का एक अत्यन्त हृदयग्राही संग्रह है, जो सुकुमार बुद्धिवाले बालकों में उक्त मन्कारों का बीजारोपण करने में अत्यन्त ही सशक्त एव समर्थ है। इसका रचनाकाल १४ वीं शताब्दी है। इसके संग्रहकर्ता नारायण पंडित हैं जिनके लाश्रयदाता बगाल के राजा घवलचंद्र थे। कुछ लोग इसे विष्णुशर्मा प्रणीत मानते हैं, किन्तु यह भ्रम उन्हें इसलिए हुआ है कि इसमें भी पञ्चतंत्र के समान कथा-वाचक विष्णुशर्मा ही हैं।

इसके रचयिता ने इसे 'संस्कृतोक्तिपु पाठवम्' (संस्कृत बोलने में पटुता) 'सर्वत्र वाचाम् वैचित्र्यम्' (वाणी में विचित्रता) तथा 'नीतिविद्या' देने वाला बताया है और है भी यह पूर्णरूपेण अनुभूत सत्य। संस्कृत भाषा के परिज्ञान का सचमुच इतना सुलभ एव सरल साधन कोई नहीं है। गहन से गहन विषयों की इतनी सरल तथा आकषक व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ संस्कृत पाठ्य-क्रमों में प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए प्रायः सर्वत्र स्वीकृत है।

'सुहृद्भेद' इसी हितोपदेश का एक अंश है, जिसमें राजकर्मचारियों के कर्तव्यों, राजाओं की नीतिरीतियों, प्रजा, कर्मचारियों एव राजा के बीच के सम्बन्धों आदि प्रासंगिक व्यवहारों की मीमांसा के साथ ही स्थान-म्यान पर सामान्य जीवनविधियों का निरूपण करते हुए 'मित्रों में फूट पैदा करके अपने कार्य की सिद्धि' के उपाय बताये गये हैं। नित्यजीवन में इसका जितना मूल्य है उसमें कहीं अधिक राजनीति में इसकी आवश्यकता है। राजा राष्ट्ररक्षा के लिए जहाँ एक ओर अन्य राज्यों से मैत्री (मित्रलाभ) करता है, वहाँ अपने शत्रु, दो मित्र राजाओं में फूट पैदा करके (सुहृद्भेद) उनकी संगठित शक्ति क्षीण कर देता है। 'सुहृद्भेद' में अन्य अन्वय कथाओं के साथ एक ऐसी ही कथा का उल्लेख है, जिसमें दमनक और करकट ने पिंगलक और सजीवक में फूट पैदा करके अपना अधिकार पुनः प्राप्त किया था।



कथासार

मूलकथा

दक्षिण देश की सुवर्चवती नाम की नवरी ने बर्चमाच नाम का एक बन्धु बनाया था। वह व्यापार द्वारा बहिक बग प्राप्त करने की क्रमशा से कर्बीर की ओर चला किन्तु सुवर्च नाम के बन्धु में उसकी बाड़ी का संबीचक नामक बीच बुलगा टूट जाने से मिर पडा। बर्चमान उसे बड़ी छोड़ कर जाने पडा गया। संबीचक किसी प्रकार छत्र और बहुत दिनों तक वहाँ स्वच्छन्द बाहर बिहार के कारण महाबन्धित बन गया।

उसी बन्धु में पिबलक नाम का एक सिह भी रहता था। वह वहाँ का राजा था। एक दिन वह पानी पीने के लिए बनुवा के किबारे गया किन्तु वहाँ संबीचक के अपूर्व शक्त को सुनकर जिना बानी पीए ही छीट जाया और बैठ कर उस शक्त के बारे में विचार करने लगा। उसके प्रयास मंत्री के करने बयनक और करकट ने उसे इस स्थिति में देखा। बयनक ने उसकी इस स्थिति से काम उठाने का संकल्प किया और करकट से विमर्श करने के बाद उसके पास पहुँचा। बाधनीत के प्रसंग में सिह ने अपने समीप होने का कारण बता दिया। बयनक उसके सामने मन का कारण दूर करने की प्रतिज्ञा करके करकट के पास छोड़ जाया।

दोनों साथ-साथ संबीचक के पास पहुँचे। बयनक ने उसे साम बाध बन्धु अपादि से अपने बन्ध में कर जिना और सिह के सामने उपस्थित किया। सिह ने उसे बानपबाग देकर अपने पास रख लिया और बयनक तथा करकट को इस उपकार के बदले विशेष भविकार दे दिया किन्तु भविकार के मंत्र में दोनो अत्यन्त स्वच्छन्द हो गए और मनमानी करने लगे।

एक दिन पिबलक का भाई स्तब्धकर्ष जाया। पिबलक उसके मोक्ष की प्रवस्था से सिकार के लिए जा रहा था कि संबीचक ने बहूके के किये बने विचार के बारे में बहसे पूछा। बाठीबाप के प्रसंग में सिह ने बयनक और करकट को मनमानी का उल्लेख किया जिसे सुनकर स्तब्धकर्ष ने कर्मचारियों के भविकार की प्रवस्था करती हुए पिबलक से कहा कि 'भविकार इस सुवर्चोकी संबीचक से देना चाहिए। पिबलक ने उसकी बात मान ली और संबीचक को भविकारी बना दिया। बहने भय की संमित कर दिया जिसे बयनक और करकट दोनों को बडा बुरा लगा और दोगो ने संबीचक तथा पिबलक की बँधी में घुट डालने का निश्चय कर लिया।

बयनक एक दिन पिबलक के पास पहुँचा और उसे समझाया कि आपने संबीचक को जो इतना भविकार दे दिया है उसका बडा बुरा फल होने बाधा

हे । सेवक घमं के नाते मैं आप को आगाह कर दे रहा हूँ । वह आप पर बलप्रयोग करके आप के राज-पद को छीनना चाहता है अतः आप अनर्थ होने के पहिले सावधान हो जायें । सिंह ने यह सुन कर कहा—‘तो क्या उसे निकाल दिया जाय ?’ इस ‘मन्त्रभेद’ का भय दिखाने हुए दमनक ने कहा—‘अभी नहीं । वह स्वयं आप में युद्ध करने आयेगा उस समय आप मुँह गोलने पजो का प्रहार करने के लिए उद्यत बैठे रहियेगा ।’ ऐसा कहकर वह मजीदक के पास पहुँचा और उससे कहा कि स्वामी तम्हें मारना चाहते हैं अतः सींग टेढ़ी किए गरजते हुए तुम भी उनके सामने जाओ अपने बल का प्रदर्शन करो । सजवीक उसके बताए हुए ढग से पिंगलक के पास पहुँचा । पिंगलक ने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला । इस प्रकार दमनक और करकट ने ‘सुहृद्भेद’ के द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध किया और गत अधिकार को पुनः प्राप्त कर लिया ।

प्रासंगिक कथाएँ

१—कीलोत्पाटित्रानर-कथा

मगध देश में शुमवत्त नाम का एक कायस्थ विहार बनवा रहा था । वहाँ बड़इयो ने आधी फटी हुई लकड़ी में एक कील डाल कर छोड़ दिया था । एक दिन एक वन्दर ने आकर उस कील को पकड़ लिया और वही बैठ गया । बैठते समय उसका अण्डकोश लकड़ी के बीच में चला गया । उसने चंचलता से कील को खींच लिया जिससे उसका अण्डकोश दब गया और वह मर गया । अतः मनुष्य को व्यर्थ कार्यों में नहीं लगना चाहिए ।

२—चीत्कारकारि-गदभ-कथा

काशी में कपूरपुरटक नाम का एक धोबी था । वह एक दिन गहरी नींद में सोया था कि कुछ चोर उसके घर में घुस गए । आगन में बन्धे हुए गदहे ने वही बैठे हुए कुत्ते से कहा कि तुम भूँक कर स्वामी को जगा दो क्योंकि वही तुम्हारा काम है । लेकिन धोबी से अपमानित कुत्ते ने ऐसा करने से इनकार कर दिया । तब गदहा स्वामी को जगाने के लिए स्वयम् चिल्लाने लगा । धोबी की नींद उचट गई और उसने गदहे को इतना मारा कि वह मर गया । अतः दूसरे के अधिकार की चर्चा भी नहीं करनी चाहिए काम करना तो दूर की बात है ।

३—अधिकार्य विद्यास-कथा

बर्बुर पहाड-बिहार पर दुर्बान्त नाम का एक सिंह था। उसके सोरे के समय एक भूता निकल कर उसका अयाल काट देता था। इसलिए उसने अधिकार्य नाम का एक बिलार पाक लिया और भोजनार्थि से उसका बरा संस्कार करने लगा। जब भूता भी उसके दर से बाहर नहीं निकलता था बिचसे सिंह मुक्त से सोता था। एक दिन मूख से व्याकुल होकर भूता बाहर निकला तो बिलार में उसे मार डाला। जब सिंह ने बिलार की आत्मकथा न समझ कर उसके भोजनार्थि में कटीली कर दो बिचसे वह बीरे बीरे दुर्बक हो कर मर गया। मरत देवक को बाहिए कि वह स्वामी को कमी भी करने प्रति निरपेक्ष न होने दे।

४—घटाकर्ष-कुट्टनी-कथा

भीमवत पर बहापुर नाम का एक बन्दर था। वहाँ बटा पुराकर वाले वाले एक खोर को सिंह ने मार डाला। उस बटे को बन्दरो में ले लिया और उसे बजावा लुक किया। उस मरे हुए खोर को देख और बटे की आत्मा मुन कर नगर के सभी लोग घटाकर्ष मूत से डर से भागने लगे। एक कुट्टनी के इस रहस्य का पता लगा किया और वह राधा से बोली—राजन् यदि आप कुछ कर्ष करें तो मैं घटाकर्ष को सब से कम लूँगी। राधा ने उसे मन से बिना। वह कुछ पत्र लेकर वहाँ गई और लम्बे पेंक दिया। बन्दर बटा छोड़ कर फल खाने लगे। कुट्टनी बटा लेकर चली आई। राधा ने उसे बहुत पुरस्कार किया। इसलिए केवल लक्ष्मण से नहीं डरता बहिए।

५—स्वर्षरेखा तथा नापितमोपथ्यू-कथा

कञ्चनपुर नाम के नगर में एक राजा था। उसके सिपाही एक नाई को पकड़ कर मारने के लिए ले जा रहे थे कि एक साजु के साथ जाने वाला कञ्चनपुरी ने उसे बचा लिया और कहा—मैं सिंहल द्वीप का राजपुत्र हूँ मैंने एक दिन नाविकों के बँह से सुना कि समुद्र में चतुर्विंशती के दिन एक सुन्दरी लम्बा दिखाई पकती है। यह सुनकर मैं वहाँ गया और उसे देखते ही उसके रूप पर आसक्त होकर समुद्र में डूब गया। इसने बाद मैंने उसे सोने के महक से देखा और उससे विवाह कर लिया। एक दिन उसने मुझे बिना मैं नहीं सुबखरेखा अम्परा को पूने के सिधे मना किया किन्तु मैंने उसे छू दिया। पूने ही उसने मुझे ऐसा कहना दिया कि मैं अपने देश में जा निरा। सभी से अन्धारा बन कर भुम रहा हूँ। एक दिन मैं एक ध्याते के घर में सोया था। उस समय

जब ग्वाला पशुओं को खिला-पिलाकर घर लौटा तो उसने अपनी स्त्री को एक दूती से बातचीत करते हुए देखकर उसे खम्भे में बाँध दिया और सो गया । रात को फिर दूती ने आकर अपने को खम्भे में बाँध दिया और ग्वालिन को नाई के पास भेज दिया । ग्वाले ने भाँख खुलने पर फिर ग्वालिन से कहा कि अब क्यों नहीं अपने जार के पास जा रही हो । कुछ उत्तर न पा कर क्रुद्ध होकर उसने उसकी नाक काट ली और फिर सो गया । ग्वालिन नाई के यहाँ में लौट कर नाईन को वधन से खोल कर फिर अपने को उसमें बाँध दिया । नाईन अपने घर लौट गई । प्रातः काल जब नाई ने अपनी पेटो मागी तो उसने केवल छुरा दिया जिससे उसने छुरा उसके ऊपर चला दिया । इस पर अपनी नाक काट लेने का दोष लगा कर नाईन उसे भदालत में ले गई । इधर जब ग्वाला उठा और उसने अपनी स्त्री से पूछा तो उसने उसे डाँटते हुए कहा कि मैं सती हूँ, देखो उसी के प्रभाव से मेरी कटी हुई नाक जुड़ गई है । ग्वाला इसे देखकर उसके पैरो पर गिर गया ।

उसने साधु की कथा कहते हुए कहा कि यह एक दिन वेश्या के घर में सोया था । इसने वेश्या के द्वार पर काठ के एक बैताल की मूर्ति देखी जिसके सिर पर रत्न था । लालच में आकर उसने इसे लेना चाहा, किन्तु पुतले ने उसे पकड़ लिया । उसका चिल्लाना सुनकर वेश्या ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी रत्न हो दे दो, तमी छूट सकते हो । सभी रत्नों के देने के बाद ही यह वेचारा छूट पाया था । अतः मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है ।

६—गोपीजागृह्य कथा

द्वारवती में एक ग्वाले की एक कुलटा स्त्री थी । वह गाँव के मुखिया और उसके लडके के साथ फँसी हुई थी । एक दिन जिस समय मुखिया का लडका उसके पास था उसी समय मुखिया भी आया । ग्वालिन ने उसे अनाज की खत्ती में छिपा दिया और वह मुखिया के साथ आनन्द लूटने लगी । इसी समय ग्वाला भी आ गया । तब ग्वालिन ने उससे कहा कि तुम डण्डा लेकर क्रोध से बढवढाने हुए घर से निकल जाओ । ग्वाले ने उसे इस प्रकार जाते हुए देखकर पूछा कि यह किस लिए आया था । ग्वालिन ने कहा कि यह अपने लडके को मारने के लिए दौड़ाया था वह भाग कर मेरे घर में चला आया । जिसे मैंने छिपा दिया । यह उसे न पाकर क्रोध में बढवढाता हुआ जा रहा है यह कहकर उसने उसके लडके को दिखा दिया । इस प्रकार उसने सबको सकट से बचा लिया । अतः समयानुसार बुद्धि द्वारा मनुष्य कठिनाइयों को जीत सकता है ।

३—काकी-कृष्णसप कथा

एक वृक्ष पर लोहा का एक बौड़ा रहता था। उसी वृक्ष की छांव में एक कौबेरा साँप भी रहता था। वह कौबेरी के बच्चों को खा जाता करता था। एक दिन काकी ने कर्ण से दूसरी बगइ बज्जने को कहा तब कौबेरी ने कहा कि करो मंग पुन बुद्धि से काम को। राधा रोष इस ठाकास में स्नात करने जाय है तुम उसके लवारे हुए सोने के हार को छत्रकर साँप के खोचले में रख दो। कौबेरी ने ऐसा ही किया। फिर हार को खोचते हुए राधा के मिपाही नेत्र के खोचले के पास पहुँचे और वहाँ काळे साँप को देखकर उन्होंने मार मारा। अर्थात् कोई काम बुद्धि के हाथ ही जाताही से पूरा किया जा सकता है।

८—सुर्वास्तसिंह शायक कथा

मन्वर नाम के पहाड़ पर बुध्ति नाम का सिंह था। उसे दिन भर में कई पशुओं को मारते हुये देखकर सभी पशुओं ने प्रतिविध एक-एक पशु दिखने का निश्चय किया। सिंह ने भी इसे मान किया। एक दिन एक मुद्दे खरपोख को मारी गई। खरपोख उसके मारने का उपाय सोचते हुये उसके पास बैर बैठे पहुँचा। सिंह के पुकने पर उसने बताया कि इस जपल में रहने वाले मुद्दे सिंह ने मुझे पकड़ किया था। मैं उससे कसम खाकर आप के पास पहुँचा है। सिंह वह सुनकर मान-बहुला हो पया और मुद्दे सिंह की मारने बल पड़ा। खरपोख ने एक मुर्दे में लछी की परछाई को दिखा दिया। सिंह बिना सोचे मुर्दे में बूढ़ पया और मर पया। अतः बुद्धि का बल लक्ष्य बला बल होता है।

९—समुद्र तिट्ठिरिरी कथा

बसिच समुद्र के किनारे तिट्ठिरिरी का एक बौड़ा रहता था। समुद्र बराबर तिट्ठिरिरी के बंधो को बहा ले जाता करता था। एक बार तिट्ठिरिरी ने कल्या हेने के समय तिट्ठिरिरी से दूसरी बगइ बज्जने को कहा। लेकिन तिट्ठिरिरी हरा नहीं रहा। बगकी बार भी समुद्र बंधे को बहा ले गया तब तिट्ठिरिरी लकी पक्षियों की लमा करके बसक के पास गया। उन्होंने विष्णु से कहा और विष्णु ने समुद्र को आवेक दिया कि बंधो को लीटा दो। समुद्र ने बगकी बाधा से बंधे लीटा दिये। अतः किछी की बसिच का अनुमान उसके लक्ष्य सम्बन्धियों को जान कर ही किया जा सकता है।

हितोपदेशः

—: ० —

सुहृद्भेदः

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य, मित्रत्वान् धृतस्तापदग्माभिः ।
इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः ।' विष्णुशर्मावाच—'सुहृद्भेदं
वाचच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

मणिप्रना

गणनाद्यं प्रनानाद्यं रमानाद्यमुपापसिम् ।

उनां च नत्वा कृपेऽहं सुहृद्भेदे नणिप्रनाम् ॥ १ ॥

अयं = मित्रत्वान्प्रयत्नान्तरम्, उदानीम् = अधुना, सुहृद्भेदम् = एतन्नामकं
हितोपदेशस्य द्वितीयं प्रकरणम्, शृणुत—श्रुयामि इति । वाच = प्रथमः ।

हिन्दो रूपांतर

इतरे पश्चात् उन राजपुत्रों ने कहा—'आर्य', हम लोगो ने 'मित्रत्वान्' तो
सुन लिया अब 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं । विष्णुशर्मा ने कहा—तो 'सुहृद्भेद'
सुनो । जिसका पहला श्लोक यह है—

वर्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्धने ।

पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

अन्वयः—धने मृगेन्द्रवृषयो वर्धमान महान् स्नेहः पिशुनेन अतिलुब्धेन
जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

वर्धमानः—वर्धत इति वर्धमान एधमान, स्नेह = प्रेम, मृगेन्द्रवृषयो =
सिंहवृषभयो, पिशुनेन = कर्णजपेन (धुगली करनेवाले), जम्बुकेन = शृगालेन ॥

धन मे सिठ एवं वील के बढते हुए महान् स्नेह को अत्यन्त लालची तथा
धुगली करने वाले स्थान ने नष्ट करा दिया ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत् ।' विष्णुशर्मा कथयति—

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्धमानो नाम

पयिग्मिषसति । तस्य प्रचुरेऽपि चित्तेऽपराग्भ्यूनतिसप्तदाग्भ-
मीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्धनम् । यतः—

वक्षिणापमे = वक्षिणस्यां विधिं तत्र = सुवर्चवर्त्ता नयनीम्। अस्व-वर्चवर्त्ता-
नाम्नो वक्षिणः, प्रचुरे = प्रचुरे 'प्रचुरे प्रचुरं प्राणयम्' इत्यमरः। अपराग्भ्य-
स्वसप्तदाग्भिव इत्यर्थः समीक्ष्य-दृष्ट्वा धर्षणुद्धिः-वचनवृद्धिः ; मतिर्धनम्-विद्य-
रोऽपवत् । यतः = यस्मात् ॥

राजपुत्रो वै पूज्य—'ऐसा बड़े हुआ' विष्णुधर्मा ने कहा—'वक्षिण देश है
सुवर्चवर्ती नाम की एक नगरी है । वहाँ वर्चमान नाम का एक अत्यन्त बड़ी
बनिया रहता था । बहुत अधिक धन होने पर भी अपने अन्य अत्यन्त बड़ी
ब बुजो को देखकर उसे नीर भी अधिक धन बढ़ाने की इच्छा हुई । क्योंकि—

अधोऽधः पश्यताः कस्य महिमा नोपधीयते ।

उपर्युपरि पश्यन्तः सर्वे एव वदन्ति ॥ २ ॥

अन्वयाः—अथ अथ पश्यन्तः कस्य (कस्य) महिमा न उपधीयते । उपरि
उपरि पश्यन्तः सर्वे एव वदन्ति ॥ २ ॥

बभौजः-नीचे- नीचे, पश्यन्तः-अवलोक्यन्तः—(इस पदु बड़ी ए व)
महिमा-महत्त्वम्, उपधीयते = बढ़ति । उपर्युपरि = ऊपर-ऊपर वदन्ति-
वदित्वा वदन्ति (वदित्वा कद् प्र पु व व 'वदित्वाववा वद्' इत्यमरः-
उच्चायां 'वाम्नास्ताञ्जु' इति तुमसाव) ॥

अपने से नीचे की ओर देखनेवाले कुछ मनुष्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता ।
किन्तु अपने से ऊपर देखनेवाले सभी वरिष्ठ विद्याई पढ़ते हैं । (अपने से कम
वित्तवालों को देखनेवाले अपने को बनी समझते हैं किन्तु अपने से अधिक
वित्तवालों को देखकर वरिष्ठ बन जाते हैं) ॥ २ ॥

अपरं च—ब्रह्महापि नरा पूज्यो पस्यास्ति विपुळ धनम् ।

पश्चिमस्तुवर्षाद्योऽपि निघमाः परिभूयते ॥ ३ ॥

अन्वयाः—अस्य (नरस्य) विपुळम् धनम् अस्ति (च) ब्रह्महा अपि नरा
पूज्यः (नरति) (किन्तु) पश्चिमाः तुल्यवर्षा अपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

ब्रह्महा = ब्राह्मणवादी (ब्राह्मणं हुत्वात् इति विश्वह) ; पूज्यः-सुवर्चवर्त्ता-
विपुळम्-अधिकम् पश्चिमाः-अन्वयः परिभूयते-तिरस्त्रियते ॥

नीर की-विद्यते वाच अत्यन्त अधिक धन है, वह यजुज्य ब्रह्मज्ञान करने पर

भी अत्यन्त पूज्य होता है; किन्तु चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वक्ष में जन्म लेकर भी निषेध व्यक्ति सभी जगह अपमानित होता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च—अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूढितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

अन्वयः—लक्ष्मी अव्यवसायिनम् अलसम् दैवपरम् साहसात् परिहीनम् च (जनम्) प्रमदा वृद्धपतिम् इव उपगूहितुम् न इच्छति ॥ ४ ॥

अव्यवसायिनम्=अनुद्योगिनम्, अलसम्=आलस्ययुक्तम्, दैवपरम्=भाग्या-
धीनम् (भाग्य पर ही भरोसा करनेवाले), प्रमदा=युवति, वृद्धपतिम्=प्रवयस
मतीरम्, उपगूहितुम्=आलिङ्गितुम्, पक्षे आश्चर्यं कर्तुम् ॥

और भी—उद्योग रहित, आलसी, भाग्य के भरोसे रहने वाले एवं साहस से
हीन व्यक्ति को लक्ष्मी उसी प्रकार आलिङ्गन करना नहीं चाहती है जैसे यौवन
में मतवाली स्त्री बूढ़े पति को ॥ ४ ॥

किं च—आलस्यं स्त्रीसेवा सारोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।

सन्तोषो भीरुत्वं षट् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

अन्वयः—आलस्यम्, स्त्रीसेवा, सारोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम्, सन्तोष,
भीरुत्वम् (इति इमे) षट् महत्त्वस्य व्याघाता. (सन्ति) ॥ ५ ॥

स्त्रीसेवा = स्त्रीविषयेऽधिकारसक्ति, सारोगता = रोगयुक्तता, जन्मभूमिवात्स-
ल्यम्=जन्मभूम्या सह स्नेह, तेन जन्मभूमि त्यक्त्वाऽन्यत्र गमनाभावः; भीरु-
त्वम् = भयम्, व्याघाता = वाघका ॥

और भी—आलस्य, स्त्री की गुलामी, रोगी बना रहना, जन्मभूमि के प्रति
स्नेह, संतोष और डर—यही महत्त्व-प्राप्ति के छ. विघ्न हैं ॥ ५ ॥

यतः—संपदा सुस्थिरं मन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।

कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—य स्वल्पया अपि सम्पदा सुस्थिरमन्य भवति, कृतकृत्यं विधि
तस्य ताम् न वर्धयति, (इति अहम्) मन्ये ॥ ६ ॥

सम्पदा=धनेन, सुस्थिरमन्य —आत्मानं सुस्थिरं मन्यते एवंविध आत्मानं
सुस्थिर मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खञ्ज' इति खण्डप्रत्यये खित्त्वान्मुमागम्,

कृतकत्वम् = कृतार्थं विधिः = ईशम् ताम् = सम्पत्तम् । मध्ये=(बहु) भावति ।
 वयोदि—जो बोधे ही वन के अपनी स्थिति को अपनी समझतीवारा होकर
 है उसका माध्य जो कृतकत्व होकर उसकी सम्पत्ति को नहीं बढ़ाता है ॥ १ ॥

अपरं च—निरस्तसार्द्धं निरानन्दं निर्वीर्यमरिणम्बनम् ।^१

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जलयेत्पुत्रमीदृशाम् ॥ ७ ॥

अन्वयाः—काचिद् सीमन्तिनी निरस्तसार्द्धम्, निरानन्दम्, निर्वीर्यम्, अरि-
 नन्दनम् पुत्रम् मा स्म जनयेत् ॥ ७ ॥

निरस्तसार्द्धम् (निर्बलं अस्तसार्द्धं यस्मात् अ तद् = अस्तसार्द्धीयम् एवमर्थेऽर्थी
 बोध्यम् । निर्वीर्यम्—परानन्दमहीनम्, अरिणम्बनम्—समवे इत्यर्थम्, सीमन्तिनी—
 नारी 'नारी सीमन्तिनी वयु' इत्यमरः । मा स्म जनयेत्=बोत्पादयेत् (अथ 'वा'
 न तु 'माद्' अतएव कुद् वेति बोध्यम् ॥

बीर मी—अस्तसार्द्धहित उपासोन बीर समुच्चो को मानन्वित करवेवाले पुत्र
 का जन्म कोई भी जी न दे ॥ ७ ॥

तथा शोकम्—अस्यार्थं शैव छिन्नेत कर्णं रक्षेत्सहयात् ।

रक्षितं धर्मपैरसम्यग्दृष्टं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

अन्वयाः—(उपलक्षकामुक्त्वा जनः) अस्मिन् (जनम्) छिन्नेत कर्णम् अथ
 कर्णम् रक्षेत् रक्षितम् नर्द्धयेत्, पुत्रम् तीर्थेषु सम्यक् निक्षिपेत् च ॥ ८ ॥

छिन्नेत = अस्त्रनिष्ठीय, अस्त्रयात् = इमी, तीर्थेषु = काशीप्रवापादितीर्थेषु
 कर्णायैषु वा निक्षिपेत् = दानं कुर्यात् ॥

बेधा कि कता जी वना है—जो प्राण नहीं हो सका है, उसे जाने की
 इच्छा करनी चाहिए, जो प्राण ही पुरा है उसे नष्ट होने से बचना चाहिए,
 बचाए हुए वन को बढ़ाना और बढ़े हुए वन को अच्छे कामों में बदलना चाहिए न

यतोऽस्यार्थमिच्छतोऽधयोगाद्यस्य प्राप्तिरेव । अस्यार्थमाप्य
 रक्षितस्य निषेदपि स्वयं विनाशाः । अपि च । अपर्धमानश्चार्थः
 काले स्वल्पस्योऽप्यज्ञानवदक्षयमति । अनुपमुप्यमानस्य निष्पद्योन्नत
 एव सः । तथा शोकम्—

अस्तसम् = अस्तसम् अर्थबोनात् = विदितसम्बन्धात्, अरिजिनम् = अनुभव
 निषेः=विशे (यद्गुणपादना नव निषयो नरान्ति) । अर्द्धमानः=अनुपुष्टीक-

अर्थ = धनम्, काले = स्वल्पसमयानन्तरम्, अञ्जनवत् = अञ्जनेन तुल्यम्, क्षयमेति = नश्यति । अनुपमुज्यमान = स्वोपभोगेऽनियुज्यमान, निष्प्रयोजन = व्यर्थं । (इदमर्थस्य विशेषणमत पुस्त्वमत्रेति बोध्यम्) ॥

क्योकि—अप्राप्त धन के चाहनेवाले व्यक्ति को धन लगाने से धन की प्राप्ति होती ही है । प्राप्त हो जाने पर भी यदि रक्षा न की जाय तो खजाना भी स्वयम् नष्ट हो जाता है । इसके अतिरिक्त यदि धन बढ़ाया न जाय तो वह थोड़ा खर्च करने पर भी अञ्जन के समान समय पाकर समाप्त हो जाता है और यदि उसका उपभोग न किया जाय तो उसका पाना ही व्यर्थ है । जैसा कहा गया है कि—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून् वाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत् -
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—य (जन धनम्) न ददाति, न अश्नुते, (तस्य जनस्य) धनेन किम् (अस्ति) ? य (जन) रिपून् न वाधते, (तस्य) बलेन किम् (अस्ति) ? य (जन) धर्मम् न आचरेत् (तस्य जनस्य) श्रुतेन किम् (अस्ति) ? य (जन) जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् (अस्ति) ॥

अश्नुते = मुहूर्त्के, भोग करोतीत्यर्थं । बलेन = शक्त्या, रिपून् = शत्रून्, वाधते = पीडयति विजयते इत्यर्थं । श्रुतेन = शास्त्रज्ञानेन, आत्मना = आत्मज्ञानेन, जितेन्द्रिय = समतेन्द्रिय । तस्य भरस्य धनादिक सर्वं व्यर्थमस्ति, य तेन दानादिकार्यं न करोतीत्याशय ॥

उस धन के मिलने से क्या हुआ जो न तो दिया ही गया और न तो अपने ही उपभोग में लाया गया, उस बल से क्या हुआ जो शत्रुओं को वश में न कर सका, उन धर्म-ग्रन्थों के सुनने से क्या हुआ जिसके अनुसार धर्म का आचरण ही न हो सका और उस आत्मा से क्या हुआ जो इन्द्रियों को जीत न सके ॥ ९ ॥

यतः—जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।

स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

अन्वयः—घट क्रमशः जलबिन्दुनिपातेन पूर्यते, सर्वविद्यानाम् च धर्मस्य च धनस्य स हेतुः (अस्ति) ॥ १० ॥

बटः—कर्मणः कर्मणः—कर्मणः, बटवित्तुनिपातेन—एतन् इति बटवित्तु
 निपातेनैव पुर्यते—पूर्वं भवति । सर्वविद्यानाम्—समस्तविद्यानाम् । यथा सर्व-सर्व-
 बटस्य विष्णुर्वा पठनेन बटः पूर्वं भवति—तथैव कर्मणः सर्वविद्यासमीपि बट-
 नादिना पूर्वं भवति ॥

स्वीकृ—बैते एक-एक बूँद विरले से बीरे-बीरे बड़ा घर बाठा है वही
 प्रकार सभी विद्याएँ बसें बीर बन भी बीरे ही बीरे बढता है ॥ १ ॥

दानोपभोगरहिता विद्यसा यस्य धाम्नि वै ।

स कर्मकारमज्ञेय स्वस्त्यपि न जीयति ॥ ११ ॥

अन्वयः—यस्य (यस्य) विद्यसा दानोपभोगरहिताः धाम्नि स (यस्य)
 कर्मकारमज्ञा इव अज्ञत् यदि न जीयति ॥ ११ ॥

दानोपभोगरहिता = दानोपभोग्याम्नां शून्याः विद्यसाः = विद्याभि धाम्नि-
 ष्वतिवन्ति (बीतते हैं) कर्मकारमज्ञेय = कर्मकारस्य लोहृत्तत्कर्मनिमित्त-
 बन्धविषेय इव (मायी के समान) अज्ञत् = अज्ञं बुद्धुन् जीयतिस्वर्गं न
 जीयति—मृतकतुल्योऽस्ति ॥

जिनके विन दान और भोग के बिना ही बड़े बाने हैं; वह मुहार की मायी
 के समान तब तैरे हुए भी जीयित नहीं कहा जा सकता ॥ ११ ॥

इति सर्वाभ्यस्य नमस्कृतसञ्जीवकनामादी पृथगो धुरि नियोग्य शक्यं
 ज्ञानाविद्यद्वयपूर्वकं कृतवा धाम्निस्येन गता कश्मीरं प्रति । अन्वयः—

इति—एतत् धुरि—मारबहनकर्म नियुज्य—नियुज्ये इत्या (नि + युज् +
 स्यच्) एकत्वं—जन (मायी को) ज्ञानाविद्यद्वयपूर्वकं—द्वैकप्रकारकवस्तु
 वस्तित्वात्, धाम्निस्येन—व्यापारात् कश्मीरम्—एतन्नामसं भारतवर्षे धाम्निस्येन
 स्थितं प्राग्निविद्यम् ॥

इन प्रकार तोषकर नन्दक और संजीवक नाम के दो देवों को धीत में धीत
 कर मायी को तरह-तुल्य ही बस्तुओं के भरकर व्यापार करने की इच्छा के
 कश्मीर की ओर चला । ओर भी—

अज्ञानस्य क्षयं दृष्ट्या यस्मीकस्य च सद्यपम् ।

अयमर्थं विद्यस्य कुर्याद्दानाभ्ययनकर्मणु ॥ १२ ॥

अन्वयः—(अधुरयेच्छुक्) अज्ञानस्य क्षयम् अस्मीकस्य सद्यपम् च दृष्ट्या
 अज्ञानस्यक्षयकर्मणि विद्यस्य कुर्यात् अयमर्थं कर्मणु ॥ १२ ॥

अञ्जनस्य = क्षजलस्य, क्षयम् = नाशम्, वल्मीकस्य = वामलूरस्य (वाँची), सञ्चयम् = वृद्धिम्, अवन्ध्यम् = सफलम्, दानाध्ययनकर्मणि. = दानपठनादि-कार्ये. (वृद्धिरहितमत्यल्पश व्ययीभवदप्यञ्जनं क्षीयते, क्षयरहितं सत्त स्वल्पशोऽपि उपचीयमानं वल्मीकं वद्धते इत्येतद् दृष्ट्वा घनदान शास्त्रपठन च कृत्वा मानवेन दिवसस्य साफल्य कर्तव्यमिति भावः ॥

आँखों में लगाये जानेवाले अञ्जन का धीरे-धीरे नष्ट हो जाना तथा वाँची का धीरे-धीरे एकत्रित होकर बढना देखकर मनुष्य को चाहिये कि वह अपन दिन को दान, अध्ययन तथा अन्य कर्मों से सफल करे ॥ १२ ॥

यतः—कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।

को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—समर्थानाम् (जनानाम्) क अतिभार. (अस्ति) ? व्यवसायिनाम् किम् दूरम् (अस्ति) ? सविद्यानाम् क विदेश (अस्ति) ? प्रियवादिनाम् क पर (अस्ति) ? ॥ १३ ॥

अतिभार = नहाभार, मारयुक्तम्-असाध्यमित्यर्थं, समर्थानाम् = सामर्थ्य-वताम्, व्यवसायिनाम् = उद्योगिनाम्, विदेश = परदेश, सविद्यानाम् = विदुषाम्, प्रियवादिनाम् = मधुरभाषिणाम् ॥

क्योंकि—शक्तिशाली के लिए कोई भी कार्य बोझ जैसा नहीं लगता, परिश्रमी व्यक्ति के लिए कोई भी स्थान दूर नहीं होता, विद्वान् के लिए कोई भी देश विदेश नहीं होता और प्रिय बोलने वाले का कोई भी शत्रु नहीं होता ॥ १३ ॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सजीवको भग्नजानु-निपतितः । तमालोक्ष्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

सुदुर्गनाम्नि = सुदुर्गनामके, महारण्ये = महावने, भग्नजानु = भग्न ज.नु यस्य स (टूटे घुटनेवाला), निपतित = अपतत्, अचिन्तयत् = चिन्तितवान् ॥

इसके पश्चात् जाते-जाते सुदुर्गनाम के एक बड़े जंगल में सजीवक का घुटना टूट गया और वह गिर पड़ा । वर्धमान ने उसे देखकर विचार किया—

करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।

फल पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—नीतिज्ञ (नर) इतस्तत व्यवसायम् करोतु नाम पुन अस्य फलम् तत् एव (भवति), यत् विवे मनसि स्थितम् (वर्तते) ॥ १४ ॥

नीतिश्च—नीतिं वामादीति विप्रैः शिषुष्यया० इति क = नीतिपण्डितः ।
 इतस्ततः = तत्र तत्र (इतर-इतर) व्यवसायसु, = उद्योगसु, फलम् = परिणाम
 विभेः—आप्यस्व मनासि—चित्ते ॥

अतुर व्यक्ति इतर-उपर कितना ही प्रयत्न क्यों न करे; परन्तु उसका फल
 नहीं होता है जो उद्योग के मग में होता ॥ १४ ॥

किन्तु—विस्मयाः सद्यथा हेयः प्रत्युहा सर्वकर्मणाम् ।

तस्माद् विस्मयमुत्सृज्य साम्ये सिद्धिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

आन्वयः—सर्वकर्मणाम् प्रत्युहाः विस्मय (अनेक) सर्वथा हेय (अहित)
 तस्मात् (अनेक) विस्मयम् उत्सृज्य साम्ये सिद्धिः विधीयताम् ॥ १५ ॥

विस्मयः—विचित्रता (अचानक) सर्वथा—सर्व प्रकृतिः (सब तरह)
 हेय—त्याग्य प्रत्युहा—विप्लवः, उत्सृज्य—उत्पत्त्या (छुट् + सुच् + ल्य)
 साम्ये = कार्ये कर्तव्य इत्यर्थः, विधीयताम् = कियताम् ॥

किन्तु विस्मय (किसी कार्य की बाधाओं को देखकर अहित हो जाना)
 का सर्वथा परिहार कर देना चाहिये क्योंकि वह सभी कार्यों का विघ्न होता है ।
 इसीके आत्मर्ष की छोड़कर अपने द्वारा किए जानेवाले कार्य में समतता प्राप्त
 करनी चाहिए ॥ १५ ॥

इति संक्षिप्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य बधमाना पुनः स्वयं
 घमपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमर्ष्यं रूपममेकं समानीय दुरि
 नियोस्य अकृताः । ततः संजीवकोऽपि कर्षकथमपि सुराज्ये मर
 च्छत्योत्थिताः । पता—

इति—एतद्; अकृताः = विचार्य परित्यज्य = उत्पन्न्य बर्धमाना =
 एतन्नामकं बलिष्ठ, महाकायम् = बृहद्गुह्यपीरम्, दुरि नियोज्य = आत्मर्ष
 विदुर्लं कृत्वा कथञ्चनपि = कथञ्चिद्, सुराज्ये—विदुः सुरेण एकवानुबन्धतपेति
 नामत् अल्पितः—उत्थितत्वात् ॥

ऐसा सोचकर अपने संजीवक की नहीं छोड़ दिया और स्वयं घमपुर नाम के
 नगर में जाकर एक बड़े बौद्ध-बौद्ध वाले बृहदे बौद्ध को सम्भार बोध में लाकर
 दिया तथा आने तक पड़ा । कुछ देर बाद संजीवक भी अपने तीन ही सुर्षों पर
 बस बैठकर किसी प्रकार उठ सका हुआ । क्योंकि—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दृष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

अन्वयः—आयु पयोराशौ निमग्नस्य, पर्वतात् पतितस्य, तक्षकेण दृष्टस्य च अपि (नरस्य) मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

आयु = वय, जीवितावधिकाल (उम्र), पयोराशौ = समुद्रे, निमग्नस्य = मूढितस्य, तक्षकेण = एतन्नामकेन तीव्रविषेण सर्पेण, दृष्टस्य = कृतदंशनस्य (डंसे गये), मर्माणि = मर्मस्थलानि, रक्षति = गोपायति ॥

समुद्र में भी डूबनेवाले, पर्वत से भी गिरे हुए तथा साँप द्वारा काटे गए व्यक्ति के प्राणों को भी आयु वचा लेती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।

कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्रासकालो न जीवति ॥ १७ ॥

अन्वयः—जन्तु शरशतै विद्ध अपि अकाले न म्रियते, (तथा) प्रासकालः (सन् स.) कुशाग्रेण एव संस्पृष्ट न जीवति ॥ १७ ॥

अकाले = मृत्युसमये अप्राप्ते, जन्तु = प्राणी, देहधारोत्यर्थं, शरशतै = अनेक-शतसङ्ख्यकबाणै, विद्ध = छिद्रित ताडित इत्यर्थं, कुशाग्रेण = दर्माग्रभागेनैव (कुशाकी नोकसे), प्रासकाल = प्रासमृत्युसमय ॥

और भी—सैकड़ों बाणों से विधा हुआ प्राणी भी बिना समय आए नहीं मर सकता, किन्तु समय आ जाने पर वही कुशा की नोक से छू जाने पर भी नहीं बच सकता ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहेन जीवति ॥ १८ ॥

अन्वयः—(मानवादिना) अरक्षितम् (अपि) दैवरक्षितम् (वस्तु) तिष्ठति, (मानवादिना) सुरक्षितम् (अपि) दैवहतम् (वस्तु) विनश्यति । (एवमेव, मानवादिना) वने विसर्जित अनाथ अपि जीवति, (तथा मानवादिना) गृहे कृतप्रयत्न अपि न जीवति ॥ १८ ॥

अरक्षितम् = मानवादिना अकृतरक्षणम्, दैवरक्षितम् = भाग्येन कृतरक्षणम्, तिष्ठति = न विनश्यति । दैवहतम् = भाग्येन विनष्टम्, विसर्जित = त्यक्त, कृतप्रयत्न = मानवादिना कृतसुरक्षण ॥

प्रायः जिसकी रक्षा करना चाहें वो दूसरों द्वारा अरक्षित होने पर भी बच जाता है किन्तु दूसरों द्वारा बचावे पर भी भाग्य का साथ हुआ नहीं हो सकता। जैसे बंजक में लैंका हुआ जगाम बचा भी बीठा रहता है किन्तु अन्य प्रकृतियों के होने पर भी घर में बड़ा हुआ बाकक नहीं भी पाता ॥ १८ ॥

ततो विभेषु गच्छसु संजोयकाः स्वेच्छाहारं हृत्पारण्यं भ्राम्यन्
हृत्पुष्टाङ्गो यक्षयक्षमाह । तस्मिन्पुत्रं पिङ्गककनामा सिद्धा स्यमुजो
पार्श्वितराभ्यमुत्तममुभवधिवसति । तथा सोक्तम्—

स्वेच्छाहारविहारम्—स्वेच्छापूर्वकमोक्तमयमम्, हृत्पुष्टाङ्ग—सुहृत्पुष्टी,
यक्षयम् = उत्पत्त्यरेण स्वमुजोपाशितराभ्यमुत्तमम्—स्वमुजैव = वात्पुत्रवर्ग
उपाशितस्य—मातस्य राक्षस्य मुक्तं—धर्मं उत्तमवत्—प्राप्तुषुम् ॥

बुद्ध दिव बीठने के बाद जगती इच्छा के अनुसार माहार-विहार करने के कारण बंधीबक के सभी बंध हूत पुत्र हो गये और वह अत्यन्त ठीकी के रूप बहार करके बना। बंधी बंजक में पिङ्गकक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम के प्राण राक्षसबुद्ध का अनुभव करता हुआ निवास करता था। जैसे कहा भी है—

नामिषेको न संस्कारः सिद्धस्य क्रियते मृतौ ।

विक्रमाशितराभ्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

अन्वयाः—मूर्धं सिद्धस्य बनिषेक (तथा) संस्कार न क्रियते (किन्तु)
विक्रमाशितराभ्यस्य (तस्य मृतस्य) मृगेन्द्रता स्वयमेव (नवति) ॥ १९ ॥

बनिषेक—राज्यानिषेक संस्कारः—सुरत्वाशिवुत्तमोक्तं मूर्धं = बन्धनमुक्ति
विक्रमाशितराभ्यस्य—विक्रमेण—स्वमुजवर्गेण अशितम्—उपाशितम् राक्षस्य
ताभ्याम्पुत्रं येन तं पश्य । स्वयमेव—स्वत एव मृगेन्द्रता—मृगयत्तता ॥

जगती पशुको द्वारा सिंह का न तो जानिये ही किया जाता है और न संस्कार ही किन्तु वह अपने पराक्रम के प्राण राक्षस का स्वम्पुत्रा बन जाता है ॥ १९ ॥

स वैकरा पिपासाकुञ्चितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमागच्छन् ।
तेन च सत्र सिद्धेनामनुभूतपूर्वकमकारुण्यमश्रितमिदं संजोयकवर्षि-
तमभाषि । तच्छ्रुत्या पानीयमपीत्वा सखञ्जिता परिपूरय स्वस्यान-
मागत्य किमिदमित्याहोचयत्सुधी स्थितः । स च तथाविधः करु-
णव्रतमकाम्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां हृद्य । तं तथाविधं दृष्ट्वा व्रतमक-
करुणमाह—‘सद्यः करुणक, किमित्यपमुद्कार्थी स्वामी पानीयम्’

पीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते ।' करटकौ ब्रूते—'मित्र
दमनक, अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते । यदि तथा भवति, तर्हि
किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम् । यतोऽनेन राज्ञा विना-
पराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम् ।

पिपासाऽऽकुलित. = तृष्णया व्याकुल, पानीयम् = जलम्, यमुनाकच्छम् =
यमुनापास्तीरम्, अननुभूतपूर्वकम् = प्रथममश्रुतम्, अकालघनगजितम्—
अकाले = असमये प्रावृढभावेऽपीति भाव, घनस्य = मेघस्य, गजितम्
गजनम्, सञ्जीवकनदितम् = सञ्जीवकस्य गजितम्, अश्रावि = श्रुतम् । सचकित =
आश्रयित, परावृत्य = परवर्तितो भूत्वा, आलोचयन् = विचारयन्, तूष्णीम् =
मौनं सन्, तथाविध = तादृश, पिपासाऽऽकुलत्वेऽपि सञ्जीवकनदितेन
अतीतजल, किमिति = कथम्, उदकार्थी = पिपासित, अवतिष्ठते—अथ
'समयप्रविन्ध्य स्य' इत्यात्मनेपदम् ॥ अस्मन्मतेन = स्वविचारेण, स्वामिचेष्टा-
निरूपणेन = स्वामिनो भयादिकारणविचारेण, विनापराधेन = अपराध विनैव,
चिरम् = चिरकालात्, अवधीरिताभ्याम् = तिरस्कृताभ्याम्, अनुभूतम् = प्राप्तम् ॥

वह सिंह एक बार प्यास से व्याकुल होकर पानी पीने के लिए यमुना नदी
के किनारे गया । वहाँ असमय के दादलो की गर्जन के समान सजीवक की
आवाज सिंह को सुनाई पड़ी । ऐसी आवाज उसने इसके पहले कभी नहीं सुनी
थी । यह सुन कर विना पानी लिए ही वह चकित होकर लोट पटा और अपने
स्थान पर आकर, 'यह क्या है' ऐसा सोचता हुआ चुपचाप बैठ गया । उसके
मन के पुत्र करटक और दमनक नाम के दो स्वामी ने उसे इस अवस्था में
देखा । उसे इस प्रकार की अवस्था में देखाकर दमनक ने करटक से कहा—
'मित्र, करटक, पानी चाहनेवाले यह मेरे स्वामी विना पानी लिए ही क्यों
लोटकर इस प्रकार उदासभाव से चुपचाप बैठे हैं ?' करटक ने कहा मित्र
दमनक, मेरे विचार में तो यह ऐसा करने योग्य ही नहीं है, फिर हम प्रकार
इस स्थानी को पेटा देखने से हम लोगों का लान भी क्या है ? क्योंकि हम
जानते हैं कि विना किसी अपराध के ही हम दोनों प्रयत्नित होकर बहुत
दिनों में पेट भरने वाले हो रहे हैं ।

सेवया धनमिच्छतिः सेवकः पश्य यत्कृतम् ।

न्यायान्य मन्त्रोत्तरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २० ॥

अन्ययः—(१२) पश्य, सेवया धनम् मन्त्रोत्तरं, सेवकं यत् कृतम्,
मूढैस्तदपि हारितम् (मन्त्रोत्तरं), एतदपि हरे हारितम् ॥ २० ॥

भाव्य विषयी रक्षा करना चाहें तो बुराई द्वारा अर्पित होने पर भी वह बच जाता है किन्तु बुराई द्वारा बचाने पर भी भाव्य का मारा हुआ नहीं रह सकता। बँते बँतक में छँका हुआ बनाव बचना भी बीता रहता है किन्तु बँते बँतकों के होने पर भी बर में बका हुआ बाकक नहीं भी पाता ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गण्डस्सु संजीवका स्वैच्छाहारं इत्यारण्यं भ्राम्य
हृत्पुच्छाङ्गो बलयज्जवाद् । तरिमन्वने पिङ्गलकनामा सिंहा स्वमुजो
पार्श्वितराण्यमुच्चममुमभधिसति । तथा शोकम्—

स्वैच्छाहारविहारम्—इच्छापूर्वकमोजनप्रमथम्, हृत्पुच्छाङ्गं—हृत्पुच्छरीट्
बलयज्ज = बलयज्जरेण स्वमुजोपार्श्वितराण्यमुच्चम—स्वमुजेन = भास्वमुजस्मै
उपार्श्वितस्व—प्रातस्य रात्रस्य मुञ्चं—सर्तं अनुभवन्—प्राप्नुवन् ॥

कुछ दिन बीतने के बाद जगती इच्छा के अनुसार बाहार-विहार करने के प्यारव संजीवक के सभी बँप हृत् पुच्छ हो पय और वह अत्यन्त ठीकी के बल बढ़ाएँ करने क्या। सभी बँपछ में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम के प्रात रात्रमुच्च का अनुभव करता हुआ निवास करता था। बँते कहा भी है—

नामिपेक्षो न संस्कारा सिंहास्य क्रियते मृगैः ।

विक्रमाशितराण्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

अन्वयः—सुबं तिहस्य अमिपेक्षः (तथा) संस्कारः न क्रियते (किन्तु)
विक्रमाशितराण्यस्य (तस्य मृगस्य) मृगेन्द्रता स्वमेव (नवति) ॥ १९ ॥

अमिपेक्षः—राण्याधिकार संस्कारः—सूरत्वादिगुणगोचः सुबं = बन्धनपुटि
विक्रमाशितराण्यस्य—विद्यमेष—स्वमुजस्मै न भित्तम्—उपार्श्वितम्, रात्रयज्ज—
बाध्राण्यम् येन स तस्य । स्वयमेव—स्वत एव मृगेन्द्रता—मृगराजता ॥

बपकी वजुओ द्वारा सिंह का न ता अमिपेक्ष ही किया जाता है और व संस्कार ही किन्तु वह अपने पराक्रम के प्रात रात्र का स्वयम् राजा बन जाता है ॥ १९ ॥

स वैश्वं पिपासाङ्गिताः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमपच्छन् ।
तेन च तत्र सिंहेनात्ममुत्तपूर्वकमकाळघनगमितमिष संजीवकवदि
तमभावि । तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्या सञ्चक्रिता परिकृत्य स्वस्वाक-
मापस्य किमिदमितपाकोषपरस्तृष्णी स्थिताः । स च तथापिधा कट-
कङ्कमनकाम्यामस्य मन्त्रिपुत्रार्थ्या कष्टः । तं तथापिर्षं दृष्ट्वा वमनक-
कटकमाह—‘सखे कटक, किमित्ययमुक्त्वापीं स्वामी पानीय-

अन्वयः—घनिन (त्वम्) एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ, वद, मीन समाचर, एवम् आशाग्रहग्रस्तैः अर्थिमि (सह) क्रीडन्ति ॥ २३ ॥

एहि=आगच्छ, पत = पतनं कुरु, मीन समाचर = तूष्णींभावं गच्छ, आशाग्रहग्रस्ते = आशाखरूपपाशेन बद्ध, अर्थिमि. = अर्थ्याभिलाषुकैः सेवकैः, क्रीडन्ति=खेळन्ति ॥

और भी—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बोलो, चुप रहो—इस प्रकार की आज्ञाएँ दे-देकर घनी लोग आशाखरूपी ग्रह से ग्रसित माचकों से अपना मनोविनोद करते रहते हैं ॥ २३ ॥

किं च—अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।

आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अबुधै (जनै) पण्यस्त्रीभिः इव अर्थलाभाय आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य स्वयम् परोपकरणीकृत ॥ २४ ॥

अबुधै = मूर्खें, पण्यस्त्रीभिः = वेद्याभिः, आत्मा 'कृत = अलङ्कारादि-शृङ्गारेण (पक्षे—विद्याज्ञानशीर्षादिना) शरीर पुन पुन मण्डयित्वा ॥

और भी—मूर्खों ने धन के लिए वेद्याओं के समान अपने आप को सजा-सजा कर स्वयं ही उसे दूसरों के कार्य में लगा दिया है ॥ २४ ॥

किं च—या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।

स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

अन्वयः—(स्वामिनः = प्रभो) प्रकृत्या एव चपला या दृष्टिं अशुचो अपि निपतति, सेवकाः स्वामिनः ताम् अपि बहु मन्यन्ते ॥ २५ ॥

प्रकृत्यैव = स्वभावेनैव, अशुचो अपि निपतति = अपवित्रमपि पश्यति, बहु मन्यन्ते=स्वामी मयि कृपादृष्टिं करोति इति मत्वा सेवका कृतार्था भवन्ति ॥

और भी—सेवक लोग स्वभाव से ही चंचल एवं अपवित्र स्थान में पढ़नेवाली स्वामी की दृष्टि को भी बहुत बड़ी वस्तु समझते हैं ॥ २५ ॥

अपरं च—मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।

धृष्टः पाद्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

सैवया = स्वामिवा सैवनेन सैवकी = सुखी- स्वात्मन्यम् = स्वतन्त्रम्
 हारितम् = नाशितम् ॥

सैवा हाप बन की समिजाया रखने वाले सैवकों के जो किया उसे देखो।
 उन मुकों ने उल्टे किए करने बटोर की स्वतन्त्रता भी देना ही ॥ १० ॥

अपरं च—

शीतवातातपकेशान् सहस्ते यान् परामिताः ।

तर्क्षेणापि मेघावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—परामिता यान् शीतवातातपकेशान् सहस्ते; मेघावी ज्येष्ठ
 वसि तप तपत्वा सुखी भवेत् ॥ ११ ॥

शीतवातातपकेशान्—शीतवा = अनुष्णत्वञ्च वातञ्च = वातुञ्च वातपञ्च =
 शर्पञ्च इति शीतवातातपा तेषां क्लेशान् = दुःखानि वरुभिश्च = पराधीन
 सैवका इत्यर्थं तर्क्षेण = शीतवातान् अनुष्णञ्च स्वल्पतपघातेन मेघावी =
 बुद्धिमान् तपस्तप्त्वा = तपस्सां कृत्वा ॥

शोर जी—दुखों के बर्षान रहनेवाले शीत वातु तथा अनुष्ण वादि के विप
 दुःखों को देखते हैं उल्टे बंधमान बुद्धों को ही सहकर बुद्धिमान् तप करने
 सुखी हो पाता है ॥ ११ ॥

अन्वयः—एतावन्नान्मासाफल्यं यद्वापत्तपुत्तिता ।

ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के सूताः ॥ १२ ॥

अन्वयः—एत् (यवत्स) जनावत्तपुत्तिता (यवति) एतावत् अन्वयः
 (अस्ति) वे (जना) पराधीनताम् जाता (अस्ति वदि) वे जीवन्ति
 (तद्दि) के (जना) सूता अस्ति ? ॥ १२ ॥

अन्वयः—एतावन्नान्मासाफल्यं यद्वापत्तपुत्तिता = स्वतन्त्रजीवनम्,
 पराधीनताम् = परतन्त्रताम् = स्वतन्त्रस्वीय जवत्स जना तद्वत्तपुत्ति पराधीनताम्
 जना मृतकतुल्या एकेवाद्यम् ॥

शोर जी—जीविका का दूसरे के अधीन न होना ही इस जन्म की बड़ी
 शक्यता है। यदि पराधीन व्यक्ति को ही जीवित माला जन्म दी फिर मृत हुआ
 किसे कहा जायगा ॥ १२ ॥

अपत्तु—एहि गच्छ, पतोत्तिष्ठ यद्, मौलं समाचर ।

एवमाद्यामहमस्तौ श्रीवृद्धि धर्मिनोऽर्चिभिः ॥ १३ ॥

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।

अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

अन्वयः—तुष्टा ये अचिरेण एव (सेवकानाम्) मनोरथान् पूरयन्ति, (ते) परमेश्वरा सेवकै कथं नाम यत्नत न सेव्यन्ते ॥ १८ ॥

कथ नाम=कस्मात्कारणात्, यत्नत =प्रयत्नपूर्वकम्, परमेश्वरा. = स्वामिन , तुष्टा =सन्तुष्टा ॥

उन स्वामियों की सेवा अत्यन्त यत्न के साथ क्यों नहीं करनी चाहिए, जो प्रसन्न होकर भी ही सारी अभिलाषाओं को पूरी कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धृतसंपदः ।

उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २९ ॥

अन्वयः—सेवाविहीनानाम् (सेवकजनानाम्), चामरोद्धृतसम्पद उद्दण्डधवलच्छत्रम् वाजिवारणवाहिनी च कुत (प्राप्यते) ? ॥ २९ ॥

सेवाविहीनानाम् = स्वामिसेवनमकूर्वताम्, चामरोद्धृतसम्पद —चामरेण उद्धृताश्च तां सम्पदश्च = चामरसञ्चालनसूचितधनानि, उद्दण्डधवलच्छत्रम् = उत्=ऊर्ध्वं दण्डं यस्य तत् उद्दण्डम्, तच्च तत् धवल = शुभ्रम् छत्रञ्च = राजत्वसूचकोर्ध्वीकृतशुभ्रासपत्रम्, वाजिवारणवाहिनी—वाजिनाम्=अश्वानाम्, वारणानाम्=हस्तिना च वाहिनी=सेना ॥

और भी देखो—सेवा न करनेवाले सेवकों को भला चामरयुक्त लक्ष्मी, लम्बी डही बाला छत्र, घोड़े और हाथियों से युक्त सेना कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ २९ ॥

करटको धृत—‘तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण । यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः । पश्य—

तथापि=स्वामिसेवाया कर्तव्यत्वेऽपि, व्यापारेण = कार्येण, परिहरणीय = त्याज्य ।

करटक ने कहा—‘फिर भी हमलोगों को इस कार्य (स्वामी का ध्यान रखना) से क्या लाभ ! क्योंकि अकरणीय कार्य में व्यर्थ की उधेदवुन करने से सदा वचना चाहिए । देखो—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।

स भूमौ निहतः श्वेतं कीलोत्पाटीव वानरः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—(स्वामिना ऐवम्) मौनात् मुखं (अस्तीति वक्ष्यते एवं सर्वत्र बोध्यम्) प्रथमपदं वातुका वा अल्पक आत्मा श्रीः अथि व क्ष्मे (तथा) प्रायसा नामिवात्, नियतम् पार्श्वं वक्षति (तथा) वृष्टं च वृष्टं (वक्षति तथा) अथप्रथम (एवम्) परमपहूनं ऐवाचमं बोधिनाम् अथि अन्वयः ॥

मौनात्—तुष्णीग्नायात् प्रथमपदं—अधिककर्मै वदुरं वातुका—
वाताकं (वातुनी) अल्पकं—मुखाधिककालं (वदुवादी) आत्मा—
अथमा श्रीः = अथमुक्तः (वरपोक) नामिवात्—अनुधीनं अथप्रथमः—
अज्ञाधीनं परमपहूनं—अधिकठिनं बोधिनामपि = बोधिव्यविकल्पहवीक-
नामपि अतीन्द्रियं परवृत्तामपि अगम्यं = ऐवमैप्रतिकठिनः, अज्ञेयप्र पादरघोत्
कारणं अतिकठिनं ऐवाचमं परमसहिष्णुबोधपि ऐवका नियोगुं न अनु-
स्तीति प्रायः ॥

बीर श्री—अथि ऐवक रुप रहे तो स्वामी उसे मुखं बात करने में वदुर
हो तो वातुनी अह्वणीक हो तो वरपोक अह्वणीक हो तो अनुधीन अथ
स्वामी के पास रहे तो बीठ बीर वृष्ट रहे तो कामर समझते हैं। इसलिये
ऐवाचमं अन्वय कठिन होछ है बिचकी साधना बोधियों के किये भी दुःख
होती है ॥ २६ ॥

विशेषतश्च—

प्रथमस्तुच्छतिहेतोर्बाधितहेतोर्बिमुञ्चति प्राणात् ।

पुञ्चीयति मुञ्चहेतोः को मूढ उच्यतेऽन्वयः ॥ २७ ॥

अन्वयः—ऐवकात् अन्वयं कं मूढ उच्यतिहेतोः प्रथमति श्रीविद्येते
प्राणात् विमुञ्चति मुञ्चहेतोः पुञ्चीयति ॥ २७ ॥

ऐवकात् अन्वयः—ऐवक विना उच्यतिहेतोः = उच्यत्कर्त्तव्यं, वदो—उच्यतेविमुक्तं
प्रथमति—नमस्करोति पक्षे—नम्रो भवति श्रीविद्येते—श्रीविद्युं प्राप्तं
विमुञ्चति—अन्ये मुञ्चहेतोः—मुञ्चकायाम् पुञ्चीयति । ऐवक एव स्वोच्यते
स्वामिनं प्रथमति श्रीविद्युं स्वाम्यर्थं प्राप्तत्वापमपि करोति तथा मुञ्चकायाम् अन्वय-
दुःखानि वदति नाम्य इत्यर्थः ॥

विशेष करते—ऐवक अपनी उच्यति के लिये मुञ्चता है श्रीविद्युं अपने के
किये मरता बीर मुञ्च गले के किये मुञ्च उच्यता है अता उच्यते बड़कर श्री
कीन मुञ्चत मुखं ही उच्यता है ॥ २७ ॥

वमनको प्रुते—‘मित्र सर्वथा ममसापि नैतत्कर्तव्यम् । अता—
वमनक ने कहा—मित्र मम से भी कभी-कैता नहीं करना चाहिये ।
क्योकि—

विदार्यमाणकाष्ठशकलयोर्मध्यभागे । अनन्तरम् = काष्ठखण्डद्वयमध्येऽण्डकोपद्वय-
प्रवेशान्ते, सहजचपलतया = स्वामाविकचञ्चलतया, आकृष्टवान् = उत्पाटितवान्
(खीचा, उखाडा) । चूर्णिताण्डद्वय — चूर्णित = चूर्णीभूतम्, अण्डयो =
मुष्कयो, द्वयम् = युगल यस्य स । पञ्चत्व गत = मृत । तथापि = अव्यापारेषु
व्यापारकरणस्थानौचित्येऽपि, स्वामिचेष्टानिरूपणम् = प्रमोक्षेष्टाया निरण्य, अनु-
जीविना=मेवमेव, पराधिकारचर्चा=अन्याधिकारसम्बद्ध वार्तालाप, सर्वथा=
सर्वप्रकारेण ॥

मगध देश मे घर्मारण्य के समीप ही किसी म्यान पर शुभदत्त नाम का
एक कायस्थ विहार (बौद्धमठ) बनवा रहा था । वहाँ आरे से चीरे गये कुछ
दूर तक फटे हुए लकड़ी के एक खम्भे की दोनों फाँकों के बीच में बढई ने एक
कील गाढ़ दी थी । एक दिन वहाँ बन्दरों का एक बहुत बड़ा झुण्ड खेलना क्रूदता
हुआ पहुँचा । काल से प्ररित होकर उनमें से एक बन्दर उस कील को पकड़
कर बैठ गया । वहाँ उसके लटकते हुए अङ्कोश भी फटे हुए काठ के बीच में
चले गए । इसके बाद उसने अपनी स्वामाविक चञ्चलता के कारण बड़े परिश्रम
से उस कील को खींच लिया । कील के निकल जाने पर उसके दोनों अण्डकोश
उसी में पिस उठे, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि
'अव्यापार में जो व्यापार करता है' इत्यादि । दमनक ने कहा—'फिर भी
सेवक को स्वामी की चेष्टाओं पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।' करटक ने
कहा—'जिसे सभी अधिकार दिए हैं, वह प्रधान मन्त्री करे । क्योंकि सेवक को
दूसरे के अधिकार को चर्चा भी कभी नहीं करनी चाहिये । देखो—

पराधिकारचर्चा यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया ।

स विपीदति चीत्काराद् गर्दभस्ताडितो यथा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—य (सेवक) स्वामिहितेच्छया पराधिकारचर्चाम् कुर्यात्,
चीत्कारात् ताडित गर्दभ यथा स विपीदति ॥ ३१ ॥

पराधिकारचर्चाम्=अन्याधिकारसम्बद्धा वार्ताम्, कुर्यात्=करोति, स्वामि-
हितेच्छया=प्रमो हितामिलाषेण, विपीदति=विषाद करोति, चीत्कारात्=
चीत्कारकरणात् (चिल्लानेसे), गर्दभ=रासभ यथा=इव ॥

जो सेवक स्वामी की भलाई के लिए दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा
करता है, वह उसी प्रकार दुखी होता है जैसे चिल्लाने के कारण पिटा हुआ
गर्दहा हुआ था ॥ ३१ ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत्' ? करटको ब्रूते—

दमनक ने पूछा—'यह कैसा ?' करटक ने कहा—

अन्वया—यो नरः व्यापारेषु व्यापारं कर्तुम् इच्छति, स (एव)
कीर्त्तोत्पादी वागए इव निहत (एव) षेते ॥ १ ॥

व्यापारेषु—व्यापारेषु स षेते—मृतं सन् बुभो तिष्ठति । कीर्त्तोत्पादी—
कीर्त्तस्व—सर्को उत्पादी = उत्पादनकर्ता ॥

यो मनुष्य बकरजीव काको के करते में अपने आपको बनाने की इच्छा
करता है वह कोक बहाइने वाले वातर के समान वादल होकर नर बाज है ॥

वृत्तमकः पुष्कति—‘अद्यमेतत्’ करटकः कथयति—

वृत्तमक नै पूज्य—यह कींठे ? करटक ने कहा—

कथा ?

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना
कापस्त्रेण विहारः कर्तुमारब्धः । तत्र करपत्रदार्यमापैकस्तम्मस्य
क्रियन्वुरस्काटितस्य काष्ठव्यङ्ग्यमभ्ये कीर्त्तका सुवधारैव
निहितः । तत्र बह्वान् वातरपूजः कीर्त्तनागतः । एको वागए
काकप्रेष्ठ इव तं कीर्त्तकं हस्ताम्बां पूत्वोपधिष्ठः । तत्र तस्य
मुष्कद्वयं सम्पत्तमं काष्ठव्यङ्ग्ययाम्यन्तरे प्रविष्टम् । अन्तरे स च
सहजवपकतया महता प्रयत्नेन तं कीर्त्तकमाकृष्टवात् । बाह्ये च
कीर्त्तकं सूर्यिताव्यङ्ग्यः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि ‘व्यापारेषु
व्यापारम् इत्यादि । वृत्तमको मृते—‘तथापि स्वामिषीष्टाविरुष्यं
सेवकैनावश्यं करणीयम् । करटकौ मृते—सर्वस्मिन्नधिकारे य
एव निपुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु । यतोऽनुजीविना पराधिकार
वर्षां सर्वथा न कर्तव्या । पश्य—

मगधदेशे—एतन्नामकवतपरे (पठना तथा आदिके प्राग्भक्तौ मगधं कर्ते ॥)

धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां—धर्मारण्यस्य निकटवसुधौ विहारः—कीर्त्तनिकार्यं
विवासायं अथवा, करपत्रदार्यमापैकस्तम्मस्य—करपत्रैव—काष्ठविहारकाक-
प्रेष्ठेण (‘करीष वाग’ इति मगधनाम्) विचार्यमाणस्य—विवा द्विजमावस्य
एकस्य—अन्वयस्य इत्यन्तस्य = काष्ठविहारस्य विवद्वुरस्काटितस्य—स्वस्य
विवाटितस्य काष्ठव्यङ्ग्यमभ्ये—इत्ये काष्ठव्यङ्ग्यमभ्येनामे कीर्त्तकं—बहु-
सुवधारैव = काष्ठविहारकेव धर्मविना (बहु) निहितः = स्थापितः ।
बह्वान् = नान्यन्, वातरपूजः = वातरपूजः, काकप्रेष्ठः = मृत्युप्रेष्ठः
तस्य = वातरस्य मुष्कद्वयं = द्वौ अन्वयोपी काष्ठव्यङ्ग्ययाम्यन्तरे =

अन्वयः—य (भृत्य सुहृद्वा) कार्यकाले याचते स किंभृत्य (च) किं-सुहृद् अस्ति । य (प्रभु) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, सः किंप्रभु अस्ति ॥ ३२ ॥

कार्यकाले = कायम्य समये, याचते = अर्थायते, किंभृत्य = निन्दित भृत्य, किंसुहृद् = कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत् = भाषणं कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समास ॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ माँगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नहीं है ।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पढ़ने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता' ॥ ३२ ॥

यतः—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।

पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तका न सन्ति ॥ ३३ ॥

आश्रितानाम् = आश्रयवताम्, भृतौ = पालने, स्वामिसेवायाम् = स्वामिसेवने, प्रतिहस्तका = प्रतिनिधय । एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधि-द्वारेणेत्यर्थः ।

क्योकि—अपने अधीन लोगों की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एव सन्तान उत्पन्न करने में कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं बन सकता है । अर्थात् वे कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभ सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयोस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम् । यतः—

सकोपम्—क्रोधेन सहित यथा स्यात्तथा=क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह=ब्रवीति 'ब्रूव पञ्चानामादित आहो ब्रूव, इति ब्रूव्धातोराहादेशस्तिप ण्लादेशश्च । पापीयान्—अतिशयेन पाप पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्यय — महापापीत्यर्थं, उपेक्षाम्=अवज्ञाम् । यथा=येन प्रकारेण, जागरिष्यति=जागरण करिष्यति, तत्=तथा कार्यम्, कर्तव्यम्=करणीयम् ॥

कथा २

अस्ति बाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः । स रात्रौ गार्ह-
निद्रायाम् प्रसुतः । तदनन्तरं तद्वृद्धद्रव्याणि हस्तं चौरः प्रविष्टः ।
तस्य प्राङ्मुख्ये गर्दभो पयस्तिष्ठति । कुक्कुरब्योपविष्टोऽस्ति । मधु-
गर्दभः श्वानमाह—‘सखे, मक्थस्तामयधं व्यापारः । तत्किमिति
स्वमुष्ये शप्यं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि । कुक्कुरो ब्रू-
‘मद्र मम नियोगस्य यथा स्वया न कर्तव्या । स्वमंथ किं न
जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहस्थां करोमि । एतोऽयं चिरानिर्बृ-
ममोपयोगं न जानाति । तनाधुनापि ममाहारखाने मन्वावरा ।
एतो यिना विपुत्रवर्षानं स्वामिन उपश्रीविपु मन्वावरा भवन्ति ।
गर्दभो ब्रूते— शृणु रे चर्चर

बाराणस्याम् = कास्याम्, रजक = बावक (बोबी) प्रसुत = सुतवात् ॥
तदनन्तरम् = रजकस्य अयनानन्तरम्, हस्तम् = चौरपितुम् । किमिति = कथम्,
विष्टोपस्य = कर्तव्यस्य बह्विधम् = बहोरात्रम्, निर्बृ- = चौरादिप्रवर्तित
निर्बृ- इत्यर्थं अनुनासिक्यामीम् ‘एतद्दि सम्प्रतीचानीमनुना साम्प्रतं तथा ।
इत्यपर । आहारखाने = भोजनखाने मन्वावरा = विपिकारः यिना विपुत्रवर्षानम्
दुःखमवलोच्य उपश्रीविपु = धृतेयु, चर्चर = ब्रूह नीचैत्यर्थं ॥

बाराणसी में कर्पूरपटक नाम का एक बोबी था । वह रात में गहरी नींद में
तो गया । इसके पश्चात् उसके घर का सामान चुराने के लिये वहाँ चोर चुड़
आया । उसके बाँध में बंधा ब्रूहा या चोर चुड़ा बैठ हुआ था । चर्चरे ने
कुत्ते से कहा—‘मित्र यह तुम्हारा काम है । इसलिए चोर से धर करके
स्वामी को बचो नहीं गया रहे हो ?’ कुत्ते ने कहा—‘माई भरे बचिहार की
बर्बा तुम्हें नहीं करनी चाहिए । क्या तुम नहीं जानते हो कि मैं रात-दिन
उनके घर की रक्षायी करता रहता हूँ । इसी के वह इन्हें चुड़कारा पत्थर
में ग बावकवत्ता नहीं समझता । चौर जब मुझे भोजन देने में भी लापरवाह
हो गया है । क्योंकि यिना मुकडान देखे स्वामी लोच सेवकों की चोर पत्थर
नहीं देते । चर्चरे ने कहा—‘भरे बचनी मुन ही बही—

‘यावते कार्यकाले यः स चिभुरया स किरुहत् ।’
कुक्कुरो ब्रूते—

‘भूत्यास्तंभापयेद्यस्तु कायकाले स चिभुरया ॥ ३२ ॥

अन्वयः—य (भृत्य सुहृद्वा) कार्यकाले याचते स किंभृत्य (च) किं-सुहृद् अस्ति । य (प्रभु) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, स किंप्रभु अस्ति ॥ ३२ ॥

कार्यकाले = कायस्य समये, याचते=अर्चयते, किंभृत्य =निन्दित भृत्य., किंसुहृद्=कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत् = माषण कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समास ॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ माँगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नहीं है ।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पढ़ने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता' ॥ ३२ ॥

यतः—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।

पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तका न सन्ति ॥ ३३ ॥

आश्रितानाम् = आश्रयवताम्, भृतौ=पालने, स्वामिसेवायाम्=स्वामिसेवने, प्रतिहस्तका =प्रतिनिधय । एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधि-द्वारेणत्वर्थ ।

क्योंकि—अपने अधीन लोगों की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एव सन्तान उत्पन्न करने में कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं बन सकता है । अर्थात् ये कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सक्रोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयोस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम् । यतः—

सक्रोपम्—क्रोपेन सहित यथा स्यात्तथा=क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह=अवीति 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव, इति ब्रुव्धातोराहादेशस्तिप गलादेशश्च । पापीयान्—अतिघयेन पाप पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्यय — महापापीत्यर्थं, उपेक्षाम्=अवज्ञाम् । यथा=येन प्रकारेण, जागरिष्यति=जागरण करिष्यति, तत्=तथा कार्यम्, कर्तव्यम्=करणीयम् ॥

तब बख्ते में ज्ञान के साथ कहा—'जरे कुछ तू तो बहुत ही पानी है।' स्वामी के कर्म में ध्यान नहीं बैठा है। बख्त जो हो। मैं बही उपाय करूँगा जिससे स्वामी भाव बायें। क्योंकि—

पृष्ठतः सेवयेदकं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिर्न सवभावेन परलोकममापया ॥

भावयः—(वन) कर्मम् पृष्ठ हुताशनम् जठरेण स्वामिर्न सर्वभावेन (तथा) परलोकम् अमापया सेवयत् ॥ १४ ॥

कर्मम् = सुबम्, पृष्ठ = पृष्ठभागेन हुताशनम्—हृत्तमवनासीति हुताशनम् = अग्निम् जठरेण = आग्निमुदरेण सर्वभावेन = सर्वप्रकारेण परलोकम् = स्वर्गम् अमापया = निष्पत्तव्या सेवयेत् = इत्यस्य सर्वभावय ॥

सूर्य का सेवन पीठ बेकर करना चाहिए, (सूर्य की ओर पीठ कर चुन लेनी चाहिए) अग्नि का सेवन पेट द्वारा करना चाहिए (भाव धामने करके तापना चाहिए) स्वामी की सेवा सभी प्रकार से करनी चाहिए और परलोक का सेवन माया छोड़ कर करना चाहिए ॥ १४ ॥

इत्युक्तवाचीक श्रीत्कारशब्द इत्यवात् । तथा स राजकस्तेन श्रीत्कारेण प्रचुरो निद्रामङ्गकोपात्तुल्याय गर्वेभं अगुडेव ताडयामास । तेनासौ पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं प्रकीर्ति—'पराधिकार चर्चाम् इत्यादि । पश्य । पशुतामन्वेपथमेवास्मद्वियोगाः । स्वनि योगचर्चा क्रियताम् । (विमुहय) । 'कित्त्वय तथा चक्षवा न प्रयोक्तवम् । एत आचमोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति । दमनका सरोपमाह—'कथमाहारार्थी भवाम् केवलं राजानं सेवते । एतद्-पुष्पमुक्त त्वया । एतः—

अतीव = उक्तस्वरेण पुन पुनर्वा श्रीत्कारशब्द इत्यवात् = वीरुत्तव्यात् । प्रचुर = वापत्ति निद्रामङ्गकोपात्—निद्रामा मङ्ग न व. कीपस्तस्मात्—आवरनभावा-कोवात्, अनुदेन = वदद्वयेन ('अती') तेन सपुत्रताकलेन असी-अर्धव ब्रह्मत्वमव मत् = मृत । अन्वेपथम् = अनुसन्धानम्, अस्मत्तियोव = अस्माकनविदुत कर्मम् (वदुत्) । आचमो = मम तव च अक्षितशेषाहारः = मुक्तावधिर्ध भोज्यम् प्रचुर = वर्धित (काशी) आहारार्थी = भोजनानिष्कामुक । अनु-त्तम् = अनुषितम् ॥

ऐसा कहकर वह अत्यन्त जोर से शब्द करना प्रारम्भ किया जिससे वह घोड़ी उस रोकने से जाग पड़ा और नौद टूट जाने के कारण क्रोध से उठकर गदहे को डहे से पीटने लगा, जिससे वह मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि दूमरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा, आदि। पशुओं की टोह लगाना ही हम लोगों का काम है। अपने काम की बात करो। (विचार करके) किन्तु आज हमें उसकी चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ भोजन अभी पर्याप्त है।' दमनक ने क्रोध के साथ कहा—'क्या तुम केवल भोजन पाने के लिए ही राजा की सेवा करते हो। यह तो तुमने अनुचित कहा है। क्योंकि—

सुहृदामुपकारकारणाद्
द्विपतामप्यपकारकारणात् ।

नृपसंश्रय इष्यते बुधै-

जठरं को न विभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—सुहृदाम् उपकारकारणात्, द्विपताम्=शत्रूणाम् अपि अपकारकारणात् बुधै नृपसंश्रय इष्यते, क (जन) केवलम् जठरम् न विभर्ति ॥ ३५ ॥

सुहृदाम्=मित्राणाम्, उपकारकारणात्=उपकाराय, द्विपताम् = शत्रूणाम्, अपकारकारणात्=अपकाराय हानये इत्ययं, बुधै=विद्वद्भिः, नृपसंश्रय=राजाश्रयणम्, राजसेवेत्यर्थं, इष्यते=अमिलष्यते। जठरम्=उदरम्, विभर्ति=पूरयति ॥

बुद्धिमान् लोग मित्रों का उपकार एवं शत्रुओं का विनाश करने के लिए ही राजा की सेवा करते हैं। वैसे अपना पेट कौन नहीं भर लेता ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि वान्धवाः ।

सफल जीवितं तस्य आत्मार्थं को न जीवति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यस्य जीविते विप्रा, मित्राणि, वान्धवा (च) जीवन्ति, तस्य जीवितम् सफलम् (अस्ति), आत्मार्थं क (नर) न जीवति ॥ ३६ ॥

यस्य=मनुष्यस्य, जीविते=जीवने, यस्मिन् जीवति सति इत्याशय, विप्रा=ब्राह्मणा, वान्धवा=भ्रात्रादिपरिवारा, सफलम्=सार्थकम्, आत्मार्थं=स्वार्थं ॥

जिसके जीवित रहने से ब्राह्मण, मित्र और भाई व-दु जीवित रहें, उसी का जीवन सफल है। जो अपने लिए तो सभी जीवित रहने हैं ॥ ३६ ॥

अपि च—यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु ।

क्वाकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपरणम ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यस्मिन् (जने) बीबति (सति) बहवः (बना) बीबन्ति इ-
 तु बीबन्तु । काकः अपि यस्मिन् स्तोत्रपुराणम् न कुर्वते विम् ? ॥ ३७ ॥

बहुवः=एतेकः बना काकः=बायस यस्मिन्=भोत्या 'यस्मिन्'कोटिसे
 द्विबो' इत्यमर । स्तोत्रपुराणम्=स्वच्छठरपूतिम् ॥

बीर भी—बिबन्ते बीबित रहते पर बहुत से लोग बीबित रहते हैं तबपुत्र
 वही बीबित रहता है । नहीं तो कौवा भी क्या अपनी बीबन्ते अपना पेट नहीं
 भर लेता है ? ॥ ३७ ॥

पदय—पञ्चभिर्घाति वासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।

कोऽपि छद्मैः कृती कोऽपि सस्तेरपि न छन्द्यते ॥ ३८ ॥

अन्वयः—कः अपि मानवः पञ्चभिः पुराणैः वासत्वं याति कः अपि स्तो-
 कृती (नवति) कः अपि स्त्री न छन्द्यते ॥ ३८ ॥

कोऽपि=कश्चित् पुराणैः = पञ्च (अष्टौतिगराटिकावापेकः पञ्चो घाति—
 पैठा) वासत्वं याति=कृत्वो नवति स्त्री = अष्टौहसपदीमुंघातिर्वा कृती=
 कृपार्थं ॥

बैबो—कोई मनुष्य पाँच वैसे पर ही गुलाम बन जाता है कोई काबो वैसे
 पर, किन्तु कोई-कोई काबो पर भी नहीं प्राप्त होता अर्थात् गुलामी नहीं स्वीकार
 करता ॥ ३८ ॥

अन्वयः—मनुष्यजातो दुस्त्रायाम् भृत्यत्वमनिर्गहितम् ।

प्रथमो यो न तत्रापि स किं औयस्तु गण्यते ॥ ३९ ॥

अन्वयः—मनुष्यजातो दुस्त्रायाम् भृत्यत्वम् अतिर्गहितम् (अस्ति) तत्र
 अपि यः (भृत्यः) प्रथमः न (नवति) इ बीबन्तु पश्यते किम् ? ॥ ३९ ॥

मनुष्यजातो = मनुष्यत्वे भृत्यत्वम् = दासत्वम् अतिर्गहितम् = अतिदेव
 विन्धितम्, तत्रापि तस्मिन् भृत्यत्वेऽपि यः = भृत्यः प्रथमः = मुख्य भूतैषु
 प्रधानम् इत्यर्थं बीबन्तुंभ्यावान् वारन्तु ॥

बीर भी—मनुष्य जाति में अनेक समान व्यक्ति ही जीवन्ती करता अन्वय
 तिन्वन्ती है । पैबो बना में सेवक होकर भी सेवा में सर्वप्रथम नहीं हुआ क्या
 उसकी बनवा बीबितो में की जा सकती है ? ॥ ३९ ॥

तथा लोक्तम्—शास्त्रिभारजलोद्धारता काष्ठपापाशवाससाम् ।

वारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—वाजिवारणलोहानाम् काष्ठपाषाणवाससाम् नारीपुरुषतोयानाम् (पारस्परिकम्) अन्तरम् महत् अन्तरम् (भवति) ॥ ४० ॥

वाजिवारणलोहानाम् = अश्वगजायसानाम्, काष्ठपाषाणवाससाम् = दारुशिलावस्त्राणाम्, नारीपुरुषतोयानाम्=स्त्रीपुरुषजलानाम्, अन्तरम्=भेद । अश्वदिपुं परस्परं महान् भेदो भवति, नैव सर्वेऽपि समानरूपा भवन्तीत्याशयः ॥

जैसे कहा भी गया है—घोड़ा, हाथी, लोहा, लकड़ी, पत्थर, कपड़ा, नारी-पुरुष और जल में महान अन्तर होता है ॥ ४० ॥

तथाहि । स्वल्पमप्यतिरिच्यते—

स्वल्पमपि = पूर्वोक्ताश्वदीना साधारणमप्यन्तरम्, अतिरिच्यते = अधिक महत्त्वाघायक भवति ॥

फिर भी कमी-कमी छोटी वस्तु भी बड़ी मानी जाती है ।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिन निर्मांसमप्यस्थिकं

श्वा लब्ध्वा परितोपमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये ।

सिंहो जम्बुकमङ्गमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विप

सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि त्राञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥४१॥

अन्वयः—श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकम् लब्ध्वा परितोपम् एति, (किन्तु तत्) तस्य क्षुधः शान्तये न भवेत् । सिंह अङ्गम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति, कृच्छ्रगतः अपि सर्वः जनः सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति । ४१ ॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम्—स्वल्पेन=मात्राया न्यूनैः, स्नायुवसयो = वस्तुमात्रेण, अवशेषेण = अवशिष्टाशेन, मलिनम् = मलयुक्तम्, निर्मांसम् = मांसरहितम्, अस्थिकम् = अस्थि (हड्डी), लब्ध्वा = प्राप्य, परितोपम् = सन्तोपम्, एति=प्राप्नोति । क्षुधः = बुभुक्षाया, शान्तये=शमनाय । जम्बुकम्=शृगालम्, अङ्गम् = स्वक्रोडम्, अतिसमीपमित्यर्थं, आगतम्=स्वयं प्राप्तम् निहन्ति=मारयति, द्विपम्=गजम्, कृच्छ्रगतः=कष्टावस्था प्राप्तः, सत्त्वानुरूपम्=स्वचलानुकूलम् ॥

घोड़ों में नसों और चर्वों से मैली मांस रहित हड्डी को ही पाकर कुत्ता मत्पृष्ट हो जाता है, यद्यपि उससे उसकी भूख शान्त नहीं होती है । किन्तु सिंह गोद में आए हुए गोदड़ को छोड़ कर हाथियों को मारता है, क्योंकि सभी लोग कठिनार्थ में पट जाने पर भी अपने पराक्रम के अनुकूल ही फल की इच्छा करते हैं ॥ ४१ ॥

अपरश्च सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

सेव्यसेवकयो = स्वामिवाचको अन्तरम् = परस्परधेयम् ॥

बीर मो स्वामी सेवक का अन्तर देखो—

साङ्गुलबाह्यनमघभ्ररवायपातं

भूमौ निपत्य घटनोदरवर्षानं च

श्या पिण्डवस्य कुक्षे गजपुङ्गवस्तु

धीरं विभोक्नपति चाद्रुशतैश्च सुक्षते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—श्या पिण्डवस्य (पुरोमात्रे) साङ्गुलबाह्यनम् अघभ्ररवायपातम्, च भूमौ निपत्य घटनोदरवर्षानम् कुक्षे तु गजपुङ्गव-धीरम् विभोक्नपति च चाद्रुशतैः सुक्षते ॥ ४२ ॥

पिण्डवस्य—पिण्डं वक्षतीति पिण्डवस्तस्य=वाचस्तस्य मोक्षनवायुं इत्यमित्येति यावत्, साङ्गुलबाह्यनम्=गुच्छप्रामाण्यम् अघ-भ्ररवायपातम् = अरवयोरव-पठनम् निपत्य=नुठित्वा घटनोदरवर्षानम्=स्वमुखात् स्वजठरस्य च प्रवर्षानम् । गजपुङ्गव = अत्रराज-धीरम् = मन्वम् विभोक्नपति = पश्यति चाद्रुशतैः=अन्त-चाद्रुशतैः प्रियमायतैः । अनेन सुभो मन्वस्य च स्वभावप्रवर्धनित नोचस्य उच्यते च मह्यन्तरमिति सूचितम् ॥

बुलाः टुकड़ा देने वाले स्वामी के भावे अपनी वृद्ध हिकाता है पहले बीतों पर लोटना है पूरको पर स्नेह कर लसे ज्यता पैट तथा मुँह बिसाला है; किन्तु गजराज भावे स्वामी को बड़ी सम्भीरता से देखता है बीर हीनकों सुखामर के बाद हमने दिए हुए भोजन को खटव करता है ॥ ४२ ॥

किञ्च यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं ममुष्यै

विज्ञानविद्यमयशोभिरमज्यमानम् ।

तन्नाम जीयितमिह मयध्वंस्त तज्ज्ञाः

काकोऽपि जीयति विराय र्षिभिः च सुक्षते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—मनुष्यै विज्ञानविद्यमयशोभिः अज्यमानम् प्रथितम् यद् यथा मयि जीयते तज्ज्ञाः ॥ इह तु जीयितं प्रवर्धितं नाम (अज्यम्) नाम र्षिभिः च जीयति यति च सुक्षते ॥ ४३ ॥

च जौ = जावनं पाउने क्षणमपि = क्षणमात्रमपि अज्यमानमपीति यावत् इह तद्विद्यमयशोभिः—विज्ञान च वक्षानीपुण्ड्र विद्यमयशोभिराज्यमानं जीयते इति विज्ञानविद्यमयशोभिः तौ अज्यमानम् = पूरान्

अत एव प्रथितम्=प्रसिद्ध यथा स्यात्तथा जीव्यत इत्यनेन सम्बन्ध, तज्ज्ञा — तत् जानन्ति इति तज्ज्ञा =तद्विद, इह=ससारे, प्रवदन्ति = कथयन्ति, बलिम्= बलिदाने दीयमान भोज्यम्, धर्मशास्त्रेषु श्वाकाकादिभ्यो बलिप्रदानस्य विधि-रुक्त । कलाकोशलपराक्रमकीर्तिभि पूर्णतया प्रसिद्ध जीवनमेव मानवाना वास्तविकं जीवनमस्ति, अन्यथा काकतुल्य मानवजीवन व्यथंमिति भाव ।

और भी—ज्ञान, विक्रम एव कीर्ति से युक्त तथा लोगो में प्रसिद्ध होकर जो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित रहता है, विद्वान लोग उसी को जीवित कहते हैं । यों तो कौवा भी बहुत दिनो तक जीवित रहकर बलि का अन्न खाया करता है ॥

अपरञ्च—यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
 दीने दयां न कुरुते न च वन्धुवर्गे ।
 किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
 काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—य (नर) आत्मजे दया न (कुरुते, कुरुते इत्यस्य अग्रेऽपि सम्बन्ध), च गुरौ न, च भृत्यवर्गे न, दीने न, च वन्धुवर्गे न, मनुष्यलोके तस्य जीवितफलेन किम् (अस्ति) ? काक अपि चिराय जीवति, च बलिं भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

आत्मजे=पुत्रे, गुरौ=मातापित्रादिगुरुजने, भृत्यवर्गे=सेवकसमूहे, दीने=दु खिते; वन्धुवर्गे=वान्धवसमूहे, तस्म=पूर्वोक्तपुत्रादिपु दयारहितम्य नरस्य, जीवित-फलेन=जीवनेन ।

और भी—जो व्यक्ति पुत्र, गुरु, सेवको एव वन्धु वान्धवो के प्रति दया नहीं करता, इस मनुष्य लोक मे उसके जीवित रहने से क्या लाभ ? यो कौवा भी तो बलि का अन्न खा खाकर बहुत दिनो तक जीवित रहता है ॥ ४४ ॥

अपरमपि—अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
 श्रुतिसमयैर्वहुमिस्तिरस्कृतस्य ।
 उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
 पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अहितहितविचारशून्यबुद्धे बहुणि तिरस्कृतस्य च उदरभरण-मात्रकेवलेच्छा पुरुषपशो व पशो का विशेष (अस्ति) ? ॥ ४५ ॥

बहिर्द्विषयविचारमुत्पन्नं — बहिर्द्विषयः — अमुककारणकारणो विचारः —
 ज्ञानेन ज्ञाना—हीना बुद्धिः—मठियस्य च तस्य द्विषाद्विषयज्ञानहीनत्वेति वाक्यं
 बहुभिः—अनेके प्रतिप्रसवैः — शास्त्रविज्ञाने समया— सपचाचारकार्यनिष्ठान्-
 र्द्विषयः इत्यमरः विरहव्यस्य—हीनस्य समकोलं कर्माभूतं उदरघरप्रान-
 किमकेन्द्रो—बहिरुत्थितमात्रामिवापुक्तस्य, बुद्धयपथो—पुरुषैव पशुतुल्यत्वं पशो-
 न्वादिपशोः च को विद्वेद — किमन्तरमस्ति किमप्यन्तर नास्तीति वाच्यं ॥

बीर धी—अपने कहे बुरे का विचार न कर सकने वाले बेबोले लोगों
 भाषायें से कृप्य तथा केवल अज्ञान ही पैदा करने की इच्छा रखने वाले पशु
 स्त्री पशु तथा पशु में अन्तर ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

करटकको ज्ञेते—‘आर्थां शाब्दप्रधानी । तदाप्याजयोः किमवयव
 विचारणया’ वचनको ज्ञेते—विषयता काहेनामात्या प्रधानता
 प्रधानता वा कर्मस्ते । यतो—

अप्रधानी—अमुको किम्विद्या—विषयपरिमाणेन ज्ञानात्—मन्त्रिणः प्रथम
 ताम्—मुख्याम् ॥

करटक के ज्ञेते—‘हम ज्ञेते तो प्रधान नहीं है । अतः हमें ऐसे विचारों के
 क्या काम हीया । अमरक ने कहा— बहुत दिनों के प्रधान के बाद ही आचारण
 मन्त्री प्रधान अथवा अज्ञान पर प्राप्त करते हैं । अतो—

न कस्यचित्कश्चिद्बिह स्वमात्मा

अवत्युद्धारोऽभिमतः कस्य वा ।

छोटे दुस्त्व विपरीतता वा

स्वचेष्टितान्मेव नरं नयन्ति ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इह कश्चित् (नर) स्वमायात् कस्यचित् उच्चारं अभिमतं वा
 कस्य न मयति (किन्तु) अके स्वचेष्टितान्मेव नरं दुस्त्वम् वा विपरीततां
 नयन्ति ॥ ४६ ॥

स्वभावात्—प्रकृतेः, उच्चारं—वाता महान् वा उच्चारो वातमहती इत्यमरः ।
 अभिमतः—अमीह कश्च—बुद्धिः । दुस्त्वम्—दोरमम्, विपरीतताम्—अपौरुष्यं
 स्वचेष्टितानि—अज्ञान कायानि नयन्ति—प्राणुयन्ति ॥

कोई व्यक्ति अपने स्वभाव से ही अन्तर में किसी के प्रति उच्चार शिव पूर्व
 दुस्त्वभावना नहीं होता है बल्कि उसके कार्य ही उसे महानता अथवा बीषता
 की ओर आगेवाले होते हैं ॥ ४६ ॥

किं च—आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।

निपात्यते क्षणेनाघस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यथा शिला महता यत्नेन शैले आरोप्यते, (च) क्षणेन अध निपात्यते, तथा आत्मा गुणदोषयो महता यत्नेन आरोप्यते, क्षणेन निपात्यते च ॥

आरोप्यते=आरोहते, आत्मा=जीवात्मा, महतोद्योगेन शैलोपरि स्थाप्यमाना शिलेव जीवात्मा महाप्रयत्नेन गुणे आरोपितो भवति, तथा उपरितनभागाद् क्षणमात्रेणाघ पात्या शिलेव जीवात्मा क्षणमात्रेण दोषयुक्तो विधीयते ॥

और भी—जैसे पत्थर की षट्टान पहाड पर बडे यत्न के साथ चढ़ाई जाती है किन्तु वही नीचे की ओर बढी आसानी से गिरा दी जाती है, उसी प्रकार आत्मा बडे प्रयत्न से गुणों पर पहुँचाई जाती और आसानी से दोषों से नीचे गिरा दी जाती है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽघः व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।

कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्यैव कारकः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—नर स्व एव कर्मभि कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्य कारक इव (क्रमश) अधो याति उच्चं व्रजति ॥ ४८ ॥

स्वैरेव कर्मभि = आत्मकृत्यैरेव, खनिता = खनक, यद्वत् = इव, प्राकारस्य = दुर्गादिचतुर्दिवस्थभित्ते कारक = कर्ता ॥

मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही कुर्मा खोदने वाले के समान तो नीचे जाता है और चहारदीवारी बनाने वाले के समान ऊपर पहुँचता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।' करटकौ ब्रूते—'अथ भवान् किं ब्रवीति ? ।' स आह—'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः कुतोऽपि कारणात्सचकित' परिवृत्योपविष्टः ।' करटकौ ब्रूते—'किं तत्त्वं जानासि ।' दमनको ब्रूते—'किमत्राविदितमस्ति । उक्तं च—

नद्रम=वरम् । स्वयत्नायत्त = स्वकर्माधीन, कुतोऽपि = कस्माच्चिदपि, सचकित = भययुक्त, तत्त्वम् = वास्तविकताम् ॥

अन हे भाई, सभी की आत्मा अपने कर्मों के ही अधीन होती है । करटक ने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं ?' उमने कहा—'मेरे स्वामी पिङ्गलक किमी कारण से ही लौट आये अत्यन्त चकित भाव में बैठे हैं ।' करटक ने कहा—'तो क्या तुम इसका कुछ मतलब समझ रहे हो ।' दमनक ने कहा—'इसमें कौन सी बात छिपी ही है । कहा भी है—

उद्भोरितोऽप्यः पशुनापि पृथक्ते

इवाद्य मागाद्य यदस्ति इक्षिताः ।

अनुक्तमन्युदति पण्डितो जनः

परेक्षितप्रामफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—उद्भोरितं अर्थं पशुनापि पृथक्ते वेदित्वा इवा य
पशुनापि पण्डितः जनः अनुक्तम् अर्थं ऊर्ध्वं हि बुद्धयः परेक्षितप्रामफलाः (परीक्षित)
उद्भोरित = इक्षित अर्थ = विषयः पशुना = पशुनापि पशुनापि
नाया = पशुना वेदित्वा = वेदित्वा ऊर्ध्वं = तर्कद्वारा जानाति इति
पादन् परेक्षितप्रामफला = अन्वयदीपमानसिद्धेः प्रबोधपरिचामा ॥

पशु भी नहीं हुई बातों को समझ लेता है बाबा पाए हुए बोले-पुकी के
सबारी होने हैं और पण्डित अर्थ बिना बड़े हुए ही किसी बात को समझ ले
है । क्योंकि बुद्धि के मनोबोधी को जान लेना ही बुद्धि का फल होता है ॥४९॥

आकाररिक्तवर्गस्या शेषस्या मापयेन च ।

नैवयपत्रविकारेण लक्ष्यतेऽस्तगत मता ॥ ५० ॥

अन्वयः—आकारं इक्षितं तथा वेदना मापयेन च नैवयपत्रविकारेण
लक्ष्यते मता ॥ ५० ॥

आकारं = आकृतिम् इक्षितं = इक्षितमात्रं, परवा = अतिविधिया वेदना
ह्यनादिमन्वादिबोधना मापयेन = कथनेन नैवयपत्रविकारेण = अनुक्तमन्युदति
लक्ष्यते = परिचीयते कथयते मता = आकारिकमात्रं ॥

आकृति सकेत वति वेदा जानी और मुख के परिवर्तन से कथयते के
बात जान हो जाती है ॥ ५० ॥

अत्र न्ययप्रस्तावे प्रज्ञापणेनाहमेतं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि ।
यमः—

न्ययप्रस्त व = स्वामिनो भवावधरे प्रज्ञापणेन = बुद्धिबलेन बहसीन
स्वबलम् ॥

इस मंत्र की उपस्थिति के समय मैं अपनी बुद्धि के बल से इस स्वाधी की
भजना बना लूँगा ।

प्रस्तायसहस्रं वाप्य सप्रज्ञासहस्रं मियम् ।

आत्मशक्तिसमं क्षीप यो जानाति स पण्डितः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—य (नर) प्रस्तावसदृशम् वाक्यम् सद्भावसदृशम् प्रियम्,

आत्मशक्तिसमम्, कोपम् जानाति, स पण्डित (अस्ति) ॥ ५१ ॥

प्रस्तावसदृशम्=अवसरानुकूलम्, वाक्यम्=वाक्यनम्, सद्भावसदृशम्=सद्भाव-
नोचितम्, प्रियम्=प्रियभाषणम्, आत्मशक्तिसमम्=स्वसामर्थ्यानुकूलम् ।

प्रसंग के अनुसार वात चीत, सद्भाव के अनुकूल प्रेम तथा अपनी शक्ति के
अनुसार क्रोध करना जो व्यक्ति जानता है वही पण्डित कहा जाता है ॥ ५१ ॥

करटकौ ब्रूते—‘सखे, त्वं सेवानभिज्ञः । पश्य—

सेवानभिज्ञ =सेवाकरणज्ञानहीन ॥

करटक ने कहा—मित्र ! तुम सेवा करना नहीं जानते । देखो—

अनाहृतो विशेषस्तु अपृष्टो बहु भापते ।

आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः’ ॥ ५२ ॥

अन्वयः—य तु अनाहृत विशेषत्, अपृष्ट बहु भापते, आत्मानम् भूपालस्य
प्रीतम् मन्यते, स दुर्मति (अस्ति) ॥ ५२ ॥

अनाहृत =अनाकारित , विशेषत्=गुहादो गच्छेत्, अपृष्ट = अननुयुक्त (विना
पूछा गया), प्रीतम्=प्रियम्, दुर्मति =दुर्वृद्धि , वृद्धिहीन इति भाव ॥

जो विना बुलाए निकट जाता है, विना पूछे बहुत सी बातें करता है और
अपने को राजा का प्रिय समझता है वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—‘भद्र, कथमहं सेवानभिज्ञः । पश्य ।

दमनक ने कहा— माई मैं सेवा करना क्यों नहीं जानता ? देखो—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दर चाप्यसुन्दरम् ।

यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स्वभावेन सुन्दरम् असुन्दरम् वा अपि किमपि अस्ति ? यस्मै यत्
एव (वस्तु) रोचते, तत् (वस्तु) तस्य सुन्दरम् अस्ति ॥ ५३ ॥

सुन्दरम्=मनोहरम्, रोचते=कचिकर जायते । स्व स्वरूप्यनुसारमेव सर्वं वस्तु
सर्वस्य जनस्य सदमत्वा ज्ञायते इति भाव ॥

कोई वस्तु स्वभाव से ही मली यां बुरी नहीं होती बल्कि जिसमे जिसकी
रुचि होती है, वही उसे मली लगती है ॥ ५३ ॥

यतः—यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।

अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवर्शं नयेत् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हि यस्य यस्य (जनस्य) यं वा मावा (भवति) मेवावी (वर) तैव तैव अनुप्रविश्य तम् नरम् क्षिप्रम् आत्मवचसम् नयेत् ॥ ५४ ॥

मावा = मतोऽभिप्रायः अनुप्रविश्य = तदनुकूलतया तं विश्वास्य मेवावी = विद्वान् आत्मवचं नयेत् = स्वस्व मधीमूढं कुर्वात् ॥

व्योक्ति—प्रतिमासाधी मनुष्य को बाहिए कि बिसका बीता मात्र हो उरके के अनुसार उरके हृदय मे पुन कर हीय ही उरि अपने बच मे कर के ॥ ५४ ॥

अन्वयः—कोऽप्येत्यहमिति प्रयात्सम्भवावेशयेति च ।

आज्ञामयित्वां कुर्वाद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—(महीपतिना) बच क (वस्ति) ? (इति पुष्ट) बहसु (वस्ति) सम्भक आवेद्य इति प्रयात्, यथाशक्ति महीपतेः आज्ञाम् अवित्तवाम् (च) कुर्वात् ॥ ५५ ॥

सम्भवावेशयः—यथावशात्पय अवित्तवाम्=तथा सक्रमिति मावा क्व-यक्ति = लक्ष्यनुसारम् अव्ययं विभक्ति— इति वाचार्थेऽप्यधीमावा ॥

बीर मी—राजा व्यो ही 'यहाँ कोन है' इस प्रकार कहे' तत एवम 'यै है क इ। हीमिए' इस प्रकार तैवक को कृता बाहिए बीर अपनी छति के अनुसार राजा की आज्ञा अर्थ नहीं होने देना बाहिए ॥ ५५ ॥

अपरं च—अस्पर्शुप्रतिमाग्नाहृष्टायेवानुगतः सदा ।

आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसती वसेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—(य मेवक) अस्पर्शु प्रतिमान् प्राज्ञः क्वा इव तथा अनुप- (वा) आदिष्ट न विकल्पेत न राजवसती वसेत् ॥ ५६ ॥

० योचतु = स्वल्पवेतनेऽनुष्ठु प्रतिमान् = वैश्वानुक्तः प्राज्ञः=विद्वान्, अतएव ए यं एतव=अपमानस्य वा साम्यनुगामी आदिष्ट=आज्ञतः न विकल्पेत= इव दुर्ग न वा पुर्माविति न विचारयत् राजवसती=राजवसने ॥

१ मी—क हे वस्तु का उच्यते कने बाजा वैश्वानुकी क्वा के समान मवा गामी के पीछे-पीछे चलने वाला बीर उसके आवेद्य का बिना बिचारै वाचन करने वाला बुद्धिमान मी राजा के वाह रह लक्ष्या है ॥ ५६ ॥

करतको वने—'कदाचिरयामनवसरप्रवेशाद्यप्यम्यते स्वामी' ।

स याह अस्त्वयम् । तथाप्यनुभीदिता स्वामिसान्निध्यमवदयं करणीयम् । यत —

अनवसरप्रवेशात् = असमये गमनात्, अवमन्यते = अपमान करोति ।
स्वामिसानिध्यम्=स्वामिन निकटे स्थितिम् ॥

करटक ने कहा —‘सभवत स्वामी बिना काम के हो पास गये हुए तुम्हारा कती अपमान न करे’ । उसने कहा—ऐसा हो सकता है । किन्तु सेवक को स्वामी के निकट अवश्य रहना चाहिए । क्योंकि—

दोषभोतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।

कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ ५७ ॥

अन्वय.—(यत्) दोषभोते अनारम्भ (भवति), तत् कापुरुषलक्षणम् (अस्ति), हे भ्रात ! अजीर्णभयात् भोजनम् कै परिहीयते ? ॥ ५७ ॥

दोषभोते = वातपित्तादिदोषजदुःखभयात्, अनारम्भ — कायस्य अपारम्भ, कापुरुषलक्षणम् = निन्द्यजनस्य चिह्नम् । अजीर्णभयात् = अजीर्णस्य मयहेतोः, मुक्तमन्नं जीर्णं भविष्यति नवेति भयकारणात्, परिहीयते = त्यज्यते ॥

किसी दोष के डर से जो कार्य ही नहीं प्रारम्भ करता वह तो कायर कहा जाता है । मला अपच के डर से सामने रखे हुए भोजन को कोई छोड़ देता है ? ॥ ५७ ॥

पश्य—आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं

विद्याविहीनमकुलीनमसगतं वा ।

प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च

यः पाश्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—नृपति विद्याविहीनम् अकुलीनम् वा असङ्गतम् आसन्नम् एव मनुष्यम् भजते, प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा च लता यः पाश्वतो वसति, तम् परिवेष्टयन्ति ॥ ५८ ॥

आसन्नम् = निकटस्थम्, अकुलीनम् = नीचवंशजम्, असङ्गतम् = अयोग्यम्, प्रायेण = प्रायश, प्रमदा = स्त्रिय, पाश्वत = पाश्वभागे, निकटे इत्यर्थं, परिवेष्टयन्ति = भूमिपतयः अनुगृहीत कुर्वन्ति, प्रमदा आलिङ्गन कुर्वन्ति, लताश्च आश्रयन्ति ॥

देखो—राजा अपने पास रहने वाले मनुष्य की ही याद रखता है, मले ही वह मनुष्य विद्या से रहित, अकुलीन अथवा मूर्ख ही क्यों न हो । क्योंकि राजा, स्त्रियाँ और लताएँ प्रायः उसी को अपनाती हैं जो उनके पास रहता है ॥ ५८ ॥

करटको व्रूते—‘अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान् ।’ स आह—‘शृणु । किमनुरको विरको वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि ।’
करटको व्रूते—‘किं तज्ज्ञानलक्षणम् ।’ दमनको व्रूते—‘शृणु ।

अस्वपि—कवचिष्मति । अनुरक्तः—स्नेहयुक्त विरक्तः—विरागयुक्तः ॥

करटक ने कहा—'तो वहाँ जाकर बात क्या रहेये ? उद्यमे कहा—'बुधे, पहले मैं यह माझूम कैसेवा फि स्वामी मुझ पर प्रसन्न है जबवा मेरी छेका कर रहा है । करटक ने कहा— इसको जानने का क्या उपाय है ? स्वयंके कहा—'सुनो—

पूराद्वेषेण हास्यं संप्रक्षेप्यावरो सुधाम् ।

परोक्षेऽपि गुणस्त्राघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

अन्वयः—पूराद्वेषणम् हास्यं संप्रक्षेपु मुहम् आरतः परोक्षे अपि गुणस्त्राघा प्रियवस्तुषु स्मरणम् ॥ ५९ ॥

अवैक्षण्यम्—अवकोक्यम् संप्रक्षेपः—अन्वयवपूर्वकं प्रस्तवचनम् परोक्षे—अप्रत्यक्षे गुणस्मरणम्—गुणप्रकटा स्मरण —प्रियकरं वस्तु प्राप्य स्मृतिं । वरीवारीं स्मृत्या तस्मै अपि इव वधामीत्यादिभावैव स्मरणम् ॥

दूर से ही वैक्या हँसता मुझसे सनब बहुत आदर विचाला वीठ वीठे मुझे की प्रशंसा करना और प्रिय वस्तुको मैं याद करता ॥ ५९ ॥

असेवकैः आनुरक्तिर्नाम समिधभाषणम् ।

अनुरक्तस्य चिह्नानि बोधेऽपि गुणसंप्रदाः ॥ ६० ॥

अन्वयः—असेवकैः अनुरक्तिं धामम् च तत्रियभाषणम् च बोधे अपि गुण संप्रदाः (इत्येताभिः) अनुरक्तस्य चिह्नानि (सन्ति) ॥ ६० ॥

असेवकैः—सेवायाः कर्तारि, अनुरक्तिः—अनुरागं धामं = प्रियवाचकपूर्वकं किञ्चित्प्रधानम् अनुरक्तस्य = स्नेहयुक्तं बोधे = अहत्कारे गुणसंप्रदाः = गुणात्मैव वर्धनम्; (इति प्राक्तनरकोक्ये वक्षितानि चिह्नानि स्नेहयुक्तस्य स्वानिदं कर्तव्यं प्रोक्तम्) ॥

सेवा व करने वर भी उद्यके प्रति प्रेम वाच रखता वीठी बातों के धार मुझ देना और बोध से भी गुण प्रदान करना वह प्रसन्न राधाके कथन है ॥६०॥

अन्वयः—काक्यापनमाशानां वर्धनं फलकायनम् ।

विरक्तोऽनुरक्तिहानि जातोपात्ममतिमाह्वरः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मतिमात् नर काक्यापनम् आशानाम् वर्धनम् फलकायनम् विरक्तोऽनुरक्तिहानि जातोपात्ममतिमाह्वरः ॥ ६१ ॥

काक्यापनम्—समवतिर्वाहः (आज हुआ नक हुआ' इत्यादि कहकर समब टालना) आशानां वर्धनम् = वैतनवर्धनत्याहावा' कठक वर्धनम् फल-

खण्डनम्=जातेऽपि गले तन्निराकरणम्, विरक्तेश्वरचिह्नानि=विरक्तस्य स्वामिनो लक्षणानि ॥

और भी—बुद्धिमान को यह जान लेना चाहिए कि समय टालना, झूठी ब्राशाएँ बढाना और परिणाम को व्यर्थ कर देना—उदासीन राजा के लक्षण हैं ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति, तथा वदिष्यामि ।

यतः—

ज्ञात्वा = विदित्वा, ममायत्त = मदधीन, वदिष्यामि = कथयिष्यामि ॥

यह समझ कर जैसे यह मेरे वश मे हो वैसे ही कहूँगा । क्योंकि—

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-

मुपायसदर्शनजां च सिद्धिम् ।

मेघाविनो नीतिविधिप्रयुक्ता

पुरः स्फुरन्तोमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अन्वयः—मेघाविन (नरा) नीतिविधिप्रयुक्ताम् अपायसदृशनजाम् विपत्तिम् उपायसदृशनजाम् सिद्धिम् पुर स्फुरन्तोमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अपायसदृशनजाम्—अपाय+य=कायनाशस्य, सदृशनात्=प्रदर्शनात् जायते=उत्पद्यते इति ताम्, उपायसदृशनजाम्—उपायस्य=कार्यसिद्धे, सदृशनात् जायते इति ताम्, मेघाविन = बुद्धिमन्तो जना, नीतिविधिप्रयुक्ताम् = नीति-द्वारेण सम्पादिताम्, पुर स्फुरन्तीमिव=प्रत्यक्षरूपेण मासमानामिव । बुद्धिमन्तो जना नीत्या, एवकृते कार्यनाशेन विपत्ति तथा अनेनोपायेन करणे कार्य-सिद्धिर्भविष्यति इत्येवप्रकारेण स्वामिनोऽग्रे प्रत्यक्षदृश्यमानामिव बोधयन्ति ।

बुद्धिमान् नीतिशास्त्र की विधियो का उचित प्रयोग करके दोषों से उत्पन्न हानि और उपार्यों से होने वाली सिद्धि को सामने झलकनी हुई सी दिखाते हैं ॥

करटकौ ब्रूते—‘तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्ष्यतुमर्हसि । यतः ।

अप्राप्ते = अनागते, प्रस्तावे = अवसरे ॥

करटक ने कहा—फिर भी बिना प्रसंग आए तो तुम कुछ भी न कह सकोगे ? क्योंकि—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।

प्राप्नुयाद्बुद्धयवज्ञानमपमान च शाश्वतम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अप्राप्तकालवचनम् ब्रुवन् बृहस्पतिः अपि बुद्धयवज्ञानम् च शाश्वतम् अपमानम् लभते ॥ ६३ ॥

अशास्त्रात्प्रवृत्तम्—अशास्त्रं काको यस्य तस्य तदुच्यते = अशास्त्रि-
 वाक्यम्, बुद्धयर्थान्वयम्—बुद्धयर्थान्वयम्, शास्त्रतम्—अशास्त्रम् = अशास्त्रि-
 बुद्धयर्थि भी बिना प्रसंग भाए ही कोई बात कहने से पूर्व समझे जाने
 और तत्काल सुबंदा जनापर होने कपटा है ॥ ११ ॥

इमं लको मते—'मित्र, मा मैयी । भाहममासावसर वरं
 यद्विष्णामि । यथा—

इमं लको मे कथा—'मित्र करो मते में बिना अक्षर भाए कोई भी वा-
 तही कहेंगा । क्योंकि—

भापयन्तुमागवामने कार्यकाळात्पद्येयु च ।

भापयेनापि वक्तव्यं सूत्येन द्वितमिच्छता ॥ १४ ॥

अन्वयः—भापयि उम्मार्यवामने च कार्यकाळात्पद्येयु (वात्तु) वपूत्येन च
 द्वितमिच्छता सूत्येन वक्तव्यम् ॥ १४ ॥

भापयि = स्वाभिनी विपत्काठी उम्मार्यवामने = कुमार्यवामने कार्यकाळात्
 पद्येयु=कार्यसमकालिउम्मार्येषु वपूत्येन=अननुस्तेन द्वितमिच्छता=द्वितीया ॥

भापयि मे पवने बुरे मार्य मे कहे रहने तथा कथ कय समझ हीत होने
 पर स्वाभी का द्वित चाहने काठे शेषक कय कर्तव्य है कि बिना पुठे ही उचित
 बातें कहूँ ॥ १४ ॥

यदि च प्रासावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रि-
 मय ममानुपपन्नम् । यथा—

प्रासावसरेण=अन्वयवसरेण (मोटा पाकर) मन्त्रः=उचितवचनार्थ-
 पपन्नम्=अभिज्ञम्, अर्थमिति वाच्यम् ॥

यदि अक्षर पाकर भी मैं उसे उचित लगाहूँ तो मेरा मन्त्र ही
 नहीं हो जायगा । क्योंकि—

कल्पयति येन वृत्ति येन च लोके प्रयास्यते सद्भिः ।

स गुणस्तेन च गुणितो रक्ष्यः सर्वधर्मीयम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—(मुत्य) येन वृत्ति कल्पयति च लोके सद्भिः येन प्रयास्यते,
 न पुत्र तत्र रक्ष्य च सर्वधर्मीयम् ॥ १५ ॥

कल्पयति = बुझने कल्पने इत्यर्थं येन=येन गुणैव वृत्तिः=कीर्तिः,
 प्रयास्यते = प्रयासनीयो जायते सद्भिः = सज्जनों, रक्ष्य = रक्षणीय-
 धर्मीय = अविशु योग्य ॥

जिस गुण से जीविका चलती है और जिससे ससार में सज्जनोंद्वारा प्रशंसा होती है, गुणी मनुष्य को उस गुण की रक्षा करनी चाहिए और उसे बढ़ाये रहना चाहिए ॥ ६५ ॥

‘तद्भद्र ! अनुजानीहि माम् । गच्छामि ।’ करटको ब्रूते—‘शुभ-
मस्तु । शिवास्ते पन्थानः । यथामिलपितमनुष्ठीयताम्’ इति । ततो
दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः ।

अनुजानीहि माम्=स्वामिसमीपं गन्तुं मामाज्ञापय । अनुष्ठीयताम् = विधी-
यताम्, त्वयेति शेष । विस्मित इव=आश्चर्यितवत्, समयवत् इत्यर्थं ॥

अत मद्र, मुझे आज्ञा दो । मैं जा रहा हूँ । करटक ने कहा—तुम्हारा
कल्याण हो और तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो । जाओ, अपनी इच्छा के अनुसार
काम करो । इसके पश्चात् दमनक कुछ चकित सा होकर पिङ्गलक के समीप गया ।

अथ दूरादेव सादरं राक्षा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपात प्रणि-
पत्योपविष्टः । राजाऽऽह—‘चिराद् दृष्टोऽसि’ । दमनको ब्रूते—
‘यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति,
तथापि प्राप्तकालमनुजीविता सांनिध्यमवश्यं कर्तव्यमित्या-
गतोऽस्मि । किञ्च—

सादरम्=आदरपूर्वकम्, प्रवेशित=कारितान्त प्रवेश, साष्टाङ्गप्रणिपातं
प्रणिपत्य=साष्टाङ्ग पतित्वा प्रणम्य । श्रीमद्देवपादानाम्=भवच्चरणानाम्
भवतामित्यर्थं, प्राप्तकालम्=अवसरे प्राप्ते, अनुजीविता=सेवकेन, सांनिध्यम्=
स्वामिनिकटगमनम् ॥

राजा ने उसे दूर ही से आदर के साथ अपने पास बुलाया । वह साष्टाङ्ग
प्रणाम करके बैठ गया । राजा ने कहा—बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़े ।
दमनक ने कहा—यद्यपि हमारे जैसे तुच्छ सेवक की स्वामी को कोई आवश्यकता
नहीं है, फिर भी सेवक को समय पढ़ने पर स्वामी के पास अवश्य जाना
चाहिए । इसी नाते आया हूँ । क्योंकि—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।

तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमद्भवाक्पाणिमता नरेण ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! दन्तस्य निर्घर्षणकेन वा कर्णस्य कण्डूयनकेन तृणेन
अपि ईश्वराणाम् प्रयोजनं भवति, (तर्हि) अद्भवाक्पाणिमता नरेण किम्
(वक्तव्यम्, तेन त्ववश्यं प्रयोजनं भविष्यतीति भाव) ॥ ६६ ॥

निर्घर्षणकेन=सङ्घर्षणकृता (खोदनेवाले), कण्डूयनकेन=कण्डूयनकारिणा
(खुजलानेवाले), ईश्वराणाम्=स्वामिनाम्, अद्भवाक्पाणिमता=वचनहस्त-

पादपुष्पेन । यदि पुष्पकण्ठमृतेनारि राक्षो वृत्तनिर्बलमाहर्षं प्रयोश्यं इति न
 वचना इत्युक्त्याद्युक्तौ नदीय कर्षं न प्रयोश्यं इति ननु नदीयैः नदीय इति न

हे रामपु, रीति काहने और काम मुद्रतामे के निरु राक्षसों को निरने
 मी आकरकठठा कर काती है तो फिर नरू हाव बीरवाणे मनुष्य की तो नदी
 क्या है । ॥ २६ ॥

यद्यपि चित्रणावधीरितरुच्यं देवपारैर्मै सुखिमाना मुञ्चत नाना
 न शशुमीयम् । पताः—

अवधो नमः निरवृत्तं च इतराई = शशुमी ॥

यद्यपि काचन वृत्त । नदीय के १ उक्ता की है जिसके भावो वर उक्त
 मरणा है कि वही काचका उदण के मेरा बुद्धि ही मर म १ मरी ता । निरवे
 काच का मेरा उच्छु मरी काका काचका । कोरु—

कदाचनकथापय य धीयगुणमुद्यदिमासो यदि शशुमीया ।

अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव

अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव
 [२७] अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव

कदाचि कन्मकथिका निरवृत्तं च इतराई = शशुमी ॥
 अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव
 अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव
 अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव

अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव
 अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव
 अथःकृमकथापि तन्मूकपाता नाथः शिवाया याति कदाचिदेव

एव तात्पर्येण विवेचयन् कदाचिदा कदाचिदेव । पताः—

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव कदाचिदेव

मणि = रत्नम्, लुठति = धारित तिष्ठति । यदि मणिकाचयोरनुचितस्थाने ग्रहणेनापि तयोर्गुणं नाल्पमपि हीयते इत्यर्थः ॥

यदि मणि को पैरो पर डाल दिया जाय और काँच को शिर पर धारण कर लिया जाय तो मी जो जँसा है, वह वँसा ही रहेगा । काँच (शीशा) काँच ही रहेगा और मणि मणि ही रहेगी ॥ ६८ ॥

अन्यच्च—निर्विशेषो यदा राजा सम सर्वेषु वर्तते ।

तद्यद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६६ ॥

अन्वयः—यदा राजा निर्विशेषः (सन्) सर्वेषु सम वर्तते, यदा उद्यमसमर्थानाम् उत्साह परिहोयते ॥ ६९ ॥

निर्विशेष = गुणतारतम्यस्य अज्ञ, सर्वेषु = समस्तेषु, गुणवत्सु गुणहीनेषु चेत्यर्थः, उद्यमसमर्थानाम् = उद्योगिनाम्, परिहीयते = हीनो भवति ॥

और मी—जब राजा सेवक की विशेषताओं पर ध्यान दिए बिना ही सभी के साथ समान व्यवहार करता है तो उद्यमी सेवक का उत्साह ठंडा पड़ जाता है ॥

किञ्च—त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।

नियोजयेत्तथैवैतास्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

अन्वयः—राजन् । उत्तमाधममध्यमा (इति) त्रिविधा पुरुषाः (भवन्ति, अत राजा एतान् त्रिविधेषु एव कर्मसु तथा एव योजयेत् ॥ ७० ॥

त्रिविधा = त्रिप्रकारा, उत्तमाधममध्यमा = श्रेष्ठा नीचा साधारणाश्च । नियोजयेत्—नियुक्तान् कुर्यात्, त्रिविधेषु = उत्तमनीचसाधारणेषु ॥

और मी—हे राजन् । मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । इस लिए इन तीनों प्रकार के मनुष्यों को तीन प्रकार के कार्यों—उत्तम, मध्यम और अधम में ही लगाना चाहिए ॥ ७० ॥

यतः—स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।

नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—भृत्या आभरणानि च स्वाने एव नियोज्यन्ते, पादे चूडामणि शिरसा नूपुरम् नहि कृतम् (भवति) ॥ ८१ ॥

स्थाने—योग्यस्थाने आभारमणि = बलवृत्तात् बुद्धामणि—सिरोभूवजम्,
गुणुरम्—परमभूवजम् (वाचक्षेप वैजयी)

बीर मी—सैवम् बीर आभूवज को उचित स्थान ही पर नियुक्त करना
बाह्य क्योंकि बुद्धामणि वर में बीर गुणुर सिर पर कमी नहीं बारम् दिया
जा सकता है ॥ ७१ ॥

अपि च—कमकभूवजसंघट्टज्योषितो

यदि मयिस्त्रपुषि प्रविधीयते ।

न स विरीति न चापि न शोभते

भवति योजयितुमवनीयता ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यदि कमकभूवजसंघट्टज्योषित मणि नपुषि प्रविधीयते स न
विरीति न न शोभते इति न (किन्तु) योजयितुं अवनीयता । (भवति) ॥७२॥

कमकभूवजसंघट्टज्योषित—स्वर्वाङ्गद्वारे षट्पुं बोम्ब नपुषि—विच्छेदे, तुल्य-
तमवातुविच्छेदे (राजा) नामके विरीति—विच्छेद सम्भाषणे तथापि—न शोभते
इति न अपि तु शोभते एव । योजयितुं = नपुषो ब्रूयन् योजयन् अवनीयता—
निम्ना ॥

बीर मी—तोने के आभूवज में बड़ी जाने के योग्य मणि यदि यदि में बह
ही जाय तो न ही वह रोटी है बीर मनी नहीं कपटी वह बात नहीं है किन्तु
नहीं समती ही है इतने तो उसके बड़वैवाले की ही निम्ना होती है ॥

अन्वयः—मुकुटे रोपिता कावक्षरपामरत्ने मणिः ।

नहि दोषो मयैरस्ति किन्तु साधोरविद्यता ॥ ७३ ॥

अन्वयः—(यदि) मुकुटे काव (य) परमाभरत्ने मणि रोपित (भवति
तथा) नहि दोष म हि अस्ति किन्तु साधोः अविद्यता (भवति) ॥ ७३ ॥

मुकुटे = शिरोधार्यभूषणविच्छेदे रोपित = अटित (बड़ा नया) परमा
भरत्ने = पारभूषणे मुकुटादी साधो = मणिय (आहूकारदी) अविद्यता =
बिदिग्धत्वहीनता ॥

बीर मी—यदि मुकुट में काव बीर वर के बड़े में मणि बह ही जाय तो
इसमें मणि का कोई भी दोष नहीं । यदि ऐसा करने वाला आहूकार ही मुकुट
परमा भरत्ना ॥ ७३ ॥

पश्य—बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अयम् बुद्धिमान् अनुरक्त, अयम् शूर, इत भयम् (अस्ति), इति भृत्यविचारज्ञ नृप भृत्यै आपूर्यते ॥ ७४ ॥

अनुरक्त = अनुरागपूर्ण, शूर = धीर, इत = अस्मात् भृत्यादिति शेष, इति = इत्यम्, भृत्यविचारज्ञ = भृत्यविचारज्ञानपूर्ण, आपूर्यते = परिपूर्णो भवति । बुद्धिमदादिभृत्यज्ञानवत् नृपस्य समीप एव भृत्या सदा तिष्ठन्तीति भावः ॥

देखिये—यह सेवक बुद्धिमान् है, यह मुझसे अनुरक्त है, यह धीर है, इससे मुझे भय है—इस प्रकार सेवको के विषय में ज्ञान रखने वाला स्वामी सर्वदा सेवको से भरा पूरा रहता है ॥ ७४ ॥

तथा हि—अश्वः शास्त्रं शस्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।

पुरुषविशेष प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अश्व शास्त्रम् शास्त्रम् वीणा वाणी च नर च नारी (एते) पुरुष-विशेष प्राप्य योग्या च अयोग्या भवन्ति ॥ ७५ ॥

पुरुषविशेषम् = योग्यमयोग्य वा नरम् ॥

जैसा कि—घोडा, हथियार, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री—ये सब योग्य या अयोग्य पुरुष के हाथों में पड़ कर योग्य या अयोग्य बन जाते हैं ॥ ७५ ॥

अन्यच्च—किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।

भक्तं शक्तं च मां राज्ञश्च ज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७६ ॥

अन्वयः—भक्तेन (परन्तु) असमर्थेन (भृत्येन) किम् (अस्ति)?, अपकारिणा शक्तेन किम् (अस्ति)?, हे राजन्! (त्वम्) भक्तम् च शक्तम् माम् अवज्ञातुम् न अर्हसि ॥ ७६ ॥

भक्तेन = भक्तियुक्तेन, असमर्थेन = सामर्थ्यहीनेन, शक्तेन = सामर्थ्ययुक्तेन, अपकारिणा = अपकारकारिणा, अवज्ञातुम् = तिरस्कर्तुम्, अर्हसि = योग्योऽसि ॥

स्वामिभक्त होते हुए भी शक्तिहीन सेवक से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार शक्तिशाली होते हुए भी बुरा चाहने वाले सेवक से भी कोई लाभ नहीं । इस लिए आप को स्वामिभक्त शक्तिसम्पन्न मेरे जैसे सेवक का निरादर करना उचित नहीं है ॥ ७६ ॥

यतः—भवमानाद्वाही भवति मतिहीनः परिजनः

ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।

बुधेस्त्यक्ते राज्यं नहि भवति नीतिगुणवती

विपद्यायां नीती सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—राज्यं भवमानात् परिजनः मतिहीनः भवति ततः तत्प्रामाण्यात् बुधजनः समीपे न भवति बुधं त्यक्ते राज्ये बुधवती नीति न भवति नीति विपद्यायाम् अवशम् सकलम् अवशं अवसीदति ॥ ७३ ॥

भवमानात्—तिरस्कारात्, परिजनः—बुधसमूहं तत्प्रामाण्यात् = बुद्धिहीन परिजनस्य वात्प्रामाण्येन बुधजनः—विद्वज्जनं बुधं त्यक्ते = विद्वज्जनहीने बुधवती = प्रवृत्तबुधमुक्ता विपद्यायाम् = महायाम्, सकलम् = सर्वम्, सीदति = नीकितं भवति नश्यतीति भावः ॥

नबोधि—राजा के निरादर करने से सब बुद्धिहीन हो जाता है जिससे सभी को ब्रमाण मान कर विद्वान् लोग उसके समीप ही नहीं जाते और बुद्धिमानों के द्वारा छोड़े गये राज्य से नीति बुधघातिनी नहीं होती तथा नीति के बुधित हो जाने से सारी प्रजा लज्जुद्धन होकर नष्ट हो जाती है ॥ ७३ ॥

अप्ररञ्ज—अन जनपदा निरयमर्चयन्ति नृपाधिष्ठम् ।

नृपेणावमती यस्तु स सर्वैरवमन्पते ॥ ७४ ॥

अन्वयः—जनपदा नृपाधिष्ठम् जनम् निरयम् अर्चयन्ति तु न नृपेण अवमते सः सर्वे अवमन्पते ॥ ७४ ॥

जनपदा—ईला तरस्या ईरावादिन इत्यर्थः, नृपाधिष्ठम् = राजा परिक्रमम्, अवमते = अनादृत्य अवमन्पते = अनादिकते ॥

बीर भी—इ राज्यं राजा द्वारा सम्मानित व्यक्ति का प्रजा भी सम्मान करती है किन्तु जो राजा से अपमानित होता है वह सभी लोगों द्वारा अपमानित होता है ॥ ७४ ॥

किञ्च—बाह्यादपि प्रहीतस्य युक्तमुक्त मनीषिभिः ।

रक्षेरधिपये किं न प्रहीपस्य प्रकाशनम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—मनीषिभिः युक्तम् उक्तम् बाह्यादपि नृपि नृपिण्यम् रक्षे अविपये किम् प्रहीपस्य प्रकाशनम् न (पृष्टते) ? ॥ ७५ ॥

बालात् = बालकात्, युक्तम् = योग्यम्, उक्तम् = कथित वचनम्, मनी-
विमि = बुद्धिमद्भिः, रवेरविषये = सूर्येऽविद्यमाने, प्रदीपस्य = दीपकस्य, प्रकाशनम् =
प्रकाश, सूर्याभावे दीपप्रकाशग्रहणयद्विद्वज्जनोक्त्यभावे बालकोक्तमप्युचितवचनं
ग्रहणीयमेवेत्याशयः ॥

और भी—विद्वानों को बालक द्वारा भी कही गई उचित बात मान लेनी
चाहिए। जहाँ सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता वहाँ क्या दीपक नहीं जलाया
जाता ? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—‘भद्र दमनक ! किमेतत् ? । त्वमस्मदीयप्रधा-
नामात्यपुत्र इयन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि ।
इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि ।’ दमनको व्रते—‘देव, पृच्छामि किञ्चित् ।
उच्यताम् । उदकार्थी स्वामी पानीयमेपीत्वा किमिति विस्मित इव
तिष्ठति ।’ पिङ्गलकोऽवदत्—‘भद्रमुक्तं त्वया । किन्त्वेतद्ब्रह्मस्यं वक्तुं
काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति । तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि । शृणु ।
सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन
हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतो मयापि महानपूर्वशब्दः ।
शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता वल्लेन भवितव्यम् ।’ दमनको
व्रते—‘देव ! अस्ति तावदयं महान् भयहेतुः । स शब्दोऽस्माभिरप्या-
कर्णितः । किन्तु स किमन्त्री यः प्रथम भूमित्यागं पश्चाद्युद्धं चोप-
दिशति अस्मिन् कार्यसन्देहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः । यतः—

भद्र = कल्याणम् !, अस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र — अस्मन्मुख्यमन्त्रिसुत,
इयन्तं कालं यावत् = एतावत्कालपर्यन्तम्, कुतोऽपि = कस्माच्चित्, खलवा-
क्यात् = दुर्जनोक्ते । यथाभिमतम् = स्वामीष्टानुसारम् । उदकार्थी = जलामिलाषी
स्वामी = प्रभु, भवानिति यावत् किमिति = कथम्, विस्मित इव = भीतवत्,
भद्रम् = सम्पत् । ब्रह्मस्य = गुप्तविषयस्य, विश्वासभूमि = विश्वासस्थानम् ।
निभृतम् = एकान्तम्, निर्जनगिति भावः । सम्प्रति = अस्मिन् समये, अपूर्वसत्त्वा-
धिष्ठितम्—अपूर्वेण = नवागन्तुकेन, सत्त्वेन = जीवेन, अधिष्ठितम् = कृताधिष्ठानम्,
अत्र वने काऽपि नवीनो जन्तुस्तिष्ठतीति यावत् । श्रुत = आकर्णित, अपूर्वशब्द =
अश्रुतपूर्वो ध्वनि, शब्दानुरूपेण = ध्वन्यनुसारम्, प्राणिनः = जन्तो, भयहेतु =
भयस्य कारणम्, आकर्णित = श्रुत । भूमित्यागम् = निवासस्थानत्यागम्, उपा-
दिशति = मन्त्रयति, भृत्यानाम् = सेवकानाम् उपयोग = उपयोगिता ॥

पिङ्गलक ने कहा—भद्र दमनक, यह क्या ? तुम हमारे प्रधानमंत्री के पुत्र

हो । पता नहीं किस बूढ़ की बात में पड़कर इतने विनो उठ तुम नहीं करते । जब तुम अपनी बात कहो । बसक ने कहा— देव मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ । यह बताइए कि आप कभी पीने लो गए, किन्तु बिना पानी लिए ही क्यों इस प्रकार अशुभ-बा हीकर बैठे हैं ? विष्णुक ने कहा—‘तुमने ठीक ही कहा है किन्तु इस खरब को बचल के लिए कोई विश्वासपात्र ही नहीं है फिर भी मैं चुनने से कह रहा हूँ । मुनो—इस समय हम बंपक में कोई अपूर्व ज्ञानवर आ गया है । आप मुझे यह स्वान छोड़ देना चाहिए । इसी कारण मैं अशुभ हूँ । मैंने भी उद्यता यज्ञान् अपूर्व अक्ष मुना है । अक्ष के अनुसार तो अक्ष प्राणी की बहुत ही बलवान् होता चाहिए । बसक ने कहा—‘देव यह तो बड़े ही घब का कारण है । यह अक्ष हमकोमो ने भी मुना है । किन्तु यह मंत्री कौना जो पहले स्वान छोड़ देते और फिर पूछ कराने की उताह दे । ऐसे ही अग्नेश्वरक विनय में सबको की उपयोयिता समझनी चाहिए । नवीं—

वन्धुस्त्रीभूत्यबगस्य बुद्धः खरवस्य आरमणः ।

आपन्निकपपापापे नरो जानाति सारताम् ॥ ८० ॥

अन्वया—नरः वन्धुस्त्रीभूत्यबगस्य बुद्धे खरवस्य च आरमण-साभ्याम्
आपन्निकपपापापे जानाति ॥ ८ ॥

वन्धुस्त्रीभूत्यबगस्य—वन्धुनाम् = बान्धवानाम्, स्त्रीनाम् = पत्नीनाम्,
भूत्याना च = सेवकानां च वर्गस्य = समूहस्य खरवस्य = बतस्य आरमण-
स्वस्य आपन्निकपपापापे—आपत्=विपत्तौ च तिकपपापापे = मुचर्चरीध्व
प्रसरः (नदीती) सारताम् = वेदनाम् । यथा विक्रमप्रसारे मुचर्चस्य बचनो
सपार्थं ज्ञापने तर्षं आपत्ती वन्धुस्त्रियारे सारत्वं नरः जानाति इत्याद्यम् ॥

आई, की सेवक वर्ग बुद्धि और जाने बच को आपन्निकपी नदीती पर
बस कर ही मनुष्य उतना तरह समझ सकता है ॥ ८ ॥

सिद्धो मूढे—‘अत्र, महती अद्वा मां आभते । इमं कम्, पुनराह
स्वगतम्—‘अस्यया रास्यसुखं परित्यज्य स्थानाग्नरं गन्तुं कथं
मां सम्मापस । प्रकादां मूढे—‘देव । यापद्दं जीयामि तावद्भयं न
कृतम्यम् । किन्तु करटकारयोऽयाभ्यास्पन्तां यग्माहापरप्रतीकार
कालं बुद्धमाः पुन्यधमबाया—

नाम् = विष्णुकम्, आपने = वीरवति । इमं कम् = स्वमर्षि उद्यता
विलेख्यं । बन्धवा = बन्धवाणे नति स्वानागरम् = अम्यं स्थानम्, सम्माने =
अपवति प्रकायम् = सारम् त्रिई पापवित्वा करटकारय = करटवज्रपु

तय, आश्रास्यन्ताम् = आश्रासनीया, करटकादीनप्यश्रासयेत्यर्थे । यत = यस्मात् कारणात्, आपत्प्रतीकारकाले = विपन्निराकरणक्षणं पुरुषसमवाय = शक्तानुरक्तसेवकसमूहसमागम ॥

सिंह ने कहा—‘भद्र, मुझे बहुत बड़ी शका सता रही है । दमनक ने मन ही मन कहा—‘ऐसा न होता तो राज्यसुख छोड़ कर दूमरे स्थान पर जाने की बात ही क्यों मुझसे कहते ?’ उसने प्रकट रूप में कहा—‘राजन् ! जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक आप को डरना नहीं चाहिए । किन्तु करटक इत्यादि को भी आश्रासन दे दें, क्योंकि विपत्ति का सामना करने के समय पुरुषों का एकत्रित होना कठिन होता है ।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ । करटको गच्छन् दमनकमाह—‘सखे, किं शक्य-प्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमय महाप्रसादो गृहीतः ? । यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायन गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः । पश्य—

सर्वस्वेन = सर्वविधघनेन, प्रचुरद्रव्येणेति यावत्, भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय = तद्भय निराकरिष्याव इति प्रतिज्ञा कृत्वा । शक्यप्रतीकार = निवारयितुं शक्य, भयहेतु = भयकारणम्, भयोपशमम् = भयनिवारणम्, प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा, महाप्रसाद = स्वामिदत्त श्रेष्ठ पुरस्कार । अनुपकुर्वाण = उपकार-मकुर्वन्, उपायनम् = उपहारम् (भेट) ॥

इसके पश्चात् दमनक और करटक राजा से भली भाँति सम्मानित होकर भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके चले । करटक ने चलते समय दमनक से कहा— मित्र, भय का कारण दूर हो सकने योग्य है अथवा नहीं—विना इसे समझे ही भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके क्यों तुमने इन बड़े पुरस्कार को ले लिया ? क्योंकि विना उपकार किए किसी का पुरस्कार नहीं लेना चाहिए, और विशेष कर राजा का तो अवश्य नहीं । देखो—

यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे ।

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यस्य प्रसादे पद्मा च पराक्रमे विजय आस्ते, च क्रोधे मृत्युः वसति स हि सर्वतेजोमय (अस्ति)

यस्य=नृपस्य, प्रसादे=प्रसन्नतायाम्, पद्मा = लक्ष्मी, आस्ते=वर्तते, यस्मिन् प्रसन्ने लक्ष्मीर्भवति इत्यर्थं, मृत्यु = मरणम्, सर्वतेजोमय = समस्ततेजोयुक्त ॥

विद्यती कृपा मे लभती पीडन मे विजय तथा श्रेय मे धृत्यु क्य विवाह
होता है। इसी से वह सभी तैयारी से पूर्ण होता है ॥ ८१ ॥

तथा हि—बाह्योऽपि नावमन्वस्यो मनुष्य इति भूमिपः ।

महती वैपता श्रेया नररूपेण विद्यति ॥ ८२ ॥

अर्थः—(अवम्) मनुष्य (अस्ति) इति (विदित्वा) बाह्य इति
भूमिपः न अवमन्वस्यः हि एवा महती वैपता नररूपेण विद्यति ॥ ८२ ॥

अवमन्वस्यः—विरक्तव्यः भूमिपः—पृथ्वी महती—बहुधर्तितुल्यता श्रेया ॥

बैपता हि—बाह्य राजा को भी मनुष्य समझ कर उसका निरादर नहीं
करना चाहिए। वह तो एक बड़ा वैपता होता है जो मनुष्यत्व में दूसरों पर
निबाह करता है ॥ ८२ ॥

व्यमनको विद्वद्वाह—'मित्र' सुष्वीमास्वताम्। शार्तं मया
ममकारणम्। बलीवर्धनवर्धितं तत्। धृपमाद्यास्माकमपि मस्याः।
किं पुनः सिद्धस्य।' कर्तव्यो मते—'घटोर्ध' तथा किं पुनः स्वामिना-
सस्तत्रैव किमिति नापनीतः। व्यमनको मते—'यदि स्वामिनासस्तत्रैव
मुच्यते तदा कथमयं महामसादसामो स्यात्। अपत्तञ्च—

सुष्वीमास्वताम् = त्वया मीदेन स्वीयताम् बलिबर्धनवर्धितम् = धृपमवर्धनम्
मस्याः = मोक्ष्या। स्वामिनाह = स्वामिनो ममत्, अपनीत = दूरीकृत। मुच्यते =
दूरीकृत्यते ॥

व्यमनक के ईश्वरक कहा—'मित्र तुप रहो। मैंने सब का कारण समझ
लिखा है। वह बल का पम्प है। बल हम लोगों का भी भोजन है। फिर सिद्ध
की ता बात ही क्या? कर्तव्य ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो फिर तुमने
स्वामी के सब को नहीं मयो नहीं दूर कर दिया? व्यमनक के कहा—'यदि स्वामी
का सब नहीं दूर कर देता तो मर इनका बड़ा शत्रु होकर ही मर जाता है और यो—

निरपेक्षो न कृतव्यो सूर्योः स्वामी कदाप्यत ।

निरपेक्षं प्रभु कृत्या भूतया स्यादधिक्यणयत् ॥ ८३ ॥

अर्थः—दुर्गै बलात्कृत स्वामी निरपेक्ष न वर्तव्य। प्रभु निरपेक्ष कृत्या
दुर्गै बलिबर्धनम् तात् ॥ ८३ ॥

वि देय = अनेकाहीन कदाप्यत = कदापि। बलिबर्धनम्—बलिबर्धन
इति विद्वदे नेम तुम्हें शिया वेदुति इति बलिबर्धनम् = बलिबर्धनं सामबलिबर्धन-
नम्। स्वान् = मरेण ॥

सेवक को चाहिए कि वह कभी भी स्वामी को निरपेक्ष (सेवक को अनावश्यक समझने वाला) नहीं करे, क्योंकि स्वामी को निरपेक्ष बना देने से सेवक की दशा अधिकर्ण के समान हो जाती है ॥ ८३ ॥

करटकः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ दमनकः कथयति—

करटक ने पूछा—‘यह कैसे ?’ दमनक ने कहा—

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महा-
विक्रमः सिंहः । तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्र कश्चि-
न्मूपिकः प्रत्यहं छिनत्ति । ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो
विवरान्तर्गतं मूपिकमलभमानोऽचिन्तयत्—

महाविक्रम = अतीव पराक्रमी, पर्वतकन्दरम् = गिरिगुह्यम्, अधिशयानस्य =
सुप्तस्य, केसराग्रम् = प्राचीपरिस्थवालसमूहाप्रमित्यथ, लूनम् = छिन्नम्, विवरान्त-
र्गतम् = विलस्याम्यन्तरे प्रविष्टम्, अलभमान = अप्राप्नुवत् । विधेयम् = कर्तव्यम् ॥

भारत के उत्तरी प्रदेश में अर्बुदशिखर नाम के पहाड़ पर दुर्दान्त नाम का एक बड़ा बलवान् सिंह रहता था । पर्वत की गुफा में सोने के समय कोई चूहा जित्य उसके अगल (गदन का बाल) का अगला भाग कुतर देता था । इस तरह अपने अगल को कटा हुआ देखकर तथा विल में रहने वाले चूहे को न पाकर क्रुद्ध सिंह ने विचार किया—

‘क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नेव लभ्यते ।

तमाहन्तु पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः’ ॥ ८४ ॥

अन्वयः—य तु क्षुद्रशत्रु भवेत्, (स यदि) विक्रमात् न एव लभ्यते,
(तर्हि) तम् आहन्तुम् तस्य सदृश सैनिक पुरस्कार्यं ॥ ८४ ॥

क्षुद्रशत्रु = नीचो रिपु, विक्रमात् = पराक्रमेण, लभ्यते = प्राप्यते, तम् = क्षुद्ररिपुम्,
आहन्तुम् = मारयितुम्, पुरस्कार्यं = पुरस्कृतं ॥

छोटा शत्रु बल से नहीं पकड़ा जा सकता है । उसे मारने के लिए उसी के समान छोटे सैनिक को पुरस्कृत करना चाहिए ॥ ८४ ॥

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा
विडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः । अनन्तरं
तद्भयान्मूपिकोऽपि विलास्य निःसरति, तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः
सुखं स्वर्षति । मूपिकशब्दं यदा यदा शृणोति, तदा तदा मासाहार-
दानेन तं विडालं संवर्धयति ।

इत्याद्योश्च—एष विचार्य विद्याञ्च—मात्रां बलेन—प्रयत्नपूर्वकम्
माताहारम्—मातृभोजनम् स्वकन्दरे—स्वावाप्तपुत्राभ्याम् । तदनन्तरम्—
सिद्धेन विद्याकृत्य स्वावगतानन्तरम् तदुपात्—विद्यकृत्यात्, अन्तर्द्वेषः—
अनुरागः सुखम्—सुखपूर्वकम् स्वपितृ—पैते । माताहारवशेन = मातृभोजनं
इत्यात् सर्वव्यति—मुनिवदवाचोस्तादृशं कथेति ॥

ऐसा विचार कर वह पाँच पन्ना और विद्यास वैकर बड़े प्रयत्न से बलिर्कर्म
नामक विचार को छाकर माँस का भोजन है-देकर उठे अपनी पुत्रा मे रख
लिया । इसके पश्चात् पुत्रा मी उसके घर के कारण बिल है नहीं निश्चयता वा ।
बिडसे सिद्ध ही सर्वन ने बाल काटे जाने से बचने लगे और वह पुत्र ही नीद
सोने लगा । वह जब बूढ़े का आवाज सुनता तब माँस का भोजन है देकर
बिचार का पालन पोषण करता ।

अथैकदा न भूमिका श्रुत्यापीडितो यतिः सञ्चरन् विद्याज्ञेन प्राप्तो
व्यापादितश्च । भिनन्तर स सिद्धोऽनककाञ्चं धायभूमिक न पश्यति
तरुतराभमपि न शृणोति तदा तस्यानुपयोगात् विद्याकृत्याप्या-
हारदाने मन्दावरो यभूव । ततोऽस्वावाहारविरहात् सुपण्डो वृधि
कर्णोऽयसद्यो यभूव । अताऽहं प्रधीमि—'निरपेक्षो न कर्तव्य'
इत्यादि । ततो वमनककरटकौ संजीवकसमीपं गती । तत्र करटक
स्तदतस्त साटोपमुबधिषा ।

पुत्रापीडित—पुत्रीश्रापुक्त सञ्चरन्—भ्रमन् व्यापादितः—इतः । अनेक-
काञ्चं—विरचानपदंशम् तरुतराभम्—मुनिवद्वृत्तपण्डम् तत्र—इति
वर्णाश्रमविद्याकृत्य अनुरागोपात्—अपयोगाभावात्, आहारदाने—भोजन
प्राप्ते मन्दावरः—विपिअवर तदनते—पुत्राशोकाने साटोपम्—आङ्गभरमुत्तम् ॥

एक दिन बुढ़ा बुद्ध से व्याकुल हाकर बाहर बूढे लम्बे बिल्ली द्वारा
पचह जिया गया और मार डाला गया । इन्ही बाद बहुत दिनों तक वह निह
ने बुढ़ा का नहीं देखा और न तो उतने घर ही को गुना लो बलिर्कर्म बिलार
की उपकोपिता न वह जान कर भोजन देने में भी उद्येधा करने लगा । त्रिमये
बुढ़ा म भ्रम न पिछन के कारण दुर्बल हो गया और बुद्ध दिनों के बाद घर गया ।
इन्ही लिए मैं बड़ा है कि स्वामी को निरपेक्ष नहीं करना चाहिए इत्यादि ।
इन्के बाद वमनक और करटक संजीवक के पास गए । वहाँ एक बुद्ध के लीचे
करटक बड़े रोष दाव से लाव रें गया ।

दमनकः सजीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—‘अरे वृषभ ! एपोऽहं
राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः । सेनापतिः करटकः समाज्ञा-
पयति—’ सत्वरमागच्छ । न चेदस्मादरण्याद् दूरमपसर ।
अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति । न जाने क्रुद्धः स्वामी किं
विधास्यति ।’ तच्छ्रुत्वा सजीवकश्चायात् । यतः—

अरण्यरक्षार्थम् = वनस्य रक्षायै, नियुक्त = अधिकृत । सत्वरम् = शीघ्रम्, न
चेत् = अन्यथा, आगमनाभावे इत्यर्थं, अपसर = गच्छ । अन्यथा = मन्तिकटमा-
गमनाभावे दूरमपसरणाभावे च विरुद्धम् = विपरीतम् । विधास्यति = करिष्यति ।
आयात् = आगत ॥

दमनक ने सजीवक के पास जाकर कहा—अरे वील ! मुझे राजा पिङ्गलक
ने इस जगल की रखवाली करने के लिये नियुक्त किया है । सेनापति करटक ने
आज्ञा दी है कि तुम शीघ्र ही उसके पास चलो । अन्यथा इस जगल को छोड़
कर दूर चले जाओ । नहीं तो तुम्हारी बड़ी बुरी दशा हो जायगी । पता नहीं
क्रुद्ध होकर स्वामी क्या कर डालेंगे । यह सुनकर सजीवक चला आया । क्योंकि—

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः ।

पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—नरेन्द्राणाम् आज्ञामङ्ग ब्राह्मणानाम् अनादरः नारीणाम् पृथक्
शय्या (एतत्त्रयम्) अशस्त्रविहित वध (भवति) ॥ ८५ ॥

नरेन्द्राणाम् = नृपाणाम्, आज्ञामङ्ग = आदेशस्य अपालनम्, पृथक्शय्या =
पृथक्शयनम्, अशस्त्रविहित = शस्त्रप्रयोग विनैव कृत, वध = मृत्यु । आज्ञा-
मङ्गादिना नृपादयो विना शस्त्रप्रयोगं म्रियन्ते, मृतकतुल्या भवन्तीत्याशयः ॥

राजाओ की आज्ञा का उल्लंघन करना, ब्राह्मणों का अनादर करना और
स्त्रियों को अलग विछोने पर सुलाना—ये विना हथियार के की गयी हत्या है ॥

**ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः समयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं
करटकं प्रणतवान् । तथा चोक्तम्—**

देशव्यवहारानभिज्ञ = देशव्यवहारज्ञानरहित, समयम् = मययुक्तम्, उपसृत्य =
निकट गत्वा, प्रणतवान् = ननाम ॥

इस लिए देशकाळ के व्यवहार को न जानने वाले सजीवक ने डर से
निकट जाकर करटक को साष्टाङ्ग प्रणाम किया । जैसा कि कहा भी है—

प्रतिरेव ब्रह्माङ्गीयसी यद्भावे करिणामिदं वशा ।

इति शोषयतीव द्विष्टिमा करिणो हस्तिपकाहृतः कण्ठम् ॥८६६

अन्वयः—ब्रह्मद् यतिः एव परीयसी (बलि) यद्भावे करिणाम् इवम्

वशा (भवति) करिण- हस्तिपकाहृत कण्ठम् द्विष्टिम इति शोषयति एव ॥८६६

वशाए=वशापेक्षया परामर्शी=वर्तितवैत श्रेष्ठ वदभावे=यस्या मठैरभावे

कारणम्=पञ्चानाम् इय वशा = स्वस्य महाधर्मिनम्मन्त्रत्वेऽपि स्वस्ववपवत

मानवस्य वशीभाषस्वीया अवस्था । शोषयति=शोषणा करोतीव द्विष्टिम=

बाह्यविशेष हस्तिपकाहृत=अज्ञारोहिषा ताडित कण्ठम्=अन्वयमान् ॥

हाथी की पीठ पर रखे हुए तमाका का पीठ-नाटक महावत द्वारा ब्रह्मा

पर मानो वह तमाका मह शोषणा करता है कि वत से बुद्धि ही सम्भवी होती

है । उसी के बजाव में हाथियों की ऐसी वशा है (वशी होते हुए भी वे मनुष्य

की बुद्धि द्वारा ही उसके गुणवत बन जाते हैं) ॥ ८६ ॥

अथ संजीवकः सायङ्गमाह—'सनापते ! किं मया कर्तव्यम् ।

तद्विनिधीयताम् । करटकौ ब्रूते—'शुभम् ! अत्र कान्ते तिष्ठसि ।

अस्मद्देवपादापरिन्दं प्रणय । संजीवकौ ब्रूते—'तद्वभवत्वात् मे

पञ्च । गच्छामि । करटकौ ब्रूते—'शृणु रे बलीपर्व ! अकमनया

हाहूया । यतः—

सायङ्गम् = सायङ्गापूर्वकम्, विनिधीयताम् = दध्यताम् । अत्र कान्ते =

अस्मिन् वन तिष्ठसि = निवास करोषि । अस्मद्देवपादापरिन्दम् = अस्माकं

गुणैः करटकमलम् प्रणय = प्रणयान् शुक । तावत् = प्रकथम् अत्रवत्त्वम् =

अमववत्त्वम्, मे = मया संजीवकान् वञ्च = देहि । अकमनया हाहूया = इदानीं

हाहूया न शुक ॥

इसके बाद संजीवक ने डरते हुए कहा—'शेनापति बठाइए, मैं क्या करूँ ?

करटक ने कहा—'बैठ करि तूम इस वनके मे खूबा चाहते हो तां हुनारे

स्वामी के वरको मे नमस्कार करो । संजीवक ने कहा—'ओ मुझे अमववत

वीचए, मैं वहाँ चलाता हूँ । करटक ने कहा—'जो बैठ ऐसी वंका न करो ।

न्याकि—

प्रतिवाचमद्गन्त वैशाखः शोपमानाय न श्रेदिभूमुञ्जे ।

अनङ्गकुट्टे यनप्यनि न द्वि शोमापुस्तानि कैसरी ॥ ८७ ॥

अन्वयः—यद्यप्यवभावात् श्रेदिभूमुञ्जे प्रतिवाचम् न अदत्त देहरी

यनप्यनिम् अनुङ्गकुट्टे शोमापुस्तानि न (अनुङ्गकुट्टे) ॥ ८७ ॥

प्रतिवाचम् = प्रत्युत्तरम्, केशव = कृष्ण, शपमानाय = गालिप्रदान कुर्वते, चेदिभूभुजे = शिशुपालाय । अनुदृष्टकुरुते = पश्चाद्दृष्टकृति करोति । घनध्वनिम् = मेघशब्दम्, गोमायूरुतानि = शृगालरुदितानि, केसरी = सिंह । बलवान् बल-वत्स्वेष पराक्रम दर्शयति, न क्षुद्रेष्विति तात्पर्यम् ।

भगवान् कृष्ण ने गाली देने वाले शिशुपाल की बातों का कोई भी उत्तर नहीं दिया क्योंकि सिंह वादलों का गरजना सुनकर ही गरजता है न कि गीदड़ों की बोली सुनकर ॥ ८७ ॥

अन्यच्च—तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जतो

मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।

समुच्छ्रितानेव तरुन्प्रवाधते

महान्महत्येव करोति विक्रमम्' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रभञ्जन मृदूनि सर्वत नीचैः प्रणतानि तृणानि न उन्मूलयति, समुच्छ्रितान् तरुनेव प्रवाधते, (यत) महान् महति एव विक्रम करोति ॥ ८८ ॥

तृणानि = घासान्, न उन्मूलयति = न उत्पाटयति, प्रभञ्जन = वात्या (आंधी), मृदूनि = कोमलानि, प्रणतानि = नम्रीभूतानि । समुच्छ्रितान् = अत्युन्नतान्, तरुन् = वृक्षान्, प्रवाधते = श्रोत्यति, उत्पाटयति वा ॥

और—कोमल तथा सभी तरह झुकी हुई घासों को वायु फमी नहीं उखाड़ता । वह तो सिर ऊपर उठाने वाले पेड़ों को ही उखाड़ता है, क्योंकि बड़े लोग बड़ों पर अपने बल का प्रयोग करते हैं ॥ ८८ ॥

ततस्तौ सञ्जीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ ।

तौ = करटकदमनकौ, कियद्दूरे = स्वल्पदूरे ॥

इसके बाद दोनों कुछ दूरी पर ही सञ्जीवक को विठाकर पिङ्गलक के पास गए ।

ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाऽऽह—'त्वया स दृष्टः ? ।' दमनको ब्रूते—'देव, दृष्टः । किन्तु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा । महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति । किन्तु महाबलोऽसौ ततः सञ्जीव्योपविश्य दृश्यताम् । शब्दमात्रादेव न भेतव्यम् । तथा चोक्तम्—

सादरम् = आदरपूर्वकम्, अवलोकितौ = दृष्टौ, देवम् = भवन्तम् । सञ्जीव्य = सजितौ भूत्वा, उपविश्य = उपवेशनं कृत्वा । शब्दमात्रात् = केवल शब्देन ॥

राजा ने इन दोनों को बड़े बाहर से देखा और ये दोनों भी प्रणाम करके बैठ गए । राजा ने कहा— क्या तुमने उसे देखा । रामक ने कहा—‘देव देखा तो कबस्य किन्तु आप बैठा समझने के बहु बैठा ही बली है । बहु आपका बर्णन करना चाहता है । किन्तु बहु बहुत बड़बान है । आप तैयार होकर बैठिए और देखिए, केवल उसके शब्द को ही सुनकर डर मठ चाहएया । बैसा कि कहा भी है—

‘शब्दमात्राद्य भेतश्चमकारवा शब्दकारणम् ।

शब्दहेतुं परिश्राय कुट्टनी घोर्यं गता ॥ ८९ ॥

अन्वयः—शब्दकारणम् अज्ञात्वा शब्दमात्रात् न भेतश्चम् (मठ) शब्दभेदं परिश्राय कुट्टनी घोर्यम् पठ ॥ ८९ ॥

अज्ञात्वा = अपरिज्ञान शब्दकारणम् = शब्दस्य हेतुम्, कुट्टनी = लम्पती घोर्यम् = महत्त्वम् ॥

विद्या शब्द का कारण समझ केवल शब्दमात्र है ही नहीं करना चाहिए । शब्द का कारण जान देने से ही एक कुट्टनी कोनों के बाहर का नाम बन गई थी ॥

राजाऽऽह—‘कथमेतत् ? । रामकः कथयति—

राजा ने कहा—‘यह कैसे ? रामक ने कहा—

कथा ४

अस्ति भीषयतमश्वे ब्रह्मपुराक्षर्यं नगरम् । तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते । एकदा घण्टामावाय पलायमानः कश्चिच्छौरो श्यामेण श्यापावितः । तत्पापिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता । वामरास्तां घण्टामनुत्कर्णं याव्यन्ति । ततो नगरज्जमैः स मनुष्याः प्रावितो ह्यः प्रतिघर्णं घण्टारथञ्च श्रूयते । वनस्तरं घण्टाकर्णो कुपितो मनुष्यान् प्रावति घण्टाञ्च वावयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलापिताः ततः कराक्षपा नाम कुट्टन्या विमूढपातयसरोऽयं घण्टाताहः । तर्हि मर्षटा घण्टां याव्यन्तीति स्वयं विश्राय राजा विशापिताः— देय यदि क्षिपन्तोपक्षपा क्षिपते, तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि । ततो राजा तस्ये धनं दत्तम् । कुट्टन्या य मण्डलं दृश्या तत्र गणेशादिपूजागीर्यं द्वापिरया स्वयं वागदप्रिपफलाग्वा- दाय वम प्रविश्य फलाग्वाकीर्जानि । ततो घण्टां परिस्त्रय वामरा

फलासक्ता बभूवुः । कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजन-
पूज्याभवत् । अतोऽहं ब्रवीमि—शब्दमात्रात्र भेतव्यम्' इत्यादि ।
ततः संजीवकमानीय दर्शनं कारितवन्तौ । पश्चात्तत्रैव परमप्रीत्या-
निवसति ।

ब्रह्मपुराख्यम् = ब्रह्मपुरनामकम् । तच्छिखरप्रदेशे = तस्य शिखरोपरिभागे,
जनप्रमाद = लोकोक्ति । व्यापादित = हत । तत्पाणिपतिता—तस्य चौरस्य
हस्ताद् भ्रष्टा, अनुक्षणम् = प्रतिक्षणम् । नगरजनै = नागरिकै, खादित = भक्षित,
घण्टाग्व = घण्टाया ध्वनि, क्रुपित = क्रुद्ध । विमृश्य = विचार्य, अनवसर =
असामयिक, घण्टानाद = घण्टाध्वनि । विज्ञापित = आवेदित । कियद्धनो-
पक्षय = स्वल्पघनव्यय, साधयामि = वशीकरोमि । तस्यै = कुट्टन्यै, मण्डलम् =
तण्डुलकुडकुमादिचूर्णेन वृत्ताद्याकारम्, गणेशादिपूजागौरवम् = गणपत्यादिपूजन-
महत्त्वम्, दशयित्वा = प्रदर्श्य, आकीर्णानि = यत्र तत्र प्रक्षिप्तानि (विखेर दिया) ।
फलासक्ता. = फलग्रहणमक्षणतत्परा । सर्वजनपूज्या = समस्तमानवादरणीया
परमप्रीत्या = महत्या प्रसन्नतया ॥

श्री पर्वत के बीच में ब्रह्मपुर नाम का नगर है । वहाँ के लोग ऐसा कहते
हुए सुने जाते हैं कि उसकी चोटी पर घण्टाकर्ण नाम का राक्षस रहता था ।
एक बार घण्टा लेकर भागते हुए किसी चौर को सिंह ने मार डाला । उसके
हाथ से गिरा हुआ घण्टा वन्दरों को मिल गया । वे वन्दर घण्टे को हर समय
वजाया करते थे । जब नगरवासियों ने सिंह द्वारा खाए गए उस मनुष्य को
देखा और हर समय घण्टे की वाधाज सुनी तो वे लोग 'घण्टाकर्ण मनुष्यों को
खाता है और घण्टा वजाता है' ऐसा कहते हुए वहाँ से भागने लगे । इसके
बाद कगला नाम की कुट्टनी ने विचार किया कि इस घण्टे के असमय वजने में
कोई भेद है । उसने यह जान लिया कि घण्टे को वन्दर वजाते हैं और उसने
राजा से निवेदन किया कि 'आप कुछ धन खर्च करें तो मैं घण्टाकर्ण को वश में
कर सकती हूँ ।' राजा ने उसे धन दिया । कुट्टनी मण्डल बनाकर गणेशादि की
पूजा करने का पाखण्ड करके स्वयं वन्दरों को अच्छे लगने वाले फल लेकर जंगल
में गई और वहाँ उसने फलों को विखेर दिया । तब घण्टे को छोड़कर वन्दर
फल खाने में लग गए । और कुट्टनी घण्टे को लेकर नगर में चली आई तथा
लोगों से सम्मानित हुई । इसीलिए मैंने कहा है कि—'केवल शब्द से नहीं डरना
चाहिए' इत्यादि । इसके बाद संजीवक को वहाँ लाकर उन दोनों ने उनका
दर्शन कराया । फिर वह वहाँ बड़े प्रेम के साथ रहने लगा ।

अथ कदाचित्तस्य सिद्धस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंह समा-

गता । तस्यातिथ्य कृत्वा सिद्धमुपदेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पद्यं
 ह्यभूत् अछिता । अत्रान्तरे संजीवको यदिति—'यद्य अद्य इतमुगार्थो
 मांसानि क ? राजाह—'वमनककरदको आनीता संजीवको मृते—
 'आवतां किमस्ति नास्ति वा ? सिद्धो विमुक्ष्याह—'नास्त्येव तत् ।
 संजीवको मृते—'कथमेतावन्मांस ताभ्यां आवितम् । राजाह—
 'आवितं व्ययितमवधीरितं च । प्रत्यहमय क्षमा । संजीवको मृते—
 'कथं भीमहे बपादानामगोचरेजैषं क्रियते ? राजाह—'मदीया
 गोचरेजैष क्रियते । अद्य संजीवको मृते—'नैतदुचितम् । तथा
 बोधम्—

विहस्य=विज्ञाकरम् । आवितम् = अतिविद्यमानम् उपदेश्य=उपदेश्यं
 कारस्तिवा (वीर्य कर) तदाहाराय=स्वभावात्प्रोक्षणाय । इतमुगार्थम्=मारित
 पशुनाम्, क=कुम् अस्तीति शेषः । विमृतम्=विचार्य । एतावत् = इत्यपरिमाणम्,
 व्ययितम् = व्यधीकृतम्, अवधीरितम् = तिरस्कृत व्यथितेन विनासितमेत्यर्थः ।
 प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् एषः = अयम् इमं = परिपाटी । भीमहे बपादानाम् =
 भवतामित्यर्थं भवोचरेण=अविचयेन ममतोऽप्रविज्ञातेत्यर्थः ।

कुछ दिनों के बाद जब सिंह का कोई स्तम्भकर्म उसके घर आया । उसका
 आन्तरिककार करके तथा घर में दिख कर पिङ्गलक उसके भोजन के लिए बिकार
 करने लगा । इसी समय संजीवक ने कहा—'स्वामी ! आज मारे पशु मृतो का
 मांस क्या हो गया' राजा ने कहा—'वमनक और करटक दोनों संजीवक ने
 कहा—'तो मामूम भीजिए कि है वा नहीं । सिंह ने विचार कर कहा—'बह
 नहीं ही है । संजीवक ने कहा—'क्या जल्दा मांस बह दोनों का पशु । राजा
 ने कहा—'कुछ खाया कुछ बाँटा और कुछ इधर-उधर में फेंक दिया । यह तो
 प्रतिदिन का काम है । संजीवक ने कहा—'तो क्या वह सब आप से कियाकर
 किया जाता है । राजा ने कहा—'हाँ वह सब मेरे मतधाने ही किया जाता
 है ।' संजीवक ने कहा—'मह तो ठीक नहीं है । कहा भी गया है—

नाभिवेद्य प्रकुर्वीत मनुः किञ्चिदपि स्वयम् ।

कार्यमापरप्रतीकारात्स्वयम् अगतीपते । ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे भवतीपते ! आपत्प्रतीकारात् स्वयम् मनुं अभिवेद्य स्वयम्
 किञ्चित् कार्यम् अत्र न कुर्वीत ॥ ९ ॥

अभिवेद्य=निवेदनमदस्ता प्रकुर्वीत=कृमति, स्वयम्=आत्मना आपत्प्रती
 कारात्स्वयम्=विचिन्तितवारणवियर्थं विना भवतीपते=राजम् । ॥

स्वामी को बिना बताए स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहिए और यदि करना ही हो तो केवल विपत्तियों के दूर करने का उपाय ही करना चाहिए ॥ ९० ॥

अन्वय—कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः ।

नृपते ! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे नृपते ! तनुत्याग बहुग्रह कमण्डलूपम अमात्य (भवति), किंक्षण मूर्ख, (तथा) किंवराटक दरिद्र (भवति) ॥ ९१ ॥

कमण्डलूपम = कमण्डलुतुल्य, तनुत्याग = स्वल्पशस्त्यागकर्ता, बहुग्रह = विपुलग्राही, अमात्य = प्रशस्त मन्त्री भवति । किंक्षण = कुक्षितसमय — द्वित्रिषु क्षणेषु व्यर्थं गतेष्वपि का क्षति इति विचारयिता, मूर्ख. = मूढ, किंवराटक = स्वल्पवराटकोपेक्षक — कतिपयेषु वराटकेषु (अपदकेषु) नष्टेष्वपि का कोपे न्यूनता इत्येष विचारकर्ता दरिद्र भवति ॥

और भी—हे राजन् ! मन्त्री को कमण्डलु के समान थोड़ा खर्च करनेवाला और बहुत सग्रह करनेवाला होना चाहिए । 'क्षण भर का समय कुछ नहीं' ऐसा सोचनेवाला मूर्ख एव 'एक कौड़ी की क्या विसात है' ऐसा सोचनेवाला दरिद्र होता है ॥ ९१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिनीं यः प्रवर्धयेत् ।

कोष कोपवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—य काकिनीम् सदा प्रवर्धयेत् स श्रेयान् अमात्य (अस्ति) कोष वत भूपते कोप प्राणा (सन्ति), प्राणा प्राणा न (सन्ति) ॥ ९२ ॥

अमात्य = मन्त्री, श्रेयान् = उत्तम, काकिनीम् = कपदिकाम् (कौड़ीको), कोपवत = कोषयुक्त (खजाने वालेका) नृपस्य, कोपा एव प्राणा सन्ति, न तु प्राणा प्राणा सन्ति ॥

एक कौड़ी को भी बढ़ानेवाला ही सबसे कल्याणकारी मन्त्री समझा जाता है । क्योंकि खजाना रखनेवाले राजा का प्राण खजाना ही होता है न कि उसका प्राण प्राण होता है ॥ ९२ ॥

किं चार्थेन कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।

धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—किं च पूरुष अर्थे न कुलाचारैः सेव्यताम् एति, धनहीन पूरुष स्वपत्न्या अपि त्यज्यते, पुनः परैः किम् ? ॥ ९३ ॥

वर्षे = वने कुम्भारं = कुम्भारवै., सेव्यतामिति = सेवनीयो भवति ।
स्वपत्न्या = स्वस्त्रिया परी = धर्म्यं किम् = किं वक्तव्यम् ।

वन के अतिरिक्त अन्य कुम्भारों से मनुष्य स्वानित्य नहीं प्राप्त कर सक्ता क्योंकि वनहीन तो अपनी पत्नी के द्वारा भी छोड़ दिया जाता है फिर वृद्धों की बात ही क्या ? ॥ १९ ॥

पठञ्च राज्ञः प्रधानं रूपम्—

यह राजा का प्रधान रूप है—

अतिशयोक्त्येवा वा लघ्यात्ममभ्रमेता ।

मोक्षार्थं दूरसंस्थानां क्रोधव्यसन्नमुच्यते ॥ १४ ॥

अन्वयः—अतिशयोक्त्यः, वा लघुवैद्या तथा अमर्षता (वनस्य) वर्धनम्, दूर संस्थानाम् मोक्षवम् (इत्येतत्त्वम्) क्रोधव्यसन्नम् उच्यते ॥ १४ ॥

अतिशयोक्त्यः = अतिशयोक्त्यः कनवेद्या = निरीक्षणमात्रं वर्धनम् = उपार्जनम् मोक्ष वम् = त्यागः, क्रोधव्यसन्नम् = क्रोधव्यसन्नः क्रोधहातिकारकरवाहित्वं उच्यते = उच्यते ॥

अतिशयोक्त्यः करने के लिये लघुवैद्या न रहना अमर्ष से वन से जाना दूर रहना और छोड़ देना के अर्थों के संकट कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

पता—क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।

परिशीलत एवासी धनी वैश्वव्योपमा ॥ १५ ॥

अन्वयः—आयम् अनालोच्य स्ववाञ्छया व्ययमानः वैश्वव्योपमा (अदि)
बसी धनी क्षिप्रम् परीशीलते एव ॥ १५ ॥

क्षिप्रम् = धीमम् आयम् = आयतनम् अनालोच्य = अविचार्य व्ययमानः = व्ययं कुर्वन्, परिशीलते = परितः शीघ्रो भवति वैश्वव्योपमा = कुबेरतुल्यः ॥

क्योंकि जो धनी तत्काल होवेवासी आय का विचार किम् बिना ही इच्छानुसार वन वर्ध करवा है वह कुबेर—जैसा धनी होने पर भी धीरे-धीरे क्षयति से रहित हो जाता है ॥ १५ ॥

स्तञ्चकण्यो धते—शृणु भ्राता चिराद्विधावेतो वृमनः फकर
उकी संधिविपहकोर्पाधिकारिणी अ कदाचिद्वर्पाधिकारे न नियोक्त-
व्यी अपरञ्च नियोग्यस्ताये पश्यथा भुतं तरकच्यते ।

दूते = आह सन्धिविपहकोर्पाधिकारिणी = सन्धिविपहकारे प्राप्ताधिकारो
अर्थाधिकारे = अर्थाधिकारे निबोक्तव्यो = निबोक्तनीयो । निबोक्तव्यो = निबुद्धि-
प्रसङ्गः ॥

स्वव्रकणं ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनो ही पुराने सेवक हैं और उन्हें सवि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अत इन्हे अर्थ (धन) का अधिकार नहीं देना चाहिए । और नियुक्ति के विषय में जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते ।

ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अन्वयः—ब्राह्मण क्षत्रिय वन्धु अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मण सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अधिकारे=प्रजात करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते=योग्यो भवति, सिद्धम्=लब्धम्, अर्थम्=धनम्, कृच्छ्रेण=कष्टेन, यच्छति=ददाति ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने वन्धुओं को अर्थ के अधिकारी के रूप में नियुक्त करना ठीक नहीं । क्योंकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयों के समय नहीं देता ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।

सर्वस्वं ग्रसते वन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्त क्षत्रिय ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, वन्धु ज्ञातिभावत आक्रम्य सर्वस्वम् ग्रसते ॥ ९७ ॥

(प्रजात करादानाधिकारे) नियुक्त = स्थापित, क्षत्रिय = बाहुज, खड्ग = निम्नयेन खड्ग दर्शयति, अवश्य युध्यति इत्यर्थं । सर्वस्वम् = सर्वसम्पदम्, ग्रसते = गिरति, गृह्णातीति यावत्, वन्धु = भ्रात्रादिवान्वव, ज्ञातिभावत = जातित्वात् ॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह वात वात में तलवार ही उठाएगा और भाई-वधु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हड़प जायेंगे ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।

स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—नियोगी चिरसेवक अपराधे अपि निःशङ्क (भवति) स स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रह चरेत् ॥ ९८ ॥

अपराधे = दोषे, निःशङ्क = निर्भय, नियोगी = प्रजात करादाने नियुक्त, चिरसेवक = पुरातनभृत्य, अवज्ञाय = तिरस्कृत्य, निरवग्रह = बन्धनहीन, स्वच्छन्द इति भाव ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निहत्त भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी आचरण करने लगता है ॥ ९८ ॥

स्नवत्रफर्णं ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनों ही पुराने सेवक हैं और उन्हें सवि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अत इन्हें अर्थ (धन) का अधिकार नहीं देना चाहिए । और नियुक्ति के विषय में जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते ।

ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अन्वयः—ब्राह्मण क्षत्रिय वन्धु अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मण सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अधिकारे=प्रजात करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते=योग्यो भवति, सिद्धम्=लक्ष्यम्, अर्थम्=धनम्, कृच्छ्रेण=कष्टेन, यच्छति=ददाति ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने वन्धुओं को अथ के अधिकारी के रूप में नियुक्त करना ठीक नहीं । क्योंकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयों के समय नहीं देता ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।

सर्वस्वं प्रसते वन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्त क्षत्रिय ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, वन्धु ज्ञातिभावत आक्रम्य सर्वस्वम् प्रसते ॥ ९७ ॥

(प्रजात करादानाधिकारे) नियुक्त=स्थापित, क्षत्रिय=वाहुज, खड्ग०—निश्चयेन खड्गं दर्शयति, अवश्य युध्यति इत्यर्थं । सर्वस्वम्=सर्वसम्पदम्, प्रसते=गिरति, गृह्णातीति यावत्, वन्धु=भ्रात्रादिवान्धव, ज्ञातिभावत=जातित्वात् ॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह वात वात में तलवार ही उठाएगा और भाई-वधु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हड़प जायेंगे ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।

स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—नियोगो चिरसेवक अपराधे अपि निःशङ्क (भवति) स स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रह चरेत् ॥ ९८ ॥

अपराधे=दोषे, निःशङ्क = निर्मय, नियोगी = प्रजात करादाने नियुक्त, चिरसेवक =पुरातनभृत्य, अवज्ञाय=तिरस्कृत्य, निरवग्रह =वन्धनहीन, स्वच्छन्द इति भाव ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निडर भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी करने लगता है ॥ ९८ ॥

अपकर्ताधिकारस्यः स्वापरार्थं न मम्यते ।

अपकारं स्वकीकृत्य सपमंवाचमुप्यति ॥ ९९ ॥

अन्वयः—अधिकारस्व अपकर्ता स्वापरार्थम् न मम्यते । अपकारम् स्वकीकृत्य सर्व एव वचमुप्यति ॥ ९९ ॥

अपकर्ता=अपकारी अधिकारस्व=प्रवाच्य करग्रहणाधिकारे निद्रुक्तः स्वापरार्थम्=स्वबोधम्, न मम्यते = न स्वीकरोति । स्वकीकृत्य=सर्वोपरि कृत्वा वचमुप्यति=गर्वं करोति वाचते वा ॥

स्वामी का अपकार करनेवाला धनक कित्ती अधिकार पर स्थित होकर अपने स्वार्थों को नहीं समझता और अपकार का संज्ञा ग्रहणता हुआ सभी कुछ निकल जाता है ॥ ९९ ॥

उपाशुक्तीकृतोऽमात्यः स्वयं राजामते पथः ।

अथवा क्रियते तेन सदा परिषपाद्भुवम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—उपाशुक्तीकृतः अमात्यः स्वयं स्वयम् राजामते तेन सदा परिषपाद् भुवम् अथवा क्रियते ॥ १ ॥

उपाशु=एकलौ लीकित =दृढविश्वास राजामते=राजेवाचरति ॥

राजा के साथ विश्वासवाला सेवक सेबी बनकर यदि धन का प्री अधिकार पा जाता है तो वह अपने को राजा ही मान बैठता है और पहले के परिषद के माने पर पर पर राजा का अपमान करता बहता है ॥ १ ॥

अस्तदुपाः क्षमायुक्तः सर्वानर्चकरः किञ्च ।

अनुनिः शक्यारब्ध इष्टान्तायत्र भूपते ॥ १०१ ॥

अन्वयः—अस्तदुपाः (बहिः) क्षमायुक्तः (क्षमात्प) सर्वानर्चकरः (पवति) किञ्च । भूपते । अन अनुनि च शक्यारब्ध इष्टान्ता (स्त) ॥ १ ॥

अस्तदुपाः=अनधि दुर्जब क्षमायुक्त=क्षमासहित (बहिरिति क्षेत्र) सर्वानर्चकारक किञ्च=इति प्रसिद्धी । अनुनि=बुवराष्ट्रस्य स्थापः, = न=बुवरेस्तप्रामकाऽमात्य इष्टान्ता=उवाहरत्स्वस्वो ॥

उन का जोटा किन्तु ऊपर से क्षमापील होता है वह सभी प्रकार सबता है राजम् । इस विषय मे अनुनि (दुर्जबल का माना) (नर का पथा) प्रमाण है ॥ १ ॥

उदात्तयो न साभ्य स्वात्समुद्यः सप एय द्वि ।

नञानामयमाइदा श्रुतिविशेषयिकारिष्यो ॥ १०२ ॥

अन्वयः—समृद्ध सर्वं एव अमात्य सदा साध्य न हि (भवति), ऋद्धि-
चित्तविकारिणी (भवति), अयम् आदेश सिद्धानाम् (अस्ति) ॥ १०२ ॥

साध्य = वशीकरणयोग्य , समृद्ध = समृद्धियुक्त , सिद्धानाम् = सिद्धपुरुषाणाम्,
आदेश = आज्ञा, ऋद्धि = समृद्धि , उन्नतिरिति भाव , चित्तविकारिणी = मनो-
विकारिणी ॥

वैभवशाली मंत्री कभी भी घन में नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो
अपने ही को सब कुछ समझता है। इसीलिए नीतिज्ञ पुरुषों का यह कहना है कि
घन तो अवश्य ही मन में विकार उत्पन्न करता है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।

उपेक्षा बुद्धिहीनत्व भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०३ ॥

अन्वयः—प्राप्तार्थग्रहणम्, द्रव्यपरीवर्तं अनुरोधनम् उपेक्षा बुद्धिहीनत्वम्
भोग (इत्येतत्सर्वम्) अमात्यस्य दूषणम् (अस्ति) ॥ १०३ ॥

प्राप्तार्थग्रहणम् = लब्धघनस्य स्वयमादानम्, द्रव्यपरीवर्तं = बहुमूल्य
वस्तु स्वयमादाय तत्स्थाने स्वल्पमूल्यवतो वस्तुन स्थापनम्, अनुरोधनम् =
= वामिलक्षितसिद्धर्थं राजान प्रत्याग्रह , उपेक्षा = नृपादेशस्य नृपकार्यस्य वा
उपेक्षणम् बुद्धिहीनत्वम् = मूढत्वम्, भोग = विषयासक्ति राजद्रव्यस्य स्वकार्ये
उपयोगो वा, इद सर्वम् अमात्यस्य = मन्त्रिण , दूषणम् = दोष , अस्तीति शेष ॥

प्राप्त घन को ले लेना, कोष के घन को ब्याज पर देना, किसी बात के
लिए राजा पर दबाव डालना, उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखना और
भोगविलास में लगा रहना—य मन्त्री के दोष हैं ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञा नित्यपरीक्षणम् ।

प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—राज्ञा नित्यम् परीक्षणम्, च प्रतिपत्तिप्रदानम् तथा कर्मविपर्यय
(एतत् त्रयम्) नियोग्यर्थग्रहोपाय (अस्ति) ॥ १०४ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपाय — नियोगिन = नियुक्तादधिकारिपुरुषात्, अर्थस्य = द्रव्य-
स्य, ग्रह = ग्रहणम् तस्य उपाय = यत्न (नियुक्त पुरुषोसे घन लेनेका उपाय)
राज्ञा०—अधिकारिपुरुषस्य कार्यपरीक्षा, प्रतिपत्तिप्रदानम् = पुरस्कारादिप्रदानस्य
वेतनवृद्ध्यादेर्वा त्रिश्रामदानम्, कर्मविपर्यय = अधिकारिणा कार्यस्य परिवर्तनम्,
तत्क्रियमाणकार्यादन्यकार्ये नियुक्ति ॥

राजसेवकों से घन ग्रहण करने का यही उपाय है कि राजा अपने सभी

विजायों की रेश रेश से क्या रहे विजायीय कर्मचारियों को भग देने का विषय है ता रहे तथा उनके काम को बरक्या रहे ॥ १ ४ ॥

निपीडिता यमस्युच्चैरस्तःसारं महीपतेः ।

बुधप्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—निपीडिता (निबोधिना) महीपते अस्तःसारम् उच्चैः भवन्ति हि नियोगिनः प्रायः बुधप्रणा इव भवन्ति ॥ १ ५ ॥

निपीडिता = बध्नादिना पीडिता अस्तःसारम् = बुधप्रणम् उच्चैः भवन्ति = स्वहृत्तया प्रकटयन्ति । बुधप्रणा = महाविस्फोटा (बड़े बाध) नियोगिनः = राज्या अधिकारे नियुक्ता पुरुषा । यथा महाबाध्या पीडिता बुधमुच्चैर्भवन्ति तथैव कठिनबध्नादिना पीडिता राज्याधिकारिभोऽपि राज्ञो मुक्तावार्ताः प्रवर्तन्ति ॥

हे राजन् राज्याकार्यं ये लगे हुए बहुत के ऐसे सचक होते हैं जो बधाय बरने पर राजा के लगी भेरी को साफ-साफ लगी प्रकार मुँह के बाहर कर देते हैं वैसे वका हुमा फोडा बवाने के बह जाता है ॥ १ ५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपतेः ।

सङ्कटिक पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेत्पृथ पयः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—हे महीपते । वसुधारा नियोगिनः मुहुः बाध्या लङ्ग पीडितम् स्नानवस्त्रम् किम् पुनम् यथा मुञ्चति ॥ १ ६ ॥

मुहुः = नीला पुम्येन निबोधिना = अविहता यथा बाध्या = यथाकार्यं पीडनीयाः । लङ्ग = दशवारम्, पीडितम् = मडितम् (निबोधा यथा) स्नानवस्त्रम् = स्नानाले बाईमूतं वस्त्रम् मुञ्चेत् = त्यजेत् पुनम् = स्वस्मिन् मुडितम् (हुतमिति वाठे लोममित्यर्थ) यथा = यतम् ॥

हे राजन् बार-बार बधाय देने से ही बर्ष-बारी राजा को बन देता रहता है । इतलिन उमे बराबर बवाने रहता बाधि । क्या बानी से भीया हुमा बपडा एक ही बार निबोदने से लारा बानी छोड देता है ? ॥ १ ६ ॥

पतरसर्पे पथायसरं क्षात्वा ध्वजद्वलङ्गम् । सिद्धो भूते—'अस्ति तापदेयम् । किरपती सर्वथा न मम धयमक्षारिणी । स्नानवस्त्रं भूते—'पतरसपमनुचितं राधधा । यतः—

बधायकारम् = बधन गुरुम् स्वरत्तम् = स्वरहार यतं य यथा काली = दाहारातयो ॥

यह सब समझ कर अवसर के अनुकूल ही काम करना चाहिए । सिंह ने कहा—यह तो ठीक ही है । किन्तु यह दोनों मेरी बात ही नहीं मानते । स्तब्धकर्ण ने कहा—यह सब तो बहुत अनुचित है । क्योंकि—

आज्ञामङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि ।

विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥ १०७ ॥

अन्वयः—राजा आज्ञामङ्गकरान् स्वसुतान् अपि न क्षमेत् । (अन्यथा) राज्ञ चित्रगतस्य राज्ञ. च क विशेष नु ॥ १०७ ॥

आज्ञामङ्गकरान्=आदेशोल्लङ्घित, क्षमेत्=क्षमा कुर्यात् । विशेष = भेदः राज्ञ =सिंहासनारूढनृपस्य, राज्ञश्चित्र०=चित्रस्यस्य नृपस्य । यदि राजा निर्देशोल्लङ्घित भृत्यान् न दण्डयति, तदा स चित्रगतनृप इव व्यर्थ इति भाव ॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी आज्ञा न माननेवाले अपने लडकी को भी न क्षमा करे । जो राजा ऐसा नहीं करता, उसमें तथा चित्रमें लिखे हुए राजा में अन्तर ही क्या है ? ॥ १०७ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विपमस्य मैत्री

नष्टेन्द्रियस्य कुलमथपरस्य धर्मः ।

विद्याफल व्यसनिनः कृपणस्य सौख्य

राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ १०८ ॥

अन्वयः—स्तब्धस्य (पुरुषस्य, इद पादत्रयेऽपि योज्यम्) यश, विपमस्य मैत्री नष्टेन्द्रियस्य कुलम्, अर्थपरस्य धर्मं, व्यसनिन विद्याफलम्, कृपणस्य सौख्यम् (च) प्रमत्तसचिवस्य राज्यम् नश्यति ॥ १०८ ॥

स्तब्धस्य=जडस्य, विपमस्य=अस्वियरप्रकृते, मैत्री=मित्रता, नष्टेन्द्रियस्य=अजितेन्द्रियस्य, कुलम्=वश, अर्थपरस्य = धनसंग्रहमात्रतत्परस्य, व्यसनिन = मद्यद्यूताद्यासक्तचेतस, प्रमत्तसचिवस्य=प्रमादवदमात्यस्य । नश्यतीत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धो बोध्य ॥

आलसी व्यक्ति का यश, अविश्वासी की मित्रता, इन्द्रियो को वश में न रखनेवाले की वशमर्यादा, धन के लोभी का धर्म, व्यसनी व्यक्ति की विद्या, कजूस का सुख और उन्मत्त मन्त्रीवाले राजा का राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥

अपरं च—तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात् ।

नृपतिर्निजलोभान्च प्रजा रक्षेत्पित्तैव हि ॥ १०९ ॥

अन्वयः—मुच्यते तस्करैश्च निवृत्तैश्च धनुष्यं मुच्यते इत्युक्त्यात् न विवक्षो-
प्यात् प्रथा पिता इव रक्षेत् हि ॥ १ ९ ॥

तस्करैश्च = चोरैश्च निवृत्तैश्च = राक्ष्याभिरुक्तैश्च मुच्यते इत्युक्त्यात् = उक्त-
वर्ति स्वहस्ताभ्यामात्, निवृत्तैश्च = चारमकोप्यात् ॥

वीर भी—चोरों कर्मचारियों धनुषी अपने प्रियकोशों तथा अपनी काठप
से राक्षसों पिता के समान सर्वथा प्रथा की रक्षा करनी चाहिए ॥ १ ९ ॥

आताः । सर्वथास्मद्वर्धनं क्रियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत
एव । अर्थं सखीयकाः सस्यमस्यकोऽर्थाधिकारे नियुष्यताम् । एत
द्वन्द्वनात्तदनुष्ठिते सति तदारभ्य पित्र्यकसंज्ञीयकयोः सर्वेषाम्
परिग्रहयोगेन महता स्नेहेन काकोऽतिवर्तते । ततोऽनुवीचिनामप्या
प्रवृत्तानां दीधिस्वद्वन्द्वनाहमनककरदकावन्धीम्य विवृत्तपत्ताः । तदाह
कर्मनक करदकम्—मित्र कि कर्तव्यम् । चारमकोप्योऽर्थं दोषा ।
अथ हस्तेऽपि दोषे परिदेयनमप्यनुष्ठितम् । तथा धोक्तम्—

उच्यते—निर्घण मन्वयस्यक = दृष्टमस्यनवर्ता वर्धनाधिकारे = इत्यादि
नियुक्त्यात् = नियुक्त क्रियताम् तदाऽनुष्ठिते सति = सखीयके चतुर्धिकारे
ति न सति सर्वेषाम्परिग्रहयोगे = समस्तपरिचारयोगेन कतिवर्तते = पञ्चति ।
अनुष्ठितानाम् = भूत्पानाम् दीधिस्वदसंज्ञात् = दानावरात्मकोप्यात्, अन्धी
म्यम् = परस्परम्, परिदेयनम् = चरितान् सन्ताप इत्यर्थः ॥

मा आप सभी प्रकार हमारे करने के अनुसार ही काम करें । इस पाठ
के अन्त में सखायक का हा धन का अधिकार प्रदान करें । स्वस्यकर्म के करने
के समुदाय सखायक के योग्यपक्ष बना देने के समय ही है निवृत्त वीर
के चतुर्धनो जी अनेक धनुषो द्वारा जोड़ दिए जाने पर भी बड़े प्रेम के साथ
ना उनसे विनाश समा । अपने पक्षानु केबको के प्रोजन देने से भी उचित
एव वीर के कर्म । स्व विचार किया । तब कर्मनक के करदक
मित्र । न ना ना न न न न न ना हा मित्रा हुआ पाप है ।
ह । न पक्षानु के ना अनुष्ठित है । जैसा कि कहा भी

स्वजनपरामर्शं शृणुत्वा चक्षुष्यारमानं च वृत्तिका ।
नादिशुभं म प साधु र दोषाद् बुभुक्षिता इम ॥ ११० ॥
। — न स्वजनताम् शृणुत्वा च वृत्तिका आत्मानम् वक्ष्या च
न वक्ष्याद् बुभुक्षिता (अनुष्ठितम्) ॥ ११ ॥

धादित्सु = धादातुमिच्छु, स्वदोपात् = स्वकृतापराधाद्धेतो ॥

मैं सोने की रेखा छूकर, दूनी अपने आप को बाँव कर तथा साधु रत्न लेने की अमिलापा करके—ये तोनो ही अपने ही दोषो से दुखी हुए ॥ ११० ॥

करटकौ ब्रूते—‘कथमेतत् ।’ दमनक. कथयति—

करटक ने कहा—यह कैसे ?’ दमनक ने कहा—

कथा ६

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा । तस्य धर्माधि-
कारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कदर्पकेतुनाम्ना परि-
व्राजकेन साधुद्वितीयकेन ‘नाय हन्तव्य’ इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः ।
राजपुरुषा ऊचु—‘किमिति नाय वध्यः ।’ स आह—‘श्रूयताम् ।’
‘स्वर्णरेखामह स्पृष्ट्वा’ इत्यादि पठति । त आहुः—‘कथमेतत् ।’
परिव्राजकः कथयति—‘अहं सिंहलद्वीपस्य भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः
कदर्पकेतुर्नाम । एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्
मुखाच्छ्रुतं ‘यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्ना-
वलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालकारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणा
वादयन्ती कन्या काचिद् दृश्यते’ इति । ततोऽहं पोतवणिजमादाय
पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तरं तत्र गत्वा पर्यङ्केऽधमग्ना तथैव
साऽवलोकिता । ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन मयापि तत्पञ्चाङ्गमपो
दत्तः । तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के
स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मयालोकिता । तथाप्यहं दूरादेव
दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं सभाषितः । तत्सख्या च मया
पृष्ट्या समाख्यातम्—‘एषा कदर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः
पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते । यः कनकपत्तनं
स्वचक्षुषागत्य पश्यति, स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यतीति
मनसः संकल्पः । तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान् ।’

धर्माधिकारिणा = न्यायाधीशेन, नापित = क्षौरकर्ता (नाई), परिव्राजकेन =
सन्यासिना, वस्त्राञ्चले = स्ववस्त्रप्रान्ते, केलिकाननावस्थितेन = क्रीडोद्यानस्थेन,
पोतवणिङ्मुखात् = जलयानव्यापारिमुखात् (समुद्री व्यापारीके मुखसे), आविर्भूत-
कल्पतरुतले = प्रकटितकल्पवृक्षस्याधोभागे, रत्नावलीकर्बुरितपर्यङ्के = रत्नसमूह-

अटिल्लया विधीकृतसम्प्राप्तम् । शीतम् = शतमानम् । तर्षव = सर्वाङ्गिकारवृष्टिः
 कश्मीरिष एव सा = कन्या अवलोकितः = दृष्टः । तद्वाच्यमुत्पादक्येन = तस्याः =
 वन्द्यायाः कावच्यम् = शीतवर्णम् एव मुख = रक्तु तैमाकृत = कृताङ्गि = तै
 तस्याः शीतवर्णवस्त्रोत्तरेत्तर्ष । सम्प्लो वस्त = वस्त्रे कुरितम् । कम्पपत्तनम् =
 स्वर्णनवरम् तर्षव = अर्द्धसुप्तैव विद्यावरीमि = विद्यावरीमि उपास्यमाना =
 मेध्याना । प्रस्वाप्य = सम्प्रेष्य सम्प्रापित = उक्तः । समाख्यातम् = कथितम् ।
 प्रतिष्ठ पिता = कृतप्रतिष्ठा स्वयमुपा = स्वनेषैव पितु = अवकस्व वपीवत् =
 अत्यन्त मां परिकल्पति = मया सह विवाहं करिष्यति । नान्दर्विवाहेन =
 कन्यावरकोरेव परस्परं प्रीत्या कावमानेन विवाहेन परिकल्पतु = विवाहं करोतु ॥

कञ्चनपुर नाम के नगर में श्रीरविशंकर नाम का एक राजा था । उनके
 चर्मरक्षिकारी एक नारी को पकड़ कर फँसी देने के स्वप्न पर के जा रहे थे कि
 उसी समय एक साधु के साथ कंचनपुर नाम के एक संन्यासी ने उसे अपने
 बन्धो में लिपटा हुआ कहा कि वह मारने योग्य नहीं है । तब सिपाहियों ने
 कहा—'बन्धो नहीं मारने योग्य है ।' उसने कहा—'सुनो श्रीरविशंकर को
 कञ्चनपुर में बाधि पकड़े लगा । उन्होंने कहा—'यह कैसे ? संन्यासी ने कहा—'मैं
 तिष्ठान्तके राजा श्रीमूतकेतु का पुत्र कंचनपुर हूँ । एक बार मैं अपने बिरादर—
 जयपाल से बैठे हुआ था कि उसी समय मैंने नाव द्वारा व्यापार करनेवाले एक
 व्यवसायी से सुना कि इस समुद्र के बीच में कतुर्वन्दी के दिन विवाह करने वाले
 कन्यकाल के लीके रत्नों को किशोरो से अवमपाठ हुए पक्षव पर बैठी हुई, सभी
 महानो से मुसोमित एव लक्ष्मी के समाप्त बीजा बचायी हुई कोई कन्या विवाह
 पकती है । तब मैं उस नाविक व्यापारी को साथ लेकर नाव द्वारा वहाँ गया ।
 वहाँ जाने पर मैंने पक्षव पर बाधी बैठी हुई उसी प्रकार की कन्या देखी ।
 उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर मैं भी समुद्र में कूब पडा । इसके पश्चात् मैंने
 सोने की लपरी में पहुँच कर सोने के माहक में उसी प्रकार पक्षव पर बैठी हुई
 तथा विद्यापरिको द्वारा सेवित उस कन्या को देखा । उसने भी मुझे दूर ही से
 देख न सभी मेव उसके द्वारा मुझसे बड़े बाहर के साथ वात्सीय की । मैंने
 उसकी सखी से पूछा तो उसने बताया कि वह विद्यावरी के चञ्चरी राजा
 कंचनपुरके कि की पुत्री है । इसका नाम रत्नप्रजा है और इसने प्रतिष्ठा करके नहीं
 निवास किया है । इसके मन का संकल्प है कि जो पुरुष इस लीके को बचरी में
 जाकर स्वयम् अपनी लीको से लगे देखेवा नहीं पिता की आज्ञा न होते हुए भी
 मेरे साथ विवाह करेवा । इसलिये नाव इसने साथ नान्दर्व विवाह करें ।

अथ तत्र वृत्ते गन्धर्वविवाहे तथा सह रममाणस्तत्राह तिष्ठा-
मि । तत एकदा रहसि तयोक्तम्—‘स्वामिन्, स्वेच्छया सर्वमिद-
मुपभोक्तव्यम् । एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरो न
कदाचित् स्पष्टव्या । पश्चादुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन
स्पृष्टा । तथा चित्रगतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे
पतितः । अथ दुःखितोऽह परित्रजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां
नगरीमनुप्राप्त । अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम् ।’
प्रदोषसमये पशूनां पालनं कृत्वा स्वरोहमागतो गोपः स्ववधू दूत्या
सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत् । ततस्ता गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे
चद्ध्वा सुप्तः । ततोऽर्धरात्रे एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां
गोपीमुपेत्यावदत्—‘तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो
मुमुर्षुरिव वर्तते । तथा चोक्तम्—

वृत्ते=सजाते । रहसि=एकान्ते । चित्रगता=चित्रस्था, स्वणरेणा=तन्नाम्नी,
स्पष्टव्या=स्पशनीया । उपजातकौतुकेन = एतस्या स्पर्शनेन किं भविष्यति इत्येव-
मुत्पन्नकौतूहलेन, चरणपद्मेन=पादपङ्कजेन, स्वराष्ट्रे = आत्मनो राज्ये ।
दुःखितं = तद्वियोगकष्टेन पीडित, परित्रजित = गृहीतसन्त्यास । अतिक्रान्ते =
अतीते, दिवसे = दिने, प्रदोषसमये = सायकाले, पशूनाम् = गवादिजन्तूनाम्,
पालनं कृत्वा=तेभ्यो यवसादि दत्त्वा, मन्त्रयन्तीम् = परामर्शं कुर्वन्तीम् (सलाह
करती हुई) । तव=गोप्या, विरहानलदग्ध = वियोगाग्निज्वलित, स्मरशरजर्ज-
रित = कामवाणेन जर्जरीभूत, मुमुर्षुरिव=आसन्नमृत्युरिव ॥

इसके बाद गान्धर्व विवाह करके मैं उसके साथ रमण करता हुआ वहीं
उसी के साथ रहने लगा । एक वार उसने एकान्त में मुझसे कहा कि—‘स्वामी ।
आप अपनी इच्छा के अनुसार इन सभी वस्तुओं का उपयोग करें’ किन्तु इस
चित्र में बनी हुई स्वर्णरेखा नाम की विद्याधरी को कभी मत छूवें । इससे मुझे
कुछ कुतूहल हुआ और मैंने उसे छू लिया । उस चित्र में बनी हुई स्वर्णरेखा ने
मुझे अपने चरणकमलों से इस प्रकार छटका दिया कि मैं आकर अपने राज्य में
गिरा । मैंने दुःखी होकर मंत्र्यास ले लिया और पृथ्वी पर घूमता हुआ अब मैं
इस नगरी में पहुँचा हूँ । यहाँ कल एक ग्वाले के घर सोते समय मैंने देखा कि
ग्वाला पशुओं को चराकर सायकाल अपने घर आया और उसने अपनी पत्नी को
किसी दूती के साथ बातचीत करते हुए देखा । तब वह पत्नी को मार कर तथा

उठे प्रति मे बाँध कर सो क्या । इसके बाध बांधी रात के समय उस नाई की
 हूठी ली फिर उस बहीरिन के पास भाई और बोली—'तुम्हारे विरह की बलि
 में बछटा हुआ वह कामवालों से बचक होकर मरा हुआ-सा बड़ा है । बाँधा कि
 कष्ट भी है—

रजनीधरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि ।

पूर्णा मनासि विव्याध हृष्ट्या हृष्ट्या मनोभवः ॥ १११ ॥

अन्वयः—रजनीधरनाथेन निशि तिमिरे खण्डिते (उठि) मनोभवः
 पूर्णाम् मनासि हृष्ट्या हृष्ट्या विव्याध ॥ १११ ॥

रजनीधरनाथेन = बन्नेन खण्डिते — रात्री अन्वकारे दूरीकृते कृत्याम् =
 युवकानाम्, विव्याध=अवयवम् ॥

अन्वयः मैं प्रथम हुआ कर रात्रि के अन्वकार को दूर कर दिया जिससे सब
 कामसे बंध बंध कर युवकों के मन की बंध रहा है ॥ १११ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामबलोक्य परिक्रिच्छमन्वारात्त्वामनुवर्तितुमा
 गता । तद्वहमन्वारात्तं बद्ध्या तिष्ठामि । तद्य तत्र गत्वा त सन्तोष्य
 सत्यरमापमिष्यसि । तथाजुष्टिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽथवत्—
 श्वानी तथा पापिष्ठां आरास्तिक मयामि । ततो यदासौ न किञ्चिदपि
 ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम धर्मासि प्रत्युत्तरमपि न वदासि'
 इत्युक्त्वा कोपेन तेन कतरिकामादायास्या नासिका छिन्ना । तथा
 कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः । अद्यापत्य गोपी वृतीम-
 पूच्छत्—'का वार्ता । इत्योक्तम्—'पश्य माम् । मुञ्चमेव वार्ता
 कथयति । अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्या स्थिता ।
 इयं च वृती तां छिद्यनासिकां पृष्टीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता । ततः
 प्रातरेवालेन नापितेन स्ववधूः क्षुरमाच्छं पाविता सती क्षुरमर्क
 प्रादात् । ततोऽसमप्रमाच्छे प्राप्ते सधुपजातकोपोऽयं नापितर्त
 क्षुरं वृत्वाैव पृष्टे क्षिप्तवात् । अथ कृत्वातराघेयं विनापराघेन मे
 नासिकां न चिच्छन्नस्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेतमानीतवती ।
 सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'मरे पाप को मैं
 महासतीं बिरूपयितुं समर्थः । मम व्यवहारमकल्पमपमयी लोकपाला
 एव जानन्ति । पतः—

तस्य = दूजुत्तवारस्य तादृशीमवस्थाम् = मवनापिबध्परितरयाम्, परि
 क्रिच्छमवा = दुःखितचित्ता अनुवर्तितुम् = अनुवृत्तमितुम् । तथाजुष्टिते—'वोप्यां

स्वयं स्तम्भे वद्ध्वा स्थिताया सत्याम्, प्रवुद्ध = त्यक्तनिद्र । पापिष्ठाम् = महापापाम्, जारान्तिकम् = उपपतिसमीपम्, नयामि = प्रापयामि । दर्पात् = अभिमानात्, प्रत्युत्तरम् = प्रतिवचनम्, कर्तारिकाम् = छुरिकाम्, छिन्ना = कर्तिता । मुखमेव०—'मम मुखदर्शनेनैव का वार्ताऽस्ति' इति ज्ञास्यसि । क्षुरभाण्डम् = क्षुरस्यापनपात्रम् (लोखर), याचिता = प्रार्थिता असमग्र-भाण्डे = असम्पूर्णक्षुरभाजने, समुपजातकोप = क्रुद्ध, क्षिप्तवान् = चिक्षेप । कृता-तंराया = कृतरोदनस्वरा, इयम् = नापितवधू, विनापराधेन = दोष विना, धर्मा-धिकारिसमीपम् = न्यायाधीशनिफटम्, एनम् = नापितम् । पाप = पापिन् !, महासतीम् = अतिशयेन पतिव्रताम्, विरूपयितुम् = विरूपा कर्तुम् । अकल्म-पम् = निर्दुष्टम्, अष्टौ = अष्टसङ्ख्यका ।

उसकी इस प्रकार की अवस्था देख मैं अत्यन्त दृष्टी होकर एक बार फिर तुम्हें मनाने आई हूँ । मैं अपने को यही वाँध कर रहती हूँ और तुम वहाँ जाकर उसे सतुष्ट करके जल्दी आ जाओ । ऐसा हो जाने पर उसी समय ग्वाले की नोद खुली और उसने कहा—पापिनि ! अब क्यों नहीं अपने जार के पास जा रही हो । जब उसने कुछ नहीं कहा तो ग्वाले ने क्रोध में आकर कहा कि यह मारे धमड के मेरी बातों का उत्तर भी नहीं देती है और उसने कैंची लेकर उसकी नाक काट दी । ऐसा करके ग्वाला फिर सो गया ।

तब अहिरिन ने आकर दूतो से पूछा—'क्या बात ?' दूतो ने कहा—'मुझे देखो, मेरा मुँह ही सारी बात बताएगा ।' इसके बाद गोपी ने फिर अपने को वही वाँध लिया । और अपनी कटी हुई नाक लेकर वह दूतो अपने घर चली गई । प्रातः काल ही नाई ने अपनी वहू से छुरी का थैला मागा, किंतु उसने केवल एक ही छुरा दिया । फिर पूरा थैला न पाने से क्रुद्ध होकर नाई ने दूर ही से छुरे को घर से फेंका । तब नाइन रोती हुई एव 'विना अपराध के ही इसने मेरी नाक काट ली है'—ऐसा कहती हुई इसे धर्माधिकारियों के पास लाई । जब उस ग्वाले ने ग्वालिन से फिर पूछा तो उसने कहा—'अरे पापी, मेरी जैसी सती के सौन्दर्य को कौन नष्ट कर सकता है ? मेरे पवित्र आचरण को आठो लोकपाल जानते हैं । क्योंकि—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥११२॥

अन्वयः—आदित्यचन्द्रो अनिल च अनल द्यौ भूमि आप हृदयम् च धम च अह च रात्रि च उभे सन्ध्ये च धर्मं नरस्य वृत्तम् जानाति (अस्य वचन-विपरिणामेन प्रत्येक सम्बन्ध कार्यं) ॥ ११२ ॥

माशिरयन्त्रो = सुप्रांशुमसौ मशिकः = वायुः घनः = बलिः, दो =
 माकाधम् मान = बलादि तद्विहातुरेवो बलः महः = विनम् उभे
 सन्धे = सन्ध्याद्वयम् पुत्रम् = माशरयम् ॥

सुप्रांशुमा वायु बलि माकाध पृथ्वी बल इत्येव यम एत विन
 बीर बीतो सध्या तथा बर्म ही मनुष्य के मन्थे मुरे माशरय को मानते हैं ॥११२॥

यद्यह परमसती स्वाम् रयां विहायाम्यं न जानं, पुरुषाम्तरं
 स्वप्नेऽपि महि मजे एन धर्मण छिन्नापि मम नासिकाऽच्छिन्ना
 ऽस्तु । मया स्व मस्म कर्तुं शक्यसे । किन्तु स्वामी त्यम् । लोकमया
 दुपेक्षे । पश्य म मुक्कम् । पायदसी गोपो दीपं प्रशवाह्य तन्मुक्क
 मबलोकते तायपुच्छसं मुक्कमयकोपय तद्वरप्ययोः पतितः—धर्म्योऽहं
 यस्येहशी भार्या परमसाध्वी इति ।

परमसती = महापतिव्रता पुरुषाम्तरम् = अर्थं पुत्रम् मजे = शैवर्न करोपि ।
 मस्म कर्तुम् = कर्मम् स्वामी = पति लोकमया = जनपदात्मवात् । सप्रसम्
 = उन्नतवातिनाकुलम् बन्धिन्नासिकम् परमसाध्वी = महासती ।

जवर मैं सती हुईं तो तुम्हें छोड़ कर दूसरे का प्यार नहीं करती हुईं
 स्वप्न में भी वर पुरुष को न देखती हुईं तो मेरे इस बर्म के द्वारा मेरी नाक
 ठीक से हो जायगी । मैं तुम्हें मस्य कर सकती हूँ किन्तु तुम मेरे स्वामी हो ।
 लोकमय से ऐसा नहीं करती हूँ । मेरा मुँह वैद्यो । जब शकलें न दीपक बना
 कर प्रतका मुँह देखा तो नाक चिहित मुँह को देखकर उसके पैरो वर बिर बड़ा
 बीर कहा— मैं मस्य हूँ जिसे ऐसी सती की मिली है ।

योऽयमास्ते साधुरतद्वृत्तास्तमपि ब्रुवामि । अर्थं स्वपृथाधि
 गतो दादृशयपमलपीपकण्ठादिमां नगरीमनुनासः अथ चेश्या-
 पृथे सुता । तस्याः कुड्म्या शूद्रादि रथापितकाप्रपदितयेता-
 लस्य मूचनि रतनमकमुश्च एमास्ते । तत्र सुभ्येनामन साधुना राजा
 पुत्याय रत्नं प्रहीतुं परतः ह्यः । तदा तेन यंतासनं स्यरसञ्चारित
 पादुग्यां पीडितः सघातनादमयं चकार । पद्मापुरथाय कुड्म्यो
 कम्—‘पुत्र ! मस्योपकण्ठाहागतोऽसि । तस्यपरत्मानि प्रयच्छा
 र्मै । नो चैदमन न रयत्कवोऽसि । इत्यमयाय चेटकः । ततोऽनेन
 मघररानानि समर्पितानि यथायमपद्मस्यैश्वोऽश्वाभु समागत्य मि
 लितः । पतरस्यै ध्याया राजपुत्रपैग्यांय धर्माधिकारी प्रपतितः । अन

न्तरं नेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्यह्निनिःसारिते नापितश्च गृहं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा’ इत्यादि । अथ स्वयं कृतोऽयं दोषः । अत्र विलपनं नोचितम् । (क्षणं चिमृश्य) मित्र ! यथानयोः सोहादं मया कारितं तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्यः । यतः—

साधु = वणिक् । मलयोपकण्ठात् = मलयपर्वतनिकटस्थप्रदेशात्, इमा नगरोम् = एतत्काञ्चनपुरोम्, स्वापितकाष्ठटितयेतालस्य = स्वापिताया, दास-मया वेतालमूर्त्या, मूर्धनि = मस्तके, उत्कृष्टम् = श्रेष्ठम्, बहुमूल्यमित्यर्थः, नूत्रसञ्चारितवाहुभ्याम् = तन्त्रोप्रेरितहस्तान्याम् (यन्त्रद्वारा चलाये गये दोनो हाथोंसे), आतनादम् = दीनतपोर्च्चं शब्दम् । प्रयच्छ = देहि । नो चेद०— अन्यथाय त्वा न त्यक्ष्यति । चेटक = भृत्य, अपहृतसर्धम्भ — अपहृतम् = आच्छिन्नम्, सवस्वम् = सर्वसम्पत्तियस्य स । विलपनम् = विलाप । सोहादंम् = मित्रता, मित्रभेद = सुहृद्भेद, अनयोमित्रयो परस्पर विरोध इत्यर्थः ॥

और जो यह साधु है उसका भी वृत्तांत कह रहा हूँ । सुनो—बारह वर्ष तक मलय पहाड़ पर रहकर यह इस नगर में आया है । यहाँ एक दिन यह वैश्या के घर में सो रहा था । उस कुटुंबी वैश्या के दरवाजे पर काठ के बने हुए वेताल की मूर्ति के सिर पर एक मूल्यवान् रत्न जड़ा हुआ था । लालच में आकर इस साधु ने रात में उठ कर उस रत्न को ले लेने का प्रयत्न किया । तत्काल वेताल ने डोरे में चलाई गई अपनी बांहों से इसे जकड़ लिया, जिससे यह चिंल्लाने लगा । कुटुंबी ने उठकर कहा—पुत्र, तुम मलय पहाड़ के पास से आ रहे हो, अतः इसे सभी रत्न दे दो, नहीं तो यह तुम्हें नहीं छोड़ेगी । यही इसका व्यवहार ही है । तब इसने अपने सभी रत्नों को उसे दे दिया और सब कुछ चले जाने से अब हम लोगो से आ मिला है । यह सब सुनकर राजपुरुषो ने इसे न्यायालय में धर्माधिकारी के पास भेज दिया । धर्माधिकारी ने इस अहिरिन और दूती को गाँव से बाहर निकाल दिया । नाई अपने घर चला गया । इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि ‘मैं स्वर्णरेखा को छूकर’ इत्यादि । यह तो अपना ही किया हुआ पाप है । फिर इस विषय में रोना व्यर्थ है । (षोड़ी देर विचार कर) मित्र ! जैसे मैंने इन दोनों में मित्रता कराई है उसी प्रकार मैं इनकी मित्रता में फूट भी डाल दूँगा । क्योंकि—

• अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलः ।

समे निम्नोन्नतानीय चित्रकर्मविदो जनाः ॥ ११३ ॥

अन्वयाः—प्रतिषेधना अना अतप्यानि अति विप्रकर्म्मविदः अना समे
(विप्रपटे) निम्नोन्नतानि इव तप्यानि वर्धयन्ति ॥ ११३ ॥

अतप्यानि=प्रवर्तमानानि तप्यानि = वर्तमानानि वर्धयन्ति = प्रवर्धयन्ति
अतिषेधना =प्रतिषेधनेन अतुरा समे = समतले बराबरी निम्नोन्नतानि = निम्ना
नि उन्नतानि च विप्रकर्म्मविदः=विप्रकाराः ॥

नीतिः लोभ सूठ को भी उच चिद्ध कर देते हैं निच तरह कुछक विप्रकार
समान भूमि को भी ठेकी नीचो करके बिखा देता है ॥ ११३ ॥

अपरं च—अतपन्नाप्यपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।

स निस्तरति जुगाप्ति गोपी आरुह्य यथा ॥ ११४ ॥

अन्वयाः—कार्येषु अतपनेषु अति अस्य मतिः न हीयते च., गोपी आरुह्य यथा
यथा जुगाप्ति निस्तरति ॥ ११४ ॥

अतपनेषु = समुपस्थितेषु हीयते = धीया घबडि निस्तरति = तरति =
पारपात आरुह्य यथा=ही उपपत्ती अना=इव ॥

और भी—कार्य के उपस्थित हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि धीच नहीं
होती वह कठिनाई से उसी प्रकार बच जाता है जैसे उस अहिरिन ने बोगो
बागो को बचा किया था ॥ ११४ ॥

करटकः पूच्छति—कथमेतत् ? इमनक कथयति ।

करटक ने पूछा—बड़ कैसे ? इमनक ने कहा—

कथा ४

अस्ति द्वारवत्यां पुर्या कस्यचिद्गोपस्व सधूर्त्तबन्धी । सा
ग्रामस्य दृच्छनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते । तथा शोकम्—

द्वारवत्याम् = द्वारकामाम् बन्धी = अविचारिणी । दृच्छनायकेन=दृष्टा
प्यश्रेण (कोठवाक के साथ) समम्=सङ्ग रमते=अविचारं करोति ॥

द्वारवती नवरी ने किसी आने की पत्नी कुछक थी । वह उस गाँव के
मुखिया और उसके पुत्र—बोगो के साथ सम्भोग करती थी । बीसा कि
नहा भी है—

नाम्निस्तुयति काष्ठाया नापगानां महोदधिः ।

नाम्नक सधर्म्ताना न पुसां नामलोचनाः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—अग्नि काष्ठानाम्, महोदधि आपगानाम्, अन्तक सर्वभूतानाम्,
(च) वामलोचना पुंसाम् न तृप्पति ॥ ११५ ॥

काष्ठानाम्=इन्धनानाम्, आपगानाम्—अपा समूह आपम्, तेन गच्छन्ति इति आपगास्तासाम्=नदीनाम्, अन्तक=यमराज, सर्वभूतानाम्=समस्तजीवानाम्, वामलोचना=युवतयो नार्यं ॥

अग्नि लकडियों से, समुद्र नदियों में, यमराज सभी प्राणियों से और नारी पुरुषों से कभी भी तृप्त नहीं होती ॥ ११५ ॥

अन्यच्च—न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।

न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—स्त्रिय दानेन न, मानेन न, नार्जवेन न, सेवया न, शस्त्रेण न, शास्त्रेण न, (वशगामिन्य भवन्ति, यत) स्त्रिय सर्वथा विषमा (भवन्ति) ॥

मानेन=आदरेण, नार्जवेन—मरलतया, शस्त्रेण=आयुवादिताडनेन, शास्त्रेण=शास्त्रोपदेशेन, विषमा=कठिना ॥

और भी—स्त्रियाँ न तो दान से, न सम्मान से, न खुशामद से, न सेवा से, न हथियार से और न तो शास्त्र ही से सुधारी जा सकती हैं । इसीलिए वे बड़ी भयानक होती हैं ॥

यत —गुणाश्रय कीर्तियुत च कान्तं पतिं रतिज्ञ सधनं युवानम् ।

विहाय शीघ्र वनिता व्रजन्ति नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥

अन्वयः—वनिता गुणाश्रयम् कीर्तियुतम् कान्तम् रतिज्ञम् सधनम् युवानम् प्रतिम् विहाय शीलगुणादिहीनम् नरान्तरम् शीघ्रम् व्रजन्ति ॥ ११७ ॥

गुणाश्रयम् = शौर्यादिगुणवन्तम्, कीर्तियुतम् = यशस्विनम्, कान्तम् = रम्यम्, रतिज्ञम् = कामशास्त्रज्ञम्, युवानम् = धुवकम्, वनिता = स्त्रिय, नरान्तरम्=अन्यं नरम्, जारमित्यर्थं ॥

क्योंकि—गुणी, यशस्वी, सुन्दर, रतिकला के ज्ञाता, धनी तथा नवयुवक पति को भी छोड़कर स्त्रियाँ अन्य दुराचारी तथा दुष्ट मनुष्य के पास शीघ्र चली जाती हैं ॥ ११७ ॥

अपरं च—

न नादृशीं प्रीतिमुपैति नारी विचित्रशय्या शयितापि कामम् ।

यथा हि दूर्वादिद्विकीर्णभूमौ प्रयाति सौख्य परकान्तसङ्गात् ॥११८॥

अन्वयः—नारी कामम् विचित्रधर्म्याम् उभिता नपि तादृशीम् प्रीतिम् न
 वर्तति नवा हि दुर्वादिबिक्रीर्चमूमी परकात्तमङ्गात् सौम्यम् प्रयाति ॥ ११८ ॥

विचित्रधर्म्याम् = उज्ज्वलप्रच्छन्नपटादिना विचित्रपर्यङ्कम्, उभिता = मुक्ता
 कामम् = मयिहम् दुर्वादिबिक्रीर्चमूमी = दुर्वादिदुर्वाच्छसमूतये परकात्-
 सङ्गात् = सम्पवति सङ्गात् ॥

बीर धी—नारी सुन्दर सख्या पर सोती हुई भी उतना प्रदंन नहीं होती
 है बिठना हुसरे पुत्र के साथ बासफूत बापि से भरी भूमि पर जो कर मुक्ती
 होती है ॥ ११८ ॥

अथ कथाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति । अथ
 दण्डनायकोऽपि रत्नं लब्ध्वा गता । तमावाप्तं दण्ड्वा तत्पुत्रं कुसुमे
 निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव शीडति । अनन्तरं तस्या भर्ता
 गोपी गोप्यात्समागतः । तमवलोपय गोप्योक्तम्—‘दण्डनायक
 त्वं कशुब्धं गृहीत्वा कोपं दृष्ट्वाभ्यन्तरं गच्छ’ । तथा तेनलुष्टिते
 गोपेन गृहमागत्य भार्यां पृष्ट्वा—‘केन कार्येण दण्डनायका समा
 गत्यात्र स्थितः । सा प्रुते—‘अथ केनापि कार्येण पुत्रस्त्रोपरि
 क्रुद्धः । स च मार्गमाप्नोऽप्यत्रागत्य प्रविष्टो मया कुसुमे निक्षिप्य
 रक्षितः । तस्मिन्ना भान्मिष्यात्र न हसः । अत एवापं दण्डनायकः
 क्रुद्ध एव गच्छति । ततः सा तत्पुत्रं कुसुमाद्रहिकृत्य रक्षितवती ।
 तथा चोक्तम्—

सा = गोपी दण्डनायकपुत्रेण = दण्डनायकपुत्रेण रममाणा = रमयं कुर्वती
 रत्नम् = रत्नं कर्तुम् । कुसुमे = अन्नभाजने (कीठिमा वा बहार) तथा =
 प्राण्यत्, लोहत् = बोल्गनात् । कशुब्धम् = बहदधम् (काठी) कोपं दृष्ट्वाभ्य-
 न्तरं कशुब्धं न तु बन्तुत् कुपिते तत्कारणमावाहित्वत् । अलुष्टिते = इति
 केनापि कार्येण = इस्मीचित् प्रबोधनाय अथम् = दण्डनायकः पलायमायः = अन्नायनं
 कुर्वन्, भान्मिष्यात् = अन्नेवच कुर्वता ।

एक बार वह मुञ्जिवा के बेटे के साथ सम्मोह कर रही थी कि उसी बीच
 मुञ्जिवा भी उसके साथ सम्मोह करने के लिए आ पहुँचा । उसी भाषा हुआ देख
 कर उसने उसके बेटे को बहार में खिजा दिया और मुञ्जिवा के साथ आनन्द
 देने लगी । इसी बीच उसका पति प्लाका पोकाका से आ पहुँचा । उस ग्राहिक
 ने उसे देखकर मुञ्जिवा से कहा—तुम उदा होकर सोच करते हुए बाहर
 निकली । उसके ऐसा करने पर प्लाकी ने घर में आकर पूछा कि मुञ्जिवा क्यों

केम लिए आया था ?' उसने कहा—यह किसी कारण ने अपने पुत्र पर क्रुद्ध हुआ था। वह भगा हुआ मेरे घर में घुस आया, मैंने उसे बखार में छिपा कर बचा लिया। उसका पिता यहाँ आया किन्तु नहीं देखा। इसीलिए वह क्रुद्ध होकर गया है। तब उसने बखार से निकाल कर उसके पुत्र का दिखा दिया। जैसा कि कहा भी है—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणा बुद्धिस्तासा चतुर्गुणा ।

पद्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् आहार द्विगुण तासाम् बुद्धि चतुर्गुणा, च व्यवसाय षड्गुण च काम च अष्टगुण स्मृत ॥ ११९ ॥

आहार = भोजनम्, द्विगुण = द्विगुणित, व्यवसाय = परिश्रमादिश्रव्यापार, काय = कामवासना, सम्भोगामिलाप इत्ययम्, स्मृत = कथित ॥

स्त्रियों का भोजन पुरुष की अपेक्षा दूना, उनकी बुद्धि चतुर्गुनी, प्रयत्नशीलता छ गुनी और कामुकता आठगुनी होती है ॥ ११९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि ।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'काय पत्ने पर।' आदि ।

करटकौ ब्रूते—'अस्त्वेवम् । किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यम् ।' दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम् ।' तथा चोक्तम्—

अनयो = सिंहवृषभयो, अन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेह = स्वभावेन परस्पर-मुत्पन्न प्रेम, भेदयितुम् = नाशयितुम् ।

करटक ने कहा—यह तो ठीक है। किन्तु इन दोनों में अत्यन्त महान् और स्वाभाविक प्रेम हो गया है, अतः तुम उनमें कैसे फूट डाल सकते हो। दमनक ने कहा—उपाय करो—जैसा कि कहा भी गया है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः

काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पं निपातित ॥ १२० ॥

अन्वयः—यत् (कायम्) उपायेन शक्यम् (भवति), तत् पराक्रमं न शक्यम् (अस्ति) हि काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पं निपातित ॥ १२० ॥

यत्=कायम्, शक्यम् = साध्यम्, पराक्रमं = बल । काक्या = काकस्त्रिया, कनकसूत्रेण (सोनेकी जड़ीरसे), कृष्णसर्पं (करेन सर्प) निपातित = मारित ॥

उपाय से भी होसकता है वत्र बल द्वारा नहीं हो सकता है । कौबी ने सोने की खंवीर के माध्यम से काल सर्प को मार डाला ॥ १२ ॥

करटकः पृच्छति—कथमंतत् ? दमनकः कथयति ।

करटक ने पूछा—वह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ७

कश्चिन्मन्त्रिणो वायसवस्वपती निवसतः । तयोऽप्यापत्यानि तटको
ट्टरायस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः पुनर्गमयती वायसी
वायसमाह—‘माघ ! त्यज्यतामय वृक्षा । अत्रायस्थितकृष्णसर्पेण्णाप-
योः संततिः सततं भक्ष्यते । यतः—

तरो=बुधोपरि वायसवस्वपती = काक काकी व (कौबेकी बोडी) व
त्यानि=सन्तानानि तटकोट्टरायस्थितेन—तस्मिन्कृष्ण कोटरे=छिन्ने (छोडने)
अस्थितेन=स्थितेन । सततम्=सर्पेण ॥

किसी वृक्ष पर कौबो का एक बोया रहता था । उसके बन्धों को वही
पेड़ के छोटके से रहने वाला काला सर्प खा खाया करता था । इसके बाद जब
कौबी फिर पर्वतता हुई तो उसने कौब से कहा—स्वामी ! इस वृक्ष को छोड़
दो । यहाँ रहने वाला काला सर्प हम लोगों की सन्तानों को बरामर खा लिया
करता है । क्योंकि—

वृक्षा भर्मा शतं मित्रं मृत्युञ्जोत्तरवापका ।

ससर्पे च वृष्टे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—वृक्षा भर्मा शतम् मित्रम् च उत्तरवापका मृत्यु च ससर्पे वृष्टे
वास (इ वेत्सर्पेण) मृत्यु एव (अस्ति कश्चिन्) संशय न (अस्ति) ॥ १२१ ॥

वृक्षा=वृक्षी मठम्=कपटपुत्रम्, उत्तरवापका=प्रत्युत्तरवाता ससर्पे=सर्प
सहितं वास = निवास ॥

जब कौबी शतं मित्रं अर्थात् देने वाला नोकर तथा सर्प वाके घर में रहना
होना मृत्यु का कारण बनता है । इसमें शक भी नहीं है ॥ १२१ ॥

वायसो व्रत—प्रिये ! न भंतक्यम् । वारवार्स मयैतस्य महाप-
राधः स्तोत्रा । इशानी पुनर्गमयती । वायस्याह—‘कथमन्तेन
वक्ष्यता सार्धं भयम् विप्रहीतु समयः । वायसो ब्रूते—अद्यमया
शत्रुया । यतः—

वायस = काक । भेतव्यम् = मय कर्तव्यम् । महापराध = महान् दोष, सोढ = सहन कृतम् । इदानीम् = अघुना, क्षन्तव्य = क्षमार्हं । बलवता = बलिता, विप्र-
हीतुम् = योद्बुम्, अलमनया शङ्कया = एव शङ्का न कर्तव्या ॥

कौवे ने कहा—प्रिये डरो मत । वरावर मैंने इसके अपराध को क्षमा किया है अब मैं इसे क्षमा नहीं करूँगा । कौवी ने कहा—आप इस बलवान के साथ कैसे झगडा कर सकेंगे । कौवे ने कहा—ऐसी शका न करो । क्योंकि—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्वुद्धेस्तु कुतो बलम् ।

पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ १२२ ॥

यस्य बुद्धि (अस्ति), तस्य बलम् (अस्ति), निर्वुद्धे तु कुत बलम् (अस्ति),
पश्य, मदोन्मत्त सिंह शशकेन निपातित ॥ १२२ ॥

निर्वुद्धे = बुद्धिहीनस्य । मदोन्मत्त = मदोद्धत ॥

जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है, जो बुद्धिहीन है उसके पास कहीं बल होता है । देखो, मतवाले सिंह को खरगोश ने मार डाला ॥ १२२ ॥

वायसो विहस्याह—'कथमेतत् ।' वायसः कथयति—

कौवी ने हँसकर कहा—'यह कैसे ?' कौवे ने कहा—

कथा ८

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते । ततः सर्वे पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र ! किमर्थमेकदा बहुपशुघातः क्रियते । यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाद्वाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः ।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत् ।' ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते । अथ कदाचिद् वृद्धशशकस्य चारः समायात । सोऽचिन्तयत्—

मन्दरनाम्नि = मन्दरनामके, विज्ञप्त = निवेदित । बहुपशुघातः = अनेकपशु-
वध, प्रसाद = प्रसन्नता, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, उपढौकयाम = प्रापयाम ।
अभिमतम् = अभीष्टम्, ततः प्रभृति = तस्मात् दिनादारभ्य, उपकल्पितम् = वन्य-
पशुमिनियतम्, वृद्धशशकस्य = प्रवयस शशकस्य (बूढ़े खरहे की) ॥

मन्दर नाम के पहाड पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था । वह सर्वदा जानवरो को मारा करता था । तब सभी जानवरो ने मिलकर सिंह से कहा—

‘हे मूलेन्द्र ! क्यों एक ही साध बहूत से जानवरों को मारते हैं । यदि भाप हुआ करें तो हम जोय ही भापके भोजन के लिए प्रतिदिन एक-एक जानवर सेवा में भेज दिया करें । तब ने कहा—‘यदि भाप जोयो की बही इच्छा है तो ऐसा ही होना चाहिये । उसी समय से प्रतिदिन एक-एक भेजे पर जानवर को कातर वह रहने लगा । एक दिन एक बड़े खरपोत्र की बारी आई । तबने विचार किया—

‘भासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया ।

पञ्चस्य श्रेयगमिष्यामि किं सिद्धानुनयेन मे ॥ १२३ ॥

अन्वयाः—भासहेतोः विनीति तु जीविताशया क्रियते चेत् (बहवः) पञ्चस्य गमिष्यामि (तद्दि) सिद्धानुनयेन मे किम् (अस्ति) ? ॥ १२३ ॥

भासहेतो = ममकारणीभूतात् गुणैः विनीति = विनय- जीविताशया = बहवस्त्वानुनयेन जीविष्यामि इत्याशया पञ्चस्य = यदि मरिष्यामि सिद्धानुनयेन = सिद्धप्रार्थना ॥

जीवन की भासा से ही प्रयत्न करने वाले की प्रार्थना की जाती है । यदि मुझे मरना ही है तो क्यों सिद्ध से प्रार्थना करें ॥ १२३ ॥

तन्ममस्यं मन्व गच्छामि । ततः सिद्धोऽपि सुधापीडिता कोपात्त मुधात्— कुतस्त्वं यिच्छन्त्य समागतोऽसि । दाशकोऽग्रधीत्— दधे ! नाहमपराधी । आगच्छन्पयि सिद्धान्तरेण बलाद्भूतः । तस्याग्रे पुनरागमनाय शयस कृत्वा स्वामिन् निबद्धयितुमत्रागतोऽस्मि । सिद्धः सकोपमाह—‘सत्वरं गत्या तुरात्मान दर्शय क्व स तुरात्मा तिष्ठति । ततः दाशकस्तं शूद्रोत्था गमीरकूपं दर्शयितु मत्तः । तत्रागत्य ‘स्वयमेव पश्यतु स्वामी’ इत्युक्त्वा तस्मिन् कूपजले तस्य सिद्धस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ कोपाध्मातो तपोत्त स्योपपात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि— सुविष्यस्य इत्यादि ।

मन्व मन्वम्—तनी- बने । कुत—क-मात् कारणात्, विनयन्त्य—विनय्य इत्या । सिद्धान्तरेण = अन्तर्द्वारा बलाद्भूत = बलपूर्वकं बुरीठ । शयसम् = ममजन् (शोकम्) सकोपम्—कोपपूर्वकम्, तुरात्मानम्—तुल्यम् । गमीरकूपम्—गमीरकूपम् (बहरे कूँको) मत्तः = कुलसमीपं गतवान् । प्रतिबिम्बम् = प्रतिच्छाया । कोपाध्मात्त = कोपपूर्वकं वर्णम् = पनाई, तस्यो —प्रतिबिम्बोपरि दृष्टित्वा मृत । तन्प्रति = इतानीम् ।

इसलिए पीरे पीरे भव । तब सिद्ध ने बूझ से आनूक हीकर जोय से साध

हा कि—‘तुम क्यों इतनी देरी से आए हो ।’ खरगोश ने कहा—‘इसमें मेरा अप नहीं है । रास्ते में आते समय एक दूसरे बलवान सिंह ने मुझे पकड़ लिया । उसके सामने फिर आने की कसम खाकर स्वामी को सूचना देने यहाँ आया हूँ ।’ सिंह ने क्रुद्ध होकर कहा कि—‘शीघ्र ही चलकर उस दुष्ट को दिखाओ कि वह कहीं रहता है ।’ तब खरगोश उसे लेकर एक गहरा कुआँ दिखाने के लिए गया । वहाँ जाकर उसने कहा कि ‘स्वामी, आप स्वयं देख लें । ऐसा कह कर उस कुएँ के जल में उसी सिंह की छाया दिखावा दी । इसके बाद वह क्रोध तथा क्रम में आकर कुएँ में कूद पड़ा और मर गया । इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि— जिसके पास बुद्धि है’ आदि ।

वायस्याह—‘श्रुतं मया सर्वम् । संप्रति यथा कर्तव्यं तद् ब्रूहि ।’
वायसोऽवदत्—‘अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति । स्नानसमये मदङ्गादवतारित तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन् कोटरे धारयिष्यसि ।’ अथ कदाचित्स्नातु जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तौ राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—‘उपायेन हि यच्छक्यम्’ इत्यादि । करटको ब्रूते—‘यद्येवं तर्हि गच्छ । शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।’ ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—‘देव ! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि । यतः—

आसन्ने=निकटवर्तिनि, सरसि = तडागे, स्नाति=स्नान करोति । तदङ्गा-दवतारितम् = राजपुत्रघोराराशिस्वारितम्, तीर्थशिलानिहितम् = तीरस्थप्रस्तरे स्थापितम्, चञ्च्वा=त्रोटया, धारयिष्यसि=पातयिष्यसि, पातयेत्यथ । तदनुष्ठितम्= कनकसूत्र तरुकोटरे पातितवती । कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तौ = स्पर्शसूत्रप्राप्तय काकीमुद्गिष्यानुधावद्भिः, व्यापादित =हत । आत्ययिकम् = हानिकारकम्, महाभयकारि = अतिशयेन भयप्रदम्, मन्यमान = मन्वान ॥

कौबी ने कहा—‘मैंने सब कुछ सुन लिया । इस समय जो करना है उसे बताओ ।’ कौबी ने कहा—‘इस निकट के तालाब में राजकृमार प्रतिदिन आकर स्नान करता है । तुम स्नान के समय, उतार कर शिला पर रखे हुए स्वर्णसूत्र को चोघ से पकड़ कर लाओ और इस खोखले में रख दो । एक बार जब राजपुत्र जल में स्नान करने के लिए उतर पड़ा तो कौबी ने वैसा ही किया । इसके बाद उस सुवर्णसूत्र की खोज करने वाले सिपाहियों ने खोखले में काले साँप को देखा और उसे मार डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—‘उपाय से

को हो सकता है" इत्यादि । करटक ने कहा— यदि ऐसा है तो बाबू तुम्हारा मार्ग बस्याबचन हो । तब बसन्त ने पित्रक के समीप जाकर प्रणाम करके कहा—देव बाप पर जाने वाली एक महान विपत्ति को जानकर यहाँ आया हूँ । क्योंकि—

आयुष्मागमने कार्यकाळात्ययेषु च ।

कस्याबचनं प्रयादृष्टोऽपि द्वितो नरः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—आपदि उन्मार्गमने च कार्यकाळात्ययेषु द्वितो नरः क्युट् द्वि कस्याबचनम् बुवात् ॥ १२४ ॥

आपदि = आपरकाले उन्मार्गमने = कुमार्गमने कार्यकाळात्ययेषु—कार्यस्य काल- तस्य आत्ययेषु = कर्तव्यसमवधिनाशेषु कस्याबचनम् = द्वितुद्वाक्यम्, मयुट् = अतुपुक्त द्वितो = द्विनेच्छुः ॥

बस्याब चाहने जाने पुरुष को आपदि के समय कार्य का समय बीछते समय तथा बुरे मार्ग में जाते समय स्वामी को देखकर बिना पूछे ही सारी बातें बता देनी चाहिए ॥

अन्वय—मोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यमाज्जबम् ।

राजकार्यपरिष्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

अन्वय—राजा भोक्तव्य माजनम् (वस्ति) राजा कार्यमाजनं न (वस्ति) राजकार्यपरिष्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

भोक्तव्य=भोक्तरवस्व माजनम्=पात्रम् कार्यपात्रम् = कार्यकर्ता । राज-कार्यपरिष्वंसी=राजकार्यनाशक दोषेण लिप्यते=बापी बनति ॥

बोर मी—राजा के बच भोग का पात्र होता है क्योंकि भोग करने वाला होता है वह कार्य करने वाला नहीं होता । राजा के काम को बिना करने वाला मन्त्री ही बापी होता है ॥ १२५ ॥

तथा द्वि पद्य । अमात्यानामेव क्रमा—

बोर द्वेषिण मन्त्रिवो वा बहु निबन्धने—

वर प्राणपरित्यागः शिरसो वाऽपि कर्तनम् ।

न तु स्वामिपदातिपातकेच्छोरुपेक्षम् ॥ १२६ ॥

अन्वयः—प्राणपरित्याग वा शिरसो अपि कर्तनम् वरम् (वस्ति) तु स्वामिपदातिपातकेच्छा उपेक्षनम् न वरम् (वस्ति) ॥ १२६ ॥

प्राणपरित्याग = मरणम्, शिरसो कर्तनम् = शिरसैवर्णं वा स्वाधि

पदावाप्तिपातकेच्छो — स्वामिन पदस्य = स्थानस्य राज्यस्येत्यर्थं., अवाप्ति लामः
एव पातक तस्येच्छु तस्य = राज्यलामरूपपातक कर्तुमिच्छुकस्य, उपेक्षणम् =
उपेक्षा ॥

प्राणो का परित्याग करना अच्छा है अथवा सिर भी कटा देना उत्तम है
किन्तु स्वामी के पद को हड़पने की इच्छा करने वाले को उपेक्षा करना ठीक
नहीं है ॥ १२६ ॥

पिङ्गलकः सादरमाह—‘अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति ।’ दमनको
ब्रूते—‘देव ! सजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते । तथा
चास्मत्सन्निधाने श्रीमद्देवपादाना शक्तित्रयनिन्दा कृत्वा राज्यमेवा-
भिलषति ।’ एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभय साश्रयं मत्वा तूष्णीं
स्थितः ।’ दमनकः पुनराह—‘देव ! सर्वामात्यपरित्याग कृत्वैक
एवायं यत्त्वां सर्वाधिकारी कृतः, स एव दोषः । यतः—

असदृशव्यवहारी इव = अनुचितव्यवहारकर्तव्य, लक्ष्यते = प्रतीयते । अस्मत्स-
न्निधाने अस्माक निकटे, श्रीमद्देवपादानाम् = भवताम्, शक्तित्रयनिन्दाम् = प्रभु-
मन्त्रोत्साहरूपाणां तिसृणा शक्तिना निन्दनम् । तूष्णीं स्थित = मौनो जात ।
सर्वामात्यपरित्याग कृत्वा = सर्वान्मन्त्रिण सन्त्यज्य ॥

पिङ्गलक ने आदर के साथ कहा—‘आप क्या कहना चाहते हैं ।’ दमनक ने
कहा—‘सजीवक आप के प्रतिफूल कार्य करता हुआ दिखाई पड़ रहा है । उसने
हमारे सामने आप की तीनों शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, तथा उत्साहशक्ति)
की निन्दा करते हुए राज्य ले लेने की इच्छा व्यक्त की है । यह सुनकर पिङ्गलक
भय और आश्रय के साथ थोड़ी देर के लिए सन्न हो गया । दमनक ने फिर
कहा—आपने सभी मन्त्रियों को छोड़कर इसी को सर्वाधिकारी बना दिया,
आप से यही गलती हुई । क्योंकि—

अत्युच्छ्रितं मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादाबुपतिष्ठते श्री ।

सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२७ ॥

अन्वयः—रक्ष्मी अत्युच्छ्रितं मन्त्रिणि च पार्थिवे पादो विष्टभ्य उपतिष्ठते,
ता स्त्रीस्वभावात् भरस्य असहा (सती) तयो द्वयो एकतरम् जहाति ॥ १२७ ॥

अनुचितैः—अनुमते संवादमुक्ते च पाबिभैः—गुणे विहस्य = स्विये कृत्वा
 सरतिष्ठते—सैवैते समाभवति च । अतहा—सोऽनुमत्तमर्था भरस्व—मारस्व तयो-
 र्दयो = पाबिभमन्त्रिणो एरतरम् = कमल्येकम् अहाति = त्ववति ॥

आगत उगत मंत्री अथवा राजा के चरणी का अथवाअन केकर ही लक्ष्मी
 टिकती है किन्तु जोत्वमात्र के कारण वह अधिक पार नहीं सहन कर सकती
 इसकिए वह उन दोनों में से एक का परिष्कार कर देती है ॥ १२७ ॥

अपर च—एकं भूमिपतिः करोति सचिर्वं राज्ये प्रमाण यद्वा
 तं मोहाच्छ्रयते मवः स च मदाच्छस्येन निर्मिषते ।

निर्मिभस्य पद् करोति हृदयं तस्य स्वतन्त्रस्यूहा
 स्यात्तन्त्रस्यूहया तदा स सुपतेः प्राप्यान्तिकं दुह्यति ॥

अन्वयः—यदा भूमिपतिः एकम् सचिवम् राज्ये प्रमाणं करोति मोहम्
 तम् यदा अवति स च मदाच्छस्येन निर्मिषते विमिलस्य तस्य हृदये स्वतन्त्रस्यूहा
 यद्वा करोति तदा स स्वतन्त्रस्यूहया सुपतेः प्राप्यान्तिकम् दुह्यति ॥ १२८ ॥

सचिवम् = मन्त्रियम् प्रमाणम् = प्रधानस्येभामियत्तम्, तम् = सचिवम्
 मोहात् = अविमानात् मवः = दर्ब., दास्येव = दासत्वा विमिषते = किठते
 यद्वा = स्वातन्त्र्यम् स्वतन्त्रस्यूहा = स्वातन्त्र्येच्छा प्राप्यान्तिकम् = प्राणदातापि
 दुह्यति = डोईं करोति ॥

और भी—यदा राजा एक ही मंत्री को राज्य का सारा अधिकार दे देता है
 तो अज्ञान बल उसे अविमान हो जाता है और अविमान तथा आत्मस परतके
 हृदय में निश्चय उत्पन्न कर देते हैं । यैव वा जाने के कारण उसके हृदय में
 स्वतन्त्र हो जाने की इच्छा वा जाती है और इसी स्वतन्त्रता की इच्छा से वह
 राजा से प्राणदाताक डोईं करने लगता है ॥ १२८ ॥

अन्वयः—विषयस्य मत्तस्य दम्तस्य अकितस्य च ।

अमात्यस्य च पुष्टस्य मूढादुद्धरणं मुक्तम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—विषयस्य मत्तस्य च अकितस्य दम्तस्य च पुष्टस्य अमात्यस्य
 मुढात् उद्धरणम् मुक्तम् (अवति) ॥ १२९ ॥

विषयस्य—विषयस्य मत्तस्य—दोषस्य (मात्र का) अकितस्य—दोष
 अमात्यस्य—अमात्यस्य—मन्त्रिय मुढादुद्धरणं—अमुक्तोत्पादनं मुक्तकरं अवति ॥

और भी—विषय पर मोहन दिक्ते हुए शीत और पुष्ट मंत्री को अज्ञान से
 अज्ञान से ही मुक्त होता है ॥ १२९ ॥

किञ्च—यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।

सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैविना ॥ १३० ॥

अन्वयः—य (जगतीपाल) श्रियम् सचिवायत्ताम् कुर्यात्; स जगतीपाल तद्व्यसने सति सचारकै विना अन्धवत् सीदति ॥ १३० ॥

सचिवायत्ताम्=सचिवाधीनाम्, तद्व्यसने = सचिवव्यसने, अन्धवत् = अन्धेन नुल्यम्, जगतीपाल = भूपति, सीदेत्=दृ खितो भवेत्, सञ्चारकैविना=सेषकैविना ॥

और भी जो राजा अपनी राजलक्ष्मी को अपने मंत्री के अधीन कर देता है तो वह विपत्ति के समय उसी अंधे के समान कष्ट पाता है जिसे कोई मार्ग खताने वाला नहीं होता ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च जानाति—

स्वेच्छात = स्वेच्छया, प्रवर्तते = कार्ये प्रवृत्तो भवति ।

वह मंत्री सभी काम अपनी इच्छा के अनुसार करने लगता है । अब आप जैसा चाहें वैसा करें । आप यह तो जानते ही हैं कि—

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।

परस्य युवति रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—लोके स पुरुष न अस्ति, य श्रियम् न कामयते । परस्य रम्याम् युवतीम् अत्र क सादरम् न ईक्षते ? ॥ १३१ ॥

कामयते = अभिलषति, श्रियम् = राजलक्ष्मीम्, पक्षे धनम्, सादरम् = आदरपूर्वकम्, भोगेच्छयेति शेष, ईक्षते = पश्यति ॥

ससार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होता जो लक्ष्मी की कामना न रखता हो । मला दूसरे की सुन्दरी स्त्री को आदर के साथ कौन नहीं देखता ? ॥ १३१ ॥

सिंहो विमृश्याद्—‘भद्र ! यद्यप्येवं तथापि सञ्जीवकेन सह मम महान् स्नेहः । पश्य—

विमृश्य=विचार्यं, एवम्=त्वद्व्यनुत्तरूपम् ।

सिंह ने विचार करके कहा—भाई, आप का कहना तो ठीक है लेकिन सञ्जीवक के साथ मेरा बहुत स्नेह है । देखो—

कुम्भश्चपि व्यक्तीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।

अशेषदोषपुष्टोऽपि कायः कस्य न वस्त्वमः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—यः प्रियः (वस्ति) सः व्यक्तीकानि कुम्भश्चपि प्रियः एव (वस्ति) अशेषदोषपुष्टोऽपि कायः कस्य (वस्त्य) वस्त्वमः न (भवति) ? ॥ १३२ ॥

व्यक्तीकानि=अपराधान् । अशेषदोषपुष्टः=अकलहोपपुष्टतया पुष्टोऽपि कायः=शरीरम् वस्त्वमः=प्रियतमः । अशेषदोषपुष्टोऽपि प्रतिशुद्धमात्मानम् प्रियो अथ सदा प्रिय एव जायते ॥

कितना ही अपराध करने पर भी प्रिय व्यक्ति सर्वथा प्रिय ही रहेगा । जैसे इस शरीर में सभी प्रकार के दोष होते हैं फिर भी वह कितने प्रिय बनी होता ॥

अन्वयः—अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।

वृद्धमन्दिरेसारेऽपि कस्य बह्वावनादरः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—यः प्रियः (वस्ति) सः अप्रियानि अपि कुर्वाणः प्रियः एव (वस्ति) वृद्धमन्दिरेसारे अपि बह्वी कस्य (वस्त्य) अनादरः भवति ॥ १३३ ॥

अप्रियानि=अनिष्टानि कुर्वाणः=कुर्वन्, वृद्धमन्दिरेसारः—वृद्धः = मस्ती कृत मन्दिरेत्यम्=बृहस्पति सारः = सारभूतं वस्तु यैव सः तस्मिन्, बह्वी=अनादी अनादर=तिरस्कार. त्याग उपेक्षा वैश्वर्ष । न कस्यापीति भावः ॥

बोर भी—अप्रिय कार्य करने पर भी प्रिय व्यक्ति प्रिय ही रहेगा । आप कितने पर बला डालती हैं फिर भी कौन उसका अन्याय करता है ? ॥ १३३ ॥

इमनक पुनरेयाह—द्विष । स एषातिदोषः । यतः—

द्वेषः ।=धीमन् । अतिदोषः=अहान् अनुजः ।

इमनक ने फिर कहा—'उजब, वही तो सबसे बड़ा दोष है । योकि—

यसिमन्वाधिर्कं अक्षरारोहयति पार्थिवः ।

मुनेऽमात्येऽप्युद्वासीन स सद्गम्याधीयते जनाः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—यसिवा पस्विन् एव मुनेः अन्वये उवासीने अपि यत्तु अविद्यम् आरोहयति स जनः सद्गम्याः आधीयते ॥ १३४ ॥

तस्मिन्=अथ यत्र यन्तुरारोहयति=अक्षरारोहयति स्तद्गम्ये अथैव जनं परवतीत्यर्थः । मुनेः=मुने उवासीने=अमात्ये यन्तुरारोहयति स्तद्गम्याधीयते=जनान् भवति ॥

पुत्र, मन्त्री तथा अपने प्रति उपेक्षामात्र रखनेवाले जिस किसी व्यक्ति पर भी जब राजा अधिक स्नेह दिखाने लगता है तो वह लक्ष्मीपात्र बन ही जाता है ॥

शृणु देव—अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणाम. सुखावहः ।

वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—पथ्यस्य अप्रियस्य अपि परिणाम सुखावह (भवति) यत्र वक्ता व श्रोता अस्ति, तत्र सम्पद रमन्ते ॥ १३५ ॥

पथ्यस्य=हितकरस्य, वचनस्येति शेष, परिणाम =फलम्, सुखावह = सुखद (भवति), वक्ता=स्वामिने सत्परामर्शप्रद, श्रोता = अमात्यसत्परामर्शस्य श्राता, यत्र=राज्ये स्थाने वा, रमन्ते=सानन्द चिर तिष्ठन्ति ॥

सुनिष्ट राजन्—पथ्य (रोग के समय लिया जाने वाला भोजन) भले ही अच्छा न लगने वाला हो, किन्तु उसका अतिम फल सुखदायक होता है । और अप्रिय पथ्य के बताने तथा सुनने वाले जहाँ रहते हैं वहाँ सभी प्रकार की सम्पत्ति विराजमान रहती है ॥

त्वया च मूलभृत्यान्पास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतच्चानुचितं कृतम् । यतः—

त्वया = भवता, पिङ्गलत्रेण, मूलभृत्यान् = प्रधानसेवकान्, अपास्य = दूरी-कृत्य, आगन्तुक = वहिदेशादागत, पुरस्कृत = अग्रे कृत, प्रधानत्वेन अमिमत् इत्यर्थं, एतत् = आगन्तुकस्य पुरस्करणम् ॥

आपने अपने पुराने सेवकों को छोड़ दिया और इस नये आनेवाले को आगे बढ़ा दिया । यह आपने अनुचित किया । क्योंकि—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रतिमानयेत् ।

नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—(नृप) मूलभृत्यान् परित्यज्य आगन्तून् न प्रतिमानयेत्, यतः अतः परतर राज्यभेदकर दोष न (अस्ति) ॥ १३६ ॥

मूलभृत्यान्=वंशपरम्परागतप्रधानसेवकान्, आगन्तून्—आगन्तुकान्, न प्रतिमानयेत्=नाद्रियात् । परतर =महत्तर, राज्यभेदकर =राज्यनाशक ॥

पुराने सेवकों को छोड़कर नये आनेवालों का सम्मान नहीं करना चाहिए । क्योंकि राज्य में भेद उत्पन्न करनेवाला इससे बड़ा और कोई भी दोष नहीं होता ॥

सिंहो ब्रूते—'किमाश्चर्यम् । मया यदभयवाचं दत्त्वाऽऽनीतः सवधितश्च तत्कथं मया द्रष्टव्यं । 'दमनको ब्रूते—'देव ।

अथवाचम् = अथवाचनम्, मह्यं ब्रह्मति = मां प्रति ब्रह्मं करोति 'अथ
ब्रह्मेणा'— इति ब्रह्मवातोर्वादि मह्यमित्यत्र अनुर्वाचिमितिः ॥

सिद्धि मे कदा—कितने आश्चर्य की बात है ? मैंने ही उसे अममदान दिया,
अपने पास बुझाया और उसे वाये बहाना फिर वह मुझसे ब्रह्म क्यों करने
क्या ? अममक मे कदा—

सुर्वानो नार्चयन् पाति सेव्यमानोऽपि नित्यया ।

स्वेदनाम्बुजानोपायैः श्वपुच्छमिह नामितम् ॥ १३७ ॥

अन्वयः—सुर्वानं स्वेदनाम्बुजानोपायै नामितम् श्वपुच्छम् इव नित्यया
सेव्यमानं अपि नार्चयन् न पाति ॥ १३७ ॥

नार्चयन्—सरलताम् स्वेदनाम्बुजानोपायै—स्वेदनम्—श्वपुच्छमर्चयित्वा
स्विकीकरणम्, अम्बुजम्—तीक्ष्णमर्दनम् उपायम्—बुद्धादिस्वच्छन्दे संस्थाप्य
नामनादिस्वच्छन्दे नामितम्—श्वपुच्छं नम्रीकृतम् ॥

इव नित्य सेवा करते रहने पर भी कुछ सीबा नहीं हो सकता । कुत्ते की
टेडी पूँछ को लेंक कर कितना ही लेंक कपाया जान केरिब वह सीबा नहीं होती ॥

अपरञ्च—स्वेदितो मर्दितश्चैव रक्षुभिः परिवेष्टितः ।

मुक्तो द्वावृक्षमिर्बणैः श्वपुच्छः प्रकृति गता ॥ १३८ ॥

अन्वयः—स्वेदितः च मर्दित एव रक्षुभिः परिवेष्टितः श्वपुच्छः द्वावृक्षमि-
र्बणै मुक्तः (सन्) प्रकृति गता (गच्छति) ॥ १३८ ॥

स्वेदितः = उष्णतैलादिना स्वेदयत्कृतः—यथा बरुक्षुणादिभ्योऽनु कर्तुं तैला-
दिना सम्मर्दं कर्त्वा उपवित्वा श्वपु सुर्वानि तथा कृत इति याव । मर्दितः—
तैलादिना कृतमर्दनं रक्षुभिः = बुधै परिवेष्टितः = संवेष्टित (रक्षितव्येति
क्येदा यथा) मुक्तः = त्यक्तः, श्वपुच्छः—कुम्भुरक्यदनुकम् प्रकृति गता =
सुनर्बण एव तिष्ठति ॥

बोर भी—कुत्ते की पूँछ लेंकी गई, मली बाँधि मली गई और बाखू बनीं
तक सीबा करके बंधी रही किन्तु बोकने पर वह फिर टेडी ही रह गयी ॥ १३८ ॥

अन्वयः—बर्नं चैवाथ सम्मानं आकारां प्रीतये कुतः ।

पञ्चम्यसूतसेकेऽपि न पश्यानि दिपद्भुमाः ॥ १३९ ॥

अन्वयः—बर्नम् सम्मानं वा आकारां प्रीतये कुतः (क्वचित्) अपुत्रैके
अपि दिपद्भुमा पश्यानि न पश्यन्ति ॥ १३९ ॥

वर्धनम्=सवर्धनम्, सम्मानम्=आदरः, प्रीतये=प्रसन्नतायै, कृत. = कस्मात्कारणात् भवति । अमृतसेके=सुधया सेचने, पथ्यानि=मधुरफलानि, विषद्रुमा=विषवृक्षा ॥

और भी—उन्नति या सम्मान भला दुष्ट स्वभाववालो को प्रसन्न कर सकता है ? अमृत से सींचे जाने पर भी विष के वृक्ष सुखदायक फल नहीं दे सकते ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।

एव एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥१४०॥

अन्वयः—(सत्सेवक) यस्य पराभवम् न इच्छेत् (तेन) अपृष्टः अपि हितम् ब्रूयात्, एव एव सताम् धर्मं (अस्ति), अतः विपरीतम् अन्यथा (अस्ति) ॥ १४० ॥

हितम् = हितकर वचनम्, यस्य—स्वाम्यादे, पराभवम्=पराजयम्, एव एव=अपृष्टेऽपि हितकृद्वाक्यकथनमेव । विपरीतमतो०—अस्मात्प्रतिकूलं कथनं सतामधर्मोऽस्तीत्यर्थं ॥

इसीलिए मैं कहता हूँ—

अगर कोई व्यक्ति किसी की हानि नहीं चाहता तो उसे उसके विना पूछे ही हित की बातें बता देनी चाहिए । यही सबानों का मार्ग होता है । इसके विपरीत काम करना दुष्टों का काम है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्—

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं

सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।

सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते

तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥१४१॥

अन्वयः—यः अकुशलात् निवारयति, स स्निग्धः, यत् निर्मलम्, तत् एष कर्म, या अनुविधायिनी, सा स्त्री, यः सद्भिः अभ्यर्च्यते, स मतिमान्, या मदं न करोति, सा श्री, यः तृष्णया मुच्यते, स सुखी, यत् अकृत्रिमत् तत् मित्रम्, यः इन्द्रियैः न खिद्यते, स पुरुषः (अस्ति, अस्य यथायथ सर्वत्र अन्वयः) ॥ १४१ ॥

अकुशलात्=अमङ्गलात्, निवारयति=निवारणं करोति, निर्मलम्=निर्दुष्टम्, अनुविधायिनी=अनुवर्तिनी, अभ्यर्च्यते=आद्रियते, मदम्=गर्वम्, तृष्णया=लोभेन, अकृत्रिमम्, न खिद्यते=इन्द्रियवशतो न भवति ॥

जैसा कि कहा भी गया है—

बही छान्दा प्रेमी है जो हाति से बचावे कर्म बही है जो पवित्र हो सी बही है जो माया मानने बाकी हो बुद्धिमान बही है जो छान्दों से पुणित हो कर्मी बही है जो कर्मों न उत्पन्न होने से मुक्त बही है जो जाकब से मुक्त हो मित्र बही है जो स्वामाधिक हो जोर पुरुष बही है जो इन्द्रियो द्वारा बुद्धी न बनाया जा सके ॥ १४१ ॥

यदि सखीयकर्म्यसमादितोऽभिहापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तवीदृशो भूत्ये न दोषः । तथा च—

सखीयकर्म्यसमात् = सखीयकोत्पत्स्वमानविषय इत = मत्तः, विहापित = निवेशित न निवर्तते = सखीयकर्मसर्वं न त्यजति इति = एवंविधव्यसने ॥

मेरे इतना निवेशन करने पर भी यदि स्वामी सखीयक के प्रेम से विरक्त नहीं है तो इसमें सेवक का कोई भी दोष नहीं है । और भी—

नृपः कामासक्तो वय्ययति न कार्यं न च हितं

यद्येवं स्वच्छन्दः प्रविशरति मत्तो गत इव ।

ततो मानध्मातः स पठति यदा शोकगहने

तदा भूत्ये बोधाम् क्षिपति न निर्जं वेरयविनयम् ॥१४२॥

अन्वयः—कामासक्त नृपः कर्म्यं न पचरति च हितम् न पचरति (किन्तु) मत्त नच इव यद्येवं स्वच्छन्दः प्रविशरति तत मानध्मात इव यदा शोकगहने पठति तदा भूत्य बोधान् क्षिपति निजम् वनिवयम् न वेति ॥१४२॥

कामासक्त = कामबधीभूत कार्यम् = कर्म्यम्, यद्येवं = स्वच्छानुहारम्, स्वच्छन्द = स्वतन्त्र मान यत्ने = सर्वोत्तम महाशोकहृती पठति भूत्य बोधान् क्षिपति = बुत्वात् तदोधान् वरति निजम् = स्वकीयम्, वनिवयम् = वीर्यत्वम् ॥

कामासक्त राजा न तो कार्य की ओर ध्यान देता है न अपना हित ही समझ पाता है वह स्वच्छन्द मतवाले हाथी के समान बचमाने इव है विचरन करता है (जो मा चाहता है वह करता है) किन्तु सर्वोत्तम होकर शोकहृती बड़ैमे गिरन पर मान हाथ सेवकी के मध्ये मड बैठता है अपने हीपों की ओर उतका ध्यान ही नहीं आता । बर्षा राजाओं के पतन का कारण उनका अपना स्वच्छन्द व्यवहार ही है ॥ १४२ ॥

पिबुद्धक (स्वगतम्)—

स्वगतम् = स्ववर्तति अल्पमभावनित्वत्वं ।

न परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत् ।

आत्मनाऽवगतं कृत्वा वधनीयात्पूजयेच्च वा ॥ १४३ ॥

अन्वयः—(राजा) परस्य अपराधेन परेषाम् दण्डम् न आचरेत्, आत्मना अवगतम् कृत्वा (नरम्) वधनीयात् वा पूजयेत् ॥ १४३ ॥

परस्य=अन्यस्य, अपराधेन=दोषेण, परेषा आचरेत्=परान्न दण्डयेत् ।
आत्मना=स्वयम्, अवगतं कृत्वा = ज्ञात्वा, वधनीयात् = वन्धनं कुर्यात्, दण्डये-
दित्यर्थं, पूजयेत् = आद्रियेत् वा ॥

पिगलक ने—(मन ही मन कहा) किसी दूसरे के अपराध से दूसरो को दण्ड नहीं देना चाहिए । पहले अपने आप उसे मली भाँति समझ कर ही दण्डित या सम्मानित करना चाहिए ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम्—गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे ।

स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—गुणदोषो अनिश्चित्य दोषाय ग्रहनिग्रहे न विधि (कर्तव्य), यथा दर्पात् सर्पमुखे न्यस्त कर एव नाशाय (भवति) ॥ १४४ ॥

गुणदोषो = गुणापराधो, अनिश्चित्य = अनिर्णय, गुणापराधयोर्निर्णयम-
कृत्वेत्यर्थः, ग्रहनिग्रहे = सग्रहणम् (समाहर) दण्डश्च । स्वनाशाय=आत्मनो
मरणाय, न्यस्त = स्थापित ॥

जैसा कहा भी गया है—गुण या दोष का निश्चय किए बिना अनुगृहीत या दण्डित करना उचित नहीं है । ऐसा करना तो अविमान मे आकर अपना ही विनाश करने के लिए साँप के मुँह में हाथ डालने के समान है ॥ १४४ ॥

प्रकाशं ब्रूते—‘तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम् ।’ दमनकः
ससभ्रममाह—‘देव, मा मैवम् । एतावता मन्त्रभेदो जायते । तथा
शुक्तम्—

प्रत्यादिश्यताम्=वहिष्क्रियताम्, मयेति शेष, ससभ्रमम्=भयपूर्वकम् ।
मन्त्रभेद = मन्त्रणाया प्रकाश, जायते=भवति, मन्त्रणा प्रकाशं गच्छति ।
इत्यर्थं ॥

प्रकट रूप से कहा—तो क्या संजीवक को सेवा से अलग कर दिया जाय ? दमनक ने घबड़ा कर कहा—‘देव, ऐसा न करें, इससे मन्त्रभेद हो जायगा । जैसा कि कहा भी है—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा ।

मनागपि न मिथेत् तन्निष्कं न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

अन्वयः—गुप्तम् इदम् मन्त्रबीजम् (गुप्तम्) तथा रक्षणीयम् यथा मनात् अपि न मिथेत् (यत्) निष्कं तत् न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

मन्त्रबीजम्—मन्त्राकार्यं बीजम् गुप्तम् = अप्रकाशितम् यथा न = स्वल्पम् तत् = मन्त्रबीजम्, निष्कम् = प्रकाशं कृतम् स्फुटितम् । यथाऽस्फुटितं मृदासौ पुठमेव बीजमह्नुरितं धृत्वा जगत्प्रकारं भवति तथैव स्फुटितं मन्त्रमपि जगत्प्रकारं तत् फलप्रदं भवतीत्याशयः ॥

मन्त्र (मंत्री एवं यथा के बीज होते वाली रास बात) कभी बीज को बीते भी ही सके बीते गुप्त ही रक्षना चाहिए । वह जरा भी फूटने न पाए, क्योंकि फूट जाने के वह फिर उब नहीं सकता ॥ १४५ ॥

किं च—आदयस्य प्रदेवस्य कर्तव्यस्य च क्रमजा ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कारकं पिबति तद्रसम् ॥ १४६ ॥

अन्वयः—क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य आदेवस्य प्रदेवस्य च कर्तव्यस्य क्रमं रसम् क्रमं पिबति ॥ १४६ ॥

आदयस्य—ब्रह्मीयस्य प्रदेवस्य—दानयोग्यस्य रसम् = फलम्, काठ = समयः । क्षिप्रमक्रियमाणस्य आदेवस्य प्रदेवस्य च कर्तव्यस्य क्रमं न भवतीति तात्पर्यम् ॥

बीर भी—तेज देन तथा कर्तव्य कार्य को सीझ ही न कर सकते ते उनके रस को समय भी जाता है जरासे फिर उबने करते है कोई जल्दा परिवार नहीं होता ॥ १४६ ॥

तत्त्वस्य समारम्भं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम् । किञ्च—

समारम्भम्—उत्तरम् कार्यम्, सम्पादनीयम्—कर्तव्यम् ॥

इसलिए प्रारंभ किए सवे कार्य को जयन्त परिधन के साथ पूरा करना चाहिए । बीर भी—

मन्त्रो योधः स्वाधीनः सर्वाङ्गैः सवृत्तेरपि ।

चिरं न सवृत्ते स्वातुं परेभ्यो भेदघट्टया ॥ १४७ ॥

अन्वयः—सवृत्तं अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षितं ज्योत्स्नं नोच इव (सवृत्तं अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षितं) मन्त्र-बीजम् भेदघट्टया चिरं स्वातुम् न सक्ते ॥ १४७ ॥

मन्त्र = रहस्य ज्ञानों इते गुह्यविचार नोच = बोझा ज्योत्स्न = जीत सर्वाङ्गैः = समस्तैः स्तम्भ स्वलाघुर्न पक्षे जगत्वादिद्वारादिभिः रागवर्जैः

सवृत = कवचादिनाच्छादितै , पक्षे तृतीयेन जनेनाज्ञाततया सुरक्षितै , परेभ्य = अन्येभ्य , शत्रुभ्यश्च , भेदशङ्कया=आघातभीत्या, पक्षे प्रकाशनभीत्या । यथा कवचादिनाच्छादितशरीरोऽपि भीरुर्योद्धा स्वाङ्गाघातमयाद् युद्धे चिर न तिष्ठति, तथैव अमात्यादिद्वादशमी राज्याङ्गै सुरक्षितोऽपि गुप्तपरामर्शं 'रिपव ज्ञास्यन्ति' इति मयेन चिरकाल न तिष्ठति । अत शीघ्रं तदनुसारं कार्यं करणीयमिति भाव ॥

सभी अगो से ढके होने पर जिस प्रकार कायर योद्धा शत्रुओ से छिद जाने के भय से देर तक युद्धभूमि मे टिक नहीं सकता, उसी प्रकार मली भाँति गुप्त होने पर भी 'मन्त्र' फूट जाने के भय से अधिक समय तक टिक नहीं सकता ॥१४७॥

यद्यसौ दृष्टदोपोऽपि दोषान्निवर्त्य सघातव्यस्तदतीवानुचितम् यतः—

यदि इसके दोषों को जान कर भी आप उन दोनों का ध्यान न करके इससे सधि करना चाहते हैं तो यह तो अत्यन्त अनुचित है । क्योंकि—

सकृद्दुष्टं तु यो मित्र पुनः सन्धातुमिच्छति ।

स मृत्युरेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १४८ ॥

अन्वयः—य तु सकृद् दुष्टम् मित्रम् पुन सन्धातुम् इच्छति, स अश्वतरी गर्भम् यथा मृत्युम् इव गृह्णाति ॥ १४८ ॥

सकृद्दुष्टम् = एकवारविद्धम्, सन्धातुम् = मन्धि कर्तुम्, अश्वतरी=वेसरी, खन्वरी इति यावत्, यथा = इव ॥

एक वार भी दुष्टता किए हुए मित्र मे जो फिर मेल करना चाहता है वह मृत्यु ही को ग्रहण करता है जैसे खन्वरी गर्भ धारण करके मर जाती है ॥

सिंहो ब्रूते—'क्षायता तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः ।' दमनक आह—'देव !—

मिह ने कहा—'पहले यह मालूम करा कि यह हमारा क्या कर सकता है ?' दमनक ने कहा—'देव ।

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथ सामर्थ्यनिर्णयः ।

पश्य टिट्ठिममात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः' ॥ १४९ ॥

अन्वयः—अङ्गाङ्गिभावम् अज्ञात्वा सामर्थ्यानर्णय कथम् (कर्तुं शक्यते) पश्य, टिट्ठिममात्रेण समुद्र व्याकुलीकृत ॥ १४९ ॥

अङ्गाङ्गिभावम् = अङ्गाङ्गिनो सम्बन्धम्, सामर्थ्यनिर्णय = शक्ते निश्चय , टिट्ठिममात्रेण=केवल साधारणेन टिट्ठिन (टिट्ठरी) पक्षिणैव ॥

परस्पर संबन्ध भावि (ब्रह्मस्य बीर सहायक) का ज्ञान किए बिना धर्म का निर्वचन कैसे हो सकता है ? देखो केवल एक टिट्टिहरी ने ही समुद्र को व्याप्त कर दिया ॥ १४९ ॥

सिंहः पृच्छति—'कथमंतत् ।' दमनकः कथयति—
सिंह ने पूछा—वह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ९

वसिष्ठसमुद्रतीरे टिट्टिमवपती निवसतः । तत्र वासधर्मसबा टिट्टिमी मत्तारमाह—'नाथ प्रसयधोम्यस्यानं निवृत्तमनुसन्धीक-
ताम् । टिट्टिमोऽब्रवत्—'भायं नम्विदमथ स्थानं प्रसृतियोग्यम् ।'
सा प्रुते—'समुद्रबेलसा व्याप्यते स्थानमंतम् । टिट्टिमोऽब्रवत्—
'किमई निर्वचः समुद्रेण निघडीतम् । टिट्टिमी विद्वत्स्याह—'स्वा-
मिन् स्वया समुद्रेण च महदन्तरम् । अथवा—

टिट्टिमवपती—वासापती टिट्टिमी बम्पती बम्पती वासापती इत्यन्तर ।
वासधर्मसबा = समिक्तप्रतवसमथा मत्तारम् = टिट्टिमम् प्रतवयोगवस्वानम् =
प्रसृत्यई स्थानम् निवृत्तम् = एकांतम् सुरक्षितमित्यर्थं अनुसन्धीकताम् =
अन्विष्यताम् त्वयेति शेष । समुद्रबेलसा = समुद्रतटपथसा (प्यार पाठ है)
व्याप्यते = व्याप्त भवति व्याप्यते इत्यर्थं । निघडीतम् = पीडितम् ॥

वसिष्ठ समुद्र के किनारे टिट्टिहरी का एक कोठा रहता था । वहाँ टिट्टिहरी ने बच्चा पैदा करने का समय निकट जाने पर जाने पति से कहा—स्वामी बच्चा पैदा करने योग्य एकांत स्थान ही खोज किजिए । टिट्टिम ने कहा— प्रिये यही स्वाम बच्चा पैदा करने योग्य है । तबसे कहा—वह स्वाम समुद्र की महगोते भर जाता है । टिट्टिहरे ने कहा—क्या मैं कमजोर हूँ जो समुद्र मुझे बह बैसा । टिट्टिहरी ने हँसकर कहा—स्वामी नाथ और समुद्र ने महान अन्तर है ।

परामर्षं परिच्छेत्तु योग्यायोग्य च वेत्ति यः ।

अस्तीह यस्य विद्यां कृच्छ्रजापि न सीदति ॥ १५० ॥

अन्वयाः—य (नर) परामर्ष परिच्छेत्तुम् च बोध्यायोग्यम् वेत्ति इह यस्य विद्यानम् (अस्ति न नर) कृच्छ्रं न अपि न सीदति ॥ १५० ॥

परामर्षम् = परामर्षकारणम् परिच्छेत्तुम् = दूरीकर्तुम् बोध्यायोग्यम् =
योग्य बोध्या वा इति निर्णयम् वेत्ति = जानाति विद्यानम् = विधितज्ञानम्,
कृच्छ्रं = महाकष्टेन सीदति = दूषितो भवति ॥

पराजय वचने के लिए जो योग्य, अयोग्य का ज्ञान रखता है और जिसे अपने बल का ज्ञान होता है वह क्षिपतियो से भी दुखी नहीं होता ॥ १५० ॥

अपि च—अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो वलीयसा स्पर्धा ।

प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि ॥ १५१ ॥

अन्वयः—अनुचितकार्यारम्भ स्वजनविरोध वलीयसा स्पर्धा प्रमदाजन-
विश्वास (इति एतानि) चत्वारि मृत्योर्द्वाराणि (सन्ति) ॥ १५१ ॥

अनुचितकार्यारम्भ —अनुचितस्य = अयोग्यस्य, कार्यस्य=कर्मण ; आरम्भ =
प्रारम्भ, स्वजनविरोध = स्ववान्धवादिना वैरम्, वलीयसा = अधिकबलवता,
स्पर्धा=सघर्षं, प्रमदाजनविश्वास. = स्त्रीजनेषु विश्वास ॥

और भी—अनुचित कार्य का आरम्भ, अपने लोगो से शत्रुता, बलवानों से
स्पर्धा, और स्त्री का विश्वास—ये चारो मृत्यु के द्वार हैं ॥ १५१ ॥

ततः कृच्छ्रेण स्वामिषचनात्मा तत्रैव प्रसूता । एतत्सर्वं श्रुत्वा
समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यवहृतानि । ततष्टिट्ठिभो
शोकार्ता भर्तारमाह—‘नाथ, कष्टमापतितम् । तान्यण्डानि मे
नष्टानि ।’ टिट्ठिभोऽवदत्—‘प्रिये, मा मैत्रीः ।’ इत्युक्त्वा पक्षिणां
मेलक कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः । तत्र गत्वा सकल
वृत्तान्तं टिट्ठिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—‘देव,
समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।’ ततस्त-
द्वचनमाकर्ण्य गरुटमता प्रभुर्भगवान्पारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतु-
र्विशप्तः । स समुद्रमण्डदानायाटिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौली
निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्ठिभाय समर्पितानि । अतोऽहं
ब्रवीमि—‘अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा’ इत्यादि । राजाह—‘कथमसौ
ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ।’ दमनको ब्रूते—‘यदासौ सदर्पः शृङ्गाप्र-
प्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ह्यास्यति स्वामी ।’ एव-
मुक्त्वा सजीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन्
चिस्मिनमिवात्मानमदर्शयत् । सजीवकेन सादरमुक्तम्—‘भद्र ।
कुशल ते ।’ दमनको ब्रूते—अनुजीविनां कुतः कुशलम् । यतः—

कृच्छ्रेण=अतिशयप्रबोधनादिना, प्रसूता = प्रसव कृतवती । तच्छक्तिज्ञाना-
यम्=टिट्ठिमसामध्यज्ञानाय, तदण्डानि = टिट्ठिम्यण्डानि, अपहृतानि=जलतरङ्ग-
प्लावनेन गृहीतानि । शोकार्ता = शोकपीडिता । कष्टमापतितम्=सहसा दुःखं

समाप्तम् । पक्षिणां मैत्रकम् = पक्षितमैत्रकम् बहवस्य = विष्णुवाङ्मनस्य पक्षि
 राजस्य । सकलवृत्तान्तम् = समस्तवृत्तम् पुरतः = अग्रे । स्वमुजावत्स्य = आत्मनो
 मुहे स्थित विनापराधिन = अथार्यं विनेत्सन्वयं निमुहीत = पीडित । तद्वप
 नम् = टिट्टिवकवचम्, आनर्थ = भुत्वा परमता = बन्धो = पक्षी स्त इत्य
 इति पक्ष्यमात् ऐन = अक्षेण प्रमु = स्वामी भारभण = विष्णुः सुहित्विदित्प्रत्य
 हेतु = सुहित्वि = सर्वज्ञ स्थिति = वाक्मन्त्र, प्रलय = नाशश्चेति सुहित्विदित्प्रत्य
 तेषां हेतु = कारणम् = सुहित्वात्मप्रत्यकारक इत्यर्थं विदित = निवेदित । अथ
 वानाय = अन्वयानि वातम् आदिद्वेष = आदिष्टवान्, मोली = मस्तकं निवाह =
 मुहीत्वा विष्णोराज्ञा शिरोनमनपूर्वकं स्वीकृत्येत्यर्थं बन्धो = मञ्जीवकः शोहबुद्धि =
 विज्ञोही लक्ष्यः = सर्वज्ञ सहित शृङ्गाप्रप्रहरणानिमुख = शृङ्गादेव प्रहर्तुमुत्त
 रक्षितः = समर्थ । मर्त्यं मन्वम् = धर्मं धर्मं उपसर्पत् = निकटं गच्छन् विनि
 तम् = मीतम्, आश्रयितम् अर्चयत् = प्रवर्धितवान् । अनुवीचिवाम् = ऐवकानाम्
 कुत = कस्मात् हेतो कुसलम् = भिवम् ॥

इतके पञ्चात् स्वामी के कहे अनुसार बड़ी कठिनाई से बहने लगी बच्चा
 पैदा किया । वह सब सुनकर समुद्र ने भी उसकी सक्ति जानने की इच्छा से
 उसके अंश को पुरा किया वहाँ लड़के से बहान किया । तब टिट्टिहरी ने सोच
 से म्याकुल होकर पति से कहा—'नाथ जब तो विपत्ति का यह घेरे अड़े बन्ध हो
 गए । टिट्टिहरे ने कहा—'प्रिये मत डरो ऐसा कहकर वह पक्षियों को इच्छ
 करके उनके राधा पक्ष के पास पहुँचा । वहाँ उसने मन्वान बन्ध के सामने
 जारा समाचार कह सुनाया—'देव समुद्र ने बिना अपराध ही अपने घर में
 रहने वाले मुझको बन्ध किया है । उसकी बात सुनकर बन्ध ने सुष्टि पालन
 तथा विनाश करने वाले मन्वान नारायण से निवेदन किया । उन्होंने समुद्र को
 बन्ध देने का आदेश दिया । मन्वान की आज्ञा मानकर समुद्रने सभी बड़े
 टिट्टिहरे को दे दिये । इसी लिए मैं कह रहा हूँ—'परस्पर संबंध आदि वाले
 विना'—इत्यदि । राजा ने कहा—'वह कैसे जाना जाय कि वह मुझसे अनुत्त
 करता है ? वनक ने कहा—'जब वह अभिमान के साथ हीन की शोक से
 मारने के लिये तैयार-बीठा उठावकाठा होकर बाप के सामने आया तो
 स्वामी समस्त आर्सेगे । यह कह कर वह मञ्जीवक के पास गया वहाँ पहुँच
 कर बीरे बीरे बहने हुए उसने अपने को कुछ शक्ति रूप में प्रवर्धित किया ।
 मञ्जीवक ने आश्चर्य के साथ कहा कि—'मद कुसल तो है न । वनक ने
 कहा—'देवको का कुसल कहाँ है ? क्योंकि—

सपत्नयः पराधीनाः सदा क्षिप्तमनिर्दुतम् ।

स्वञ्जीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राक्षसेवकाः ॥ १५२ ॥

अन्वयः—ये (नरा) राजसेवका सन्ति, तेषाम् (नराणाम्) सम्पत्तय परा-
धीना , चित्तम् सदा अनिवृत्तम्, स्वजीविते अपि अविश्वास (भवति) ॥१५२॥

सम्पत्तय = धनानि, पराधीना = राजाधीना , अनिवृत्तम्=सुखहीनम् ॥

राजसेवकों का धन सदा दूसरे के हाथ में होता है, चित्त चिन्ता में पड़ा
रहता है और उन्हें अपने जीवन का भी विश्वास नहीं होता है ॥ १५२ ॥

अन्यच्च—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः

स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रिय ।

कः कालस्य भुजान्तर न च गतः कोऽर्थो गतो गौरवं

को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५३ ॥

अन्वयः—क अर्थान् प्राप्य न गर्वित ? कस्य विषयिण आपद अस्तं
गता ? मुषि स्त्रीभि कस्य मन न खण्डितम् ? वा राज्ञाम् प्रिय क अस्ति ?
च क कालस्य भुजान्तरम् न गत ? क अर्थो गौरव गत ? दुर्जनवागुरासु
पतित क पुमान् क्षेमेण यात ? ॥ १५३ ॥

अर्थान्=धनानि, गर्वित = दर्पित , विषयिण = विषयासक्तस्य, आपदो=
विपदो नष्टा , विपत्तयो न भवन्ति, खण्डितम् = वशीकृतम्, कालस्य = मृत्यो
भुजान्तर गत = आलिङ्गित , कालेन मृत इति यावत्, अर्थो = याचक , गौरवम्
=महत्त्वम् दुर्जनवागुरासु = दुर्जनजालेषु, क्षेमेण यात =कुशली स्थित , न
कोऽपि हत्यर्थं ॥

और भी ऐसा कौन व्यक्ति है जो धन को पाकर अभिमानी न बने, ऐसा
कौन विषयी है जिसकी आपत्तियाँ दूर हुई हो, इस सप्तर में ऐसा कौन है
जिसका मन स्त्रियों से खण्डित न हुआ हो, कौन ऐसा है जो राजा को प्रिय हो,
कौन मृत्यु के हाथों नहीं पड़ा, किस भागने वाले ने बढप्पन प्राप्त किया, और
ऐसा कौन है, जो दुष्टों के जाल में फँसकर सुख से रहा हो ॥ १५३ ॥

सञ्जीवकेनोक्तम्—‘सखे, ब्रूहि किमेतत् ।’ दमनक आह—‘किं
ब्रवीमि मन्दभाग्यः । पश्य—

सजीवक ने कहा—‘मित्र, बताओ यह क्या है ?’ दमनक ने कहा—‘मैं
अभागा क्या बताऊँ ? देखो—

मज्जनपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।

न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति ॥ १५४ ॥

अन्वयाः—(यथा कश्चित्) पयोराक्षी मन्त्रं अपि सर्वाङ्गमन्त्रम् अन्वा
न मुञ्चति न न भारतो (मन्त्रम्) सम्पति तथा मन्त्रं अस्मि ॥ १५४ ॥

मन्त्रम् = बुद्धं मन्त्रे मन्त्रं (बुद्धता बुद्धा) पयोराक्षी = समुद्रे सर्वाङ्ग
अन्वयं अन्वा—सर्वं बुद्धीत्या मुञ्चति = त्यजति भारतो = वारयति मुञ्चति
मुञ्चः=मुञ्च ॥

बैठे समुद्र में बुद्धता बुद्धा मनुष्य सर्वा का सहाय वाकर न तो उसे छोड़ ही
पाठा है और न पकड़ ही पाठा है बैठे ही इस समय मैं भी किर्कटका विपुल
बन गया हूँ ॥ १५४ ॥

यथा—एकत्र राजविश्वासे मन्त्रयत्पन्थत्र बाल्यथा ।

किं करोमि क्व गच्छामि पतितो बुधसापरे ॥ १५५ ॥

अन्वयाः—एकत्र राजविश्वासे अन्वय बाल्यत्र तस्यति बुधसापरे पतित
किम् करोमि क्व गच्छामि ? ॥ १५५ ॥

एकत्र=एकस्मिन् भावे (एक तरफ) राजविश्वासे=गुणविश्वासे तस्यति=
विलस्यः भवति (अस्वासेऽपि बाल्यत्र) बाल्यत्र=अल्पः मन्त्ररूप इत्यर्थः ॥

कथञ्चि—एक ओर राजा का विश्वास गल्ट ही रहा है बुद्धी ओर कोई का
बिनाक का पहुँचा है । क्या करें कहीं जाऊँ ? मैं तो बुध के सागर में पड़
गया हूँ ॥ १५५ ॥

इत्युक्त्वा त्रीर्षे निःश्वस्योपविष्टः । सम्जीवको ब्रूते—‘मित्र,
तथापि सन्निस्तरं मनोगतमुच्यताम् । वमनकः सुनिभृतमाह—
‘यद्यपि राजविश्वासे न कथनीयस्तथापि मन्त्रान्स्मदीयप्रत्ययाद्वा
गतः । मया परकोटार्थिनाबर्षं तव हितमाच्येयम् । शृणु, जयं
स्वामी तवोपरि विरुतबुद्धी रहस्युक्त्याह—‘सम्जीवकमेव इत्या
स्वपरिवारं तर्पयामि । एतच्छ्रुत्वा सम्जीवकः परं विपादमगमत् ।
वमनकः पुनराह—अहं विपादेव । प्राप्तकाष्ठाफमशुद्धीयताम् ।
सम्जीवकः क्षणं विमूढयाह स्वगतम्—‘शुणु अशिवमुच्यते । किं
वा बुद्धगणैर्घृतं न वेत्येतद् व्यवहाराच्चिन्तु न शक्यते । यथा—

सन्निस्तरम् = विस्तरेण साहितम्, मनोगतम् = हृदयस्थं भावम्, सुनि
भृतम् = मूर्धं बुद्धम् अस्मदीयप्रत्ययात् = भावबोविश्वासात्, परकोटार्थिनाः=
स्वर्गान्निष्ठानुरेण हितम् = हितवचनम् आच्येयम् = कथनीयम् । विरुतबुद्धिः=
बुद्धबुद्धि रक्षति=एकान्तै । स्वपरिवारम् = अहमनो बन्धुवर्गम्, तर्पयामि=
तुष्टं करिष्यामि । परम्=अधिकम् विपादम् = वेपम् । अहं विपारेण = विपारं

मा कुव । प्राप्तकालकार्यम् = समयानुकूल कार्यम् । क्षणम्=क्षणमात्रम्, विमृश्य= विचार्य । सुष्ठु = समुचितम् । दुर्जनचेष्टितम् = दुष्टचेष्टा ॥

ऐसा कहकर लम्बी साँस खींचते हुए बैठ गया । सञ्जावक ने कहा—'फिर भी विस्तार के साथ अपने मन की सारी बातें बताओ ।' दमनक ने वही नभ्रता से कहा—'यद्यपि राजा के भेद की बात नहीं कहनी चाहिये, फिर भी आप हमारे विश्वास पर आए हैं । परलोक की अभिलाषा रखने वाला मैं आपके कल्याण की बात अवश्य बताऊँगा । सुनो, हमारे स्वामी इस पिगलक की नीयत आप के प्रति खराब हो गई है । उन्होंने एकान्त में कहा है कि—'सजीवक को ही मार कर अपने कुटुम्बियों को सतुष्ट करूँगा ।' यह सुनकर सजीवक बहुत दुखी हुआ । दमनक ने फिर कहा—'आप दुखी न हों । समय के अनुसार कार्य करे ।' सजीवक ने कुछ देर तक विचार करके मन ही मन कहा—'यह बहुत ठीक कह रहा है, अथवा यह दुष्टों की चाल है या नहीं, यह तो व्यवहार से नहीं समझा जा सकता है । क्योंकि—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा ।

कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५६ ॥

अन्वयः—प्रायेण नार्यं दुर्जनगम्या, राजा अपात्रभृत्, धनम् कृपणानुसारि च देव गिरिजलधिवर्षी भवति । (अस्य क्रियापदस्य पूर्वस्मिन् वाक्ये 'भवन्ति' इति वचनविपरिणामेनान्वय) ॥ १५६ ॥

दुर्जनगम्या=दुष्टभोग्या, नार्यं=स्त्रिय, अपात्रभृत्=कुपात्रपालक, कृपणानुसारि=कृपणजनगतम्, देव=मेघ, गिरिजलधिवर्षी=पवतसमुद्रयो वृष्टिकारक ॥

स्त्रियाँ प्रायः दुर्जनों के पास ही पहुँचती हैं, राजा दुष्टों ही का पालन करने वाला होता है, धन कजूसों के ही पास रहता है और बादल पहाड़ों पर तथा समुद्र में ही अधिक पानी बरसाते हैं ॥ १५६ ॥

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।

प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५७ ॥

अन्वयः—कश्चित् असज्जन आश्रयसौन्दर्यात् प्रमदालोचनन्यस्तम् मलीमसम् अञ्जनम् इव शोभाम् धत्ते ॥ १५७ ॥

आश्रयसौन्दर्यात्—आश्रयस्य = नृपादे, पक्षे नेत्रयोश्च, सौन्दर्यात् = सरल-स्वभावत्वात्, पक्षे लावण्यात्, धत्ते=धात्र्यति, शोभाम् = कान्तिम्, प्रमदालोचनन्यस्तम्=युवतिनेत्रापितम्, मलीमसम्=अतिशयेन मलिनम्, अञ्जनम्=कञ्जलम् ॥

जैसे स्त्रियों की आँख में लगा हुआ काला नी अञ्जन आँख के सहाने ही शोभा पाता है उसी प्रकार कनी कमी दुष्ट भी अच्छा सहारा पाकर सशोभित हो उठता है ॥ १५७ ॥

तत्र विधिस्त्योक्तम् । कथं किमिदमापतितम् । यतः—

इस प्रकार देर तक सोचकर हमने कहा—इतनी बड़ी विपत्ति कैसे आ
पडी । क्योंकि—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नाच्च तोषमायाति किमत्र चित्रम् ।

अर्थं स्वपूर्वप्रतिमाविशेषो यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

अन्वयः—प्रयत्नात् आराध्यमानः नृपतिः तोषम् च ज्ञाति नत्र चित्रं किम्
(वस्ति) ? नमम् तु अपूर्वं प्रतिमाविशेषः (वस्ति) यः सेव्यमानः अपि रिपुता-
मुपैति ॥ १५८ ॥

आराध्यमाणः=सेव्यमानः प्रयत्नात्=प्रयत्नसेव तोषमायाति=प्रसन्नो भवति
अपूर्वप्रतिमाविशेषः=आनन्ददृष्टमूर्तिविशेष रिपुताम्=अनुताम् नममात्मनः—सेव्य-
माना नत्वा देवादिप्रतिमा प्रसन्ना भवति किन्तु सेवनेऽपि अनुतया राजकीर्ण-
प्रतिमादृष्टपूर्वेति भावः ॥

अत्यन्त परिश्रम के साथ आराधना करने पर भी यदि राजा संतुष्ट नहीं
होता तो हमने आश्चर्य ही क्या है । यह उद्यमे एक विचित्र विशेषता है कि देवा
करने पर भी वह अनुता मायता है ॥ १५८ ॥

तत्पमहात्मनायः प्रमेयः । यतः—

तत्=तस्मात्कारणात्, सेवनेऽपि अनुतामहेतोः नमनार्थं = कर्तुमद्यत्न-
प्रमेयः = विषयः ॥

नम इस बात का अनुमान जमाना भी शक्ति से बाहर है । क्योंकि—

निमित्तमुद्दिश्य हि याः प्रकृष्यति

भ्रुवः स तस्यापगमे प्रसीदति ।

अकारणान्नेपि मनस्तु यस्य वै

कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ १५९ ॥

अन्वयः—हि याः निमित्तम् उद्दिश्य प्रकृष्यति सः तत्र अपगमे भ्रुवम्
प्रसीदति तु यस्य मनः अकारणान्नेपि (मनसि) नमः तम् कथम् परितोषयिष्यति ? ॥

निमित्तम्=कारणविशेषम् उद्दिश्य=अनिकल्प प्रकृष्यति=कृष्यति भ्रुवम्=
अपगमम्, तत्र=निमित्तस्य अपगमे=नाशे प्रसीदति = प्रसन्नो भवति अकारण-
ान्नेपि=कारणं विना हेतुमुक्तम्, परितोषयिष्यति=संतुष्टं करिष्यति न संतुष्टं
करिष्यति इत्यर्थः ॥

जो व्यक्ति किसी कारण से नाराज होता है, वह उस कारण के दूर हो जाने पर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जिसका मन अकारण ही शत्रु बन जाता है, उसे मला कोई कैसे सन्तुष्ट कर सकता है ॥ १५९ ॥

किं मयापकृतं राज्ञः । अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः ।' दमनको ब्रूते—'एवमेतत् । शृणु--

अपकृतम्=अपकार कृत , निर्निमित्तापकारिण =निष्कारणमपकारका ॥

मैंने राजा का क्या बिगाडा ? अथवा राजा लोग अकारण ही बुराई करने वाले होते हैं ।' दमनक ने कहा—'ऐसा ही है । सुनो—

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कैश्चित्

साक्षाद्द्वैरुपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति ।

चित्र चित्र किमथ चरितं नकभावाश्रयाणां

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १६० ॥

अन्वयः—कश्चित् विज्ञै स्निग्धै उपकृतम् अपि (अगणयित्वा) द्वेष्यताम् एति अन्यै साक्षात् अपकृतम् अपि (विस्मृत्य) प्रीतिम् एव उपयाति, अथ नैकभावाश्रयाणाम् चरितम् चित्रं चित्रम् (अस्ति), परमगहन सेवाधर्मं योगिनामप्यगम्य (भवति) ॥ १६० ॥

विज्ञै =चतुरै , स्निग्धै =स्नेहयुक्तै , उपकृतम्=उपकारम्, द्वेष्यतामेति=द्विष्यति, द्वेष करीति । साक्षात्=प्रत्यक्षम्, अपकृतम्=अपकारम्, चित्र चित्रम्=अतिशयेन विचित्रम्, सम्भ्रमे द्विषं चनम्, अथ = अथवा, नैकभावाश्रयाणाम्—अत्र 'नैकधे'त्यादिवत् 'न' शब्देन समास , न तु नञा, अन्यथाऽनेकभावाश्रयाणामित्येवमुच्येत=विविधभाववताम्, सेवाधर्मं=सेवनम्, परमगहन =अतिकठिन , योगिनाम्=अतीन्द्रियपदार्थानि प्रत्यक्ष कुर्वताम्, अगम्य =ज्ञातुमशक्य ॥

राजा बुद्धिमान तथा प्रेमी सेदक द्वारा उपकृत होने पर भी उससे शत्रुता करने लगता है और अन्य दूसरो द्वारा प्रत्यक्ष अपकार करने पर भी उससे प्रेम करता है, चञ्चल चित्तवालो के कार्य इसी प्रकार निश्चित होते हैं । इसीलिए सेवाधर्मं बहुत ही जटिल होता है, जिसका पार पाना योगियों के लिए भी कठिन है ॥ १६० ॥

अन्यच्च—कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमवुधेषु ।

वचनशतमवचनेषु बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ॥ १६१ ॥

अन्वयः—असत्सु कृतकतम् नष्टम् (भवति) अत्रुषैषु सुभाषितवतम्
नष्टम् (भवति) अत्रवचनकरे वचनवतम् च अत्रैतन्ने बुद्धिघटम् नष्टम् भवति ॥

कृतकतम् = इत्यां अतश्चङ्गयकोपकारा असत्सु = असत्प्रवनेषु सुभाषित
वतम् = अतश्चङ्गयकोपकारि सुभाषितानि अत्रुषैषु = अत्रुषु, वचनवतम् = अत्रानि
वचनानि अत्रवचनकरे—आज्ञाया वचनाकरो बुद्धिघटम्—घटं बुद्धयः अत्रैतन्ने—
त्रैतन्नेवाहीनं नष्टम् = निष्कृतम् । 'अतसहस्रसंख्यावसङ्गपवाचको' इति निवर्तयान
सर्वत्र 'अत'संख्यासंज्ञापवाचके प्रयोगो वाच्यः ॥

बीर जी—बुष्ट के प्रति किए गए ईकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मुझों के प्रति
कहे गए ईकड़ों उपदेश व्यर्थ हैं, बात न मानने वाले के प्रति कही गई ईकड़ों
बातें फिचूच हैं बीर ख्याली के प्रति ईकड़ों बुद्धि व्यर्थ ॥ १६१ ॥

किञ्च—अन्वयतस्सु मुञ्जङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च प्राहाः ।

शुभघातिनश्च मोघे जला न च सुखाम्यविष्णानि ॥ १६२ ॥

अन्वयः—अन्वयतस्सु मुञ्जङ्गा जलेषु कमलानि च तत्र प्राहा च मोघे
शुभघातिन जला (निवर्तन्ति यत् एव) सुखानि अविष्णानि न (तन्नि) ॥ १६२ ॥

मुञ्जङ्गा = सर्पा प्राहा = मकराद्यो बुद्धयश्चमन्तव्य मोघे = विवर्तयन्निर्गोचे
शुभघातन = शुभनाशका शुभवृत्तका इत्यर्थे जला = बुद्धा जाले सुखानि =
अर्थात् अर्थघटनसुखानि च इत्यमरः । अविष्णानि = निविष्णानि । न जलानि
सम्बन्धः ॥

बीर जी—वचन में ताँप लिपटा रहता है जब भी कमल के साथ बड़बुद्ध
भी होता है मोघो में शुभ को नाश करने वाले बुद्ध भी हैं । जल शुभ कष्टी
विष्णो से रहित होता ही नहीं है ॥ १६२ ॥

मूर्खं मुञ्जङ्गः कुसुमानि भृशैः

शाखाः प्लवङ्गैः शिखराभि मस्त्रैः ।

नास्त्यस्य तद्यन्मनपाद्पस्य

यथाधितं बुष्टतरैश्च द्विषैः ॥ १६३ ॥

अन्वयः—अन्वयतस्सु मूर्खं मुञ्जङ्गं कुसुमानि भृशं शाखा प्लवङ्गैः
शिखराभि मस्त्रैः (शाश्वतानि) च यन्मनपाद्पस्य तन् न अस्ति एव न
बुष्टतरैः च द्विषैः न धामिन् (वदि) ॥ १६३ ॥

मूलम्=अधोमागाश , भुजङ्गं =सर्प , कुसुमानि=पुष्पाणि , शृङ्गं =भ्रमरं , शाखा =लता , डाली, प्लवङ्गं =वानरं , सिखराणि=अग्रमागा , मल्लैः =मल्लुकैः , दुष्टतरं = अतिशयेन दुष्टं , हिलं = हिसकं । सर्वत्र सज्जनानां निकटे दुष्टा व सन्तीति, तत्र सज्जनस्थितिरसम्मवेति भाव ॥

चदन वृक्ष का ऐसा कोई भी अङ्ग नहीं जिसमे दुष्टो का निवास न हो । उसकी जड़ में साँप, फूलों में मीरे, डालियों पर बदर तथा चोटियों पर मालू निवास करते हैं ॥ १६३ ॥

अयं तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः । यतः—

स्वामी=पिङ्गलक , वाचि मधुर =मधुरभाषी, विषहृदय =विषवद्दुष्टहृदय ॥

यह स्वामी बात मे मधुर किन्तु हृदय से विष भरा हुआ प्रतीत होता है । क्योंकि—

दूरादुच्छ्रितपाणिराद्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो

गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः ।

अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः

को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥१६४॥

अन्वयः—(आगच्छन्त दृष्ट्वा) दूरात् उच्छ्रितपाणि आद्रंनयन प्रोत्सारिता र्धासन गाढालिङ्गनतत्पर प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादर , अन्तर्भूतविष बहि. मधुमय च अतीव मायापटु अयम् क अपूर्वनाटकविधि दुर्जनै शिक्षित नाम ? ॥१६४॥

दूरात्=दूरत आगच्छन्त विलोक्य, उच्छ्रितपाणि = (आह्वानाय) उग्रत-
कर. प्रोत्सारितार्धासन = (तदुपवेशनाय) त्यक्तार्धासनभाग , गाढालिङ्गन-
तत्पर =निर्भराऽऽश्लेषयोद्धत , प्रियकथाप्रश्नेषु=प्रियचर्चाधिसरेषु, दत्तादर =आदरेण
कथाया श्रोता, अन्तर्भूतविष = हृदि विषयुक्त , बहि = बाह्यप्रदेशे, मधुमय =
मधुरतापूर्ण , मायापटु =मायावी, अपूर्वनाटकविधि =अदृष्टपूर्वनाटकाभिनय ॥

आगत व्यक्ति का दूर ही से हाथ फैला कर स्वागत करना, आँखों मे प्रेमाश्रु भर लेना, अपना आधा आसन बैठने के लिए खाली कर देना, प्रगाढ आलिङ्गन के लिए तत्पर हो जाना, आदर के साथ मधुर बातचीत तथा कुशल प्रश्न करना, भीतर से विषमय किन्तु बाहर से मधुरता दिखाना आदि कपट से भरा हुआ नाटक का कितना विचित्र रूप है जो दुर्जनों द्वारा बराबर खेला जाता है ॥

तथाहि—पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे

निवर्तते ह्युद्वेगोऽपदान्धकरिणां दपोपशान्त्यै सृणिः ।

इत्थं तत्सुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायविन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे घातापि भग्नोद्यमः ॥ १९५ ॥

अन्वयः—दुस्तरवारिराचिठरत्ने पोतः अन्धकाराद्यमे वीपः विवर्ति
अचनम् महाअन्धकारिणाम् वयोपघातस्य सुवि (ब्रह्मणा रचिता) इत्थम् पुन
एत् न अस्ति यस्य उपायविन्ता विधिना न कृता (किन्तु) घाता एते
दुर्जनचित्तहरणे मन्मोघम कृत (इति) मन्ये ॥ १९५ ॥

दुस्तरवारिराचिठरत्ने—दुस्तरत्तमुद्रपारपमने पोतः = अन्धकारम् (बहुत्र)
अन्धकाराद्यमे = अन्धकारे जायते वीपः = वीपकः विवर्ति = बायोरन्ध
अचनम् = ताडनमुद्राधिकम् (पङ्क) महाअन्धकारिणाम् = महाअन्धकारिणाम्
वयोपघातस्य = वर्षणाद्याम् सुवि = ब्रह्मणः विधिना = ब्रह्मणा उपायविन्ता
प्रतीकारविन्ता मन्ये—अहं जानामि दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे—दुर्जनानाम्-मुद्राद्यम्
चित्तस्य-मनसः वृत्तिः-आपारः-दुष्टैस्त्वर्षं तस्माः हरणे विनाद्यमे मन्मो
घम = मन्मोघीयः ॥

वैशा कि—इह पृथ्वी पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं मिलता क्या विचार
ने न किया ही। उन्होंने बहरे समुद्र को पार करने के लिए बहुत संस्कार होने
पर वीपक हुआ व बच्चे वर पंखा मर है मतवाले हाकिमों को यह है रखने
के लिए बहुत आदि का तो निर्माण कर दिया किन्तु मैं ऐसा समझता हूँ कि
दुष्टों का हृदय-परिवर्तन करने में उनका भी बाइस टूट चुका है ॥ १९५ ॥

संजीवका पुनर्निःश्वस्य—‘कष्ट मोः, कथमहं तस्यमसक
सिद्धेन निपातयितव्यः। यताः—

निःश्वस्य=बाँधपातं बुद्धित्वा तस्यमसक = तुमबावक निपातयितव्य
हन्तव्यः ॥

संजीवक ने फिर हाँव लेकर कहा—‘मैं वृषभजीवी होकर भी क्या फिर
द्वारा मार ही शक्य था ?

ययोरेव समं चित्तं ययोरेव समं बलम् ।

तयोर्विपादो मन्तव्यो मोक्षमाधमयोः कथित् ॥ १९६ ॥

अन्वयः—ययो एव समं चित्तम् (बलम्) ययो एव बलम् इत्
(यवति) तयो (एव) विपादः मन्तव्यः (बलम्) यतमाधमयोः
(विपादः) कथित् व (मन्तव्यः बलम्) ॥ १९६ ॥

समम्=सुखम् चित्तम् = यत्नम्, विपादः = विरोधः, मन्तव्यः = माननीय
अथिण इति वाक्यं यतमाधमयोः = येहनीययोः कथित् = कथयित् ॥

जिनके घन मे समानता है अथवा जिनके बल भी समान हैं, उन्ही दोनों मे मिश्रता या शत्रुता होती है। बड़े और छोटे के बीच न तो मिश्रता ही होती है न शत्रुता ही ॥ १६६ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) केनाय राजा ममोपरि विकारितः न जाने ।

भेदमुपगताद्वाहः सदा भेतव्यम् । यतः—

विकारित = विकारयुक्त कृत , भेदमुपगतात् = दुर्मन्त्रणया मिश्रात् (फोड़े गये) ॥

फिर विचार करके—नही मालूम किसने इस राजा को मेरे विरुद्ध कर दिया ? फूटे हुए राजा से सर्वदा डरना चाहिए । क्योंकि—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।

वल्यं स्फटिकस्यैव को हि संघातुमीश्वरः ॥ १६७ ॥

अन्वयः—मन्त्रिणा क्वचित् विघटितम् पृथिवीपालचित्तम् स्फटिकस्य वलयम् इव क संघातुम् ईश्वर (अस्ति) ॥ १६७ ॥

मन्त्रिणा = यद्वा गुप्तमन्त्रणाकारकेन जनेन, पृथिवीपालचित्तम् = नृपतिमानसम्, विघटितम् = भिन्नं कृतम्, पक्षे स्फुटितम्, वलयम् = कङ्कणम्, स्फटिकस्य = स्फटिकमणे, संघातुम् = योजयितुम्, ईश्वर = समर्थ, केनापि स्फुटित स्फटिकमणिकङ्कणमिव मन्त्रणाकर्त्रा भिन्नं भूपतिचित्तं पुनर्योजयितुं कोऽपि समर्थो नास्तीत्याशय ॥

जैसे स्फटिक मणि से बने हुए ककण के टूट जाने पर उसे जोड़ नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन्त्री द्वारा तोड़े गये राजा के चित्त को फिर मिलाया नहीं जा सकता ॥ १६७ ॥

अन्यच्च—वज्रं च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम् ।

एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत्समन्ततः ॥ १६८ ॥

अन्वयः—वज्रम् च राजतेजश्च (एतत्) द्वयम् एव अतिभीषणम् (अस्ति, किन्तु) एकम् एकत्र पतति, अन्यत् समन्तत पतति ॥ १६८ ॥

वज्रम् = कुलिशम्, 'ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पवि ।' इत्यमर, राजतेज = नृपतितेज, द्वयम् = उभयम्, अतिभीषणम् = अतिशयेन भयङ्करम्, एकम् = वज्रम्, एकत्र = एकस्मिन् स्थाने, अन्यत् = राजतेज, समन्तत = समन्तात्, सर्वत्र इत्यर्थ ॥

और भी—वज्र और राजा का तेज दोनों ही बड़े भयंकर होते हैं, किन्तु इनमें से एक अर्थात् वज्र तो एक ही जगह गिरता है किन्तु दूसरा तो सब जगह गिरता है ॥ १६८ ॥

ततः संग्रामं मृत्युरेष परम् । इदानीं तदाद्यानुवर्तनमनुत्सम् ।
यतः—

ततः—तस्मात्कारणात् तदाद्यानुवर्तनम् = पिङ्गलकारेणातुस्मात्परवम् अनु-
वितम्—अवोप्यम् ॥

इसलिए कुछ में मरना ही मोह है । इस समय उत्तमी बाधा वाक्य करता
बतित नहीं है । क्योंकि—

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शम् इत्या सुखानि वा ।

अमावपि हि शूराणां शुभावेतौ सुखमी ॥ १९९ ॥

अन्वयः—वा मृतः स्वर्गम् प्राप्नोति वा अनुत्सम् इत्या सुखानि प्राप्नोति
हि शूराणाम् एतौ यत्रो अपि सुखी सुखमी (स्व.) ॥ १९९ ॥

मृतः—कुछे इतः । एतौ अपि = हाथपि शूराणाम् = वीर्याणाम्, सुखमी =
अतिशयम् सुखात् ॥

मोर वा तो कुछ में मर कर स्वर्ग जाता है जबवा धनु की मार कर कुछ
पता है । वीरों के वे शीर्षों गुण अत्यन्त सुखी होते हैं ॥ १९९ ॥

युद्धकाळव्यापम् ।

जब तो कुछ का समय है—

यथायुद्धे प्रथं मृत्युयुद्धे जीवितसंशयाः ।

तमेष काळं युद्धस्य प्रववन्ति मनीषिणः ॥ २०० ॥

अन्वयः—जब युद्धे प्रथम् मृत्युः (मवति) युद्धे जीवितसंशयः (अवति)
मनीषिणः युद्धस्य तम् एव कालम् प्रववन्ति ॥ २०० ॥

जुद्धे—युद्धाभावे प्रथम्—निश्चितम्, जीवितसंशयः = जीवने लम्बेई वर्त
इत्या वरतिशय वा जीवितशाया अवेत्, मनीषिणः = विद्वान् ॥

जब जहाँ न करने में मृत्यु निश्चित हो तथा कुछ में जीवने के प्रति शंके
हो, तब बुद्धिमान् लोग उसे ही युद्ध-काल कहते हैं ॥ २०० ॥

यतः—अयुद्धे हि यदा पश्येद्य किञ्चिद्विषयमारम्भम् ।

पुष्पमानस्तदा प्रायो भ्रियत रिपुणा सह ॥ २०१ ॥

अन्वयः—यदा यदा अयुद्धे अतःपश्च किञ्चित् रिपुम् न पश्येत्, तदा
रिपुणा सह युद्धमानः भ्रियते ॥ २०१ ॥

अयुद्धे = युद्धकरके हितम् = वरवाचम्, पुष्पमानः—पुद्धं कुर्वन्, प्रायः =
युद्धमान्, रिपुणा = शत्रुणा ॥

क्योकि—बुद्धिमान् जब न लहने मे कोई भी मलाई नहीं देखता तो वह शत्रु के साथ लड़ते हुए मर जाता है ॥ १७१ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मृते चापि सुराङ्गनाम् ।

क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे ॥ १७२ ॥

अन्वयः—(यदा योद्धा युद्धे) जये लक्ष्मीम्, मृतेन अपि सुराङ्गनाम् लभते, (यदा च) काया क्षणविध्वंसिन (एव मन्ति, तदा) रणे मरणे का चिन्ता (अस्ति) ? ॥ १७२ ॥

जये=विजये, लभते = प्राप्नोति, सुराङ्गनाम् = देवाङ्गनाम्, अप्सरस लभत इत्यर्थ, क्षणविध्वंसिन = क्षणमद्गुरा, काया = देहा ॥

जीतने पर लक्ष्मी प्राप्त करता है और मरने पर स्वर्ग में अप्सराएँ मिलती हैं। शरीर तो क्षण भर मे ही नष्ट हो जाने वाला है- फिर युद्ध में मरने की चिन्ता ही क्या ? ॥ १७२ ॥

एतच्चिन्तयित्वा संजीवक आह—‘भो मित्र, कथमसौ मां जिघासुर्जातव्यः । दमनको ब्रूते—‘यदासौ पिङ्गलकः समुन्नतलाङ्गूल उन्नतचरणो विवृतास्यत्वां पश्यति, तदा स्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि । यतः—

जिघांसु = हन्तुमिच्छु, जातव्य = बोद्धव्य । समुन्नतलाङ्गूल = उपरि कृतपुच्छ, उन्नतचरणः = उत्थापितपाद, विवृतास्य = व्याप्तानन (मुख बाया हुआ), स्वविक्रमम् = स्वसामर्थ्यम् ॥

यह सोचकर संजीवक ने कहा—‘मित्र यह कैसे मालूम होगा कि वह मुझे मार डालना चाहता है?’ दमनक ने कहा—जब पिङ्गलक पूँछ ऊँचा करके पैरों को उठाकर अपना मुँह खोले हुए तुम्हें देखे तो तुम्हें भी अपना बल दिखाना चाहिए । क्योकि—

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम् ।

निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मघने पदम् ॥ १७३ ॥

अन्वयः—निस्तेजा बलवान् अपि कस्य अभिभवास्पदम् न (भवति) ? पश्य, लोकैः भस्मघने निःशङ्कम् पदम् दीयते ॥ १७३ ॥

बलवान् = धूर, निस्तेजा = तेजोहीन, अभिभवास्पदम् = अनादरस्थानम्, लोकैः = जनैः, ‘लोकस्तु भुवने जने’ इत्यमर, भस्मघने = क्षारराशी ।

बलवान् होते हुए भी तेजहीन व्यक्ति अनादर के पात्र बन जाते हैं । देखो, राक्ष के डेर में लोग निहट होकर पैर रखते हैं ॥ १७३ ॥

किंतु धर्ममेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेद्य त्वं नाहम् ।
इत्युक्त्वा इमनकः करटकसमीप गतः करटकेनोक्तम्—
किं निष्पन्नम् ? इमनकेनोक्तम्—‘निष्पन्नोऽसावग्योग्यमेव’ ।

सुगुप्तम् = अतिगुप्तमात्रेण अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम् नो चेद्य = इत्युक्त्वा सुगुप्त-
मनुष्ठाते एति न त्वं नाहम् = त्वमहम् परिष्वाव । निष्पन्नम् = तिष्ठन् ।
बहो = अयम् अयोम्वभेदः = परस्परविरोधः ।

किंतु वह सभी छिपकर करता चाहिए । नहीं तो मैं तुम बहोमे और मैं ही । ऐसा कह कर इमनक करटक के समीप गया । करटक ने कहा—‘तुम क्या ? इमनक ने कहा—‘दोनों के बीच परस्पर घेद उत्पन्न कर दिया ।’

करटको ब्रूते—‘कोऽत्र संवेद्यः । यथा—
करटकने कहा—‘इसमें क्या सम्येद ! मनोकि—

बन्धु को नाम बुध्दार्ता कुप्यते को न याचितः ।

को न इप्यति वित्तेन कुहुरय को न परिहृतः ॥ १७४ ॥

अन्वयः—बुध्दार्ता कः बन्धु (बन्धि) ? याचितः (तम्) कः न
कुप्यते ? वित्तेन कः न इप्यति, कुहुरये कः न परिहृतः (अर्थात्) ? ॥ १७४ ॥

बन्धु = बन्धवः कुप्यते = कुप्यति याचितः = अन्वयितः यथावित्तमार्थं
याचित इप्यति = दर्श करोति कुहुरये = मुत्तितकर्त्तव्यि ॥

बुध्द का भाई क्यों होता है ? भाईने घर छोड़ क्यों नहीं होता ? घर के
कौन भाजिमान नहीं करता और बुध्द के कौन परिहृत नहीं होता ? ॥ १७४ ॥

अन्वयः—बुध्दार्ता क्रियते धूर्तः श्रीमान्भारमपिबुध्दये ।

किं नाम अलससर्गो कुबते नामवाद्ययत् ॥ १७५ ॥

अन्वयः—धूर्तः अलसविबुध्दये श्रीमान् बुध्दार्ता विदने अलससर्गं आध्यात्म-
यत् किम् न कुप्यते नाम ? ॥ १७५ ॥

धूर्तः = बुध्दार्ता धूर्तः = अलससर्गः, श्रीमान् = श्रीमान् बुध्दार्ताः अल-
ससर्गः = बुध्दार्ताः आध्यात्मयत्—आध्यात्म = स्वाध्यात्मसर्गं आध्यात्म-
यत् आध्यात्मि आध्यात्मि अस्वीकरोति इति आध्यात्म—अधि- तेन तुल्यमिति आध्या-
त्मयत् तेन तुल्यं इति अस्वीकरोति इति अस्वीकरोति ॥

और श्री—धूर्त अर्थात् अलस के लिए नहीं श्री श्री बुध्दार्ता क्या देने है ?
का अलस अधि के अलस क्या नहीं कर करता ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः । ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामासः । सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविध विकृताकारसिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रम चकार । ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः ।

असौ=सञ्जीवकः, पापाशय =दुराशय । तत = तस्मात्, सज्जीभूय = तन्मा-
रणाय सज्जो भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम् = उपरि कृतलाङ्गुलपादव्यानमुखम्, विकृता-
कारम् = दूषिताकृतिम्, योद्धु दूषितेनामनेन स्थितम्, स्वानुरूपम् = स्वानुकूलम्,
विक्रमम् = पराक्रमम् । व्यापादित = हत ॥

तव दमनक ने पिङ्गलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है ।
अत आप तैयार हो जायें । ऐसा कहकर उसने सिंह का वही रूप करा दिया,
जैसा उसने सजीवक को बताया था । सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के
बिगड़े रूप वाले सिंह को देखकर अपनी शक्ति के अनुसार बल दिखाया । इसके
बाद उन दोनों की लड़ाई में सञ्जीवक सिंह द्वारा मार डाला गया ।

अथ सजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव
तिष्ठति । ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम् । यतः—

व्यापाद्य =हत्वा, विश्रान्त =विशेषेण श्रान्त, सशोक =शोकयुक्त । दारुणम्=
क्रूरम् ॥

इसके बाद पिङ्गलक अपने सेवक सजीवक को मार कर उनके एव दुखी भाव
से बैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयंकर कार्य कर डाला ।
क्योंकि—

परैः समुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम् ।

धर्मातिक्रमतो राजा सिद्धो हस्तिवधादिव ॥ १७६ ॥

अन्वयः—राज्यम् परैः समुज्यते, धर्मातिक्रमत राजा हस्तिवधात् सिंह
इव स्वयम् पापस्य भाजनम् (भवति) ॥ १७६ ॥

परैः =अन्येजने, समुज्यते =भोग क्रियते, भाजनम् = पात्रम्, धर्मातिक्रमत
=धर्मोच्छ्रान्नात्, तथा सिंहेन हतस्य हस्तिनो मासमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिंहस्तु
हस्तिवधजन्यपापभाङ्मात्रं भवति, तथैव राज्यभोगकर्तार अमात्यादयः सन्ति
अधर्मेण राज्यपालने तु राजेश पापभागभवति, नान्य इत्यर्थः ॥

राजा धर्म का उल्लंघन करने के कारण स्वयं वैसे पाप का भागी बनता है
जैसे सिंह हाथी को मार कर, किन्तु राज्य का सुख-भोग तो दूसरे ही करे

किन्तु सर्वमेतद्वस्तुसमलुप्तताभ्यम् । नो शेष एव नाहम् ।
इत्युक्त्वा वसन्तकः करटकसमीपं गतः करटकेनोक्तम्—'किं
निष्पन्नम् ? वसन्तकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावभ्योभ्यमेवः' ।

सुपुत्रम्—अतिपुत्रभावेन वस्तुताभ्यम् = अर्थभ्यम् नो शेषे—अन्वयात् सुपुत्र-
मनपुत्रमेव सति न त्वं नाहम्—त्वमहम् परिभ्याव । निष्पन्नम् = तिष्ठम् ।
वसन्तकेनोक्तम्—परस्परविरोधः ।

किन्तु यह सभी शिवकर करवा बाहिए । नहीं तो न तुम बचोये बीर न मैं
ही । ऐसा कह कर वसन्तक करटक के समीप गया । करटक ने कहा—'क्या
किया ? वसन्तक ने कहा—'होनों के बीच परस्पर घेर डरान कर दिया ।

करटको ब्रूते—'कोऽत्र संवेहा । यतः—
करटको कहा—'इतमें क्या संवेह । क्यों—

वस्तुः को नाम दुष्टानां कुर्वते को न पश्चिता ।

को न इत्यति वित्तव कुर्वत्ये को न पश्चिता ॥ १७४ ॥

अन्वयः—दुष्टानां क वस्तु (अस्ति) ? पश्चितः (एत्) क न
कुर्वते ? वित्तव क न इत्यति कुर्वत्ये क न पश्चितः (मवति) ? ॥ १७४ ॥

वस्तु = वास्तव कुर्वते = इत्यति पश्चितः = अन्वयितः अनादिवातार्थ
पश्चित इत्यति—एव करोति कुर्वत्ये—दुस्सितकर्मणि ॥

दुष्ट का नाई कीज होता है ? पश्चिते पर कुछ कीज नहीं होता ? वन में
कोन अग्निमान नहीं करता बीर कुर्वते में कीज पश्चित नहीं होता ? ॥ १७४ ॥

अन्वयः—दुर्बुधः कियते वृत्तेः श्रीमान्नात्मविपुत्रये ।

किं नाम अक्षसंसर्गः कुर्वते नाभ्यवाशब्द ॥ १७५ ॥

अन्वयः—वृत्तेः अन्वयविपुत्रये श्रीमान् दुर्बुधः कियते अक्षसंसर्गः अन्वयवा-
शब्द किम् व कुर्वते नाम ? ॥ १७५ ॥

दुर्बुधः = दुराचारी वृत्तेः—अक्षसंसर्गः श्रीमान् = अन्वयान् गुणादि, अक्ष-
संसर्गः = दुर्बुधतत्त्वति अन्वयवाशब्द—अन्वयम् = स्वावसम्भर्त्त काष्ठादिभ्यम्,
अन्वयति—आश्रयति अन्वयकरोति इति अन्वयवाशब्द—अन्वि, तेन तुष्पमिति अन्वयवा-
शब्द तेन तुष्प कियते इति इति अन्वयवाशब्द ॥

बीर बी—वृत्ते अन्वय अन्वय के अक्ष वृत्ते की बी दुर्बुधारी क्या देने है ।
दुर्बुध का अक्ष अन्वि के अन्वय क्या नहीं कर सकता ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः । ततः सञ्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामासः । सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविध विकृताकारसिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रम चकार । ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः ।

असौ=सञ्जीवक, पापाशय =दुराशय । तत = तस्मात्, सञ्जीभूय = तन्मा-
रणाय सञ्जी भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम् = उपरि कृतलाङ्गुलपादध्यानमुखम्, विकृता-
कारम् = दूषिताकृतिम्, योद्धु दूषितेनामनेन स्थितम्, स्वानुरूपम् = स्वानुकूलम्,
विक्रमम् = पराक्रमम् । व्यापादित = हत ॥

तव दमनक ने पिङ्गलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है ।
अत आप तैयार हो जायें । ऐसा कहकर उसने सिंह का वही रूप करा दिया,
जैसा उसने सञ्जीवक को बताया था । सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के
विगडे रूप वाले सिंह को देखकर अपनी शक्ति के अनुसार बल दिखाया । इसके
बाद उन दोनों की लड़ाई में सञ्जीवक सिंह द्वारा मार डाला गया ।

अथ सञ्जीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव
तिष्ठति । ब्रूते च—'किं मया दारुण कर्म कृतम् । यतः—

व्यापाद्य=हत्वा, विश्रान्त =विशेषेण श्रान्त, सशोक =शोकयुक्त । दारुणम्=
क्रूरम् ॥

इसके बाद पिङ्गलक अपने सेवक सञ्जीवक को मार कर थके एव दुखी भाव
से बैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयंकर कार्य कर डाला ।
क्योंकि—

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम् ।

धर्मातिक्रमतो राजा सिद्धो हस्तिवधादिव ॥ १७६ ॥

अन्वयः—राज्यम् परैः संभुज्यते, धर्मातिक्रमत राजा हस्तिवधात् सिंह
इव स्वयम् पापस्य भाजनम् (भवति) ॥ १७६ ॥

परैः=अन्यजने, संभुज्यते=भोग क्रियते, भाजनम् = पात्रम्, धर्मातिक्रमत
=धर्मोद्ध्वानात्, तथा सिंहेन हतस्य हस्तिनो मांसमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिंहस्तु
हस्तिवधजन्यपापमाहमात्रं भवति, तथैव राज्यभोगकर्तार अमात्यादयः सन्ति
अधर्मेण राज्यपालने तु राजेऽत्र पापभाग्भवति, नान्य इत्यर्थं ॥

राजा धर्म का उल्लंघन करने के कारण स्वयं वैसे पाप का भागी बनता है
जैसे सिंह हाथी का मार कर, किन्तु राज्य का सुख-भोग तो दूसरे ही करते हैं ॥

अपरं च—मूर्ध्नेकदेशस्य गुणान्वितस्य

सूर्यस्य वा बुद्धिमत्तः प्रयाशाः ।

सूर्यप्रणाशा मरणं मृषाया

नद्यापि भूमिः सुखमा न सूर्याः ॥ १७७ ॥

अन्वया—गुणान्वितस्य मूर्ध्नेकदेशस्य वा बुद्धिमत्तः सूर्यस्य प्रणाशे मृत्युः प्रयासः मृषाया मरणम् (कथितं च) नद्या अपि भूमिः सुखमा (क्वचि) (नद्या) मृषा सुखमा (न भवति) ॥ १७७ ॥

गुणान्वितस्य=उत्तरेण मूर्ध्नेकदेशस्य=मूर्ध्नेकदेशस्य बुद्धिमत्तः=भूमिः प्रणाशे=विनाशे समुद्राग्ने इति शेषः मृषाया=शून्यमरणम् ॥

शोर मी—राज्य की उपजाऊ भूमि के किसी एक भाग तथा बुद्धिमान् शेरक के विनाश के बुद्धिमत् शेरक का विनाश राजा की मृत्यु के समान है । क्योंकि वह हुई भूमि तो पुनः सुखम हो सकती है लेकिन मद्य हुआ शेरक नहीं मिल सकता ॥ १७७ ॥

इयमको प्रते—‘स्वामिन् कोऽयं नूतनो म्यायो यदराति हरया संतापा क्रियते । तया शोचम्—

नूतनः=नवीन अरातिम्=यत्रुम् संतारः=शिक्ये=संतप्यते ॥

इयमको मे कहा—स्वामी वह कोन नई राजनीति है जो सब को मारकर दुखी हो रहे हैं । जैसा कि कहा भी है—

पिता या यदि या भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत् ।

प्राणच्छेदकरा राजा हस्तभ्या मृतिमिच्छता ॥ १७८ ॥

अन्वया—यदि पिता वा भ्राता वा यदि पुत्रो वा सुहृत् (यद्ये किन्तु) च प्राणच्छेदकरा (एवेति) मृतिम् इच्छता राजा हस्तभ्या (कथितं) ॥ १७८ ॥

प्राणच्छेदकरा=शासनात्मका इच्छता=कषया, मृतिम्=सम्पदम् ‘मृतिर्भूमिः सम्पत्तिः’ इति विश्व । इच्छता=अभिलषता ॥

यदि पिता माई पुत्र वा मित्र कोई भी राजा के शत्रुओं का धान करने वाला बन जाए तो कस्योप चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह उसे मार सके ॥ १७८ ॥

अपि च—समाधकामनस्यद्यो मेकाम्तकहयो मयेत् ।

नहि हस्तस्यमप्यग्नें समाधान् मसिर्तुं क्षमा ॥ १७९ ॥

अन्वयः—धर्मयं कामतत्त्वज्ञ (जन) एकान्तकषण न भवेत्, हि क्षमावान् (जन) हस्तस्पृग् अन्नम् अपि भक्षितु क्षम न (भवति) ॥ १७९ ॥

धर्मयं कामतत्त्वज्ञ — धर्मयं कामाना सारस्य ज्ञाता, एकान्तकषण = केवलं दयालु, हस्तस्पृग्=स्वकरस्वितम्, अन्नम्=मोज्यद्रव्यम्, क्षमावान्=क्षमाशील ॥

और भी—धर्म, अर्थ तथा काम के तत्त्वज्ञ को सर्वथा दयालु नहीं बनना चाहिए । क्योंकि अधिक क्षमाशील हाथ में रखा हुआ भी भोजन नहीं खा सकता ॥

किं च—क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।

अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८० ॥

अन्वयः—शत्रौ च मित्रे च क्षमा यतीनाम् एष भूषणम् (भवति); अपराधिषु सत्त्वेषु सा एष क्षमा नृपाणाम् दूषणम् (भवति) ॥ १८० ॥

क्षमा=क्षान्ति, 'क्षान्ति क्षमा तितिक्षा च' इत्यमर । यतीनाम्=श्रवणानाम्, सन्यासिनामित्यर्थं, भूषणम्=अलङ्कार । अपराधिषु = अपराधयुक्तेषु, सत्त्वेषु=जीवेषु, सा=क्षमा, दूषणम्=दोष ॥

और भी—शत्रु तथा मित्र को क्षमा करना योगियों का ही आभूषण है । किन्तु अपराधी प्राणियों को क्षमा करना राजा का दोष है ॥ १८० ॥

अपरं च—राज्यलोभाद् अहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १८१ ॥

अन्वयः—राज्यलोभात् अहंकारात् स्वामिन पदम् इच्छता तस्य तु एकं प्रायश्चित्तम् जीवोत्सर्गं (अस्ति), अपरम् न (अस्ति) ॥ १८१ ॥

राज्यलोभात्=राज्यतृष्णया, अहंकारात्=दुर्भात्, इच्छत = अभिलषतः, स्वामिन = प्रभो, पदम्=स्थानम्, 'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्षमाङ्गिवस्तुषु' इत्यमरः, प्रायश्चित्तम् = तारकम्, एकम् = केवलम्, जीवोत्सर्गं = प्राणत्याग, मृत्युरित्यर्थः, अपरम् = अन्यत् ॥

और भी—राज्य-लोभ अथवा अभिमान से स्वामी के पद की अभिलाषा करने वाले को मर जाना ही एकमात्र प्रायश्चित्त है ॥ १८१ ॥

अन्यच्च—राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी

स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः ।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिष्ठतः प्रमादी

स्याम्या इमे यत्र कृतं न वेत्ति ॥ १८२ ॥

अन्वयः—बुधी राधा सर्वज्ञी ब्राह्मणः च यत्रता की दुष्कर्तृ
सहायः प्रतीपः प्रेष्यः प्रमादी अधिष्ठतः (एते) च यः कृतम् च वेत्ति इमे
स्याम्या (सन्ति) ॥ १८२ ॥

बुधी—ब्रह्मणु राधा सर्वज्ञी—सर्वज्ञकः ब्रह्मणः—ब्रह्मणः बुष्कर्तृ = बुद्ध
सहायः सहायः—सहायकः प्रेष्यः—भूतः प्रतीपः—प्रतिकूलः प्रमादी—प्रमाद-
दुष्टः अधिष्ठतः—अधिकारी कृतम्—उपकारम् साधितं कार्यं वा ॥

बीर भी—ब्रह्मणु राधा सर्वज्ञी ब्राह्मणः स्वीरिणी की बुद्ध सहायक
प्रतिकूल येषकः भूक्त करणे वाके अधिकारी बीर उपकार न मानने वाले व्यक्ति
त्याम्य हैं ॥ १८२ ॥

विशेषतश्च—सत्यानुता च यत्रया प्रियवादिनी च

द्विधा ब्रह्मणुरपि भार्यपरा ब्रह्मणा ।

नित्यस्यया प्रचुररत्नधनमायमा च

वाराङ्गमेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८३ ॥

अन्वयः—नृपनीतिः सत्यानुता च यत्रया प्रियवादिनी च द्विधा ब्रह्मणु
अपि च भार्यपरा ब्रह्मणा च नित्यस्यया प्रचुररत्नधनमायमा वाराङ्गना इव
अनेकरूपा (भवति) ॥ १८३ ॥

सत्यानुता—इत्या ब्रह्मणा च यत्रया—कठिना प्रियवादिनी—मधुरवादिनी
द्विधा—द्वानुका ब्रह्मणु—कन्यावती भार्यपरा = वनसंप्रहृणयनया ब्रह्मणा—
धानवीरा वाराङ्गना—वेदना नृपनीतिः—राजनीतिः अनेकरूपा—विविधस्वरूपा ॥

विशेष करणे—कहीं मूठ कहीं धन तथा कहीं मधुर बीर कहीं कठोर बोलने
वाली कहीं द्विधक कहीं ब्रह्मणु कहीं स्त्री कहीं धानी कहीं मित्त खर्चीनी
बीर कहीं अस्वच्छिन्न धन बीरने वाली देखा के समान राजनीति भी अनेक रूपों
वाली होती है ॥ १८३ ॥

इति व्रतमन्त्रेण संतोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिद्धासने
समुपविष्टः । व्रतमकः प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजाः । शुभमस्तु
सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ।

इति—पूर्वोक्त (१८१-१८२ श्लोकोक्त) प्रकारेण स्वाम् = स्वकीयाम्
प्रकृतिम्—स्वभावम्, व्रतम = प्रातः स्वल्प इत्यर्थं प्रहृष्टमनाः = प्रहृतचित्त

विजयताम्—'विपराम्यां जे' इति विपूर्वकात् 'जि'धातोरात्मनेपदम् = विजयं करोतु, महाराज = श्रीमान् पिङ्गलक, शुभम्=कल्याणम्, सर्वजगताम्=सर्वलोकानाम्, मयासुखम्=सुखपूर्वकम्, अवस्थित =स्थितमात् ॥

इस प्रकार दमनक द्वारा समझाने पर पिङ्गलक स्वस्त्य होकर सिंहासन पर बैठा दमनक प्रसन्न होकर 'महाराज की जय हो, सारे संसार का कल्याण हो' ऐसा कहकर सुख के साथ बैठ गया ।

विष्णुशर्मावाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः । राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुतः । सुस्त्रिनी भूता वयम् ।' विष्णुशर्मा-
ब्रवीत्—'अपरमपीदमस्तु—

भवत्प्रसादात्=भवत कृपाया, सुस्त्रिनी = कल्याणिनी, भूता = जाता, वयम् = राजपुत्रा । अपरम् = अन्यत्, इदम् = वक्ष्यमाणम् ॥

विष्णुशर्मा ने कहा—'आप लोगों ने सुहृद्भेद सुन लिया न ।' राजकुमारों ने कहा—'आपकी कृपा से सुन लिया । हम सनी सुखी हुए ।' विष्णुशर्मा ने कहा—'तो उसके अतिरिक्त यह भी हो—

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये

खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरह ।

जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसंपत्तिवसतिः

कथारम्भे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ॥१८३॥

इति हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः

कथासंग्रहः समाप्तः ।

— ० —

अन्वयः—सुहृद्भेद तावत् भवताम् शत्रुनिलये भवतु, कालाकृष्ट खलः अहरह प्रलयम् उपसर्पतु, जन नित्यम् सकलसुखसम्पत्तिवसति भूयात्, इह रम्ये कथारम्भे बालो अपि सततम् रमताम् ॥ १८४ ॥

सुहृद्भेद = मित्रेषु परस्पर विरोध, भवताम् = युष्माकम्, शत्रुनिलये = रिपुभवने । कालाकृष्टः—कालेन = मृत्युना, आकृष्टः = वशीकृत, प्रलयम् = नाशम्, उपसर्पतु = गच्छतु अहरह = प्रतिदिनम्, मृत्युवशात् दृष्टो जन नश्यतु इति भावः । जन = लोक, सकलसुखसम्पत्तिवसति = सकलानाम् =

धर्मवाम् सुमानाम्—धर्मवान् 'धर्मताऽनुवादि च इत्यमरः समस्तीनाम् =
 समस्तान् बलति—आप्य लोटः, महा समस्तमुच्यते इत्यमरः बलति इत्यर्थः ।
 बभारभ्ये—बभारो इत्ये—रमणीये सत्तम्—महा बाल—सिगु बलि—किं
 पुनर्वदन्तु इत्यर्थः, रमताम्—रमन् कर्तुम् आनन्दन् इति लृक् ॥

मदुःखुवादि (२ १९) बर्षेऽथ निर्वर्षेकाद्यीने ।
 गृह्णन्तस्य सत्तयाया पूर्वा वाता 'मधिप्रमा ॥ १ ॥
 बलवा 'हृदबोधिन्वर्षादि हृदयेऽप्युच्यते' ।
 मन्त्रपूर्वापरो नित्यं विघ्ननाथ प्रसीदतु ॥ २ ॥

इति मिथोनाह 'हृदबोधिन्वर्षादि' इति द्वितीयोपदेशीयप्रकरणस्य
 गृह्णन्तस्य स्व संज्ञित आत्मा समाप्ता ॥
 ॥ ॐ तत्सत् विद्मार्धनमस्तु ॥



गृह्णन्तस्य आप लोपी के राशुर्षी के घर में ही काल के बड़ीमूत ही कुछ
 प्रतिबिम्ब लक्ष होते रहे आप नित्य लयी कुछ मन्त्रों के घर बर्षे लोट मेरे इह
 रमणीय बला के वाग्मन मे बल्ले ली रमन् करते रहे ॥ १८४ ॥

द्वितीयोपदेश मे गृह्णन्तस्य नाम का दूसरा कर्त्तव्यह समाप्त हुआ ।



श्लोकानुक्रमणिका

(सुहृद्भेदः)

	पृष्ठ०		पृष्ठ०
अगाङ्गिभावमज्ञात्वा	८७	अध्यापारेषु व्यापारं	१५
अक्षनस्य क्षयं दृष्ट्वा	६	अश्व शस्त्रं शास्त्रम्	३९
अतथ्यान्यपि तथ्यानि	६७	असेवके चानुरक्ति	३२
अतिव्ययोजनवेक्षा	५४	अहितहितविचारशून्यबुद्धे.	२५
अत्युच्छ्रिते मत्रिणि	७७	आकारैरिङ्गितैगत्या	२८
अथोऽथ पश्यत	२	आज्ञामङ्गो नरेन्द्राणाम्	४७
अनाहूतो विशेषस्तु	२९	आज्ञामङ्गकरान् राजा	५९
अनुचितकार्यारम्भः	८९	आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च	६५
अन्तर्दुष्ट क्षमायुक्त	५६	आदेयस्य प्रदेयस्य	८६
अपराधेऽपि नि शङ्को	५५	आपद्यन्मार्गगमने	३४
अपायसंदर्शनजा	३३	आराध्यमानो नृपति	९४
अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात्	८३	आरोध्यते शिलाशैले	२७
अप्राप्तकालवचनम्	३३	आलस्य स्त्रीसेवा	३
अप्रियाप्यपि कुर्वाण	८०	आश्रितानां भृतौ	१९
अप्रियस्यापि पथ्यस्य	८१	आसन्नमेव नृपति	३१
अवुर्ध्वैर्यलामाय	१३	आहारो द्विगुणः स्त्रीणाम्	७१
अयुद्धे हि यदा पश्येत्	१००	उदीरितोऽर्थः	२८
अरक्षित तिष्ठति	९	उपकर्ताधिकारस्य	५६
अलब्ध चैव लिप्सेत	४	उपाशुक्तीडितोऽमात्य	"
अल्पेच्छुषुंतिमान्प्राज्ञ	३०	उपायेन हि यच्छक्यम्	७१
अवज्ञानाद्वाज्ञो भवति	४०	एक भूमिपति करोति	७८
अव्यवसायिनमलसम्	३	एकत्र राजविश्वासी	९२

एनादकावकाउम्बम्	१३	दुष्कानि मोमुल्लानि	४९
एति एत्त वनोतिष्ठ	१०	मानदेगोविनीगानु	७४
कर्म नाम न मेध दे	१५	विदिवा दुदवा रावम्	१७
करविनावापि न	३९	दलाव विवर्तनदेन	३५
कतकम्बनमर्बहुवीविगा	३८	वानोवमोवर्तहना	९
कमगानुमीयवावा	५३	दुर्जमो मार्जर्ष वाति	८३
दुग्मदुर्धीघम्	४५	दुर्जनवम्मा मार्ज	९३
कगानु नाम वीतिष्ठा	७	दुर्जल विवर्षे पुर्ष	१०३
कलवनि देव बुति	३४	दुहापार्या वरुं लिम्	८३
कश्चिदाधममोन्दपानु	९३	दुदादेदव ह्रात्	३३
कालवायमनाद्यानाम्	३२	दुग्गुम्भुगगामि	९७
कि वार्धनं बुकाचारं	५३	दीपमोदीनोत्तम	३१
कि ज्ञानेनात्ममेव	३९	धमेन दि मो न वरापि	५
विमप्यदिन स्वभावेन	२९	धर्माधिकारतत्त्वम्	१४
कुन मेव विनीनानाम्	१५	न करवन्तिवस्त्रिम्	३६
दुर्जन्मनि ध्यवीकानि	८	न करवन्तपरायेन	८५
हृ वागमताम् नहय	१५	न लोपति कुलो लोके	७९
हा'निवार समर्पनाम्	७	नावाति प्रिबने	९
कोत्ते इविति दुपान्	३	नानिवेद्य प्रदुर्वीति	५३
को वन् प्रप्य न	९१	नामिनेको न लंकार-	१
हामा हानो व विवे व	१५	निवीडिद्य वमन्तुम्भी	५८
प्रिययावमनालाम्ब	५४	निवाप्यर्षवृहीषाय	५७
गुणवावावनिम्भित्य	८५	निमन्त्रस्व यपोराधी	९
गन्धमत्तम्बु पुत्रगा	१६	निमित्तकुहिस्व द्वि	९४
मन जनपदा मित्त्वम	४	निमुक्त, धमिबो इभ्ये	५५
जपे व समते लक्ष्मीम्	११	निरपेक्षो न वरुंल-	४४
जलद्विन्दुनिपातेन	५	निरस्ताह निरामन्त्रम्	४
जीविते ह्यप जीवन्ति	२१	निविद्येयी यवा राजा	३७
जन्मदेम्भो निपुम्भेम्भ-	५९	नृप कावावत्त-	८४

॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

५५५५

श्रीमन्नारायणपण्डितसगृहीतः

हितोपदेशः

(विग्रह-सन्धि-रूपात्मको भागः)

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार

पण्डित प्रद्युम्नपाण्डेयः



चौरवस्त्रा संस्कृत सीरीज आफिस, वासुणसी-१

१९८३

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रैस वाराणसी
संस्करण : अतुल्य दि. सं. १०७० (अग १९८२ ई०)
मूल्य रु० १०००

① Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8 Varanasi-221001 (India)
Phone : 63145

प्रधान अधिकारी

कल्याणदास अकादमी

पा० बा० नं० ११८

बीक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग) पाणवती-२२१००१

(भारत)

सम्पादकीय

‘विग्रह तथा सधि’ व्यावहारिक, लौकिक और राजनैतिक उपदेशों से पूर्ण छोटी-छोटी कथाओं से युक्त ‘हितोपदेश’ के अतिम दो अंश हैं जिनमें दो राजाओं में होने वाले युद्ध एवं संधि का पूर्णतः विवेचन किया गया है। ‘विग्रह’ में युद्ध के कारणों, उपकरणों, सैनिकों, नियमों तथा उसके औचित्य पर बड़े विस्तार के साथ छोटी-छोटी कहानियों का दृष्टान्त देकर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार ‘सधि’ में संधि की आवश्यकताओं, प्रसंगों, अधिकारियों और उसके ढंगों का विस्तृत विवेचन करके सभी प्रकार के संघर्षों को सधि द्वारा बचा लेने का उपदेश दिया गया है। मूल कथाओं के बीच में अवान्तर कथाओं द्वारा अनेक व्यावहारिक तथा लौकिक प्रसंगों को लाकर राजनीति को सामान्य जीवन के स्तर पर मनोरम बना देने की कला ही इस ‘हितोपदेश’ की अपनी अनोखी विशेषता है और इसी कारण जहाँ यह एक ओर राजनीति-विशारदों का पथ-प्रदर्शन करता है वहीं दूसरी ओर बालकों तथा साधारण लोगों को मनोरंजन की सामग्री भी प्रस्तुत करता है।



विग्रह

कथासार

मूलकथा

कर्पूर द्वीप में पद्मेति नाम का एक राजा था। उसने हिरण्यवर्ण नाम का राजहंस रखा था। वह सभी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया था। एक दिन एक बबुले ने जानकर उससे कहा कि हे राजन् बम्बू द्वीप में विष्णुप्रायस वर बलियों का राजा चित्रवर्ण मयूर रखा है। मैं शिष्ट समय ब्रह्मकारण्य में जमना कर रहा था उसी समय चित्रवर्ण के सेवकों ने मुझे यहाँ देखकर पूछा कि तुम कौन ही और यहाँ से आए हो। मैंने कहा कि मैं ब्रह्मवर्ती राजा राजहंस का सेवक हूँ और बेघारण करने आया हूँ। इस पर उन्होंने कहा कि इन लोगों से तो कौन बेश और किस बेश का राजा बनना है। मैंने कहा कि कर्पूर बेश स्वर्ण है और यहाँ का राजा बूसरा इन्द्र। मन्त्रा उस बेश और उस राजा के समान और कोई बेश और राजा ही भी सकता है। मेरी इस बात पर वे झुंझ ही गए, बात ही बात में मुझे मारने के लिए हाथे। तब मैंने भी ब्रह्मप्रयोग किया। इस पर राजहंस ने कई प्रकार से प्रमाण देते हुए बबुले से कहा कि बबु के ब्रह्मबल का पूर्वत ज्ञान ही बाले पर ही ब्रह्मप्रयोग संचित हीठा है। तब बबुले ने कहा कि राजन् मैं करता ही क्या। वे तब तो मुझे चौंको से मार-मार कर कुम्भी बनाने लगे। अन्त में वे सब मुझे पकड़ कर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए और उनका पैरा परिषय दिया। तब उनके मंत्री बुध ने मुझ से पूछा कि तुम्हारे बेश का मुख्य मन्त्री कौन है? मैंने कहा कि सर्वज्ञ नाम के ब्रह्मवाक है। इसी बीच यहाँ उपस्थित सुक ने कहा कि राजन् कर्पूर द्वीप जाति तो बम्बू द्वीप के अन्तर्गत ही है इसलिए यहाँ भी तो जान ही का स्वामित्व हीथा चाहिए। राजा ने कहा ही सकता है। तब मैंने कहा कि बेशक कहने ही से यदि स्वामित्व मिल जाय तो बम्बूद्वीप पर हमारे राजा का स्वामित्व है।

इस पर शुक ने कहा कि इसका निर्णय कैसे हो ? मैंने कहा कि युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा। इस पर राजा ने कहा कि जाकर तुम अपने राजा को युद्ध के लिए तैयार करो। मैंने कहा कि आप अपना दूत भी भेज दें। उन्होंने शुक को दूत बना कर भेजा है। वह जाता ही होगा। अब श्रीमान् जैसा उचित समझें वैसा करें।

यह सुन कर मंत्री चक्रवाक ने कहा कि राजन्, इस दुष्ट वगुले ने विदेश में जाकर अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध में फँसा दिया है। अकारण लड़ाई मोल लेना तो मूर्खता है। राजा ने कहा कि खैर। जो हुआ यो हुआ अब जो सामने है उम पर विचार करो। चक्रवाक ने कहा कि मन्त्रणा एकान्त ही में उचित है। तब राजा और मन्त्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूमरी जगह चले गए। चक्रवाक ने कहा—राजन्, मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य-कमचारी के उकसाने में ही वगुले ने ऐसा किया है। राजा ने कहा—जो हो, इन समय तो कर्तव्य का निश्चय करो। चक्रवाक ने कहा—पहिले गुप्तचर भेज कर शत्रु की अभिलाषा और बलाबल का ज्ञान प्राप्त कीजिए। राजा ने कहा कि हमें तो बहुत ही अच्छा गुप्तचर मिल गया है। इसी बीच द्वारपाल ने शुक के आने की सूचना दी। चक्रवाक ने कहा कि उसे अतिथिशाला में ठहरा दो। इसके बाद मन्त्री और राजा में बहुत देर तक युद्ध न करने और करने के विषय में विचार-विमर्श होता रहा। चक्रवाक ने कहा कि पहिले अपने किले को सुदृढ़ बनाना है तथा और भी तैयारियाँ करनी हैं इसलिये शुक को समझा बुझा कर अभी यहीं रोके रहना चाहिये। राजा ने मन्त्री से कहा कि ठीक है। जैसा उचित समझो वैसा करो। इसी बीच द्वारपाल ने कौबे के आने की सूचना दी। राजा ने उसकी चतुराई का वर्णन करते हुये उसको आश्रय देने का प्रस्ताव किया। यद्यपि मन्त्री ने शत्रु पक्ष होने के कारण उसे आश्रय देने का विरोध किया किन्तु राजा ने उस पर ध्यान न देकर उसे आश्रय दे ही दिया।

चक्रवाक ने आकर कहा कि राजन्, दुर्ग आदि सभी की व्यवस्था पूरी हो चुकी है अब अब शुक को बुला कर उससे बात हो जानी चाहिये। राजा ने समा में शुक को बुला भेजा। अभिमान से सिर उठाये हुये शुक ने आसन

पर बैठ कर कहा—द्विरम्बधर्म महाराजाधिराज चित्रवर्ध ने आपको आवेश दिया है कि यदि आज इसी तरह बुलन्द-गुर्बक रहना चाहते हैं तो आपका मुझे प्रणाम करें अन्यथा दूसरे स्वान में रहने की बात सोचें। यह सुन कर राजा ने शीघ्र के साथ उसे सामने से हटा देने का आदेश दिया। अज्ञात में समझा हुआ कर राजा को शान्त किया और उपहारों से रीकर पुत्र को बिरा कर दिया।

पुत्र ने लौट कर चित्रवर्ध की ज्ञान प्रकाश का लोभ दिखायी हुये पुत्र के लिये तैयार हो जान का आग्रह किया। चित्रवर्ध ने अपने सभी समासों को बुलाकर विचार किया। अतः मंत्री गुप्त ने समय और परिस्थितियों का वर्णन करते हुए पुत्र न करने का एक विचार प्रकट किया किन्तु चित्रवर्ध ने विस्तृत ध्यान न लेकर ज्योतिषी को बुला कर शुभ मुहूर्त निश्चित करा कर कपूर रेश पर चढ़ाई कर ली।

इसके पश्चात् प्रजापति बुधवार द्वारा भिजे गए हुए में जाकर द्विरम्बधर्म से कहा—राज्य अब चित्रवर्ध ज्ञान ही चाहते हैं। आप अपने पुत्र का हर सम्भव निरीक्षण परीक्षण कराते रहे क्योंकि आठवीं के प्रसंग में उसने मंत्री गुप्त से मुझे ऐसा संकेत मिला है कि उसने गुप्त रूप से किसी को आपके लिये में अविश्व कर दिया है। यह सुनकर मंत्री अज्ञात ने कहा—यह पुत्र हूँ तो ज्ञान ही हो सकता है? राजा ने कहा नहीं ऐसा नहीं हो सकता। अब तो बड़ा ही स्वामिपण्ड है। अब अब उपस्थित विषय पर विचार करो। चित्रवर्ध महक कोटी पर डेरा डाले पडा है अब क्या करना चाहिए। मंत्री अज्ञात ने कहा—

राज्य में हूँ तो मुझे ही गुना है कि चित्रवर्ध ने अपने मंत्री गुप्त के उपदेशों का विरस्कार कर दिया है अब वह बीठा या सचता है। इतकमें जब तक वह हमारे किले के द्वार की न केर से तब तक जबको लक्ष्मी और पहारो के पासतो मैं उसकी सेना का विनाश करने के लिये सारस बाहि सेनापतियों को निकुल कर बीजिये। अज्ञात की इस व्यवस्था से चित्रवर्ध के बहुत से सेनापति तथा सैनिक मार डाले गये। तब दुखी होकर चित्रवर्ध ने मंत्री गुप्त से कहा कि ठाठ। यह क्या हो रहा है? गुप्त ने कहा कि आपने अपनी सेना और उर्मद को अज्ञान केवल साहस का सहारा किया और मेरी कुछ नीतियों को

इसीलिये यह फल भोगना पडा है। चित्रवर्ण ने कहा कि जो हुआ सो हुआ किन्तु अब तो कोई उपाय कीजिए। गृध्र ने कहा राजन् आप डरें न, घैयें धारण करें और उपहारादि से सेनापतियो और सैनिकों को तुष्ट कर दें। गृध्र ने इस प्रकार सैनिकों और सेनापतियो को तुष्ट करके राजा हिरण्यगम के किले पर घेरा डाल दिया।

इसी बीच चित्रवर्ण के कपट दूत कौवे ने हिरण्यगम से कहा कि राजन् मैं अब अपना पीरूप दिखाना चाहता हूँ। चक्रवाक ने कहा कि किले के बाहर होकर युद्ध करना ठीक नहीं। किन्तु हिरण्यगम कौवे की बात में आकर सबकी साथ लेकर दुर्ग द्वार पर महान् युद्ध में सलभन हो गए। दूसरे दिन चित्रवर्ण ने कहा कि मंत्री अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मंत्री गृध्र ने कहा कि राजन्, आप शान्त रहें। सभी कुछ हो रहा है और उसने राजा के कान में कुछ कहा। दूसरे दिन सूर्य निकला भी नहीं था कि किले के चारों द्वारों पर भयकर युद्ध होने लगा। इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगा दी। तब शत्रुसेना का कोलाहल सुनकर और किले की आग देख कर राजहंस के सभी सैनिक शीघ्र ही तालाब में घुस गये। स्वभाव से धीरे-धीरे चलने वाला हिरण्यगम अपने सेनापति साग्म के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे के द्वारा घेर लिया गया और उस पर प्रहार कर दिया। किन्तु सारस ने स्वामी को जल में प्रविष्ट करा दिया और स्वयं मुर्गे से लड़ता हुआ मारा गया।

इसके पश्चात् चित्रवर्ण ससैन्य किले में प्रविष्ट हुआ और वहाँ की बची हुई सभी सामग्री लेकर पहाव पर लौट गया। इस प्रकार दूरदर्शी मंत्री चक्रवाक की बात न मान कर शत्रु के कपटदूत कौवे को आश्रय देने तथा किले में बाहर जाकर युद्ध करने के कारण राजहंस पराजित हो गया।

प्रासंगिक कथाएँ

१ वानर पक्षी कथा

नर्मदा के किनारे पहाड की तटहटी में एक सेमल का पेड था। वहाँ घोसले बनाकर बहुत से पक्षी रहते थे। एक दिन गहरी वर्षा से भीग कर काँपते हुए उसी पेड के नीचे बैठे हुए वानरों को देख कर पक्षियों ने कहा कि भाइयों

तूम लोग अपने क्रिये पर क्यों नहीं बना लेते ? इस पर सारे बन्दर झूठ हो पप और उन्हें सभी बीसलों को तह कर दिया ।

२ राजक गर्वम कथा

हस्तिनापुर में बिकास नाम का बोबी था । उसका पका बोट छोटी-छोटी पुबका ही पया था । इन्दिने बोबी ने उस बाघ के बमडे से डक कर बंगल क पास बैठ में छोड दिया । गबहा खा-पीकर तूम मोटा हो गया । उसे दूर से देख कर बाघ समझ कर खेत के साधिक भागने लगे । एक दिन एक खेत का एक बाका मटमका कम्मल मोड कर बनुर चढ़ाकर तथा शरीर को मुका कर एकाल में बैठ गया । उसे देख कर गबहा उसको भी गबहा समझ कर रेंवने गया और राजबाजे के द्वारा मार डाला गया ।

३ राजपूय साधक कथा

एक बार पानी न बरसने से सभी हाथी प्यास से व्याकुल हो स्वामी से निछी बकमड स्थान में ले चलने की प्रार्थना करने लगे । स्वामी ने उन्हें एक साकाव दिया बिना । वहाँ बहुत से खरयोड रहते थे जो हाथियों के पीरों लले कुचल कुचल कर मरने लगे । यह देख एक दिन बिजय नामक बूढ़े खरयोड ने हाथियों के स्वामी से जाकर कहा कि मेरे स्वामी खरयोड ने मुझे आपके नाम वह कहने के लिए बिना है कि खरयोडो का इस प्रकार बिनाश करना ठीक नहीं है । हाथियों के स्वामी ने कहा कि बड़ी भूख हुई जब हम खोप नहीं खावने । इसके बाद उसने खरयोड के साथ साकाव के निचारे जाकर खरयोड को प्रणाम दिया और माफी मांग ली ।

४ हंस काक-पथिक कथा

उज्जयिनी में पावड का एक बेट । । उस पर हंस और कौवा रहते थे । एक दिन एक राही के बर्मी से चकरक सभी देह के बीजे जाकर बनुर रख दिया और सो गया । कुछ देर बाद साका फट जाने से उसके मुँह पर कुच पड़ने लगी । तब हंस ने अपने बंकों को पीना कर उसके मुँह पर छाका कर दी । हंस राह में सोने ही से ब्यो ही मुँह घोला था ही कौवा उसमें बीड कर के डक गया और बेचारा हंस राही के द्वारा मार डाला गया ।

५ काक-वत्तक कथा

एक पेड़ पर कौवा और वत्तक साथ-साथ रहते थे। एक ग्वाला सिर पर दही का वर्तन रखे जा रहा था। कौवा बार बार दही खा लिया करता था। जब ग्वालने दही का वर्तन नीचे रखकर ऊपर देखा तो कौवा तो माग गया और वेचारा वत्तक पकड़ लिया गया और मार डाला गया।

६ रथकार कथा

श्रीनगर में एक बड़ई रहता था। वह अपनी पत्नी को कुलटा तो समझता था किन्तु उसने कभी उसे जार के साथ देखा नहीं था। एक दिन वह घर में चारपाई के नीचे छिप गया। जिस समय जार उसी चारपाई पर सोकर उसकी पत्नी के साथ सभोग करने लगा उस समय उस स्त्री का कोई अंग बड़ई से छू गया। वह यह जानकर उदाम हो गई। जार ने जब उसकी उदासी का कारण पूछा तो वह अपने पति की प्रशंसा और उसके वियोग में दुखी होने की बात कहने लगी जिसे सुनकर बड़ई प्रसन्न हो गया और चारपाई को सिर पर उठा कर नाचने लगा।

७ नीलवर्ण शृगाल कथा

एक गीदड़ नगर के किनारे घूमता हुआ नील के भाँड़ में गिर पड़ा। दूसरे दिन जब वह वन में गया तो अपने बदले हुए रंग को देखकर उसने गीदड़ों को बुलाकर कहा कि वनदेवियों ने अपने हाथ से मेरा रसोषधियों में अमिषेक किया है। गीदड़ों ने उसकी बात को सत्य मानकर उसे राजा मान लिया। धीरे-धीरे वह सभी जगली पशुओं का राजा बन गया। वह व्याघ्र, सिंह आदि उत्तम मेव्यों को पाकर अपनी जाति वालों का तिरस्कार करने लगा। इससे सभी दुखी गीदड़ों ने सध्या समय इकट्ठा होकर बोलना प्रारम्भ किया। उस शब्द को सुनकर जाति त्वमाद से वह भी बोलने लगा और वाघ के द्वारा मार डाला गया।

८ वीरवर कथा

एक दिन राजा शूद्रक के दरवार में वीरवर नाम के राजकुमार ने आकर प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा वेतन लेकर सेवा करने की प्रार्थना की। राजा ने मन्त्रियों के कहने से उसे सेवा में नियुक्त कर लिया। एक दिन राजा को सोते

समय रोने की शक्ति सुनाई बड़ी । उसने बीरवर को पता लगाते के लिए भेजा किन्तु स्वयं भी चुपचाप उसके पीछे चल पडा । बीरवर ने नगर के बाहर एक स्त्री को रोते हुए देखा जो सुराज की राज्यसखी थी । उसने बीरवर से कहा कि मैं का रही हूँ इसलिए रा रहीं हूँ । यदि तुम मुझे रोकना चाहते हो तो अपने पुत्र की बलि चढा दो । बीरवर चुपचाप अपने घर गया और वहाँ से पुत्र तथा स्त्री के साथ देवी के मंदिर में पहुँचा । वहाँ उसने अपने पुत्र की बलि दे दी । इसके बाद उसने अपना भी घिर काट दिया । पति और पुत्र को इस प्रकार मरु देखा उसकी स्त्री ने भी बैसा ही किया । राधा बहु सब छिपकर देखा रहा था । उसने भी अपना सिर काटने के लिए ज्यो ही लखवार हाथ में ली त्यों ही देवी ने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया और राज्यसखी के त्वर होने का वरदान देकर बीरवर को भी स्त्री-पुत्र के साथ जीवित कर दिया । राधा चुपके से अपने महल में चला आया और जब दूसरे दिन उसने बीरवर से पूछा तो उसने कहा कि एक स्त्री रो रही थी और मुझे बेलकर चुप ही गई । राधा बहुत प्रसन्न हुआ और समा करके उसमें सारी बातें कहकर बीरवर को रक्षात्मक देव का राधा बना दिया ।

१ निम्नर्था नामित कथा

अयोध्या में बुढामणि नाम का एक शत्रिय रहता था । उसने बल के लिए शर और भी बड़ी आराधना की । मरदान शंकर ने उसे स्वप्न में बर्चस देकर कहा कि आज प्रातःकाल बाघ चलवाकर तुम उडा डेकर अपने घरवाले पर बैठे रहना और जब कोई भिक्षुक तुम्हारे द्वार पर आए तो तुम डके से उठे पीटना जिससे वह भिक्षुक सोने का बड़ा बल प्राप्त करे । उस शत्रिय ने वैसा ही किया और भिक्षुक लोने का बड़ा बल गया । वहाँ बाघ चलाने के लिए गए हुए नाई ने जब वह देखा तो उसने भी दूसरे दिन अपने घर आए हुए भिक्षुक को डके से मार मारा और इस अन्याय में वह भी राजपुत्रों द्वारा मार डाला गया ।



सन्धि

कथासार

मूलकथा

राजा हिरण्यगर्भ ने अपने मंत्री से पूछा कि मेरे किले में आग किसने लगाई थी। मंत्री चक्रवाक ने कहा कि उसी अकारण बन्धु बने हुए कौबे ने, जिसे आपने मेरे मना करने पर भी आश्रय दिया था। राजा ने कहा कि यह हमारा दुर्भाग्य था जो आपकी बात हमने नहीं सुनी। इसी बीच गुप्तचर ने आकर कहा कि 'वह कौबा आग लगा कर चित्रवर्ण के पास गया और उसने सारी बात कह सुनाई तो चित्रवर्ण ने उसे कपूर द्वीप का राजा बना देने का प्रस्ताव किया। तब मंत्री गृध्र ने हटान्त देते हुए उसका विरोध किया और कहा कि राजा राजहंस से सधि कर लेनी चाहिये। इस पर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि आपने पहिले ही क्यों नहीं कहा। तब गृध्र ने कहा कि आपने मेरी बात ही कहाँ सुनी। मैं तो पहिले ही सधि के पक्ष में था। आपने ही अपने मद में आकर लड़ाई ठानी। फिर भी जो हुआ सो हुआ, अब भी आपको राजहंस जैसे राजा के साथ सधि कर लेनी चाहिये। किन्तु हे राजन्, मंत्री गृध्र के कहने पर भी प्राप्त विजय के अभिमान में चित्रवर्ण सधि नहीं करना चाहता इसलिए अपने मित्र सिंहलद्वीप के राजा सारस को उसके प्रति भड़का देना चाहिये।' राजा हिरण्यगर्भ ने उसकी बात मानकर विचित्र नामक वगुले को गुप्त पत्र के साथ सिंहलद्वीप भेज दिया।

इसके बाद गुप्तचर ने आकर फिर कहा कि राजन् इस समय शत्रु पक्ष में जो हो रहा है उसे सुनिये। राजा चित्रवर्ण ने जब कौबे से आपके विषय में पूछा तो उसने आप की बड़ी प्रशंसा की। इस पर मंत्री गृध्र ने फिर कहा कि राजन् राजा राजहंस से सधि कर लेनी चाहिये। इस पर चित्रवर्ण ने कहा कि यह कैसे हो सकता है? हम विजयी हैं और वह पराजित है। इसी बीच चित्रवर्ण

के सुतबर मुक ने आकर कहा कि महाबली शारदा ने बम्बूद्वीप पर बेटा माँ बना है। यह सुनते ही विजयवर्धन क्रुद्ध हो पया और उससे लड़ने के लिये जाने को तैयार हो गया। क्रुद्ध पर मंत्री गुप्त ने समझाया कि एक ही शाय प्रहृर करने वाले बहुत से सज्जनों के शाय राधा को कमी नहीं लगना चाहिये इसलिये यहाँ से किसी संधि लिये जाना उचित नहीं है क्योंकि यह पीछे से हम लोभों पर कायम कर देगा। इसलिये हम समय मीरी बात मानकर सौंप करके ही यहाँ से चलना ठीक होगा। इस पर राजा विजयवर्धन ने कहा कि जब यह कैस होगा? मंत्री गुप्त ने कहा—बहुत शीघ्र हो जायगा। राजा शिरष्यवर्धन अस्त्रिया और उषका मंत्री अहवाक गर्बज है जब वह दोनों आसानी से प्रसन्न हो जायेंगे। तब राजा विजयवर्धन ने कहा कि जैसा उचित समझो भसा ही करो।

दुमरे दिन फिर सुतबर ने आकर राजा शिरष्यवर्धन से कहा कि राजन् मणि करने के लिये महामन्त्री गुप्त जा रहे हैं। राजा शिरष्यवर्धन ने मंत्री अहवाक से कहा—मंत्री क्या इच्छा कोई रख्य है? यह सुन कर मंत्री ने कहा—राजन् करने की बात नहीं है। उसके सत्कार के लिये उपाधि उपहार सजा लेना चाहिये। ऐसा करके मंत्री अहवाक ने दुर्बहार पर आकर मंत्री गुप्त का सत्कार किया और उम्हें आदर के साथ राजा के पास लाकर आसन पर बिठाया। कुछ इधर-उधर की बातें होने के बाद गुप्त ने कहा कि मैं आप से सवि करके बड़ा से जाना जाता हूँ। तब मंत्री अहवाक ने कहा कि आप विग प्रहार की संधि करना चाहते हैं। गुप्त ने सभी प्रकार की संधियों का वर्णन करने हुए कहा कि मैंने सभी प्रकार की संधियों का बतला दिया किम प्रकार की संधि चाहें कर लें। अंत में वह विप्रय हुआ कि राज्याभिषेक मणि पर भी जाय।

तब अन्त में राजा शिरष्यवर्धन ने अस्त्रियादर से गुप्त को प्रसन्न किया। वह अहवाक से सब सत्कार करने राजा विजयवर्धन के पास गया। वहाँ राजा विजयवर्धन ने गुप्त तथा अहवाक द्वारा बतलाई गई संधियों की स्वीकार कर लिया और अहवाक को सब दिया। तब गुप्त ने जाने राजा विजयवर्धन ने कहा कि राजन् अब राजा की अभिषेक पूरी हो गई। जब हमें जाने देय को लड़ चलना है।

प्रासंगिक कथाएँ

१ कूर्मकथा

मगध देश में एक तालाब था वहाँ सकट-विषट नाम के हंस रहते थे । वही उनका मित्र कम्बुग्रीव कछुवा भी रहता था । एक दिन वहाँ कछुवों ने आकर कहा कि कल प्रातः काल मछलियों और कछुवों का शिकार किया जायगा । यह सुनकर कछुवे ने हंसों से कहा कि अब क्या करना चाहिए । उन्होंने कहा कि प्रातः काल देखा जायगा । कछुवे ने कहा कि यह ठीक नहीं है, मैं एक उपाय बताता हूँ । उसी सहारे तुम दोनों मुखे दूसरे तालाब में पहुँचो दो । मैं एक काठ अपने मुँह में दबा लूँगा और तुम दोनों उसे लेकर उड़ चलो । हंसों ने कहा कि बोलना मत नहीं तो गिर पडोगे । कछुवे ने कहा कि मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ । किन्तु जिस समय ये दोनों हंस एक नगर से उड़े जा रहे थे उस समय कछुवे को लटकता हुआ देखकर लोगो ने कोलाहल करना शुरू किया जिसे सुनकर कछुवा बोल पडा और जमीन पर गिर पडा ।

२ त्रिमत्स्य कथा

एक तालाब में तीन मछलियाँ रहती थीं । एक दिन मछुवों को वहाँ आया हुआ देख कर एक मछली ने कहा कि मैं तो अब दूसरे तालाब में जा रही हूँ । दूसरी ने कहा कि जब कोई बाघा होगी तो देखा जायगा । तीसरी ने कहा कि जो होगा वह होगा ही फिर डरने की क्या बात । प्रातः काल दूसरी और तीसरी मछलियाँ जाल में फँस गईं । दूसरी मछली ने तो अपने को मरा हुआ सा दिखाया जिससे मछुवे ने उसे फेंक दिया और वह कूद कर पानी में चली गई किन्तु तीसरी मछुवों द्वारा मार डाली गई ।

३ वणिग्भार्या कथा

शिविक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक वनिया था । उसकी स्त्री रतनप्रभा अपने सेवक के साथ भोग करती थी । एक बार वह सेवक को चुम्बन दे रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया । तब वह वनिये के पास जाकर बोली कि यह सेवक बपू चुराकर खाता है । मैंने इसका मुँह सूँघ कर देखा है । सेवक ने कहा कि जिस घर में ऐसी औरत हो वहाँ कोई सेवक कैसे रह सकता है । यह

कह कर वह चल पड़ा। तब बनिमे ने उसे किसी प्रकार मना कर लोटावा और वह फिर लुब्ध से रहने लगा।

४ एक मनुष्य कथा

एक पाकड़ के पेड़ पर बहुत से बपुल रहते थे। उस पेड़ के नीचे बिल में एक साँप रहता था। वह बपुलों के बड़ों को खा खाया करता था। वह देख कर एक बूढ़े बपुले ने कहा कि साँप के बिल से मेवलों के बिल तक मछलियाँ बिछेर दो जिससे निबन्धा आकर साँप को मार डालें। बपुलों ने वैसा ही किया जिससे मेवलों ने साँप को मार डाला किन्तु कुछ पर यह कर वह बपुलों के बच्चों को खाने लगा।

५ मूषक मुनि कथा

एक तपोवन में पीतम नाम के मुनि थे। उन्होंने कौले के मुँह से पिये हुए एक बूढ़े के बच्चे को पाया और उसे पाक-नीच कर बना दिया। जब वह बिल्ली से डरने लगा तो उसे मुनि ने बिल्ली बना दिया। फिर जब वह कुत्ते से डरने लगा तो उसे कुत्ता बना दिया और जब वह बाघ से डरने लगा तो उसे बाघ बना दिया। लेकिन मुनि उसे बूढ़ा ही समझते थे और दूसरे जोब भी उसके इस रूप परिवर्तन की चर्चा किया करते थे। इसलिए वह मुनि को मार डालने के लिए सपटा जिससे मुनि ने फिर उसे बूढ़ा बना दिया।

६ बक-कुकुट कथा

माकन देश के एक जाकाव के किनारे एक बगुआ बसास होकर बना था। एक बूढ़े केकड़े ने उसे देखकर पूछा कि बाप इस तरह खाना-पीना छोड़ कर यहाँ क्यों पड़े हैं? बपुले ने कहा कि मछलियाँ मेरा भोजन हैं और उन्हें मझुरे पकड़ के खाँसे इसीलिए मैंने बाघ ही से खाना-पीना छोड़ दिया है। मछलियों ने यह सुन कर कहा कि हमारी रखा कैसे हो सकती है। बपुले ने कहा कि मैं एक एक करके तुम जीवों को बूढ़े जाकाव में पहुँचा दूँगा। इस प्रकार वह एक-एक को ले जाकर खाने लगा। एक दिन उन्होंने केकड़े को खाना खाया कि उसने बपुले का पालन पकड़ लिया जिससे वह मर गया।

७ भग्नभाड ब्राह्मण कथा

देवकोट नगर मे देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण था । उसे सतुवा सक्रान्ति के दिन सतुवे से भरा एक घडा मिला । उसे लेकर वह कुम्हार के मडप मे सो गया जहाँ बहुत से वतन रहे हुए थे । ब्राह्मण हाथ मे एक डडा लेकर सोचने लगा कि इस सतुवे को बेचकर दश कौडी प्राप्त करूँगा, उससे घडा आदि खरीद बेच कर घन इकठठा करके फिर सुपारी वस्त्र आदि का व्यापार करके घनी बन जाऊँगा और चार स्त्रियो से विवाह करूँगा । जब वह क्षणभङ्गे लगेगी तो इसी डडे से माहूँगा । ऐसा कह कर उसने डडा चला दिया जिससे कुम्हार के बहुत मे वतन टूट गए जिसे देख कर कुम्हारने उसे अपने मडप से बाहर निकाल दिया ।

८ सुन्दोपसुन्द कथा

प्राचीन काल मे सुन्द उपसुन्द नाम के दो सगे भाइयो ने तीनों लोकों के राज्य की कामना से शकर जी की आराधना की । जब शकर जी ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा तो उन दोनो ने राज्य माँगने के बदले पार्वती को माँगा । शकर ने क्रुद्ध होकर पार्वती को दे दिया । लेकिन दोनो उन्हें अपना-अपना बनाने के लिए आपस में लड़ मरे ।

९ धूर्त एवं ब्राह्मण कथा

गौतमारण्य मे एक ब्राह्मण रहता था । वह यज्ञ करने के लिए एक बकरा कधे पर रखे लिए आ रहा था । रास्ते मे तीनो धूर्तों ने उसे देखा और बकरा किसी प्रकार ले-लेने का पड्यत्र किया । तीनो थोड़ी-थोड़ी दूर पर छडे हो गए । एक ने कहा कि ब्राह्मण देवता कुत्ता कधे पर रखे क्यों जा रहे हो । ब्राह्मण ने कहा यह कुत्ता नहीं यह तो यज्ञ का बकरा है । फिर थोड़ी दूर पर जाने पर दूसरे ने भी वही कहा तब ब्राह्मण ने बकरे को उतार कर भली भाँति देखा और फिर कधे पर रख कर चल दिया किंतु जब थोड़ी दूर जाने पर तीसरे ने भी उसे कुत्ता कहा तो ब्राह्मण ने उसे यहीं छोड दिया और स्वयं अपनी कुटी में चला गया ।

१०. सिंह-व्याघ्र-काक-जम्बुक कथा

एक जगल में एक सिंह था । उसके कौवा, बाघ और गीदड तीन सेवक थे । उन्होंने जगल में भटका हुआ एक उँट देखा और उसे सिंह के पास पहुँचा दिया । सिंह ने उसे अन्नदान देकर अपनी घरण में रख लिया । एक बार

सिंह बीमारी तथा सर्पों के कारण भोजन न मिलने से बड़ा दुःखी हो गया। एक पड़ोसी आपस में विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए कि बिड़से स्वामी डैट को मार डाले। इसने बाद सब सिंह के पास गये और सब ने कहा कि आप मुझे मार कर जा जायें फिर इसी प्रकार कीड़े और पीसक न भी बड़ा किन्तु सिंह ने किसी को नहीं मारा। एक डैट ने भी नहीं कहा। इस पर सब ने उसे मार डाला और सब ने खूब पेट भर मांस खाया।

११ घृष्ट सर्प मण्डूक कथा

एक पुराने बगीचे में मन्धविष नाम का एक सर्प रहता था। वह कुत्तों के कारण बाहर खोजने में अक्षम होकर ठाकास के विचारे गया था। उसे देख कर एक मैडक ने पूछा कि आप भोजन क्यों नहीं ढूँढते। सर्प ने कहा कि मैंने ब्राह्मण के एक ब्राह्मण के गौबसान बड़के को काट लिया और वह मर गया। उस पक्ष के पिता ने संन्यास ले लिया और मुझे मैडक बीने का साथ दिया इसी लिए मैं यहाँ मैडकी के लिए आया हूँ। मैडक ने जब अपने स्वामी से यह खर्चा की तो वह सर्प की पीठ पर बड़ गया लेकिन जब दूसरे दिन उसने सर्प से पूछा कि तुम जब क्यों नहीं जा रहे हो तो उसने कहा कि भोजन न मिलने से मेरी यह बधा हो गई है। उस मैडके के स्वामी ने मरे मैडको को खाने का आदेश दे दिया। जब सारे मैडक खपत हो गए तो उसने मैडके के स्वामी को भी खा डाला।

१२ ब्राह्मण-मकुड़ कथा

उज्जयिनी में माधव नामका एक ब्राह्मण था। एक दिन उसकी पत्नी जपन बन्ने को ब्राह्मण को सोप कर स्नान करने गई। इसी बीच राधा ने ब्राह्मण को धाँस कराने के लिए बुद्धा सेवा ब्राह्मण ने अपने पाकपु मैडके को ब्राह्मण की रसवाही के लिए त्रिभुक्त कर दिया और स्वर्ण राधा के बहाँ गया पका। ब्राह्मण के पास जाने वाले सर्प को मैडके ने मार डाला और ब्राह्मण को बड़ा रोप बन भर मुँह से उसने वास पहुँचा ब्राह्मण ने समझा कि इसने बड़के को ही खा लिया है जिससे उसने मुँह होकर मैडक की मार बालन। लेकिन जब उसने घर में आकर ब्राह्मण को सोया देखा तो वह अपने ज्ञान पर परमात्मा करने लगा।



॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

सान्वय 'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

— ० —

विग्रहः

अथ पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! राजपुत्रा वयम् । तद्विग्रहं श्रोतु नः कुतूहलमस्ति ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'यदेवं भवद्भयो रोचते तत् कथयामि । विग्रहः श्रूयतां, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

कथारम्भकाले=कथाप्रारम्भसमये । राजपुत्रा=राजकुमारा । ऊचुः=उक्त-
वन्त । विग्रहम्=युद्धम् । श्रोतुम्=आकर्णयितुम् । न=अस्माकम् । कुतूहलम्=
औत्सुक्यम् । श्रूयताम्=आकर्णयताम् । यस्य = विग्रहप्रसंगस्य । आद्य = प्रथम ।
श्लोक = पद्यम् ।

फिर कथा आरम्भ होने के समय राजकुमारो ने कहा—आर्य ! हमलोग
राजकुमार हैं, अतः हमलोगो में विग्रह (युद्ध) सुनने की उत्सुकता हो रही है ।
विष्णुशर्मणो ने कहा—'यदि आपलोगों की ऐसी रुचि है तो कह रहा हूँ । 'विग्रह'
सुनिए, जिसका पहला श्लोक यह है—

'हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।

विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वारिमन्दिरे' ॥१॥

अन्वयः—हंसैः सह मयूराणाम् तुल्यविक्रमे विग्रहे अरिमन्दिरे स्थित्वा
(हसान्) विश्वास्य काकैः हंसाः वञ्चिता ॥ १ ॥

हंसैः=मरालैः । सह=साकम् । मयूराणाम्=बहिणां । तुल्यविक्रमे=समानबले ।
विग्रहे=युद्धे । अरिमन्दिरे=शत्रुगृहे, हंसमवने इत्यर्थं । स्थित्वा=निवासम् कृत्वा ।
विश्वास्य=विश्वास विधाय । काकैः=वायसैः । वञ्चिता=प्रवञ्चनां प्रापिता ॥१॥

समान बलवाले हंसों के साथ मोरों के युद्ध में कौबो ने शत्रु (हंसों) के घर
में रहकर और उन्हें विश्वास दिलाकर घोखा दे दिया अर्थात् उन्हें पराजित
कर दिया ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? विष्णुशर्मा कथयति—

‘नस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मदंष्ट्रिनामधेयं सरः । तत्र द्विरण्यगर्भो नाम
राजहंसः प्रतिपद्यति । स य सर्वजंघसरैः पक्षिमिर्मलित्वा
पक्षिराज्येऽभिपिच्छः । यतः—

कर्पूरद्वीपे—उपनामकर्पूरद्वीपे । पद्येतिनामधेयम्—पद्योक्तिनाम । सरः—वाहाटः ।
तत्र—तस्मिन् सरसि । राजहंस—हंसानां राजा । प्रतिपद्यति—विषद्यति । सर्वे—
समये । कर्पूरपक्षिमि—कर्मचारिमि—पक्षी । पक्षिराज्ये—पक्षिणां राज्यपदे ।
न मलितः—प्रतिष्ठापितः ।

राजकुमारो मे कथा—‘बहू कथे’ । विष्णुशर्मो मे कथा—

कर्पूरद्वीप मे पद्येति नाम सा एक वाक्याव है, वहाँ द्विरण्यगर्भनाम का
राजहंस रहता था । वह सभी कर्मचारी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया था ।
कथोक्ति—

‘यस्मि न स्यात्सरपतिः सम्पद्यमेता ततः प्रजा ।

अकर्मकारा अक्षयी विष्णवेतेह नौरिस’ ॥ १ ॥

अन्वयः—यदि सम्पद्य मेता नरपति ब रवात्, ततः प्रजा अक्षयी अकर्म-
कारा नो इव इह विष्णवेत् ॥ १ ॥

यस्मि—येत् । सम्पद्य—उत्सर्गपरीण । मेता—अक्षयी । रजक—इत्यर्थः । नरपति
पति नरपति—राजा । ततः—तदा । प्रजा—लोकः । अक्षयी—अक्षयः । न अकर्मकार-
वस्था सा अकर्मकारा—अनादिका । नो—तरणि । इव—इवम् । इह—
अस्मिन् । विष्णवेन—विष्णवेत्, बिनवत् ॥ १ ॥

यदि कोई राजा प्रजा का अक्षय मेता न हो तो प्रजा उठी प्रकार बुद्धों मे
इव जाती है जैसे किना मज्जात की बाब समुद्र मे डूब जाती है ॥ १ ॥

अपरच्छ—प्रजां सरसति नृपाः सा दर्शयति पार्थिवम् ।

दर्शनाद्दर्शनं शेषस्तादभावे सत्प्यसत् ॥ २ ॥

अन्वयः—नृप प्रजाम् सरसति सा पार्थिवम् दर्शयति (किन्तु) दर्शनात्
रजसम् शेष (यत्) त्वभावे सत् अवि असत् (अस्ति) ॥ २ ॥

नृप—राजा । प्रजाम्—लोकम् । सरसति—रजसाम् करोति । सा—यथा ।
न कर्मम्—नृपम् । दर्शयति—करवावाकिना अक्षयान्वयम् करोति । दर्शनात्—
२१ ५५५ । यजन्—पापम् । शेष—शेषम् । तदभावे—रजसभावे ।

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा (घन धान्य से) राजा को समृद्धिशाली बनाती है । किन्तु किसी वस्तु को बढ़ाने से उसकी रक्षा करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि रक्षाके अभाव में विद्यमान वस्तु भी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

एकदासौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यके सुखासीनः परिचारपरिवृतस्तिष्ठति । ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम वकः प्रणम्योपविष्टः । राजोवाच—‘दीर्घमुख ! दशान्तरादागतोऽसि, वार्त्ता कथय ।’ स ब्रूते—‘देव ! अस्ति महती वार्त्ता । तामाख्यातुकाम एव सत्त्वरमागतोऽहम् । श्रूयताम्—

एकदा=एकस्मिन्काले । सुविस्तीर्णम्=अतिप्रफुल्लितम् यत् कमलम् = नीरजम् तदेव पर्यङ्क =शय्या तस्मिन् । सुखेन=आनन्देन आसीन =अधिष्ठित । परिवारेण=स्वजनवर्गेण । परिवृत =परिवेष्टित । तिष्ठति=स्थित अस्ति । कुतश्चिद्देशात्=कुतोऽपि विषयात् । प्रणम्य=नमस्कारं कृत्वा । उपविष्ट = आसनस्यो बभूव । दशान्तरात्=अन्यदेशात् । आगतोऽसि=आयातोऽसि । ब्रूते=उवाच । महती वार्त्ता=नेतान्तगुर्वी वार्त्ता । ताम्=वार्ताम् । आख्यातुकाम =वक्तुकाम । सत्त्वरम्=शीघ्रम् ।

एक बार वह राजहंस कमलो को विस्तृत शय्या पर आनन्द से बैठा हुआ था कि उसी समय किसी अन्य देश से आकर एक बगुला प्रणाम करके बैठ गया । राजाने कहा—‘दीर्घमुख, तुम दूसरे देश में आ रहे हो । अब वहाँ की बातें बनावो ।’ उसने कहा—‘राजन् बहुत बड़ी बात है । उसी को सुनाने के लिए ही मैं शीघ्रता से आया हूँ । सुनिए—

‘अस्ति जम्बूद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति । तस्यानुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धारण्यमध्ये चरन्नवलोकितः, पृष्टश्च—‘कस्त्वम् ? कुतः समागतोऽसि ?’ तदा मयोक्तम्—कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्त्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहं, कौतुकाद् देशाऽन्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि । एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्—‘अनयोदेशयोः को देशो भद्रतरो, राजा च ?’ ।

गिरि =पर्वत । अनुचरै =सेवक । चरद्भिः =भ्रमद्भिः । दग्धारण्यमध्ये=दग्धनामककान्तान्तरे । चरन्=भ्रमन् । अवलोकित =दृष्ट । कुत=कस्मात् स्थानात् । समागतोऽसि =समायातोऽसि । राजचक्रवर्त्तिन =महलेश्वरस्य । अनुचर =सेवक । कौतुकात्=ओत्सुक्यात् । द्रष्टुम्=अवलोकनायम् । एतत् श्रुत्वा=मद्वचनमाकर्ण्य । अनयोदेशयोः=अनयो द्वयो देशयो मध्ये । भद्रतर =श्रेष्ठतर ।

बम्बूद्वीप में विष्णु नाम का पहाड़ है। वहाँ पक्षियों का राजा विचरवर्ष नाम काका मोर रहता है। मैं बम्बारण्य में भ्रमण कर रहा था कि वहाँ के भूमने वाले सैबक पक्षियों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो? और कहाँ से आए हो?' तब मैंने कहा—'मैं कर्पूर द्वीपके राजवर्ती राजा राजहंस हिरण्यवर्ष का सैबक हूँ। कुतूहलवश बम्बरेष्टी को देखने के लिए आया हूँ। यह सुनकर उन पक्षियों ने कहा—'एत शोभो देष्टो मे शोब देष्ट बीर कीर्त राया बम्बम् ।

ततो मयोक्तम्—'आ किमेयमुच्यते महदन्तरम् । एता कर्पूर द्वीपा स्वरा पथ, राजहंसस्य द्वितीया स्वर्गपतिः, कथं बन्धयितुं शक्यते । अत्र मरुस्थले पतिता सूर्य किं कुक्ष्य अस्मद्देशे गम्यताम् । ततोऽश्मद्भवनमाकण्य सर्वे पक्षिणाः सकोपा वसूङ्गः । तथा बोक्तुम्—

किम्=कथम् । एवम्=एतेन प्रकारेण । उच्यते=ब्रूयते । महदन्तरम्=महद्विष्णुम् । द्वितीयं=द्वयम् । स्वर्गपाठ = इन्द्र । कथं=कथं प्रकारेण । वर्षं विष्णुम्=कथयितुम् । धनयने=पार्यते । अत्र मरुस्थले=अस्मिन् वायुकामने प्राप्ते नीरसे देष्टे इत्यर्थम् । सकोपा = सकोपा ।

मैंने कहा क्या ऐसा कह रहे हो। बहुत अन्तर है। कर्पूर देश स्वर्ग है और राजहंस वृक्षरे इन्द्र हैं। इस मरुभूमि में पड़े हुए तुम लोप क्या कर रहे हो। हमारे देश में जला। तब मेरी बातें सुनकर सभी कुछ ही गए। मैंने कि कहा भी है—

'पयंपाम भुङ्गद्द्वानां केवलं विपयसंनम् ।

उपदेशो हि मूर्खानां प्रकोपाय न शान्तये ॥ ४ ॥

अन्वयः—भुङ्गद्द्वानाम् पयं जलम् केवलम् विपयवर्षम् (एव यथा घबति त्वैव) मूर्खानाम् उपदेशः इह प्रकोपाय (एव जलम्) न शान्तये (भवति) ॥ ४ ॥

भुङ्गद्द्वानाम्=उपदेशम् । पयं जलम्=पुष्पजलम् । विपयवर्षम्=विचरवर्षः कथं यम् । मूर्खानाम्=मूर्खानाम् । उपदेशः=विद्या । प्रकोपाय=कोपोत्पत्त्यै ॥४॥

जैसे ताँपा को बूझ दिखाना केवल जलके विषय हो बचाना ही है उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देना शोक का बढ़ाना है न कि शान्त करना ॥ ४ ॥

अन्वयः—'विद्यानबोधोपदेशस्यो, नाविद्यास्तु कदाचन ।

वानराणुपदिश्याऽथ स्वानभ्रष्टा ययुः जगात् ॥ ५ ॥

राजोपाय- 'कथमेतत्' ? दीर्घमुखा कथयति—

अन्वयः—विद्वान् एव उपदेष्टव्य, अविद्वान् तु कदाचन न (उपदेष्टव्य) ।

अथ खगा वानरान् उपदिश्य स्यानभ्रष्टा ययु ॥ ५ ॥

विद्वान्=प्राज्ञ । एव । उपदेष्टव्य.=उपदेशयोग्य । अविद्वान्=अज्ञ । तु ।
कदाचन=कदापि । न । खगा =पक्षिण । वानरान्=कपोन् । उपदिश्य=उपदेश
कृत्वा । स्यानभ्रष्टा.=गृहरहिता । ययु =जम्बु' ॥ ५ ॥

और भी ममक्षदार को ही उपदेश देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी उपदेश
नहीं देना चाहिए । पक्षियों ने वानरो को उपदेश दिया जिससे उन्हें वेधरवार
का होना पडा ॥ ५ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे ?' दीर्घमुचने कहा—

कथा ?

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शालमलीतरुः । तत्र
निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति । अथैकदा वर्षासु नील-
चटैरिव जलधरपटलैरावृते नमस्तले, धारासारैर्महती वृष्टि-
र्चभूव । ततो वानराश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्छीताकुलान्कम्पमाना-
नवलोक्य, कृपया पक्षिमिरुक्तम्—'भो भो वानराः ! शृणुत—

नर्मदातीरे=नर्मदायास्तटे । पर्वतोपत्यकायाम् = अवलासन्नमूम्याम् (तराई
में) । विशाल = महान् । शालमलीवृक्ष = शालमलीतरु (सेमल का पेड) ।
निर्मितनीडक्रोडे=रचितकुलायोत्तमगे (घोंसले में) । सुखेन=आनन्देन । निवसन्ति=
निवासं कुवन्ति । एकदा=एकस्मिन् काले । वर्षासु=वर्षाकाले 'प्रावृषि' । जलधर-
पटलै =मेघवृन्दै । आवृते=आच्छादिते । नमस्तले=आकाशतले । धारासारैः=
सवेगवातवर्षै । महती वृष्टि =अत्यंतजलपात । तरुतले=वृक्षतले । अवस्थितान्=
स्थितान् । शीतेन=शीत्येन । आकुलान्=अग्रान् । कम्पमानान्=कम्पन कुर्वाणान् ।
वानरान्=मर्कटान् । अवलोक्य=दृष्ट्वा । कृपया = करुणया । पक्षिमि = खगैः ।
उक्तम् = कथितम् ।

नर्मदा के किनारे पहाड की तलहटी में सेमल का एक बहुत बडा पेड है ।
वहाँ घोंसले बनाकर बहुत से पक्षी सुख से रहा करते थे । एक बार वर्षा ऋतु
में आकाश बादलो से ढँक गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी तब वृक्ष के
नीचे बैठे हुए बन्दरों को ठड से ब्याकुल एव कांपते हुए देखकर पक्षियों को
दया धागई । उन्होंने कहा—अरे बन्दरों सुनो—

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहतैस्तृणैः ।

हस्तपादादिसयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?' ॥ ६ ॥

अन्वयाः—बभ्रुमात्राहृतीस्तुर्ध्वं वस्मामि नीडा निमिता हस्तपादादि
संपुच्छा (सप्त) दूषम् किम् अवसीदय ॥ ६ ॥

बभ्रुमादिर्ध्वं—अर्धं वस्मामि एव । आहृती = आनीती तुर्ध्वं । वस्मामि=
वसी । नीडा=कृमत्या । निमिता = उचिता । हस्तपादादि संपुच्छा = करपर
पादिपुच्छा = करपरपादिपुच्छा समर्था इत्यर्थः । सप्त = सप्त । दूषम् =
वस्मात् । अवसीदय = बहम् प्राप्नुव ॥ ६ ॥

'हम कौनों से केवल बीच से तिनकों को छा-आकर छोड़के बना दिए
और तुम जोर हाथ-पीर रखते हुए भी क्यों कुछ सेक रहे हो ? ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा चानुरैर्जाताऽप्रपैराच्छोचितम्—'अहो ! निवातमीड
गर्मावस्थिता सुखिनः पक्षिणोऽस्माच्चिन्वन्ति' । सद्भवतु तावद्
दृष्टेःकथमा । अत्रस्तरं शास्ते पानीयवर्षे, तैवानुरैर्युक्तमादृष्ट सये
बीडा मय्याः तेषामच्छानि आऽप्यः पातितानि । अतोऽहं प्रदीमि
'चिन्वानेवोपक्षेप्यः इत्यादि ॥

राजोवाच—'ततस्तैः पक्षिभिः किं कृतम् ? ।

वक्त्रः कथयति—'ततस्तैः पक्षिभिः कोपावुत्तं—'देनासी
राजहंसो राजा कृता ? । ततो मयोपजातकोपेनोत्तम्—'अर्थ
सुष्मदीपो मयूरः केन राजा कृता ?' एतच्छ्रुत्वा ते पक्षिणो मां
दृष्टुमुच्यताः । ततो मयापि स्वचिन्वामो दर्शितः । यथा—

तच्छ्रुत्वा=अत्राकर्ष्य । आतामर्षे=अत्यन्तरोषे । आतामि=विचारितम् ।
चिन्वानेवोपक्षेप्य=आवृत्तहितकृत्वापत्य । यर्षे = मध्ये अवस्थिता = तिक्ता । वि द
सि=निष्ठा कुर्वन्त । दृष्टे. उपचयः=दृष्टिनिवृत्तिः । अत्रस्तरम्=अत्राप्य ।
पाने=निवृत्ते । पानीयवर्षे=अन्नवृष्टी । दूषमादृष्टः=दूषोपरि आरोह्यं हत्या ।
मय्या=मय्या । अत्र पातितानि=मूरी प्रितानि ।

किं कृतम्=किमाचरितम् । आताम=रोषात् । अत्रजातरोषेन=अत्राज्जं येन ।
सुष्मदीपः = सुष्माकम् । मयूरमुत्ता = मारिचुम् उच्यते । स्वचिन्वन् = निव
वराजम् । चिन्वन् = प्रवृत्तः ।

यह सुनकर इन्द्र जानरी से मन ही मन विचार दिया 'बागुहिन घेरने
में मुझ से बँडे हुए वे बड़ी इतकों की मित्रा कर रहे हैं । अथवा ! पानी बाट
होये हो । इन्द्रक बाद जाना बनने ही से लगी इन्द्रक दूध पर बह गए चमूँन
चोतकी को लोह दिया और बरों को नीचे दिया दिया । इन तिन मैं कर रहा
हूँ—'विद्वान् का ही उद्देश्य देना चाहिए इत्यादि ।

राजाने कहा—'तव उन्होने क्या किया।' वगुले ने कहा—तव उन क्रुद्ध पक्षियो ने कहा—किसने राजहंस को राजा बनाया है ? तव मैंने भी क्रुद्ध होकर कहा—तुम्हारे मयूर को किसने राजा बनाया है। यह सुनकर वे सब मुझे मारने के लिए तैयार हो गए तब मैंने भी अपना बल दिखाया। क्योंकि—

‘अन्यदा भूपणं पुसः क्षमा लज्जेव योपितः।

पराक्रमः परिभवे, वैयात्य सुरतेष्विव’ ॥ ७ ॥

अन्वयः—अन्यदा योपित (भूषणम्) लज्जा इव, पुस भूषणम् क्षमा (अस्ति, तु) सुरतेषु वैयात्यम् इव परिभवे पराक्रम (भूषणम् अस्ति) ॥ ७ ॥

अन्यदा = पराभवातिरिक्तकाले, सुरतातिरिक्तसमये । योपित = नार्या । लज्जा इव = त्रपा इव । पुस = पुरुषस्य । भूषणम् = अलङ्कार । क्षमा = क्षान्ति । सुरतेषु = रतिक्रीडायाम् । वैयात्यम् = घृष्टता इव । परिभवे = पराजयकाले । पराक्रम = बलप्रदर्शनम् एव ॥ ७ ॥

अन्य समय में जैसे लज्जा स्त्रियो का आभूषण है उसी प्रकार क्षमा पुरुषो का आभूषण है। किन्तु रतिकाल में घृष्टता जैसे स्त्रियो की शोभा है उसी प्रकार अपमान के समय पराक्रम पुरुषो की शोभा है ॥ ७ ॥

राजा विहस्याऽऽह—

‘आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाऽवलम् ।

अन्तरं नैव जानाति, स तिरस्क्रियतेऽरिभिः’ ॥ ८ ॥

अन्वयः—आत्मन परेषाम् च बलावलम् समीक्ष्य य अन्तरम् नैव जानाति स अरिभि तिरस्क्रियते ॥ ८ ॥

आत्मन = स्वस्य च । परेषाम् च = शत्रूणाम् च । बलावलम् = सामर्थ्यमसामर्थ्यञ्च । समीक्ष्य = दृष्ट्वा य । अन्तरम् = प्रभेदम् । नैव, जानाति = वेत्ति । अरिभि = शत्रुभि । स, तिरस्क्रियते = पराजितो भवति ॥ ८ ॥

राजा ने हंसकर कहा—

अपने और शत्रु के बलावल को देखकर भी जो उनके अन्तर को नहीं समझता वह शत्रुओं से अपमानित होता है ॥ ८ ॥

‘सुचिरं हि चरन्नित्य क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान् ।

द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, वाग्दोषाद् गर्दभो हतः’ ॥ ९ ॥

चक. पृच्छति—कथमेतत् ? राजा कथयति—

अन्वयः—क्षेत्रे सुचिरम् नित्यम् चरन् हि द्वीपिचर्मपरिच्छन्न. अबुद्धिमान् गर्दभ वाग्दोषात् हत ॥ ९ ॥

क्षेत्रे—तस्मोत्पत्तिरक्षेत्रे । सुचिरम्—बहुप्रकारपर्यन्तम् । मित्यक्ष—प्रतिरिचम् ।
 चरत्—चूर्णं भयवत् । द्वि द्वीपिचर्मपरिच्छिन्नः—व्याघ्रचर्मपरिच्छिन्नः । अनुद्विगन्तम्—
 मूर्च्छं । चर्मनः—चरत् । बान्धोपात्—सम्बन्धोपात् । इत्—मृत ॥ ९ ॥

बीर जी—बहुत दिनों तक मित्य ही बैठ में चरने वाला व्याघ्र चर्म के
 डेना हुआ पदहा केवल अपने बीरने के शेष के ही माघ गया ॥ ९ ॥

अनुद्विगन्तम्—‘अहं कथं । राजाने कथा—

कथा २

अस्ति हस्तिनापुरे विद्यासो नाम राजकः । तस्य गन्धमोऽतिमार
 यदनात् दुर्वचो मुमुक्षु रिवाऽभयत् । ततस्तेन राजकेनासौ व्याघ्र
 चर्मणा प्रच्छाद्यारण्यकसमीपे सस्यक्षेत्रे विमुक्तः । ततो दूरात्तम
 बन्धोक्त्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सस्यरं पञ्चायन्तः ।

अस्तिनापुरे = अनामनपुरे । विद्यासो नाम = विद्यासाय । राजक = राज
 निर्णेकक । अस्ति—विद्यते । तस्य चर्मनः—तस्य चर । अतिमारयदनात्—अत्यन्त
 भारभारभात् । दुर्वचः—तरीरत क्षीन । मुमुक्षु इव = मृतकसदृश । बन्धो—
 चर्मन । व्याघ्रचर्मणा व्याघ्रत्वणा । प्रच्छाद्य—बन्धुपुण्य । अरण्यसमीपे = बसन्त
 निकटे । सस्यक्षेत्रे—वाल्मीके । विमुक्त = निर्बोधित । बन्धोक्त्य—दृष्ट्या । व्याघ्र
 बुद्ध्या = व्याघ्रमत्वा व्याघ्रोऽयम् इति गत्वा इत्यर्थ । क्षेत्रपतयः—बीरस्वामिनः ।
 सस्यरम् = क्षीरम् । पञ्चायन्तः = पञ्चायन बहु ।

हस्तिनापुर में विद्यास नाम का एक बौद्धी था । उतका पदहा बोझा के
 दुर्वचो को मरने-मग्ने को हो गया । तब बौद्धी ने उसे बाध के चर्मके के डेना
 कर चर्मन के पास बाध के क्षेत्र में छोड़ दिया । बैठ के रतको ने उसे दूर ही के
 देकर बाध समस्त सिमा बीर ने बर्हा के क्षेत्र ही माघ बडे हुए ।

अथैकदा केनापि सस्यरक्षेत्रेण सूसरकम्बलच्छततनुप्राणेन
 अनुच्छाद्यं सञ्जीकृत्यामतकायनेकान्ते स्थितम् । तत्र दूरात्
 दृष्ट्वा गन्धमा पुष्टान् यद्येससस्यभक्ष्यज्ञातपलो 'गन्धमोऽय'मिति
 मत्वोच्छैः शब्द कुर्वाण्यस्तद्विमुक्तं भाषिता । ततस्तेन सस्यरक्षेत्रेण
 बीरकारणशब्दात् गन्धमोऽय मिति निर्दिष्टस्य क्षीरक्षेत्रेण व्यापादितः ।
 अतोऽहं ब्रवीमि—‘सुचिरं द्वि चरन्मिदम् — इत्यादि ॥

सस्यरक्षेत्रेण—वा-परक्षेत्रेण क्षेत्रस्वामिना । सुतरं दूरात्तमं बहु कम्बलं
 तेन इतम् विच्छिद्यं अनुप्राणम् देहाबुद्ध्या देन तेन । अनुच्छाद्यम् = बाध

दण्डम् । सज्जो कृत्य=ज्यायुक्तं कृत्वा । आनतकायेन=संकुचितशरीरेण । एकान्ते=
रहसि । स्थितम्=अधिष्ठितम् । त च=क्षेत्ररक्षकम् च । पुष्टाग = परिपुष्टदेह ।
यथेष्टसन्ममक्षणात्=यथेच्छवान्यचर्वणात् । उपजातवल = उत्पन्नपराक्रमः ।
मत्वा=परिज्ञाय । तदभिमुखम् = क्षेत्ररक्षक प्रति । धावित = वेगेन चलित ।
निश्चित्य = निश्चयम् कृत्वा । लीलया एव = अप्रयासेनैव, सारत्येन इत्यर्थः ।
व्यापादित = मृत्युं प्रापित ।

एक दिन खेत का एक रखवाला मटमले कम्बल को ओढ़कर और धनुष
पर-ढोरो घटाकर एकान्त में सिकुट कर बैठ गया उसे दूर ही से देखकर गदहे
ने उसे भी गदहा समझ लिया । और वह इच्छानुसार धान चरने से बली और
मोटा ताजा गदहा उसकी ओर चिह्नाते हुए दौड़ पड़ा । खेत के रखवाले उसके
घब्द से उसे गदहा जानकर बड़ी आसानी से मार डाले । इसीलिए मैं कह
रहा हूँ—'बहुत दिनों तक नित्य चरता हुआ' आदि ।

दोषमुखो ब्रूते—ततः पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्—'अरे पाप दुष्ट-
वक्र ! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि ।। तन्न
क्षन्तव्यमिदानीम्' । इत्युक्त्वा सर्वं मां चञ्चुभिर्हत्वा, सकोपा
ऊचुः—'पश्य रे मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः । तस्य
राज्याधिकारो नास्ति । यत एकान्तमृदुः करतलस्यमप्यर्थ
रक्षितुमक्षमः । स कथं पृथिवीं शास्ति ? राज्यं वा तस्य किम् ? ।
त्वं च कूपमण्डूक , तेन तदाश्रयमुपदिशसि' । शृणु—

पाप=पापात्मन् । अस्माकम् भूमौ=पृथिव्याम् । चरन्=विचरन् । स्वामि-
नम्=राजानम् । अधिक्षिपसि=निन्दसि । इदानीम्=अस्मिन् काले । चञ्चु-
भि=नुष्टं । हत्वा=प्रहार कृत्वा । सर्वथा=सर्वप्रकारेण । मृदु = कोमल , परा-
क्रमहीन इत्यर्थः । तस्य=हंसस्य । एकान्तमृदु = अत्यन्तकोमल , तेजोहीन
इत्यर्थः । करतलस्यम्=हस्तगतम् । अर्थम्=अन्नम् । रक्षितुमक्षम = रक्षणे अशक्त ।
शास्ति=रक्षति । कूपमण्डूक = कूपमण्डूकतुल्य , स्वदेशातिरिक्तान्यदेशज्ञानरहित ।
तदाश्रयम्=राजहंसस्य आश्रयणम् ।

दोषमुख ने कहा—इसके बाद उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि 'अरे पापी दुष्ट
बगुले तुम हमारी ही भूमि में चरते हो और हमारे राजा की निन्दा करते हो ।
इसलिए अब हम लोग तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे ।' ऐसा कहकर सभी मुझे चोचों से
मारने लगे और कहने लगे कि अरे दुष्ट तुम्हारा वह हंस अत्यन्त निर्बल है
इसलिए वह राज्य का अधिकार नहीं पा सकता, क्योंकि अत्यन्त निर्बल व्यक्ति

हाम में आई हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता फिर वह पृथ्वी का धारण कैसे करेगा ? और उसका राज्य ही कैसा ? तुम कुएँ के मेढक को उखड़ बनने बैस की जोड़कर तुमरे वेद्यो के बारे में कुछ बातें ही नहीं हों। इतीन्द्रिय बनने-राजा के शासन में रहने का उपदेश दे रहे हो। सुनो—

‘सेवितभ्यो महाबुधः फलच्छायासमन्वितः ।

यदि वैवात्फलं नास्ति च्छाया केन निवापते ? ॥ १० ॥

अन्वयः—फलच्छायासमन्वितः महाबुधः सेवितभ्यः यदि वैवात् फलम् नास्ति (तद्दि) छाया केन निवापते ॥ १ ॥

फलच्छायासमन्वितः = फलच्छायासमन्वितः । महाबुधः = महातपः । सेवितभ्यः = सेवितः । वैवात् = वामात् । फलम् नास्ति = तस्मिन् फलानामो न भवेत् । छाया = अनात्म केन निवापते = निविध्यते ॥ १ ॥

‘फल और छाया से मुक्त बड़े बुध की ही सेवा करनी चाहिए। यदि वैवात् अससे फल नहीं मिलता तो छाया कीन रोक सकता है ? ॥ १० ॥

अन्वयः—‘हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महाबाधयः ।

ययोऽपि शोषिणीहस्ते ‘पादणी’स्यभिधीयते’ ॥ ११ ॥

अन्वयः—हीनसेवा न कर्तव्या महाबाधयः कर्तव्यः । शोषिणीहस्ते पत्र यदि बारभी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

हीनसेवा = दुष्कृत्य सेवा । न कर्तव्या = न करनीया । महाबाधयः = भीमसत सेवा । शोषिणीहस्ते = स्वपादिकमकरे । यय-अपि = अन्वयः । बारभी इति = ययम् इति । अभिधीयते = मन्व्यते ॥ ११ ॥

और भी— नीच की सेवा नहीं करनी चाहिए, बड़ों का ही सहाय कैना चाहिए । क्योंकि कर्त्तव्यम कि हाव में बल भी करता ही समझा जाय है’ ॥

अन्वयः—‘महामत्प्यदपतां पाति निर्गुणे शुभविस्तरः ।

अधाराद्येपमाधेन राजैन्द्र इव रूप्ये ॥ १२ ॥

अन्वयः—निर्गुणे (त्वित) महाम् शुभविस्तरः यदि अधाराद्येपमाधेन रूप्ये यथैन्द्र इव रूप्यताम् पाति ॥ १२ ॥

निर्गुणे = शुभहीने विद्यमान । महाम् अपि = अत्युत्कृष्टोपि । शुभविस्तरः = शुभप्रसरः । अधाराद्येपमाधेन = अधाराद्येपमाधेन अधारमय शुभप्रसरः । रूप्यताम् = विस्तारशुभताम् रूप्यताम् । पाति = ददाति । रूप्ये = धारणे । यथैन्द्र इव = करितराजस्य ॥ १२ ॥

और भी—'निर्गुणी में रहने वाला महान् गुण भी आधार के प्रभाव से तुच्छ बन जाता है जैसे गजराज भी क्षीणे में उसके प्रभाव से छोटा दिखाई पड़ता है' ॥

किन्तु—'अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।

राममासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः' ॥ १३ ॥

अन्वयः—सिंहप्रसादेन अजा वने निर्भयम् चरति । विभीषण रामम् आसाद्य लङ्कायाम् राज्यम् लेभे ॥ १३ ॥

सिंहप्रसादेन = सिंहस्य कृपया । अजा = छागी । वने = अरण्ये । निर्भयम् = नि शकम् । चरति = विचरति । विभीषण = रावणस्य अनुज । राम = मीतापतिम् । आसाद्य = शरणं प्राप्य । लङ्काया = तन्नामकपुर्याम् । राज्य = राजपदम् । लेभे = प्राप्तवान् ॥ १३ ॥

किंतु—'सिंह की कृपा से बकरी भी जंगल में निर्भय होकर चरती है । विभीषण ने राम का आश्रय लेकर ही लंका में राज्य प्राप्त किया था' ॥ १३ ॥

विशेषतश्च—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।

शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १४ ॥

मयोक्त—कथमेतत् ? पक्षिणः कथयन्ति—

अन्वयः—अतिशक्ते नराधिपे व्यपदेशे अपि सिद्धि स्यात् । शशकाः शशिन-व्यपदेशेन सुखमासते ॥ १४ ॥

अतिशक्ते = बलशालिनि । नराधिपे = नृपे सति । व्यपदेशेऽपि = तस्य नाम-ग्रहणे अपि । सिद्धि = कार्यपूर्ति । शशका = तन्नामका जन्तुविशेषा (खरगोश) । शशिन = चन्द्रम्य । व्यपदेशेन = व्याजेन नाम्ना । सुख = सानन्दम् । आसते = निवसन्ति ॥ १४ ॥

प्राय —'कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली राजा के नाम से ही कार्य सिद्ध हो जाता है । जैसे खरगोश ने चंद्रमा का नाम लेकर सुख प्राप्त किया था' ॥१४॥

कथा ३

कदाचिद्वर्षास्वपि वृष्टेरभावात्तृपात्ती गजयूथो यूथपतिमाह—
'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? नाऽस्ति शुद्रजन्तूनाम्
(अपि) निमज्जनस्थानम् । वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताः, अन्धा इव किं कुर्म. ? , कयाम ?' ततो हस्तिराजो नातिदूर गत्वा निर्मलं हृदं दर्शितवान् ।

कशाबिद्=वस्त्रिभिद् कृति । सर्वास्वपि=प्राणुपि । गुप्तेरभावात्=अपवर्षण
 भावत् । तृषार्थ = पिपासाकुल । वज्रयूथ = इस्तिहत्तमुद् । यूपवतिम् = यव
 नावकम् । बाहू=इत्तन्वात् । नाप=स्वामिन् । वम्पुपाय = मुक्तिः । शीषवाम=
 प्राणधारणाय । शुद्धमन्मनाम्=स्वप्नानाम् शीषानाम् । निमज्जनस्वप्नम्=स्वाम-
 शोष्य सरोवरं किं पुन अस्मरत्तद्विधाया विसाककायानाम् इति शेष । निमज्ज-
 न्वातामावात्=सरोवरं विना । मृता=मृतदुःस्वा । इस्तिहत्त = दवाभिय ।
 नातिदूरं=तदीयम् । निर्मळम्=वसिस्वल्पम् । ह्वरम्=सरोवरम् ।

एक बार सर्वा अतु से भी पापी न बरकने के कारण प्यास से आकुल
 हाथियों के झुण्ड ने अपने स्वामी से कहा—'स्वामी ! हम लोगों के जीवन का
 कोई उपाय है ? छोटे-छोटे बम्बुओं के स्नान करने से क्या भी कोई बचत नहीं है ?
 हमको तो स्नान करने की बचत के बिना मृतक तुल्य हो गए हैं । अब हम
 कौन सी तरतब बसा करें ? कहीं बाई ? तब हाथियों के राजा ने बोड़ी दूर
 जाकर उन्हें एक निर्मळ तालाब दिखाया ।

ततो द्विनेपु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिताः शुद्धशयका गजपादा
 हनिमिदृश्वृषिताः । अवन्तरं शिखीमुखो नाम शराकस्मिन्तयामास—
 अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमन्नागन्तव्यम् ततो
 पिनष्टमकमस्तुच्छम् ।

ततो विजयो नाम शूयशशकोपवत्—'मा पिपीवत, मयात्र
 प्रतीकारः कर्तव्यः । ततोसौ प्रतिशय्य अस्थितः । गच्छता च तेषां
 आश्रितम्—'कथं मया गजयूथनाथसमीपे स्थिता वक्तव्यम् ? ।

।दनेषु पञ्च-गु=कांतपदविद्यमातिङ्गन्तेषु । तत्तीरावस्थिताः=सरोवरतट
 निवासिनः । शुद्धशयका = स्वतन्वहा शयका । गजपादाह्वयिभिः = इस्तिहत्त
 न इति । वृषिता = गजा । अवन्तरम्=तत्पश्चात् । पिन्ष्टयामास=विचारयामास ।
 पिरागकुलितेन = तृषार्थेन । प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् । कुच्छम् = रसः । अवकम्=
 उन्मत्ताम् । मा विपीवत=विचारं न कुच्छत । प्रतीकारः = रक्षाया उपायः ।
 प्रतिशय्य=प्रतिष्ठा कृत्वा । अस्थितः=अस्थितः । आश्रितम्=विचारितम् । पञ्चगु-
 न यमपीपे=इस्तिहत्तवाभियपिकटे ।

कुछ समय बाद तालाब के किनारे रहने वाले छोटे खरबोघ हाथियों के
 नेरी से बचकर कुच्छ गए । इसके पश्चात् शिखीमुख नाम के खरबोघ ने विचार

किया—'प्यास से व्याकुल हाथियो का झुण्ड तो यहाँ प्रतिदिन आयेगा । इससे तो हमारा सारा वश ही नष्ट हो जायगा' तब विजय नाम के एक बूढ़े खरगोश ने कहा—'डरो मत, मैं विपत्ति को दूर करने का उपाय करूंगा ।' तब वह प्रतिज्ञा करके चला । चलते-चलते उसने विचार किया कि मैं हाथियो के झुण्ड के स्वामी के पास खड़ा होकर कैसे बातचीत करूंगा ? क्योंकि—

यतः—'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।

पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः' ॥ १५ ॥

अन्वयः—गज स्पृशन् अपि हन्ति, भुजङ्गम जिघ्रन् अपि (हन्ति) भूपालः पालयन् अपि (हन्ति) दुर्जनं प्रहसन् अपि (हन्ति) ॥ १५ ॥

गज =करो । स्पृशन् अपि = स्पर्शमात्रेणापि । हन्ति = प्राणान्तं करोति । भुजङ्गम =सर्प । जिघ्रन् अपि=आघ्राणं कुर्वन्नपि (सूघते ही) । भूपाल =नृपति । पालयन् अपि=पोषयन् अपि । दुर्जनं =दुष्ट । प्रहसन् अपि = हसन् अपि । स्वप्रसन्नता प्रकटीकुर्वन् अपि (हन्ति) ॥ १५ ॥

छूने मात्र से हाथी, सूघने मात्र से सर्प, पालन करते हुए भी राजा, और हँसने हुए भी दुर्जन प्राणों का घातक बन जाता है ॥ १५ ॥

अतोहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथ संवादयामि ।' तथानुष्ठिते सति यूथनाथ उवाच—'कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?' ।

स ब्रूते—'शशकोहम्, भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः ।' यूथपतिराह—'कार्यमुच्यताम्' । विजयो ब्रूते—

मारुह्य=आरोहणं कृत्वा । संवादयामि=वार्तालापं करोमि । तथानुष्ठिते=पूर्वोक्तप्रकारेण कृते सति । समायात =आगतोऽसि । भवदन्तिकम् = त्वत्पाश्वर्षम्, विजय = वृद्धशशक ।

इसलिए मैं पहाड़ की चोटी पर चढ़कर हाथियो के स्वामी से बातचीत करूँगा ।, ऐसा करने के बाद गजस्वामी ने कहा—'तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो ।' उसने कहा—'मैं खरगोश हूँ । नगवान चन्द्रदेव ने मुझे आप के पास भेजा है ।' गजपति ने कहा 'वशाओं, किस काम के लिए भेजा है ।' तब विजय ने कहा—

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ।

सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः' ॥ १६ ॥

अन्वयः—गजेषु उद्यतेषु अपि दूत अन्यथा न वदति । हि अवध्यभावेन (निमित्तं स) सदैव यथार्थं वाचक (नवति) ॥ १६ ॥

तव मंत्री नृप मे मुससे पूछा—'वहाँ मुख्य मंत्री कौन है ?' मैंने कहा—'सर्वा
धाओं में कुशल सर्वत्र नाम का बरबा है।

नृप ने कहा विस्मृत ठीक। यह राजहंस के देस में ही बीबा तुम है। क्योंकि—

'स्वदेशार्जं, कुशाचारविशुद्धम् उपवासुविदं, मन्त्रदम्

अभ्यसितम् अविचारवशितम् अवीतम्यवहारार्थम् मीलम् क्पातम्, विपश्चितम् ॥ १७ ॥

अवीतम्यवहारार्थं मीलं क्पातं, विपश्चितम् ।

अपस्योत्पादकं वैद्यं विदुभ्याग्मग्निर्षं नृपः ॥ १८ ॥

अन्वयः—नृप स्वदेशम् कुशाचारविशुद्धम् उपवासुविदं, मन्त्रदम्
अभ्यसितम् अविचारवशितम् अवीतम्यवहारार्थम् मीलम् क्पातम्, विपश्चि
तम् अर्षस्वोत्पादकम् च एव मग्निम् विदुभ्याग् ॥ १७-१८ ॥

स्वदेशम्—स्वदेशीयताम् । कुशाचारविशुद्धम् = कुशाचारम् = कुशलव्यवहारैव
विशुद्धम्, उत्तमकुशलताम् इत्यर्थः । उपवासुविदम् = वर्षपरीक्षणम् पवित्रम्
कोमाविप्रसौपु अनुस्वीकृतस्वाम्यविम् इत्यर्थः । मन्त्रदम् = मन्त्रजातव्य
वेत्ताम् । अभ्यसितम् = मद्यपूतादिभ्यामारभूत्वात् । अविचारवशितम् = परबन
वाराधिप्रवृत्ते नमस्विज्ञानुक्तम् । अवीतम्यवहारार्थम् = अर्षस्वोत्पादकव्यवहारैषु च
निष्ठातम् । मीलम् = अक्षरस्य सङ्गतम् । क्पातम् = स्वयुक्तैव कोकवर्षे प्रसिद्धम् ।
विपश्चितम् = पश्चितम् । अर्षस्वोत्पादकम् = विद्योपादकम् । विदुभ्याग् = विदुत्
कुर्वन् ॥ १७-१८ ॥

अपने ही राज् में अपने हीने वाले कुलीन जाचरको छे दबिन बाविक
परीक्षणो मे जतीर्षं राजनीति के बाठा किसी भी प्रकार के व्यसन (अध्यानादि)
छे रगिन अविचार छे हीन अर्षत् सवाचारी व्यवहारकुशल कुशलव्यवहार
प्रसिद्ध विद्वान् तथा अनोपादक मे विदुज अक्ति की ही मंत्रीपद पर विदुत्
करना चाति ॥ १ - १८ ॥

अत्राग्नरं शुक्लमोक्तम्—'वेद्यं । कर्पूरद्वीपाद्द्वयो कर्पूरीपा
अम्बुद्वीपास्तर्गता एव तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम् । ततो
राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव । एत—

अत्राग्नरं = अग्निमय समये । कर्पूरीपा = कुशीपा । अम्बुद्वीपास्तर्गताः =
अम्बुद्वीपस्य मध्ये स्थिताः । तत्रापि = कर्पूरीप्रेषि । देवपादानाम् = अर्षताम् ।
वाधिपत्यम् = स्वामित्वम् ।

इसी बीच मुझे मे कहा—'राजन् कर्पूर द्वीप बावि छोटे-छोटे द्वीप अम्बु
द्वीप के ही अन्तर्गत है । इसलिए वहाँ मे नाम का ही स्वामित्व है । तब एका
मे अर्ष-ही ऐसा ही है । क्योंकि—

‘राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा, घनगर्वितः ।

अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्’ ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजा, मत्त, शिशु, च एव प्रमदा, घनगर्वित, अप्राप्यम् आप, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा=नुप । मत्त =उन्मादग्रस्त । शिशु = बालक. । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । घनगर्वित =घनावलेपी । अप्राप्यम् अपि=अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मत्तवाली स्त्री और घन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—‘यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्य सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभो हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।’ शुको व्रूते—‘कथमत्र निर्णयः ?’ । मयोक्तम्—‘सग्राम एव ।’

राज्ञा विहस्योक्तम्—‘स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।’ तदा मयोक्तम्—‘स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्’ । राजोवाच—‘कः प्रयास्यति दौत्येन ?’ । यत एवम्भूतो दूत. कार्यः—

वचनमात्रेणैव=कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । सग्राम.=युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्ध कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तव मैंने कहा—‘यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।’ सुग्ने ने कहा—‘तो इसका निर्णय कैसे हो ?’ मैंने कहा—‘युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।’

राजा ने हैसकर कहा—‘तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।’ तब मैंने कहा—‘आप अपना दूत भी भेज दें ।’ राजा ने कहा ‘दूत बनकर कौन जाएगा ?’ क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

‘भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष, प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।

ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिमानवान्’ ॥ २० ॥

अन्वयः—दूत, भक्त, गुणी, शुचि, दक्ष, प्रगल्भ, अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण, परमर्मज्ञ, प्रतिमानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त =स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी=सर्वगुणोपेत । शुचि =अव्यवहार-शुद्ध । दक्ष =विचक्षण । प्रगल्भ =वाक्पटु । अव्यसनी=अव्यसनरहित । क्षमी=

२ हि० वि०

तद्धोषु लघुतेषु ध्वनिः—अक्षरप्रहारकरणात् तत्परीषु ध्वनिः प्राञ्जलयेवापि इत्यर्थः ।
 पूतः—वाताहुर । अन्वयाः—असत्त्वम् । न वदति = न कथयति । हि = निम्नम् ।
 अन्वयमावेशः—अहं तु वदाम्य इत्यनेन मनसः निम्नयेन । अन्वयत्वम्—असत्त्वम् ।
 वाचक = पद्यम् ॥ १६ ॥

इत एवमेकार हन्वितारो का प्रहार करने के लिए तैयार होने पर भी शून्य
 नहीं बोलता; क्योंकि अवश्य होने के कारण वह उदाहरण ही बोलने वाला
 होता है ॥ १६ ॥

तद्वद् तदाश्रया ब्रवीमि शृणु—यदैते अम्बुसरोरक्षकाः शशाका-
 स्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम् । ते शशाकाभिरमस्माकं
 रक्षिताः । अत एव मे 'शशाकु' इति प्रसिद्धिः ।

यद्यमुकध्वनि वृत्ते मूयपतिभयादिवमाह—'प्रणिधे ! इवमज्ञानता
 कृतम् पुनर्न तत्र वसिष्यामि ।

दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं
 शशाकु प्रणम्य प्रसाद्य च गच्छ ।'

ततस्तेन रामो मूयपतिं भीत्वा तत्र जले अज्ञानं अम्बुबिम्ब
 वर्णयित्वा स मूयपतिं प्रणामं कारितः ।

तच्छ्रुतेन—'देव ! अज्ञानादनेनापराधः कृता ततः क्षम्यताम्,
 नेयं धाराम्भरं विधास्यते । इत्युक्तया प्रस्थापिता । अतो वर्णं प्रमः—
 'अपरेणोपि सिद्धिः स्यात्' इति ॥

तदाश्रयाः—भवामिनः अन्वयमावेशेन । ब्रवीमि = कथयामि । अम्बुसरोरक्षकाः—
 अम्बुसरोरक्षकत्व रक्षायाम् विभुक्तम् । निःसारिताः—विस्थापिताः । अनुचितं
 कृतम्—अव्यय्य भक्तिम् । पिरम् = अनुज्ञायात् । रक्षिताः—रक्षिताः । शशा-
 कु = शशाकम् । अम्बुकध्वनिः—अनेन प्रकारेण कथितध्वनिः । आह = उक्तवात् ।
 प्रणिधे = वृत् । अज्ञानता = अज्ञानाभावात् । कोपात् = क्रोधात् । कम्पमानम् = क्षिप-
 मानम् । प्रसाद्य = वन्द्यम् । प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा । प्रसाद्य = प्रणामं कृत्वा ।
 अम्बुबिम्बम् = अम्बुबिम्बकम् । तत्र = तत्रकेन । क्षम्यताम् = क्षमां विवृताम् ।
 धाराम्भरम् = दलम् । विधास्यते = कथिष्यते ।

इति कथितं मे उनकी आज्ञा से वह रहा हूँ । मुनी— वह जो तुमने अम्बुसरोर-
 क रक्षक के तारा का निकाल दिया है वह वही मूयपति का है । क्योंकि
 मे ग १ ४ । मे मेने उक्त रक्षित है इति कथितं मे शशाक (परमोप है
 विमली ल) ताम मे प्रसिद्ध ह । इत के ऐसा कहने पर अज्ञान मे
 मयमी १ ४ ५ ।— तथा करो । मेने यह काव बताने ही दिया है । फिर

बर्ही नहीं जाऊँगा ।' दूत ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो इस तालाब में क्रोध से काँपते हुए भगवान् चन्द्रदेव को प्रमाण करके और प्रमत्त करके चले जाओ ।'

तब दूत ने गजपति को रात में लेजाकर जल में चन्द्रमा की छाया दिखाई और उसे प्रगाम कराया । उसने कहा—'देव, अनजान में ही इन्होंने यह अपराध किया है । इसलिए क्षमा करें । अब आगे ऐसा नहीं करेंगे ।' ऐसा कहकर उसे भेज दिया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'बड़ो के बड़ाने से सिद्धि हो जाती है' इत्यादि ।

ततो मयोक्तम्—'स एवाऽऽस्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोति-समर्थः । त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्—' इति । तदाह तैः पक्षिभिः—'दुष्ट ! कथमस्मद्भूमौ चरसि'— इत्यभिधाय, 'राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः । ततो रात्रः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम् देव ! अवधीयताम्, एष दुष्टोऽस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति' । ।

राजाह—'कीयम् ? कुतः समायातः ।' ते ऊचुः—'हिरण्य-गर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः ।'

अथाह गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तन्न मुख्यो मन्त्रीति ?' । मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः ।'

गृध्रो ब्रूते—'युज्यते । स्वदेशजोसौ' । यतः—

मया=वक्त्रेन । महाप्रताप =अपिततेजा । अतिसमर्थ =महाशक्त । त्रैलोक्य-स्य=त्रिलोक्या । अपि प्रभुत्वम्=स्वामित्वम् । युज्यते=योग्यमस्ति । इत्यभिधाय=इत्युक्त्वा । राज्ञ पुर =नृपस्य समुखे । प्रदर्श्य =उपस्थित कृत्वा । अवधीयताम्=सावधानतया श्रूयताम् । देवपादान् =महाराजान् । अधिक्षिपति =निन्दति । समायात =समागत । तत्र =कर्पूरद्वीपे । सर्वशास्त्रपारग =सर्वशास्त्रकुशल । स्वदेशज =स्वदेशोत्पन्न ।

तब मैंने कहा—'यह हमारे स्वामी राजहंस बड़े प्रतापी और शक्तिशाली हैं । उनके लिए तीनों लोको का प्रभुत्व उचित है फिर पक्षियों के राजा बनने की तो बात ही क्या ।' तब उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि 'तुम हमारे राज्य में क्यों घूम रहे हो ?' ऐसा कहकर वे मुझे पकड़कर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए । उन्होंने मुझे राजा के सामने उपस्थित किया और उन्हें प्रणाम करके कहा—'राजन्, सावधानी से सुनिए हमारे ही देश में विचरण करता हुआ यह वगुला आप की निन्दा करता है ।'

राजा ने कहा—'यह कौन है और कहाँ से आया है !' उन्होंने कहा—'यह हिरण्यगर्भ नाम राजहम का अनुचर है और कर्पूर द्वीप से आया है ।'

तब यंत्री बुद्ध ने मुझसे पूछा—'बड़ा मुस्क बंधी कौन है ? मैंने कहा—'सर्ग-
पाशों में बुराक सर्वज्ञ नाथ का बंधन है ।

बुद्ध ने कहा बिल्कुल ठीक । वह रामहृद के देह में ही पैदा हुआ है । क्योंकि—

स्वदेशार्जं, कुशाधारविशुद्धमुपघाशुचिम् ।

मन्त्रस्यमभ्यसनिनं, भ्यमिधारयिचञ्चितम् ॥ १७ ॥

अधीतभ्यबहाराभं मौक्तं चपात, विपञ्चितम् ।

अधस्योत्पादकं सैव विद्वत्पाम्मन्त्रिणं शृणुः ॥ १८ ॥

अन्वयः—गुण स्वदेशम् कुशाधारविशुद्धम् उपघाशुचिम्, मन्त्रम्
अभ्यसनिनम् भ्यमिधारयिचञ्चितम् अधीतभ्यबहाराभम् मौक्तम् स्वातम् विपञ्चि
तम्, अधस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विद्वत्पाम् ॥ १७-१८ ॥

स्वदेशम्—स्वदेशोत्पन्नम् । कुशाधारविशुद्धम् = कुशाधार-कुम्भस्यबहारेण
विशुद्धम्, उपघाशुचिम् इत्यर्थः । उपघाशुचिम् = धर्मपरीक्षातु कश्चिम्
'कोशाधिप्रदपिपु अमुष्कचितस्वयम्भोवम्' इत्यर्थः । मन्त्रम्—मन्त्राधार
वैतारम् । अभ्यसनिनम्—मन्त्रपूठादिस्वाधारशुद्धम् । भ्यमिधारयिचञ्चितम् = परम
बाधविग्रहणे अतन्त्रिकानुक्तम् । अधीतभ्यबहाराभम्—धर्मदाकोत्पत्तये च
निष्पातम् । मौक्तम्—ब्रह्मपरम्परावतम् । स्वातम् = स्वतुल्येन कोशकर्म प्रतिष्ठम् ।
विपञ्चितम् = पङ्क्तिम् । अधस्योत्पादकम् = विद्योपाधकम् । विद्वत्पाम्—विद्वत्
शृणुः ॥ १७-१८ ॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले कुलीन जावरनों से पवित्र धार्मिक
परीक्षाओं में उत्तीर्ण राखतीति के द्वारा किसी भी प्रकार के अज्ञान (मद्यमादि)
से रहित भ्यमिधार से हीन अर्थात् अज्ञानकारी अज्ञानकुम्भ कुम्भपात
प्रसिद्ध विद्वान् तथा जनोपाधक में निपुण अर्थात् को ही यंत्रीपद पर निपुण
करना चाहिए ॥ १७-१८ ॥

अत्राग्नरे शुक्लेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो ऊर्ध्वद्वीपा
अर्धद्वीपान्तगता एव तत्रापि देवपादानामंवाधिपत्यम् । ततो
राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव । यतः—

अत्राग्नरे = अग्निदेव अग्रे । ऊर्ध्वद्वीपा = ऊर्ध्वद्वीपा । अर्धद्वीपान्तगता =
अर्धद्वीपस्व मध्ये स्थिता । तत्रापि = ऊर्ध्वद्वीपेऽपि । देवपादानाम् = देवताम् ।
आधिपत्यम् = स्वामित्वम् ।

इसी बीच मुझे ये कहा—'राजन् कर्पूर द्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप अर्ध
द्वीप के ही अन्तर्गत हैं । इसलिए वहाँ भी आप का ही स्वामित्व है । तब राजा
के कह-हाँ पैदा ही है । क्योंकि—

‘राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा, घनगर्वितः ।

अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्’ ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजा, मत्त, शिशु, च एव प्रमदा, घनगर्वित, अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा=नृप । मत्त =उन्मादग्रस्त । शिशु = बालक । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । घनगर्वित =घनावलेपी । अप्राप्यम् अपि=अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मत्तबाली स्त्री और घन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—‘यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्य सिद्धयति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोहिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।’ शुको ब्रूते—‘कथमत्र निर्णयः ?’ । मयोक्तम्—‘सग्राम एव ।’

राज्ञा विद्वस्योक्तम्—‘स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।’ तदा मयोक्तम्—‘स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्’ । राज्ञोवाच—‘कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूतः कार्यः’—

वचनमात्रेणैव=कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । सग्राम.=युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्ध कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तव मीने कहा— यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।’ सुगे ने कहा—‘तो इसका निर्णय कैसे हो ?’ मीने कहा—‘युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।’

राजा ने हैसकर कहा—‘तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।’ तब मीने कहा—‘आप अपना दूत भी भेज दें ।’ राजा ने कहा ‘दूत बनकर कौन जाएगा ?’ क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

‘भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्षः, प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।

ब्राह्मणः, परममंशो, दूतः स्यात्प्रतिभानवान्’ ॥ २० ॥

अन्वयः—दूत, भक्त, गुणी, शुचि, दक्ष, प्रगल्भ, अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण, परममंश, प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त =स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी=सर्वगुणोपेत । शुचि =व्यवहार-शुद्ध । दक्ष = विचक्षण । प्रगल्भ =वाक्पटु । अव्यसनी=व्यसनरहित । क्षमी=

२ हि० वि०

धर्माधीन वरमर्मज्ञः—अन्वयः रहरवनिज्ञः । प्रतिमानवान् = प्रतिमापीनः ।

पू१ = सम्भेद्यहर । स्वात् = ममेत् ॥ २ ॥

स्वामी के प्रति भयानु, भुक्तवान् पवित्र चतुर विद्वर व्यवहारद्वय, धर्माधीन तथा वृत्तों के मर्म को समझने में बुद्धिमान पटु एवं ब्राह्मण (स्वामी तथा निर्वोदी) शक्ति को ही वृत्त बनाना चाहिए ॥ २ ॥

शुभो वदति—सम्भेद्य वृत्ता बहवः, किन्तु ब्राह्मण एव कर्त्तव्यः ।
पठः—

गुरु ने कहा—‘यो षो वृत्त बहुत सः ॥ किन्तु ब्राह्मण को ही वृत्त बनाना चाहिए । क्योंकि—

‘प्रसाद् कुर्वते पर्युः, सम्पत्तिं नामिनाम्पठति ।

काळिमा काळकूटस्य नापैतीश्वरसङ्गमात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—(ब्राह्मण) पर्युः प्रसादम् कुर्वते (तस्य) सम्पत्तिम् न भक्ति-
नाम्पठति (यथा) काळकूटस्य काळिमा ईश्वरसङ्गमात् न भवति ॥ २१ ॥

पर्युः—प्रसन्नो पठत्य । प्रसादम् = प्रसन्नताम् । सम्पत्तिम् = ऐश्वर्यम् । न भक्तिनाम्पठति = भक्तिनपठति । काळकूटस्य काळिमा = विपत्त्य काळुष्यम् । ईश्वरसङ्गमात्—अभ्युक्तसंघर्षत् । न भवति—न भवत्यपठति । ब्राह्मण स्वनिर्वोदी-
त्वम् कदापि न बहानि यत् तदेव उत्पद्यति इत्यर्थः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण स्वामी को प्रसन्न रखता है और किसी भी प्रकार की सम्पत्ति की भक्तिनामा नहीं रखता (कि स्वार्थ मात्र से स्वामी की प्रसन्नता का ज्ञान रखता है ।) पठर का सहवास पाकर भो विप की काळिमा दूर नहीं होती । अर्थात् ब्राह्मण सम्पत्ति के बीच में रहकर भी अपनी निर्वोदी प्रकृति का परित्याग नहीं करता ॥ २१ ॥

राजाह—‘तथा शुक्र एव प्रवृत्तुः । शुक्र ! त्वमेवानेत सह तत्र गतवारमनुमिच्छयितं प्रहि । शुक्रो ब्रूते—‘यथाज्ञापयति देवः । किन्त्वयं दुर्जनो वक्ता, तदनेन सह न गच्छामि’ । तथा शोकसम्—

शुक्र एक-वक्षिषु ब्राह्मणः शुक्र एव । ब्रह्मणु—वक्ष्यतु । कौत सद्—वक्तेन गार्हम् । भक्तिनपठितम्—अपीदम् । दुर्जन = दुष्टस्वभावः ।

राजा ने कहा—‘तो वह तुम्हारा ही वृत्त बनकर चाये । मुझे इसके साथ जाकर (राजसूय से) हमारी इच्छा कह सुनाओ । मुझे ये कहा—‘स्वामी की बीसी भावा । किन्तु यह बहुत बड़ा दुष्ट है । इसलिये इसके साथ नहीं जाऊँगा । और कि कहा भी क्या है—

‘खलु करोति दुर्वृत्तं, नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोहरत्सीतां, बन्धन स्यान्महोदधेः’ ॥ २२ ॥

अन्वयः—खलु दुर्वृत्तम् करोति (किन्तु तत्) साधुषु नूनम् फलति । (यथा)
दशानन सीताम् अहरत् (किन्तु) महोदधे बन्धनम् स्यात् ॥ २२ ॥

खलु = दुर्जन । दुर्वृत्तम् = दुश्चरित्रम् । करोति = आचरति । साधुषु =
सद्वृत्तेषु । नूनम् = निश्चयेन । फलति = फलदायक भवति । दुष्टस्य दुराचारेण
सज्जनोपि प्रभावितो भवति इत्यर्थः । दशानन = रावण । सीताम् = जानकीम् ।
अहरत् = अपहृतवान् । महोदधे = सागरस्म । रावणस्य दुष्कृत्येन सागर
अमर्यादितोऽभूत् इत्यर्थः ॥ २२ ॥

दुष्टता तो दुष्ट करता है किन्तु उसका फल सज्जन को भोगना पड़ता है ।
सीता का हरण रावण ने किया था किन्तु बाँधा गया वेचारा समुद्र ॥ २२ ॥

अपरञ्च—‘न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।

काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः’ ॥ २३ ॥

राजोवाच—‘कथमेतत् ?’ । शुकः कथयति—

अन्वयः—दुर्जनेन समम् क्वचित् न स्थातव्यम् न गन्तव्यम्, काकसर्गात्
तिष्ठन् हंस गच्छन् च वर्त्तक हत ॥ २३ ॥

दुर्जनेन = दुष्टेन । समम् = साद्धम् । क्वचित् = कदापि । न स्थातव्यम् = न
वस्तव्यम् । न गन्तव्यम् = न गमनीयम् । काकसर्गात् = काकेन सह संगमात् ।
तिष्ठन् = वसन् । वर्त्तक (वक्तक) पक्षिविशेषः । हत = व्यापादित ॥ २३ ॥

और भी—‘दुष्ट के साथ न तो रहना चाहिए और न तो कही जाना ही
चाहिए । कौबे के साथ रहने से हंस और साथ जाने से वक्तक मारा गया’ ॥

राजा ने कहा—‘यह कैसे हुआ ।’ सुग्गे ने कहा—

कथा ४

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः । तत्र हंस काकौ निवसतः ।
कदाचित् ग्रीष्मसमये परिश्रान्त कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनु-
ष्काण्डं सनिधाय सुप्तः । तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद् वृक्षच्छाया-
पगता । ततः सूर्यतंजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य, तद्वृक्षस्थितेन
पुण्यशीलेन शुचिना सेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे

छाया कृता । ततो निभरनिद्रासुखिना पथिन्नमप्यपरिभ्राम्णेन पान्थेन
मुञ्चम्यादानं कृतम् ।

अथ परमुञ्चमसहिष्णुः स्वभाषदोर्जस्येन स काव्यस्तस्य मुखे
पुटीपोत्सर्गो कृत्वा पञ्चापिता । ततो पान्थसौ पान्थ उद्यापोर्षे
निरीक्षते, तावत्तेनाबधोक्तो हंसः काव्येन हृतो म्यापादितः ।
अतोहं प्रवोमि—'न स्यात्तदय'मिति ॥ ३ ॥

'इह ! वर्तककथामपि कथयामि । श्रूयताम्—

उद्यमिनीवर्तप्रान्तरे = उद्यमिनीदूरदुग्धमार्ये । पञ्चतक = वर्तकीदुग्धः ।
तत्र = तस्मिन्मुखे । कथावित् = कस्मिन्मुखे काव्ये । प्रीत्यसमये = प्रीत्यर्थम् ।
परिभ्राम्ण = पान्थकाम्ण (यथा ह्यथा) अनुकाम्यम् = अनुकाम्यम् । संनिधान =
बिभरस्तके कृत्वा । मुक्त = मुक्तवान् । कथान्तरे = मुक्तान्तरे । उद्यम्यम् = पथि
कस्य ज्ञानगतम् । अथपठः = पुटीमुक्ता । सुपठेयता = स्व्यत्पठेन । अहम् = परि
पुत्रम् । पुण्यकीर्तन = पुण्यस्वभावत्वेन । सुविता = पथिनावरत्नेन । ह्यपवा =
वचना । पथी प्रसार्य = पथप्रसारणं विद्याय । उद्युक्ते = पथिकान्ते । निर्भरनिद्रा-
सुखिना (निर्भरा निर्भया वा निद्रा तस्याम् सुखी वा स तेन) = वि-कथयिता
सुख कथनमात्रेण । तत्र = पान्थेन । मुञ्चम्यादानम् = मुञ्चविवरणम् । परमुञ्चमस-
हिष्णुः = अमान्यसहने बधक । स्वभाषदोर्जस्येन = प्रकृतिदुष्टत्वेन । पुटीपोत्सर्गम् =
विभ्राम्णामम् । पञ्चापित = पञ्चमयम् कृतवान् । पञ्चान = विभ्रं त्यक्त्वा । अर्षे =
बुधोपरि । निरीक्षते = वक्षति । अबधोक्त = इह । काव्येन = कथ्येन । हृत =
हासितः । म्यापादित = मारितः ।

उद्यमिनी वाले वाले मार्ग में एक वाक्य का मुख है । वहाँ हंस और कोवा
एक छान रहते थे । एकबार बर्मी के मीठय में कोई यथा ह्यथा रहती वह मुख के
बीचे अनुभ कर रखकर छो गया । मुख ही देर में बसके मुख के ऊपर से पेश की
जाया हट गयी । उसके मुख पर बसती हुई सुर्न की सुन को देखकर बसती मुख
पर बैठे हुए हंस ने बसा करके अपने बसो को फेंकाकर बिबर बसके मुँह पर जमा
कर ली । नीचे में मुख से विभ्रित छोए हुए रही ने अपना मुँह खोले दिया ।
हसरो के मुखकी व बहन कर बसके वाले तथा स्वभाव ही से मुख कीने ने बसके
मुख से बीड कर दिया और वहाँ से उठ भी गया । जब वह रही ने उठकर
ऊपर देखा तो उसने हंस को देखा और उसे अनुभ के डके से मार गया ।
इसलिए मैं कह रहा हूँ कि नहीं रहना चाहिए' इत्यादि । उद्यम्, बसत की
की कथाकी सुना रहा है । सुविप्—

कथा ५

एकत्र वृक्षे काक-वर्त्तकौ सुखं निवसतः । एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरङ्गताः । ततः काकेन सह वर्त्तकश्चलितः । अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकावस्थितदधिभाण्डाद्वारं वारं तेन काकेन दधि स्नाद्यते । ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते, तावत्तेन काकवर्त्तकौ दृष्टौ । ततस्तेन दृष्टः काकः पलायितः । वर्त्तकः स्वभावनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादितः । अतोह ब्रवीमि—‘न गन्तव्यम्’ इत्यादि ॥ ❀ ॥

ततो मयोक्तम्—‘भ्रातः शुक ! किमेवं ब्रवीषि ? मां प्रति यथा श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि ।’ शुकनोक्तम्—‘अस्त्वेवम्’ । किन्तु—

एकदा=एकस्मिन् काले । यात्राप्रसङ्गेन=दर्शनप्रसङ्गेन । पक्षिण=खगा । समुद्रतीरम् = सागरम् तटम् । गता = प्राप्ता । गोपालस्य=गोपस्य । मस्तकावस्थितदधिभाण्डात्=(मस्तके अवस्थितम् यत् दधिभाण्डम् तस्मात्) शिर स्थित-दधिपात्रात् । असौ=गोप । स्वभावनिरपराध = प्रकृत्या दोषरहित । मन्दगतिः (मन्दा गतिर्यस्य म) =मन्द मन्दम् सचरणशील । श्रीमद्देव=अस्मत्प्रभु ।

एक वृक्ष पर कौवा और वत्तक एक साथ सुख से रहते थे । एक बार घूमते घूमते हुए सारे पक्षी समुद्र के किनारे भगवान् गरुड का दर्शन करने चले । उस समय कौवे के साथ वत्तक भी चला । कौवा रास्ते में जाते हुए ग्वाले के दही के बर्तन से बार-बार दही खा लिया करता था । जब उसने दही का बर्तन जमीन पर रखकर ऊपर देखा तब उसे कौवा और वत्तक दोनों दिखाई पड़े । उसने दोनों को दौड़ाया, लेकिन कौवा तो भाग गया और स्वभाव से ही मोला माला तथा धीरे-धीरे चलने वाला वत्तक पकड़ा गया और मार डाला गया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—‘न चलना चाहिए’ इत्यादि । तब मैंने कहा—‘माई सुग्गे, ऐसा क्यों कह रहे हो । मेरे लिए जैसे महाराज हैं वैसे ही तुम भी हो ।’ सुग्गे ने कहा—‘ऐसा हो सकता है’ किन्तु—

‘दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि, प्रियाण्यपि ।

अकालकुसुमानीध भयं सञ्जनयन्ति हि’ ॥ २४ ॥

अन्वयः—संमतानि प्रियाणि अपि दुर्जनैरुच्यमानानि अकालकुसुमानि द्वि हि भय संजनयन्ति ॥ २४ ॥

एवागत. । पश्चात्तेन जारेण सम तस्मिन् पर्यङ्के निर्भरं क्रीडन्ती, पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिन मायाविनं विज्ञाय, मनसि सा विषण्णाभवत् ।

ततो जारेणोक्तम्—‘किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ? । विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम् ? ।’ अथ तयोक्तम्—
‘अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मम प्राणेश्वरो—येन ममाकौमारं सख्यं, सोद्य ग्रामान्तर गतः । तेन विना सकलजनपूर्णाऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवत्प्रतिभाति । किं भावि ? तत्र परस्थाने किं खादितवान् ? । कथं वा प्रसुप्तः ?—इत्यस्मद्भृद्यं विदीर्यते ।

जारो ब्रूते—‘तव किमेवविधा स्नेहभूमि रथकारः ? ।’

बन्धक्यवदत्—‘रे चर्वर ! किं वदसि ? । शृणु—

बन्धकीं=कुलटाम् । जारेण समम्=जारेण सह । स्वचक्षुषा=स्वनेत्रेण । एक स्थाने=एकस्मिन् स्थले, एकान्ते इत्यर्थं । कियद्दूरम्=किञ्चित् मागंम् । पर्यङ्क-तले = शय्यातले । निर्भृतम् = प्रच्छन्नम् । ग्रामान्तरम् = अन्यग्रामम् । उपजात-विश्वास = विश्वस्त सन् । आगत = रथकारस्य गृहे आगतवान् । क्रीडन्ती = विनोद कुर्वन्ती । पर्यङ्कतलस्थित=शय्यातले उपविष्टस्य । भर्तुं = स्वस्वामिन । अङ्ग-स्पर्शात्=अंगसगाद् । मायाविनम्=कपटकारिणम् । विज्ञाय=ज्ञात्वा । विषण्णा= नितान्तम् उदासीना । निर्भरम् = भृशम्, एकचित्तेन इत्यर्थं । विस्मिता इव = चकिता इव । अनभिज्ञ = अज्ञ । आकौमारम् सख्यम् = कौमार्यावस्थाया आरम्य अद्यावधि प्रीति । सकलजनपूर्णं = मनुष्यसकुल अपि । अरण्यवत् = काननवत् निर्जनं । प्रतिभाति=ज्ञायते । किं भाषि=किं भविष्यति । परस्थाने=अन्यस्थाने । स्नेहभूमि =स्नेहस्थानम्, प्रिय इत्ययं ।

धोवनश्रीनगर में मंदमति नाम का एक बढई रहता था, वह अपनी पत्नी को दुराचारिणी तो समझता था किन्तु उसने अपनी आँखों से उसे जार के साथ कमी नही देखा था । एक दिन वह—‘मैं दूसरे गाँव में जा रहा हूँ’ ऐसा कहकर चला गया किन्तु दूर जाकर वह फिर लौट आया और अपने घर ही में चारपाई के नीचे चुपचाप बैठ गया । ‘बढ़ई तो दूसरे गाँव में चला गया है’—इस विचार से निश्चिन्त होकर वह जार घाम ही को आ गया । इसके बाद चारपाई पर उसके साथ उपभोग करते समय बढ़ई की स्त्री का कोई अंग चारपाई के नीचे पड़े हुए पति के शरीर से छूता था । उसने छल करने वाले स्वामी की पहिचान लिया और वह उदास हो गई । तब जार ने कहा—‘आज तुम निश्चिन्त होकर

मेरे साथ क्यों नहीं रमक कर रही हो । आज तुम मुझे कुछ शक्ति ही दिखाई पड़ रही हो । तब उन्होंने कहा— क्या तुम नहीं जानते हो कि कुमारवत्सा ही ते प्रिय मेरे स्वामी आज दूसरे बाँध गए हैं । सभी लोगों से घरा हुआ वह बाँध आज मुझे बँधक बैठा कर रहा है । दूसरी बन्ध पता नहीं क्या होये क्या बाँधे होये कैसे छोड़ होये । वह सोचकर मेरा हृदय कट रहा है । बार ते कहा—‘क्या वह बड़ई तुम्हें इतना प्रिय है । उठ कुलधने कहा—‘रे बँधकी क्या कह रहा है ? मुझे—

‘परुपाद्यपि या प्रोक्ता ह्यया या क्रोधवसुया ।

सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्ममाजनम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—या (नारी परमा) परुपादि नपि प्रोक्ता क्रोधवसुया ह्यया भर्तुः (वसे) सुप्रसन्नमुखी (हस्यते) सा (नारी) धर्ममाजनम् (भवति) ॥ २६ ॥
परुपादि—कठोरानि भवनानि । क्रोधवसुया—क्रोधपुनर्विषय । भर्तुः—स्वामिभ्य वसे । सुप्रसन्नमुखी—सुसुखवचना । धर्ममाजनम्—धर्ममाविनी ॥ २६ ॥

वति द्वारा कठोर बातें कहने पर और क्रोध घरी बाँधोंसे देखनेपर भी भी श्री सुप्रसन्नमुख रहती है वही धर्ममाविनी होती है ॥ २६ ॥

अपरच्छ—‘नगरस्वो, वनस्वो वा पापो वा यदि वा शुचिः ।

पासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता, तासां लोका महोदयाः’ ॥२७॥

अन्वयः—नपरस्व-वनस्व-वा पाप-वा यदि-वा शुचि-भर्ता वाताम् स्त्रीणाम् प्रिय-तासाम् महोदया-लोका- (भवति) ॥ २७ ॥

नपरस्वः—नगरे स्थित । वनस्वः—वन्धे स्थित । पाप = बलाघारी । शुचिः—व्यथितः । भर्ता—वति । प्रियः—प्रियतरः । महोदया = तन्मूर्धमुखराः । लोका = स्वर्गादयः ॥ २७ ॥

और भी—चाहे नपरीं में रहने वाला हो वा बचक मे चाहे पापी हो वा पुण्यवत्मा फिर भी जो श्री अपने वति से प्रेम करती है वह उत्तम लोगों (स्वर्गादि) को प्राप्त करती है ॥ २७ ॥

अन्वयः—‘भर्ता हि परमं नार्था मूर्ध्वं भूपथैर्विना ।

एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभते’ ॥ २८ ॥

अन्वयः—भूवने विना (वति) भर्ता हि नार्थाः परमम् भूवचम् (वस्ति) तेन विरहिता (भूवने) शोभनापि एषा न शोभते ॥ २८ ॥

भूषणं विना=अलङ्कारै रहिता । भर्ता=पति । नार्या =ललनाया ।
परमम् भूषणम्=सर्वोत्कृष्टालङ्कार । तेन विरहिता=भर्ता हीना । शोभना=
सुशोभिता । एषा=नारी । न शोभते=शोभा न घत्ते ॥ २८ ॥

और भी—चाँदी सोने के गहनों से रहित होने पर भी पति ही स्त्री का सबसे श्रेष्ठ आभूषण होता है क्योंकि गहनों से लदी होने पर भी पतिहीना स्त्री सुशोभित नहीं होती है ॥ २८ ॥

त्वञ्च जारः पापमतिः, मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित्-
सेव्यसे, कदाचिन्न सेव्यसे च । स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं,
देवेश्यो, ब्राह्मणेभ्यो वा दातुमीश्वरः । किं बहुना ? 'तस्मिन्जीवति
जीवामि, तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामी'ति प्रतिज्ञा वर्त्तते । यतः—

जार =परदारोपभोगी । पापमति =दृष्टबुद्धि । मनोलौल्यात् =चित्त-
चाञ्चल्यात् । पुष्पताम्बूलसदृश =कुसुमनागवल्लीपत्रसदृश । सेव्यसे=उपभुज्यसे ।
ईश्वर =प्रभु समर्थश्च । तस्मिन्=पत्यौ । जीवति=प्राणधारण कुर्वति सति ।
अनुमरणम्=तस्यानुगमनम् ।

तुम जार और पापी हो । मन की चंचलता से फूल-पान की तरह कमी स्त्री का भोग करते कमी नहीं करते हो । वह मेरा पति मुझे देव भी सकता है तथा देवतार्थों और ब्राह्मणों को दे भी सकता है । अधिक क्या कहें । यह मेरी प्रतिज्ञा है कि 'उसके जीते जी जीती रहूँगी और मरने पर सती हो जाऊँगी ।' क्योंकि—

'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।

तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्तारं योऽनुगच्छति' ॥ २९ ॥

अन्वयः—या (नारी) भर्तारम् अनुगच्छति सा, मानवे यानि तिस्र कोट्यः
अर्धकोटी च लोमानि तावत् कालम् स्वर्गं वसेत् ॥ २९ ॥

भर्तारम्=स्वामिनम् । अनुगच्छति=अनुसरति । मानवे=मनुष्यदेहे । तिस्र -
कोट्य अर्धकोटी च = (सार्धकोटित्रयमितानि) साढ़े तीन करोड । लोमानि=
रोमाणि । तावत्कालम्=तावत्कालपर्यन्तम्, सार्धत्रिकोटिवर्षपर्यन्तम् ॥ २९ ॥

जो स्त्री स्वामी के मरने पर सती हो जाती है वह मनुष्य शरीर में जो साढ़े तीन करोड रोएँ होते हैं उतने ही अर्थात् साढ़े तीन करोड वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है ॥ २९ ॥

अन्यच्च—'व्यालमाही यथा व्यालं बलादुद्धरते विलात् ।

तद्वद्भर्तारमाशय स्वर्गलोके महीयते' ॥ ३० ॥

अन्वयः—यथा व्याकृताही बिलात् व्याकृतम् बलात् उच्यते तत्र (नारी)
पठारम् । (तरकात्) आवाप स्वर्बलोके महीमते ॥ १ ॥

व्याकृताही—सर्वदाही (संपेरा) । व्याकृतम्—सर्वम् । बलात्—हठम् ।
उच्यते—तेन प्रकारिणम् । आवाप—तरकात् उच्यते । महीमते—पूज्यते ॥ १ ॥

बीर भी—बीठे संपेरा बलपूर्वक बिल है सोप को बीचकर अपने साम
के बाटा है उसी प्रकार सती स्त्री भी अपने स्वामी को तरक से बीचकर अपने
साम स्वर्ब के बाटी है ॥ १ ॥

अपराध—‘चित्तौ परिध्वज्य विचेतनं पतिं,
मिषा हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।

इत्स्वापि पापं पातकसमप्यसौ

पतिं पृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—या हि मिषा चित्तौ विचेतनम् पतिम् परिध्वज्य आत्मन देहम्
मुञ्चति अतो पातकसमं पापम् इत्स्वापि पतिं पृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

या हि मिषा—या स्त्री । चित्तौ—चित्तवाम् । विचेतनम्—मृतम् । पतिं—स्वामि
नम् । परिध्वज्य—आविर्ज्वलं इत्या । आत्मनः—स्वस्य । देहम्—परीरम् । मुञ्चति—
त्यागति । अतो—सती नारी । पतिं पृहीत्वा—पठारिमावाप । सुरलोकम्—
स्वर्बम् । माप्नुयात्—आप्भ्येत् ॥ ३१ ॥

बीर भी—

इसके अतिरिक्त भी बिल पर मरे हुए पति को झठी से कबाकर लो ली
अपने घरीर का परित्याग कर देती है वह सैकड़ों पाप करने पर भी पति को
केकर स्वर्ब नहीं जाती है ॥ ३१ ॥

अतः—‘यस्मै दद्यात्पिता त्वेतां भ्राता चासुमते पितुः ।

तं श्रुभूषेत जीवन्तं संस्थितञ्च न कृण्वेत् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—पिता वा पितुः अनुमते भ्राता यस्मै एताम् दद्यात् (नारी)
जीवन्तम् तं श्रुभूषेत संस्थितञ्च न कृण्वेत् ॥ ३२ ॥

पितुः अनुमते—पितुः अनुमते हाठ । यस्मै—पुरुषाय । एताम्—नन्याम् ।
जीवन्तम्—अतन्तम् । तम्—पुरुषम् पतिमित्स्वर्ब । श्रुभूषेत—देवेत् । तन्त्रि
तञ्च—मृतम् च । न कृण्वेत्—न अतिचरेत् । अन्नुभूषेत इत्यर्थ ॥ ३२ ॥

क्योंकि—

‘स्त्री को चाहिए कि उसका पिता या पिता की राय से भाई भी उसे जिस पुरुष को समर्पित कर दे, उसकी वह जीवन भर सेवा करे और उसके मरने पर भी उसका साथ न छोड़े’ ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमतिः स रथकारः—‘घन्योहं यस्येदृशी प्रियवादिनी, स्वामिवत्सला च भार्ये’ति मनसि निधाय, तां स्रष्ट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा, सानन्दं ननत् । अतोऽहं ब्रवीमि—‘प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे’—इत्यादि ॥

अतोऽह तेन राज्ञा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः । शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते । एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्तव्यमनुसन्धीयताम् ।

चक्रवाको विद्वस्याह—‘देव ! वकेन तावद् देशान्तरमपि गत्व यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम् । किन्तु देव ! स्वभाव एष मूर्खाणाम्’ ।

मन्दमति = कुण्ठितबुद्धि । घन्योऽहम् = प्रशस्योऽहम् । प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी । स्वामिवत्सला = पतिप्रेमकारिणी । निधाय = सस्थाप्य, विचार्यैत्यर्थः । स्त्रीपुरुषसहिताम् = निजपत्नीनारसयुक्ताम् । मूर्ध्नि कृत्वा = शिरसि आदाय । सानन्दम् = सहपम् । ननत् = नृत्य कृतवान् । तत = तदनन्तरम् । तेन राज्ञा = मयूरनृपेण । यथाव्यवहारम् = यथायोग्यम् । सपूज्य = सम्मान्य । प्रस्थापित = प्राहिणोत् । परिज्ञाय = विमृश्य । यथाकर्तव्यम् = यथाकरणीयम् । अनुसन्धीयताम् = विचार्यताम् । देशान्तरमपि गत्वा = अन्यदेशमपि प्राप्य । राजकार्यमनुष्ठितम् = राजकार्यम् कृतम् । अत्र द्यङ्ग्योक्तिः स्वदोर्जन्येन भवान् विग्रहे निपातित वकेनेत्यर्थः ।

यह सब सुनकर उस बड़ई ने कहा—‘मैं घन्य हूँ । जिससे इतनी मधुरभाषिणी और पतिप्रिया स्त्री प्राप्त हुई है ।’ वह मन में इस प्रकार सोचते हुए स्त्री पुरुष सहित चारपाई को सिर पर उठाकर नाचने लगा । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—‘प्रत्यक्ष दोष करने पर भी’ इत्यादि ।

इसके बाद राजा चित्रवर्ण ने मेरा यथोचित सम्मान करके मुझे बिदा किया । सुग्गा नी मेरे पीछे आ रहा है । यह सब जानकर अब क्या करना चाहिए, इस पर आप विचार करें ।

चक्रवे ने हँसकर कहा—‘देव ! इस वगुले ने विदेश में जाकर भी यथाशक्ति राज्यकार्य ही किया है । (अपनी दुष्टता से राज्य को धुद्ध में फँसा दिया) । किन्तु हे राजन्, मूर्खों का तो स्वभाव ही यही है । क्योंकि—

यतः—‘उत्तं वचात् विवरे’ इति यिज्यस्य संमतम् ।

यिना हेतुमपि द्रष्टृमेतन्मूयस्य सप्तमम् ॥ ३३ ॥

अन्वयाः—उत्तं वचात् (किन्तु) न विवरे इति यिज्यस्य संमतम् । हेतुं विनापि द्रष्टृम् एतत् मूर्तस्य सप्तमम् (अस्ति) ॥ ३३ ॥

न विवरे इति विवरे न पुंसि । यिज्यस्य=विद्युत् । संमतम्=सिद्धास्य अस्ति । हेतुं विनापि=कारणम् विनापि । द्रष्टृम्=कलत्र ॥ ३३ ॥

नोटिबों का यह सिद्धांत है कि ईकरो ईकर भी समझ नहीं करना चाहिए और अकारण ही संवर्ध करना तो भूखों का काम है ॥ ३३ ॥

राजाह— अहममेनातीतोपाहममनं प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् । अक्रपाको ज्ञते— देव ! यिज्यने ज्ञयीमि । यतः—

अतीतोपाहममिन=अतीतम्=अतीतस्य अपाहममिन = निन्दया । प्रस्तुतम्=बहुपरिवृतम् । यिज्यने=एकाले । ज्ञयीमि=कथयामि ।

राजा ने कहा— बीछी हुई बात पर किसी को उकाहना देना ठीक नहीं । जब भी जानने है उस पर विचार करो । अक्रपाक ने कहा— देव मैं एकाल में कर्तूना ।’ लोकि—

‘वर्णाकार-प्रतिष्ठावैर्नैववक्त्रविकारतः ।

अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्’ ॥ ३४ ॥

अन्वयः—वीराः वर्णाकारप्रतिष्ठावैर्नैववक्त्रविकारत मन्त्रं अपि ऊहन्ति तस्मात् रहसि मन्त्रयेत् ॥ ३४ ॥

वर्णाकारप्रतिष्ठावैर्=वर्णैः = रङ्गैः, वक्त्रैः = आकृतिभिः । प्रतिष्ठावैः=सर्वैः । नैववक्त्रविकारत=नवनमुक्तवक्त्राभेदेन । वीराः=मूर्च्छितज्ञानकुण्डलाः । मन्त्रं=मनोवचनम् भावम् । ऊहन्ति = कथयन्ति । रहसि = एकाले । मन्त्रयेत्=मन्त्रयाम् पुंसि ॥ ३४ ॥

एव रंय आकृति कन्व वीर वीर-मुँह का बलता-विदग्धता ईककर बन्धीर अस्ति मन्त्र की चाह या बात है अतः विचार-विमर्श एकाल में करना चाहिए ॥

ततो राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ अन्वयेऽप्यत्र यतः । अक्रपाको ज्ञते—‘देव ! जहमेधं जानामि—‘कस्याप्यधमक्षिपीमिनः मेरेजया अकेनेदमपुङ्गवम् । यतः—

अन्ये=अपरजना । एवं जानामि=एव तर्कयामि । अस्मान्नयोगिन = अस्म-
द्राजकमचारिण । प्रेरणया=उत्तेजनया । इदम् = विग्रह । अनुष्ठितम्=कृतम् ।

राजा और मंत्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए ।
चकवे ने कहा—‘राजन्, मुझे तो ऐसा लगना है कि किसी राज्य कमचारी के
उकसाने से ही वगुले ने ऐसा किया है ।’ क्योंकि—

‘वैद्यानामातुरः श्रेयान्, व्यसनी यो नियोगिनाम् ।

विदुषां जीवनं मूर्खः, सद्धर्णो जीवनं सताम्’ ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वैद्यानाम् आतुर नियोगिनाम् य व्यसनी (स नृप) श्रेयान् ।
मूख विदुषाम् जीवनम् (अस्ति) सद्धर्णं सताम् जीवनम् (अस्ति) ॥ ३५ ॥

आतुर = रोगी । नियोगिनाम् = राजपुष्पाणाम् । य = नृप । व्यसनी =
विपत्तिग्रस्त, मद्यमृगयादिव्यसनेषु आसक्तश्च । श्रेयान् = श्रेष्ठ, जीविकादानेन
सुखद इत्यर्थे । विदुषाम्=विद्यावताम् । जीवनम्=वृत्तिप्रदानेन जीवनदायक ।
सताम्=सज्जनानाम् । सद्धर्णं=ब्राह्मण-क्षत्रियादिवर्णं ॥ ३५ ॥

वैद्यों के लिए रोगी, कर्मचारियों के लिए स्वामी का आपत्तियो में फँसना,
विद्वानों के लिए मूर्ख, सज्जनों के लिए कुलीन ही उनका जीवन होता है ॥ ३५ ॥

राजाब्रवीत्—‘भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति
यत्कर्त्तव्यं तन्निरूप्यताम् ।’ चक्रवाको ब्रूते—‘देव ! प्रणिधिस्तावत्तत्र
प्रहीयताम् । ततस्तदनुष्ठानं, वलावल च जानीमः’ । तथाहि—

अत्र=अस्मिन् उपस्थिते विषये । कारणम्=हेतु, निरूपणीयम् = विचारणी-
यम् । सम्प्रति=अधुना । यत्कर्त्तव्यम्=यदाचरणीयम् । निरूप्यताम् = उच्यताम् ।
प्रणिधि = गुप्तचर । प्रहीयताम्=प्रेष्यताम् । तत् = तस्य शत्रो । अनुष्ठानम्=
अभिमतम् कृतव्यम् वा ।

राजा ने कहा—‘अच्छा, जो हो, किंतु कारण पर पीछे विचार करो ।
इस समय क्या करना चाहिए उसे निश्चय करो ।’ चकवे ने कहा— राजन् पहले
गुप्तचर भेजिए । जिससे शत्रु की अभिलाषा और उसकी सबलता तथा निबलता
को हम लोग जान लें ।’ जैसा कि—

‘भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने ।

चारश्चक्षुर्महीमर्तु र्यस्य नास्त्यन्ध एव सः’ ॥ ३६ ॥

अन्वयः—स्वपरराष्ट्राणाम् कार्याकार्यावलोकने (नृप) चारश्चक्षु (भवति)
यस्य महीमर्तुं (तत् चक्षु) नास्ति स अन्ध एव (भवति) ॥ ३६ ॥

स्वरात्प्राणात् = निश्वासात्प्राणात् । कार्त्वाकार्त्वावतोकने = कार्त्वात्पुनः
 विवर्तकत्वात्पुनः अत्रकार्त्वावतोकने = अत्रनि । चारचतु = चारनेत्र । महीपुत्रु = मुरम्ब ।
 अम्ब = नैवहीन । चाररहितो गुण = नैवहीन अम्ब = इव लोकरचनेऽप्यत्रः
 इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

राजा अपने देत तथा अन्य देवों के अच्छे बुरे कार्यों का ज्ञान गुह्यरूपी
 जाँच से ही प्राप्त करता है । अतः बिना राजा के पास गुह्यरूपी हीना वह
 जाँच होने हुए भी बर्बा होता है ॥ ३६ ॥

एतच्च द्वितीयं विश्वाद्यपात्रं गृहीत्वा यातु । तेनासी स्वयं उत्रा-
 यस्याय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिवृत्तं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्था-
 पयति । तथा चोक्तम्—

द्वितीयम्—अम्बम् गुह्यरम् । विश्वाद्यपात्रम्—विश्वाद्यपात्रम् । यातु—नक्तु ।
 असी—गुह्यरः । तत्र—अत्रुत्पद्ये । अत्रस्याय—अत्रति इत्या । तत्रत्यमन्त्रकार्यम्—
 अत्रुत्पद्ये मन्त्रकार्यम् । तेन निश्चितानि कार्याणि च । सुनिवृत्तम् = अतिपुण्यम् ।
 निश्चितम्—निश्चितं इत्या । निगद्य = इत्या । प्रस्थापयति = प्रैषयति ।

इस एक दूसरे विश्वाद्यपात्र गुह्यर को अपने हाथ कैद कर जाय । वह ही नहीं
 स्वयम् है और वहाँ कि तभी कार्यों को निश्चित मन्त्री जाँचि समझकर दूसरे
 महापुरु को समझा कर वहाँ भेज दे । जैसा कि कहा भी है—

‘तीर्थं भ्रम सुरस्थाने शास्त्रविद्वानहेतुना ।

तपस्विद्वयज्ञानोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—तीर्थं भ्रम सुरस्थाने शास्त्रविद्वानहेतुना तपस्विद्वयज्ञानोपेतैः स्वचरैः
 सह संवसेत् ॥ ३७ ॥

तीर्थं—पुण्यस्थाने । आश्रमे = तपोवने । सुरस्थाने = देवालये । शास्त्रविद्वान-
 हेतुना = शास्त्रकार्त्वाकार्त्वावतोकने अत्र इत्या । तपस्विद्वयज्ञानं = मुनि-
 ज्ञानादिद्वयज्ञानम् । उपेतैः—पुण्यैः । स्वचरैः = निजप्रतिनिधिभिः । सह = साथम् ।
 संवसेत्—निवासं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

तीर्थं स्थान मे किसी साधु के आश्रम मे बनना देवालय मे तपस्वियों का
 बैठ बारण करके शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के बहाने प्रभाव गुह्यर को अपने
 महापुरु गुह्यरों के साथ निवास करना चाहिए ॥ ३७ ॥

गृह्यधारण—यो अच्छे स्थले च अरति । ततोऽसावेन यको

नियुज्यताम् । एतादृश एव कश्चिद्भ्रको द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गृह-
लोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु । किन्तु एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् ।

गूढचार = गुप्तदूत । जले स्थले = सर्वत्र समानतया । चरति = गच्छति ।
नियुज्यताम् = चारकर्मणि नियुक्त क्रियताम् । द्वितीयत्वेन = सहायकरूपेण ।
प्रयातु = गच्छतु । तद्गृहलोका = नयो स्वजना । राजद्वारे = राजगृहे । तिष्ठन्तु =
निवास कुर्वन्तु । एतत् अपि = चरप्रेषणमपि । सुगुप्तम् = मुनिमृतम् । अनुष्ठातव्यम् =
कतव्यम् ।

गुप्तचर वही हो सकता है जो जल और स्थल में समान रूप से आ जा
सके । इसलिए इसी बगुले को ही गुप्तचर नियुक्त करें । ऐसा ही एक दूसरा
बगुला भी इसके साथ जाय और इसके घर के लोग राजदरवार में आकर रहें
किन्तु राजन्, यह सभी गुप्त रूप से होना चाहिए । क्योकि—

यतः—‘पट्कर्णो मिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वात्तया’ ।

इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३८ ॥

अन्वयः—पट्कर्णं तथा वात्तया प्राप्तश्च मन्त्र मिद्यते (अत) महीभृता
आत्मना द्वितीयेन मन्त्रं कार्यं ॥ ३८ ॥

पट्कर्णं = त्रिमि जनै कृत । वात्तया प्राप्त = पुरुषान्तरेण सदृष्ट ।
मन्त्र = मन्त्रणा । मिद्यते = भेदमुपयाति । इति = इति हेतो । आत्मना = निजेन,
द्वितीयेन येन सह मन्त्रं कार्यं तेन, द्वाभ्यामेवेति भाव । महीभृता = नृपेण ॥ ३८ ॥

छ कानो में पढी हुई तथा सन्देश रूप से कहलाई गई मन्त्रणा प्रकट हो
जाती है । अत राजा को चाहिए कि वह स्वयं अपने निजी आदमी के साथ
विचार विमर्श करे ॥ ३८ ॥

पश्य—‘मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः ।

न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—मन्त्रभेदे (सति) पृथिवीपते ये दोषा भवन्ति ते समाधातुम् न
शक्या इति नीतिविदाम् मतम् ॥ ३९ ॥

मन्त्रभेदे = मन्त्रस्य भेदमुपगते । पृथिवीपते = भूपते ये दोषा = विपत्त्यादयः ।
समाधातुम् = समाधानम् कर्तुम् न शक्या = न योग्या । नीतिविदाम् = नीतिज्ञ-
पुरुषाणाम् । मतम् = विचार ॥ ३९ ॥

देखो—

गोविन्दों का यह एक विचार है कि मंत्रणा ने बूट जाने से जो शेष राजा ने
जा चाते हैं उनका समाधान किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता ॥ ३९ ॥

राजा विभूषयोवाच—'मासस्तायम्नयोत्तमा मणिधिः ।' मन्त्री
प्रुते—'देव । सङ्ग्रामं यिज्ञयोऽपि मासः ।

विभूषण = विचार्य । उत्तम = श्रेष्ठः सुत्तर । मास = कर्मः पूर्वमेव
निमुक्तः इत्यर्थः ।

राजा ने विचार करते कहा कि— मुझे अच्छा सुत्तर मिल गया है ।
मन्त्री ने कहा—'तो सत्राम में विभव की मास हीरी ।

अत्रान्तरे मतीद्वारा मयिदय मज्ज्यावाच—'देव । अम्बुसोपा-
वाप्तो द्वारि शुक्रस्तिष्ठति । राजा अकथाकमाद्योक्ते ।

अकथाकमोक्तम्— कृतायासे तावद् गार्या तिष्ठतु, पद्यादानीय
प्रुक्तम् । 'यथासापयति देवः । इत्यभिधाप मतीद्वारा शुक्रं गृहीत्या
तमायासस्यानं यता । राजाह—'विमहस्तापरसमुपस्थिता । अक-
थाको प्रुत—'देव । तथापि मागेव विमहा न विधिः । यता—

अत्रान्तरे=अग्निसमेव काले । मतीद्वार = द्वारपाल । मयिदय = उपासक ।
जापय = जायात । आलापने = 'कि विवेकम् दायाद्येव वदति । आवासे =
अग्निविदुः । तिष्ठतु=जायानं करानु । विवह = युद्धम् । उपस्थिता = उद्युक्ता
यता । मागेव=वचनमेव न विधि = भाषितः ।

इसी बीच द्वारपाल ने बाहर राजा की आज्ञा देवा कीर कर—'राज्यं
अम्बुसोपा ने बाबा हुआ गुना द्वार पर कहा है । राजा ने बड़के की ओर देवा ।

बड़के ने कहा—'मे बाहर अग्निविद्याला में ठहरा हो । द्वार में बाहर
दयन कराना ।' 'देवी धीवाद् की आज्ञा' वह बरकर द्वारपाल उसे लेकर
अग्निविद्याला में गया देवा । राजा ने कहा—'मह लो बुट जायने जा देवा ।
बड़के ने कहा— देव बहुत ही बुट जाना उचित नहीं है । कर्त्तव्य—

न हिभूरवा न हिमन्त्री न आदायव भूपतिम् ।

सुसोयोग उरभूपानं निर्दिशारयविकास्तिम् ॥ ४० ॥

अम्बुवा—न आसाव वुरतिद् बुटलोद् उरभूपानम् विदितां न हि
भुच न विवरी (उर'१) ॥ ४ ॥

य = मृत्यु मन्त्री च । आदावेव = प्रथममेव, अन्योपाये विद्यमाने सति प्रथममेव इत्यर्थः । भूपतिम्=नृपतिम् । अविचारितम् = विचार विनैव । युद्धोद्योगम् = विग्रहाय प्रयत्नम् । स्वभूत्यागम् = स्वदेशात् पलायनम् । निर्दिशति= उपदिशति । किंभृत्यः=कृतिसत् सेवकः । किमन्त्री=अयोग्योऽमात्यः ॥ ४० ॥

विना सोचे समझे पहले ही राजा को लड़ाई करने अथवा देश त्याग की राय देने वाला मन्त्री दुष्ट मन्त्री और सेवक दुष्ट सेवक होता है ॥ ४० ॥

अपरं च—‘विजेतु प्रयतेतारीन् युद्धेन कदाचन ।

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः’ ॥ ४१ ॥

अन्वयः—कदाचन युद्धेन अरीन् विजेतुम् न प्रयतेत । यस्मात् युद्धमानयो विजय अनित्य दृश्यते ॥ ४१ ॥

कदाचन=जातुचित् । युद्धेन = विग्रहेण । अरीन् = शत्रून् । विजेतुम्=विजय कर्तुम् । प्रयतेत=प्रयत्नम् कुर्यात् । यस्मात्=यत । युद्धमानयो =युद्ध कुर्वाणयो । विजय =विजयलाम । अनित्य =अनियत । दृश्यते=अवलोक्यते ॥ ४१ ॥

इसके अतिरिक्त—युद्ध द्वारा शत्रु को जीतने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों लड़ने वाले की विजय अनिश्चित दिखाई देती है (जीतने वाला भी पीछे हार सकता है अतः विजय अनिश्चित होती है) ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—‘साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक् ।

साधितु प्रयतेतारीन्, न युद्धेन कदाचन’ ॥ ४२ ॥

अन्वयः—साम्ना दानेन भेदेन समस्तै अथवा पृथक् अरीन् साधयितुम् प्रयतेत, किन्तु युद्धेन कदाचन न ॥ ४२ ॥

साम्ना=सान्त्वेन । दानेन = घनादिप्रदानेन । भेदेन=शत्रुसहायकेषु भेदोत्पादनेन । एभि त्रिभि उपायै, समस्तै =सर्वोपायै । अथवा पृथक्= एकैकेनोपायेन । अरीन्=शत्रून् । साधयितुम् = वशीकर्तुम् । प्रयतेत = प्रयत्नम् कुर्यात् ॥ ४२ ॥

और भी—

शत्रु को युद्ध द्वारा नहीं बल्कि साम, दान, भेद-तीनों अथवा अलग अलग उपायों से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अपरञ्च—सद्य एव अतः शूरो ह्यनासावितथिप्रहः ।

अहपरसामर्थ्यः सवर्षः को भवेत् हि ? ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अनासावितथिप्रहः सर्व एव जन पूरः (भवति) । अहपर सामर्थ्यं हि कः सवर्षं न भवेत् ॥ ४३ ॥

अनासावितथिप्रहः—अप्राणपुत्रः । सर्व एव जन—सर्व एव लोक । शूरः—वीरः । अहपरसामर्थ्यः—जनवक्रोक्तिप्रयुक्त । सवर्षः—वर्षपुत्रः ॥ ४३ ॥

अब तक पुत्र सिर पर नहीं जा पाया तब तक जमी जन्मे को बहादुर समझते हैं । दूसरे की क्षति को बिना देखे भीत क्षमिपानी नहीं होता है ॥ ४३ ॥

किञ्च—‘न तद्योत्याप्यते माया प्राथिमिर्दाक्ष्या यथा ।

अहपोपायाम्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलम् महत् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—यथा प्राथमि- वास्या पाया जत्याप्यते तथा (तत्र वास्या विना) न (जत्याप्यते एवमैव) अहपोपायत् महासिद्धि (भवेत्) । एतत् महत् मन्त्रफलम् (अस्ति) ॥ ४४ ॥

यथा—यैत प्रकारेण अनासावितथिप्रहः । प्राथमि—प्राथम्य । वास्या—काठ-वधेन । जत्या—प्रसूतः । तथा—तत्र प्रकारेण । न जत्याप्यन्तुं अशक्यते । अहपोपायत् = स्तोत्रोद्यमत् । महासिद्धिः = महाकार्यस्य सफलता । महत् = श्रेष्ठम् । मन्त्रफलम्—मन्त्रस्य परिणाम ॥ ४४ ॥

इसके अतिरिक्त और भी—

पत्थर की बहुत बड़ी द्वाया जितनी तरलता से उतराई जा सकती है उतनी मन्त्र किन्हीं की ताकत से नहीं । इतकिए कोड़े प्रयत्न से बड़ी सफलता ही मन्त्रवा का महान फल है ॥ ४४ ॥

किन्तु विप्रह्यमुपस्थितं विश्लोक्य व्यवहियताम् । यतः—

विप्रह्यम्—बुद्धम् । उपस्थितम् = सम्मुखानतम् । विश्लोक्य = इन्द्रिया । व्यवहियताम्—उपायं विवक्षताम् ।

किन्तु कुछ सामने आना हुआ आन कर उपाय ईड़ी । क्योंकि—

‘यथा काकहस्तोद्योगात्कृपिः कळयती भवेत् ।

तद्वशीतिरिषं देव ! चिरात्कळति न क्षयात् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे देव, यया कृषि कालकृतोद्योगात् फलवती भवेत् तद्वत् इयं नीति रक्षणात् चिरात्फलति ॥ ४५ ॥

देव=राजन् । काले=समये । कृत =विहित । यः उद्योग = प्रयत्न । तस्मात् । फलवती=सफला । तद्वत् = एवमेव । इय नीति = इय राजनीति । रक्षणात्=सम्यक् रूपेण पालनात् । चिरात्=कियता कालेन । फलति = सफला भवति ॥ ४५ ॥

जैसे समय पर किए गए प्रयत्न से खेती कुछ समय बाद होती है, उसी प्रकार नीति की समय पर उचित रक्षा करने से वह दूर में फल देती है न कि तत्काल ही ॥ ४५ ॥

अपरं च—'दूरे भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।

विपत्तौ हि महार्हलोके घोरत्वमधिगच्छति' ॥ ४६ ॥ ?

अन्वयः—दूरे भीरुत्वम् (किन्तु) आसन्ने शूरता महत गुण । लोके विपत्तौ च महान् घोरत्वम् अनुगच्छति ॥ ४६ ॥

दूरे भीरुत्वम्=मये दूरे सति भीरुता । आसन्ने=निकटे सति । शूरता=शौर्यम् । महत =महापुरुषस्य । गुण =विशेषता । लोके=जगति । विपत्तौ=विपदि । महान्=महापुरुष । घोरत्वम् = घोर्यम् । अनुगच्छति = अनुब्रजति ॥ ४६ ॥

और भी—

विपत्तियों को दूर देख कर डरना किन्तु निकट आ जाने पर पराक्रम दिखाना वडे लोगो का गुण होता है । इसीलिए वडे लोग ससार में विपत्ति के समय धैर्य का आश्रय लेते हैं ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—'प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।

अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ?' ॥ ४७ ॥

विशेषतश्च देव । महावलोऽसौ चित्रवर्णा राजा । यतः—

अन्वयः—उत्ताप सर्वसिद्धीनाम् प्रथम प्रत्यूह । अतिशीतलमपि अम्भ किं भूभृत न भिनत्ति ॥ ४७ ॥

उत्ताप =क्रोध । सर्वसिद्धीनाम्=सर्वकार्यसफलतानाम् । प्रथम =मुख्य । प्रत्यूह = विघ्न । अतिशीतलमपि = अत्यन्तहिममपि । अम्भ = जलम् । भूभृत =वर्षतान् । न भिनत्ति=न विदारयति, विदारयति एवेत्यर्थ ॥ ४७ ॥

धीर हो—

प्रारंभ में ही धरम हो जाना (कूट हो जाना) सभी प्रकार की सफलताओं की बहुत बड़ी बाधा है। क्या अल्पसंख्यक ठंडा पानी पहाड़ को नहीं टोंक देता है? अर्थात् शोक के स्वाम पर आश्रित से भी सफलता मिळ सकती है ॥ ४७ ॥

विशेषकर यह राजा विश्वकर्मा महान बजो है। क्योंकि—

‘बलिना सह योऽध्व्यमिति नाऽस्ति निर्वयनम् ।

तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां भूयुमावहेत् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—बलिना सह योऽध्व्यम् इति निर्वयनम् नास्ति । हस्तिना सार्द्धं नराणाम् युद्धम् भूयुम् आवहेत् ॥ ४८ ॥

बलिना सह = बलघालिना सह । योऽध्व्यम् = विश्व करणीय । इति एवम् । निर्वयनम् = प्रमाणम् । हस्तिना सार्द्धम् = वधेन सह । नराणाम् = मनुष्याणाम् । युद्धम् = विषय । भूयुम् = भरणम् । आवहेत् = वारहेत् ॥ ४८ ॥

बलवान के साथ युद्ध करना नीति नहीं है क्योंकि मनुष्य का हाथी के साथ लड़ना बननी नीति को दुष्प्रमाण है । ४८ ॥

अन्वयः—स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तारि वर्तते ।

कलियैकवता सार्ये कीटपक्षोद्भवो यथा ॥ ४९ ॥

अन्वयः—स कालमप्राप्य अपकर्तारि वर्तते स मूर्खः कलियैकवता सार्यम् कलियैकवतोद्भवम वथा (अर्थात्) ॥ ४९ ॥

स = मूर्ख । कालमप्राप्य = अचरित विवेक । अपकर्तारि = दायी । वर्तते = विद्यते । कलिया सह कलई करोति इत्यर्थः । स मूर्खः = स मूर्खः । कलियैकवता सार्यम् = कलियैकवता सह कलियैकवतोद्भवमः । कीटपक्षोद्भवः = कीटपक्षोद्भवः । यथा = एव ॥ ४९ ॥

धीर हो—

जो उग्रपुत्र समय देखे बिना ही मनुष्य पर चढ़ाई करता है वह मूर्ख होता है । धीर बलवान के साथ लड़ना तो कठिनी के घर निकलने के समान है ॥ ४९ ॥

किञ्च—‘कीर्म सद्गोचमास्थाय महारमपि मयपेत् ।

मासकालं तु मीतिश्च उपिप्येकरसर्पेयत् ॥ ५० ॥

अन्वयः—नामिदं कीर्मं सद्गोचमास्थाय महारमपि मयपेत् (किन्तु) मासकालं तु उपिप्येयत् अंतर्गते ॥ ५० ॥

नीतिज्ञः=नीतिकुशल । कीर्णम्=कच्छपसम्बन्धितम् । सकीर्णम् =
अगसकोचनम्, क्रोधसङ्कोचञ्च । आत्याय=आधित्य । प्रहारमपि=शत्रुणा कृतम्
आघातमपि । मर्षयेत् = क्षमेत । प्राप्तकाले = लब्धावसरे । क्रूरसर्पघत्=दुष्टसर्प-
तुल्य । उत्तिष्ठेत्=उत्थानम् कुर्यात् ॥ ५० ॥

अत —

निम्न प्रकार कछुआ (ममय प-) अपने अंगों को समेट कर अपने ऊपर
होने वाली चोट को भी सहन कर लेना है उसी प्रकार नीतिज्ञ को समयानुसार
सब सहन करना चाहिए । और ममय पाकर ही क्रूर सर्प के समान उठ खड़ा
होना चाहिए ॥ ५० ॥

‘महत्स्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।

समुन्मूलयितु वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः’ ॥ ५१ ॥

अन्वयः—उपायज्ञ महति अल्पे (पात्रो) अपि समम् एव क्षम भवेत् ।
वृक्षास्तृणानि, समुन्मूलयितु नदीरय इव ॥ ५१ ॥

उपायज्ञ =विधिज्ञ । महति = बलशालिनि पात्रो । अल्पे = अल्पबले पात्रो ।
सममेष = तुल्यमेव । वृक्षास्तृणानि = महत वृक्षान् अल्पानि तृणानि । समुन्मूल-
यितुम्=ज्वाटयितुम् । नदीरय =तरिद्वेग । इव=तुल्य । क्षम =समर्थं. भवेत् ॥

उपाय का जानने वाला बड़ी छोटी सभी प्रकार की कठिनाइयों (बड़े छोटे
शत्रुओं) को दूर करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जैसे नदी की धारा वृक्षों
और तृणों को समान रूप से उखाड़ने में समर्थ होती है ॥ ५१ ॥

अतो दूतोऽय शुकोऽप्राश्वास्य ताचद्ध्यतां यावद्दुर्गं सज्जी-
क्रियते । यतः—

अत =अस्मात्कारणात् । दूत =मयूरेण प्रेषित शुक्र । आश्वास्य = साम-
वचनं आश्वासनम् विधाय । ध्रियताम्=अत्रैव स्थाप्यताम् ।

इसलिए जब तक किले की तैयारी ही तब तक दूत को समक्षा बुद्धा कर
रोके रहें । क्योंकि—

‘एक. शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।

शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं विशिष्यते’ ॥ ५२ ॥

अन्वयः—एक प्राकारस्थ धनुर्धर शतम् योधयति (एवम्) शत शत-
सहस्राणि (योधयन्ति) तस्मात् दुर्गम् विशिष्यते ॥ ५२ ॥

प्राकारस्थ =दुर्गस्थ ममन्तात्, मन्तात्=घोरस्तस्यान्तरे स्थित । एक धनुर्धर =

एकं यत् । यत्तम् = यत्तसंज्ञकम् यत्तम् । गोवमति = योऽयं जन्मोति । यत्तं यत्तं
सहस्राणि = सहास्रिणि । विविच्यते = प्रचक्षते ॥ ५२ ॥

क्रिष्ण की बीमारों के भीतर रहने वाला एक ही अनुपकारी बीर सैफ्यो
बीरों तथा जो बीर काशों बीरों के साथ युद्ध कर सकता है । इसीलिए युद्ध के
क्रिष्ण का विशेष महत्त्व है ॥ ५२ ॥

क्रिष्ण—'अनुर्गोविपयः कस्य नारेः परिमवास्वत् ॥

अनुर्गोऽनामयः राजा पोटभ्युत्तममुष्यवत् ॥ ५३ ॥

अन्वया—अनुर्गोविपय (गुण) कस्य नारेः परिमवास्वत् न (प्रवृत्ति)
अनुर्गोऽनामय राजा पोटभ्युत्तममुष्यवत् (प्रवृत्ति) ॥ ५३ ॥

अनुर्गोविपय = अनुर्गोऽहितराजः । कस्य नारेः = कस्य शत्रो । परिमवास्वत् =
परमवत्स्वानम्, परमवत् इत्यर्थः । न प्रवृत्ति = प्रवृत्त्येवेत्यर्थः । अनुर्गो = अनुर्गोऽहितः ।
अनामय = अतएव नामहीन । राजा = गुण । पोटभ्युत्तममुष्यवत् = अनाह्वारार्ति
तपाम्भवत्, यथा पोटभ्युत्त सायाधिक बळे निमज्जति तथैव राजापि विपत्तिघाते
निमज्जो मवति ॥ ५३ ॥

क्रिष्ण रहित किस राजा का शत्रु द्वारा विवित नहीं हो जाता ? युद्ध
तथा बाध के बिना राजा बहाम से निरे हुए मनुष्य के समान डूब जाता है ॥

'अनुर्गोऽनुर्गोऽनामयः राजा पोटभ्युत्तममुष्यवत् ॥

सपत्न्यं सज्जं शौक-सरिम्मन्-वनाभयम् ॥ ५४ ॥

अन्वयाः—महाबातम् उन्मत्प्रकारसंयुतम् सपत्न्यं सज्जम् शौक-सरिम्-
मन्-वनाभयम्, अनुर्गो कुपोत् ॥ ५४ ॥

महाबातम् = महापरिचोपेतम् । उन्मत्प्रकारसंयुतम् = उन्मत्प्रकारेण समस्ताङ्गे-
तम् । सपत्न्यम् = अनुपयोगिनि-वर्णं युक्तम् । सज्जम् = अनाह्वारयुक्तम् । शौ-
क-सरिम्मन्वनाभयम् = नर्वतवहीमरभुविकानतादिदुर्गमभूमिस्थितम् । अनुर्गोऽनुर्गोऽनु-
युक्तस्य निमील्य करयेत् ॥ ५४ ॥

क्रिष्ण बहुत बड़ी लाई से विपत्तुश्रा ऊँची चहार खोपारी युद्ध के मन्त्रों
एवं बल (कुर्वा बाधकी आदि) से युद्ध तथा नडाह नवी मन्त्रुनि भवना बन के
क्रिष्णारे वतनामा चाहिए ॥ ५४ ॥

'विस्तीप्यतातिवैपम्यं, रसधान्येध्यासप्रहः ।

मवेराध्यापसारम् सतीता अनुर्गोऽनुर्गोऽनु ॥ ५५ ॥

अन्वयः—विस्तीर्णता, अतिवैषम्यम्, रसघान्येध्मसंग्रह, प्रवेश, अपसारश्च एता सप्त दुर्गसम्पद (सन्ति) ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता=आयाम विशालता च । अतिवैषम्यम् = अत्यन्तदुर्गमत्वम् । रसघान्येध्मसंग्रह = जलान्नेन्धनसंग्रह । प्रवेश = निगूढनानाप्रवेशपथ । अपसार = निगूढनिर्गमनमार्ग । दुर्गमम्पद = दुर्गसम्पत्तय ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता (काफी लम्बाई चौड़ाई) अत्यन्त दुर्गमता (पहुँचने की कठिनाई), रस, अन्न और लकड़ों का संग्रह तथा आने-जाने के गुप्त मार्ग—किले की यह सात विशेषताएँ होती हैं ॥ ५५ ॥

राजाह—‘दुर्गानुसन्धाने को नियुज्यताम्’ ? चक्रवाको ब्रूते—दुर्गानुसन्धाने=दुर्गपरीक्षणे । नियुज्यताम्=नियुक्त क्रियताम् ।

राजा ने कहा—‘दुर्ग का अन्वेषण करने के लिए किसे नियुक्त करना चाहिए’ ? चक्रवे ने कहा—

‘यो यत्र कुशलः कार्यं त तत्र विनियोजयेत् ।

कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति’ ॥ ५६ ॥

अन्वयः—य यत्र कार्यं कुशल त तत्र विनियोजयेत् (यत) कमसु य अदृष्टकर्मा (भवति स) शास्त्रज्ञ अपि विमुह्यति ॥ ५६ ॥

य = पुरुष । यत्र कार्यं = यस्मिन्कर्मणि । कुशल = चतुर । तं = पुरुषम् । तत्र = तस्मिन् कार्ये । विनियोजयेत् = नियुक्त कुर्यात् । कर्मसु = कर्तव्यकार्येषु । अदृष्टकर्मा = अनवलोकितकार्यं । शास्त्रज्ञ = शास्त्रेषु कुशल । विमुह्यति = मोह गच्छति, व्याकुलो भवतीत्यर्थ ॥ ५६ ॥

जो व्यक्ति जिस कार्य में कुशल हो उसमें वहीं नियुक्त करना चाहिए क्योंकि शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी किसी कार्य में अनुभव न होने से वह उस कार्य में मूर्ख बन जाता है ॥

‘तदाह्वयता सारस’ । तथानुष्ठिते सति समागतं सारसमवलोक्य राजोवाच—‘भो सारस ! त्व सत्वर दुर्गमनुसन्धेहि ।’

सारस प्रणम्योवाच—‘देव ! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते महत्सरः । किन्त्वेतन्मध्यद्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम् ।’ यतः—

सत्वरम्=शीघ्रम् । अनुसन्धेहि = अनुसन्धानम् कुरु, ‘कुत्र दुर्गम् निर्मेयम्’ इति परीक्षणम् कुरु इति भाव । चिरात्=बहुकालात् । सुनिरूपितम्=सुपरीक्षितम् । महत्सर = महान् सरोवर । मध्यवतिद्वीपे = मध्यभागे स्थिते भूप्रान्ते । द्रव्य संग्रह = वस्तुसंग्रह, धान्येन्धनादिसंग्रह ।

इसलिए चारस को बुझाए। ऐसा करने पर जाए हुए चारस को रोक कर राजा ने कहा—'चारस तुम पीना ही फिसे की ज्ञान-बीज कर गतो।

चारस ने प्रणाम करके कहा—'राजन् बहुत दिनों से ऐसा ब्रह्मा हुआ वह शासन ही हम जोना का ठिका है। किन्तु इसके बीच के टापू पर लची इप्सो (मद्य जकड़ी जादि) को इच्छा कर देना चाहिए। क्योंकि—

‘धाम्पातां सख्प्रहो रावन्नुत्तमा सवसवप्रहात् ।

निक्षिप्त हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! धाम्पाताम् संप्रह- सर्वसंप्रहात् उत्तम (यत्) हि मुखे निक्षिप्तम् रत्नम् प्राणधारणम् न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

धाम्पाताम्—प्रजाताम् । संप्रह— वाक्यम् । सर्वसंप्रहात् = संपूर्णवस्तु- संप्रहात् । उत्तम—श्रेष्ठः । मुखे निक्षिप्तम्—जानने स्थापितम् । प्राणधारणम्—उपर- पूर्वा प्राणधारणम् ॥

हे राजन्, लची वस्तुओं के संप्रह से मद्य का संप्रह करना उत्तम है क्योंकि मुख में बड़ा हुआ रत्न भी प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

किञ्च— क्पाता सवरसानां हि छवप्पो रस उत्तमा ।

पृहोयात् विना तेन व्यञ्जनं गोमयावते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सर्वरसानाम् क्वचप उत्तम क्पातं । तेन विना मुहीतं व्यञ्जनम् गोमयावते ॥ ५८ ॥

सर्वरसानाम्—पररसानाम् । उत्तम—श्रेष्ठः । क्पातः—प्रसिद्ध । तेन विना— क्वचपम विना । व्यञ्जनम् = शोण्यवस्तु । गोमयावते—गोमय (पोवर) इन आस्वादादितम् क्वचति ॥

बीर भी—

लची रसों में कमक सबसे प्रसिद्ध बीर उत्तम रस क्या जाता है। मद्य उगना मद्य क्वचप करना चाहिए। क्योंकि उबड़े विना मद्यों से मद्यका बीजन में गन्ध के समान लज्जा है ॥ ५८ ॥

राजाह—'सवर रास्या सवममुद्धीयताम् । पुनः प्रधिपय प्रतीदानी यत्— इय ' मिहसखीपादागतो मधयप्पो गाम यावसा सपरिपातो ह्यारि पर्वते । स च वैषपाशम् द्रष्टुमिच्छति । राजाह—काका माहो यदुह्य्या च तद्भवति स संभाटा ।

चक्रवाको ब्रूते—‘देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः । तेनास्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं सङ्गृह्यते ? तथा चोक्तम्—

सर्वमनुष्यताम्=सर्वम् क्रियताम् । आगत = आयात । वायस = काक । देवपादान् = श्रीमत । द्रष्टुमिच्छति=दशनमभिवाञ्छति । प्राज्ञ = पण्डित । बहुदृष्ट्वा=बहुश्रुत । सग्राह्य = स्वाधये रक्षणीय । स्थलचर = स्थलवासी । विपक्षपक्षे नियुक्त = शत्रुपक्षे अनुरक्त ।

राजा ने कहा—‘तो शीघ्र ही जाकर सभी आवश्यक कार्य करो ।’ फिर द्वारपाल ने आकर कहा—राजन् सिंहल द्वीप में आया हुआ मेघवर्ण नाम का एक कौवा अपने परिवार के साथ द्वार पर खड़ा है । वह आप का दर्शन करना चाहता है । राजा ने कहा—‘कौवे एक तो सभी बातों को जानने वाले, दूसरे बहुत सी वस्तुओं को देखने वाले होते हैं । इसलिए मेरी राय है कि उसे रख लेना चाहिए ।’

चकवे ने कहा—‘राजन्, यह तो ठीक है किन्तु कौवा भूमि का पक्षी है । इसलिए वह हमारे शत्रु के पक्ष का है अतः उसे किस प्रकार रखा जाये ? कहा भी है—

‘आत्मपक्ष परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः ।

स परहृन्त्यते मूढो, नीलवर्णशृगालवत्’ ॥ ५६ ॥

राजोवाच—‘कथमेतत् ?’ मन्त्री कथयति—

अन्वयः—य आत्मपक्षम् परित्यज्य परपक्षेषु रत स मूढ नीलवर्ण-शृगालवत् परै हन्त्यते ॥ ५९ ॥

आत्मपक्षम्=स्वपक्षम् । परित्यज्य=त्यक्त्वा । परपक्षेषु=शत्रुपक्षेषु । रत = अनुरक्त । मूढ = मूख । परै = शत्रुभिः । हन्त्यते=हिनयते ॥ ५९ ॥

अपने पक्ष को छोड़ कर जो दूसरे पक्ष वालों से अनुराग करता है वह मूख नीलवर्ण गीदह के समान दूसरों (शत्रुओं) से अवश्य मारा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा ने कहा—‘यह कैसे ?’ मन्त्री ने कहा—

कथा ७

[अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्य-ञ्चोलीभाण्डे निपतितः । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्वामिना ‘मृत’ इति ज्ञात्वा, तस्मात्समुत्थाप्य, नीत्वासौ परित्यक्तः, तस्मात्पलायितः ।

वरध्वे = कान्तैः । स्वैच्छया = बहुच्छया । नगरोपासौ = नगरस्य समिपटे ।
 भ्राम्यन् = विचरन् । बीचीभाष्ये = बीचीरापनिर्भाषयाये । तत = तस्मात्
 मात्वात् । उत्थापुम् = बहिरावपुम् । नसमर्ष = अक्षत । आत्मानम् = स्वम् ।
 मृतवत् संवर्ष्य = मृतवत्सुम् प्रवर्ष्य । ज्ञात्वा = ज्ञयव्यम् । तमुत्थाप्य = बहि-
 रुत्था । वरित्पत्त. = वरसाहितः ।

एक बन्दक से एक भीड़ का । वह बन्दक के निगारे इच्छानुसार घूम रहा
 था कि एक भीड़ के वर्तन में फिर पड़ा । वहाँ से निकलने में अतसर्ष होने के
 कारण वह प्रात काक मरा हुआ था उसी में पड़ा रहा । उस भीड़ के वर्तन के
 स्वामी ने उसे मरा हुआ समझ कर दूर से आकर फेंक दिया । तब वह वहाँ से
 भाग पया ।

ततोऽस्ती वने गत्वा आरमानं नीलवर्णमघञ्जोक्याश्चिन्तयन्—
 'महामिदानीमुत्तमघर्षः तदहं स्वकीयोत्कर्षे किं न साधयामि—
 इत्याञ्जोक्य शृगाळानाहुम तमोक्तम्— अहं मगधस्या वनद्वयतया
 स्वहस्तेनारभ्यराग्ये सर्षीपघिरसेनामिपिकः । [पश्यन्तु मम
 वणम्] । तद्यारभ्यारभवाञ्ज्यास्मिन्नरभ्यं व्यवहारं कार्यः ।

शृगाळाश्च तं विधिपण्यमघञ्जोक्य साष्टाङ्गपार्श्वं प्रणम्योक्तुः—
 यथाशापयति देवा इति । धमनैव क्रमण सर्वेष्वरण्यवासिष्वा
 धिपर्यं तस्य वमूष । ततस्तेन स्वशातिमिराहुतेनाधिक्यं
 साधितम् । ततस्तेन ध्यार्भसिद्वादीनुत्तमपरिभ्राम्याप्य, सवसि
 शृगाळानघञ्जोक्य अञ्जमाननावशया स्वहातयः सर्वे वृरीकृताः ।
 ततो विपण्णाद् शृगाळानघञ्जोक्य किंनचिद् बुद्धशृगाळनैतरप्रति
 ज्ञातं— 'मा विपीवत पवननानोतिष्ठन ययं मर्मभाः । [स्वरासीपात्]
 परिभूतास्तघघायं नश्यति तथा विधयम् । एतोऽमी ध्यामादयो
 वर्णमात्रविप्रलम्भाः शृगाळमहाः वा राजानमिमं मय्यस्ते । तद्यथायं
 परिधीयते तथा कुदत । तत्र येयमनुप्रेयं यथा बहामि—सयं सम्भवा
 नमये तत्सधिधान महारावमंकदैव करिभ्यः । ततस्तं शम्भुमाकलय
 जातिस्वभावात्तनापि शब्दा कृतम् । यतः—

अङ्गी = शृगाल । नीलवर्णम् = नीलरामम् । इदानीम् = तस्मात् । उत्तमघर्ष =
 अक्षरतप । स्वकीयोत्कर्षम् = स्वोच्छतिम् । आञ्जोक्य = विचार्य । बन्दकतया =
 बन्दकेन । स्वहस्तेन = स्वकरेण । अरभ्यराग्ये = काननराग्ये । अविपिक = राज्य
 स्वापित । व्यवहार = विवाह निर्णयः (बुद्धयया) । साष्टाङ्गपार्श्वम् = साष्टाङ्गवर्ष-

मम् । अरण्यवासिषु = काननचारिषु जीवेषु । आधिपत्यम् = प्रभुत्वम् । स्वजा-
तिभिः = स्वपरिवारैः । आवृत्तेन = परिवेष्टितेन । आधिक्यम् = स्वजातिश्रेष्ठत्वम् ।
साधितम् = अधिगतम् । उत्तमपरिजनान् = जात्या श्रेष्ठान् अनुचरान् । तेन = शृगा-
लेन । सदसि = सभायाम् । लज्जामानन = लज्जामनुभवता । अवज्ञया = अपमानेन ।
दूरीकृता = निष्कासिता । विपण्णान् = दुःखितान् । प्रतिज्ञातम् = प्रतिज्ञा कृता ।
अनीतिज्ञेन = अज्ञेन । ममज्ञा = स्वरहस्यविद । परिभूता = अपमानिता ।
विधेयम् = करणोपयम् । वर्णमात्रविप्रलब्धा = वर्णपरिवर्तनमात्रेण वञ्चिता ।
इमम् = नीलवर्णम्, शृगालम् । परिचीयते = ध्याघ्रादिभिः स्वशृगालरूपतः
ज्ञायते । तत्-सन्निधाने = तत्समीपे । महारावम् = महान्त शब्दम् । जाति-
स्वभावात् = जातिप्रकृत्या ॥

इसके बाद जंगल में जाकर उसने अपने नीले रंग को देखकर विचार
किया—'मैं अब उत्तम वर्ण का हो गया हूँ । इसलिए मैं इसमें अपनी उन्नति
क्यों न कर लूँ ।' ऐसा सोचकर उसने गीदड़ों को बुला कर कहा—'मुझे
भगवती वनदेवी ने अपने हाथ में सभी औपधियों एवं रसों से नहला कर मेरा
राज्याभिषेक किया है । इसलिए आज से इस जंगल में मेरी आज्ञा के अनुसार ही
सभी काम किए जायें ।'

गीदड़ों ने उसके विशेष रंग को देखकर प्रणाम करते हुए कहा—'राजन्
आप की आज्ञा शिरोधार्य है ।' इस प्रकार धीरे-धीरे वह सभी जंगली जानवरों
का राजा बन गया । इसके पश्चात् वह अपने को अपनी जाति वालों के बीच में
उत्तम समझने लगा । और सिंह, व्याघ्र आदि उत्तम कुल के परिजनो को
पाकर तथा अपनी सभा में गीदड़ों को देख कर वह लज्जित हो गया । तब उसने
अपनी जाति के सभी लोगों को अपमानित करके वहाँ से निकाल दिया । इस
पर गीदड़ों को दुखी देख कर एक बुद्धि गीदड़ ने कहा—'तुम लोग दुखी मत
बनो । इस मूर्ख ने हम ममज्ञो को अपने पास से अपमानित करके हटा दिया है
इसलिए मैं वही करूँगा जिससे इसका विनाश हो । क्योंकि ये बाघ आदि इसके
रंग के धोखे में आकर इसे गीदड़ नहीं समझ रहे हैं । इसीलिए इसे राजा मानते
हैं ।' इसलिए ऐसा काम करो जिससे यह परिचित हो जाय (इसे सब गीदड़
जान जायें) । तुम लोग अब ऐसा करो कि संध्या के समय सभी लोग इसके
पास इकट्ठे होकर एक ही साथ चिल्लाना शुरू करो । जिससे उस शब्द को सुन
कर जाति स्वभाव से यह भी चिल्लाने लगेगा । ऐसा होने पर इसे सभी पहचान
लेंगे । क्योंकि—

'यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः ।

श्वा यदि क्रियते राजा, तर्त्तिक नाशनात्युपानहम्' ॥ ६० ॥

अम्बुयः—इस्य पा' एवावा' अस्ति त' नित्यम् दुरतिक्रम (मरति) या
 वरि रावा क्रिमौ ततिकम् उगानहम् न अस्नाति ॥ १ ॥

पस्य=पुङ्गवस्य । य स्वभावः=या महति । दुरतिक्रम =दुर्लभ्य । या=
 दुःखदुर । उपातहम्=धर्मणा निमित्तम् पादनाथम् । न अस्नाति=न पश्यति ? ॥
 बिहका ओ स्वभाव है यह सर्वदा रहने वाला तथा अमित होता है । वरि
 कुत को उवा बना दिया थाव तो क्या वह कुत नहीं बचाएगा ? ॥ १ ॥

ततः शब्दावनिर्णाय स उवाधेय इत्यन्वयः । ततस्तथानुष्ठिते
 सति तद् दृष्टम् । तथा चोक्तम्—

उवात्=उवा रावात् । अमिहान्=भूपाठ' अम् इति परिहाय । इत्यन्वयः=
 व्यापारित्वम् ।

इसके बाद उवा द्वारा पश्चात् जाने पर वाव उसे मार डालेगा । चैता कि
 क्या भी क्या है—

किम्, मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति मित्रो रिपुः ।

बृहस्पतगतस्मैव शुष्कं पृथमिधानसः ॥ ११ ॥

अम्बुयः—(म) मित्र रिपुः किम् मर्म वीर्यम्, च सर्वम् वेत्ति (वा)
 अन्तर्गतम् शुष्कमुद्यम् अतश्च इव बहुति ॥ ११ ॥

मित्रः=स्वभाव' । रिपुः=तनु' । किम्=रामन् वीर्यस्वच्छ । मर्म=रहस्यम् ।
 वीर्यम्=पराक्रमम् । सर्वम् वेत्ति = सर्वम् जानाति । अन्तर्गत' = अन्त' स्थित' ।
 अतश्च =अतः । इव =उदयम् । अवा भुक्तमध्ये स्थित अग्नि' मुक्तम् बहुति
 तदीयं रात्र स्वभावो भूत्वा सपुरति रात्रानम् आलयति ॥

जो अग्नि अपनी दुर्बलता अपने रहस्य बल वीर मित्र तथा उम् मनी को
 पछी जाती समस्त होता है वह उम् के भीतर प्रवेश करके उसे जली प्रकार बना
 देता है जैसे काठ के भीतर रहने वाली अग्नि उसे जला देती है ॥ ११ ॥

अतोऽहं प्रवीमि—आत्मपहं परित्यज्ये' स्यादि ॥ ॐ ॥

राजाह—'पद्येयं तथापि हस्यतां तावत्पं दूरादामता ।
 तत्सहप्रहे विचारः कार्यः' । अतो मते—देव ! प्रणिधिस्तावत्
 प्रहितो पुर्गञ्च सखीदतम् । अतः शुद्धोऽप्यानीव प्रस्थाप्यताम् ।
 किन्तु योधबलसमन्वितो भूत्वा दूरादेव तमबलोक्य' । यतः—

इत्यन्ताम् =विहाययताम् । दूरादावन =दूरेवावात । तस्यातिर्ष्य करणीयम्
 पश्चात् सहाप्रिये विचारणीयम् इत्यर्थ । अग्निः=मुत्तर । प्रहित=दीपित ।
 सखीदतम्=आवश्यकद्वयं पुरितम् । अनीव=सनाताम् उपरताम् । बोधवत्-
 समन्वित' =स्वर्तविक्रमबलुक्तः । तम् =दूतम् ॥

इसलिए मैं कह रहा हूँ—'अपने पक्ष को छोड़कर' इत्यादि । राजा ने कहा—यद्यपि यह ठीक है फिर भी यह दूर से आ रहा है, अतः इससे मिलना आवश्यक है और इसे अपने पास रखने का विचार भी जरूरी है । चक्रवर्ति ने कहा—राजन्, दूत भेज दिया गया और किला भी तैयार हो गया अतः सुगो को भी अब यहाँ बुला लेना चाहिए । किन्तु अपने सैनिक आदि दल बल के साथ आप उससे दूर ही से बात करें । क्योंकि—

‘नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः ।

तद् दूरान्तरितं दूतं पश्येद्धीरसमन्वितः’ ॥ ६२ ॥

अन्वयः—चाणक्य तीक्ष्णदूतप्रयोगतः नन्दं जघान तत् (नृप) धीर-समन्वितं दूरान्तरितम् दूतम् पश्यत् ॥ ६२ ॥

चाणक्य = कौटिल्य । तीक्ष्णदूतप्रयोगतः = कपटवेषधारिवल्लिष्टच्छद्मदूत-प्रयोगेण । नन्दम् = तन्नामानं नृपम् । जघान = मारयति स्म । तत् = तस्मात् कारणात् । धीरसमन्वित = धीरं परिवेष्टितं सन् । दूरान्तरितम् = दूरेस्थितम् ॥ ६२ ॥

चाणक्य ने तीक्ष्ण कपट दूत के द्वारा नन्द को मार डाला था अतः आप उसे दूर ही रख कर मंत्रियों से युक्त होकर उसे देखें ॥ ६२ ॥

ततः सभा कृत्वाहृतः शुकः, काकश्च । शुकः किञ्चिदुन्नतशिरा दत्तासने उपविश्य ब्रूते—‘भो हिरण्यगर्भ ! त्वा महाराजाधिराजः श्रीमन्निवर्णः समाज्ञापयति—‘यदि जीवितेन, श्रिया वा प्रयोजनमस्ति, तदा सत्वरमागत्यास्मध्वरणौ प्रणम । नो चेदवस्थातुं स्थानान्तरं परिचिन्तय’ । राजा सक्रोपमाह—‘आः, सभायामस्माकं न कोऽपि विद्यते य एन गलहस्तयति ?’ तत उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते—‘देव ! आज्ञापय, हन्मि चैनं दुष्टशुकम् ।’ सर्वज्ञो राजानं, काक च सान्त्वयन् ब्रूते—‘भद्र ! मा मैवं । शृणु तावत्—

उन्नतशिरा = गर्वोन्नतमस्तक । दत्तासने = दत्तलघुविष्टरे । समाज्ञापयति = समादिशति । जीवितेन = प्राणैः । श्रिया = राजलक्ष्म्या । प्रयोजनम् = कार्यम् । सत्वरम् = शीघ्रमेव । अवस्थातुम् = निवासार्थम् । स्थानान्तरम् = अन्यत् स्थानम् । परिचिन्तय = विचारय । एनम् = दूतम्, शुकम् । गलहस्तयति = बहिः निष्कासयति । आज्ञापय = आदेशय । सवज्ञ = तन्नामा चक्रवाकः ।

इसके पश्चात् राजहंस ने सभा करके सुगो और कौवे को बहाँ बुलवाया । अग्निमान से सिर उठाये हुए, सुगो ने दिए हुए आसन पर बैठकर कहा—‘हे हिरण्यगर्भ, महाराजाधिराज श्रीमान् निवर्ण ने आप को आदेश दिया है कि—

यदि प्राणों और रास्यलक्ष्मी से भावको मत्तल्य हो तो बीज ही बाकर तुम मेरे बरनों मे प्रणाम करो । नहीं तो दूसरे स्वान पर रहने की बात सोचो । राणा ने ह्रुद होकर कहा—'बरे नहीं ऐसा कोई नहीं है जो इसके बरन मे हान क्षया कर मेरे सामने से इसे हटा दे । मेघबर्न ने उठकर कहा—'राज्य, बाधा बीबिए । मैं इस दुष्ट मुष्ये की मारेंगा । सर्वत्र नामके बरने मे राणा और बीने की शान्त करते हुए कहा—'थोडा सुनिए तो सही ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृक्षा,
 वृक्षा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
 धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
 सत्यं न तद्यच्छुद्धमभ्युपति ॥ ६३ ॥

अन्वयः—यत्र वृक्षा न सन्ति सा सभा न ये धर्मम् न वदन्ति ते वृक्षा न यत्र सत्यम् न अस्ति स धर्मं न सत् शुद्धमभ्युपति स सत्यं न (अवति) ॥ ६३ ॥

यत्र—यस्याम् सभायात् । सा सभा य = सा सभा नोऽस्ति । धर्मम् = धर्मवचनम् । न वदन्ति = न कथयन्ति । यत्र सत्यम् = अस्ति न धर्मं तत्त्वम् । शुद्धमभ्युपति = कष्टेन वृत्तः सति ॥ ६३ ॥

यत्र सभा सभा नहीं है जितने वृक्ष न हो वह वृक्ष वृक्ष नहीं जो धर्म की बातें न कहता हो वह धर्म-धर्म भी नहीं जिसमे सत्य न हो और वह सत्य सत्य भी नहीं जो कपट से घरा हुआ हो ॥ ६३ ॥

यतो राजधर्मज्ञेयः—

'वृत्तो म्नेच्छोऽप्यत्रयः स्याद्राजा वृत्तमुखो यतः ।

उच्यतेऽप्यपि शस्त्रेषु वृत्तो यद्वति नाम्यथा ॥ ६४ ॥

अन्वयः—म्नेच्छे अवि दूत अवश्य यत राजा वृत्तमुख स्यात् । उच्यतेऽप्यपि अवि दूत अवश्य न वदति ॥ ६४ ॥

म्नेच्छे = हीनजातिः अतृप्त्यः अवि । अवश्यः = इत्युपयोगः । वृत्तमुखः = वृत्तेन स्वाहाप्रेषक । उच्यतेऽप्यपि = अनाविष्टेषु । उच्यते, अप्यथा = अतएवम् । न वदति = नाशारयति ॥ ६५ ॥

क्योकि नहीं राजधर्म है—

जाति है म्नेच्छे (नीच वर्ण का) होने पर भी दूत अवश्य होता है ।

क्योकि राजा वृत्तमुख (दूत द्वारा अपनी बातें कहाने वाला) होता है ।

इसीलिए उठे हुए हविचारों के बीच भी दूत सूट्टे बातें नहीं करता है । ६४ ॥

अन्यच्च—‘स्वापकर्षं, परोत्कर्षं दूतौकैर्मन्यते तु कः ? ।

सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति’ ॥ ६५ ॥

अन्वयः—दूतौकैः स्वापकर्षम्, परोत्कर्षम् तु क मन्यते । दूत सदैव अवध्यभावेन सर्वं जल्पति ॥ ६५ ॥

दूतौकै = दूतवचनै । स्वापकर्षम् = निजावनतिम् । परोत्कर्षम् = अन्यस्य शत्रोश्चोन्नतिम् । क मन्यते = क कल्पयति । अवध्यभावेन = निर्भय सन् । सर्वम् = उत्कर्षापकर्षञ्च निन्दान्तुतिम् वा । जल्पति = कथयति ॥ ६५ ॥

और भी—दूत के मुँह से अपनी तुच्छता और शत्रु की उच्चता सुन कर मला कोन राजा उस पर ध्यान देता है ? क्योंकि अवध्य होने के नाते निर्भय होकर दूत अच्छी बुरी सभी बातें कहता है ॥ ६५ ॥

ततो राजा, काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽभ्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणानीय, प्रवोध्य, कनकालङ्कारादिक दत्त्वा, सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ । शुकोऽपि विन्ध्याचलं गत्वा, स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान् ।

तं विलोक्य राजोवाच—‘शुक ! का वार्त्ता ? , कीदृशोऽसौ देशः ?’ ।

शुको ब्रूते—‘देव ! सक्षेपादियं वार्त्ता,—सम्प्रति युद्धोद्योगः क्रियताम् । देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गकदेशो, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते ?’ ततः सर्वाञ्छिष्टानाह्वय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः । आह च तान्—‘सम्प्रति कर्त्तव्ये विग्रहे यथा-कर्त्तव्यमुपदेशं ब्रूत । विग्रहः पुनरवश्य कर्त्तव्यः’ । तथा चोक्तम्—

प्रकृतिमापन्नो=शान्तिं प्राप्नो । प्रवोध्य=सान्त्वयवचनं आश्वास्य । सम्प्रेषित = सप्रेषित । ययौ=गतवान् । विन्ध्याचल=विन्ध्यदेशम् । प्रणतवान्=नमश्चक्रे ।

सम्प्रति = इदानीम् । युद्धोद्योग = युद्धाय प्रयत्न । स्वर्गकदेश = स्वर्गस्य एकाश । द्वितीय = अपर । स्वर्गपति = इन्द्र । शिष्टान् = सम्भान् । मन्त्रयितुम् = मन्त्रणा कर्तुम् । कर्त्तव्यविग्रहे = करणीययुद्धे । यथाकर्त्तव्यम् = यथाकरणीयम् । उपदेशम् = उपायवचनम् ।

तव राजा और कौशा शान्त हुए । सुगा भी उठकर चला । किन्तु चक्रवे ने उसे बुला कर सोने के आभूषण आदि देकर विदा किया और वह चला गया । सुगे ने जाकर विन्ध्याचल के राजा चित्रवर्ण को प्रणाम किया ।

राजा ने उसे देखकर कहा— क्या समाचार है ? यह देख क्या है ?
 मुझे ने कहा—राजन्, बोरें में समाचार यह है कि इस समय आप कुछ की
 तैयारी करें। कर्पूरहीन स्वर्ण का एक टुकड़ा है और राजा दूसरा इन है।
 सबका बर्षान नहीं किया जा सकता। उस सभी समाचारों को बुझाकर राजा ने
 विचार करना प्रारम्भ किया। और उसने कहा—इस समय बिच जाने वाले
 कुछ में क्या करना चाहिए। उसे आप सोच बठावें। कदाई तो बचपन ही
 करती है। बीधा कि कहा भी क्या है—

मसन्तुषा द्विधा नष्टा, सन्तुषाञ्च महीमुखा ।

सखञ्चा गणिका नष्टा, निसञ्चाञ्च कुलाङ्गनाः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—मसन्तुषा द्विधा नष्टा सन्तुषा च महीमुखा, नष्टा । सखञ्चा
 गणिका निसञ्चा कुलाङ्गना च नष्टा ॥ ६९ ॥

मसन्तुषा = संतोषनाशना । द्विधा = बाह्यथा । सन्तुषा = स्वर्णमेत
 तुष्टि कता । महीमुखा = मुखा । नष्टा = नष्टवाना । सखञ्चा = सखापीका ।
 गणिका = शैव्या । निसञ्चा = निसाहीना । कुलाङ्गना = कुलम्बामिना ॥ ६९ ॥

मसन्तुषा बाह्यथ सन्तुषा (नितना है जतना बहुत है ऐसा सोचन बाका)
 राजा कजा करके बाकी शैव्या तथा निसञ्चा कुलीन का बचपन नष्ट हो जाती है ॥

सूरवर्षी नाम शुभो मन्त्री ज्ञते—'वेच । अपसमितया विप्रहो न
 विधिः' । यतः—

अपसमितया = प्रथापरिचयानिबिभ्युत्पत्त्याद् बापब्रह्मत्तया । विप्रह = पुत्र ।
 न विधिः = नोपिठ ।

सूरवर्षी नाम के सुदय के कथन—राजन्, अस्तन के समय—(विच प्रथा
 मंत्री तथा अधिकारी आदि के अनुकूल न होने पर) कुछ करना ठीक नहीं है
 क्योंकि—

मित्रामात्पसुहृद्गर्णा यथा स्फुटहमक्तया ।

शत्रूणां विपरीताञ्च कर्त्तव्यो विप्रहस्तया' ॥ ७० ॥

अन्वयः—यथा मित्रामात्पसुहृद्गर्णा हवत्तय नभूयाम् विपरीताञ्च स्फु
 तया विप्रह कर्त्तव्य ॥ ७० ॥

यथा = अस्मिन्काळे । मित्रामात्पसुहृद्गर्णा = मित्रसौमित्रत्वजनवर्णा । हवत्तय =
 स्वराष्ट्रे नृपे च हवानुरत्ता विपरीताः = विपद्या । यथा = अस्मिन्काळे । विप्रह =
 पुत्र । कर्त्तव्य = करणीय ॥ ७० ॥

विच सभी सबकी ओर सब राजा के प्रति दृढ़ भाव से धरना करते हैं
 और सब के विपरीत हो उस समय कुछ करना चाहिए ॥ ७० ॥

अन्यच्च—'भूमिमित्र, हिरण्यं च, विग्रहस्य फल त्रयम् ।

यदैतन्निश्चितं भावि, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६८ ॥

अन्वयः—भूमि मित्र हिरण्य च विग्रहस्य त्रयम् फलम् । यदा एतत्
निश्चितम् भावि तदा विग्रह कर्त्तव्य ॥ ६८ ॥

भूमि = भूमाग । मित्रम् = सुहृत् । हिरण्यम् = सुवर्णम् । विग्रहस्य = युद्धस्य ।
एतत् = भूम्यादि त्रयम् । निश्चितम् = अवश्यमेव प्राप्तव्यम् । भावि = स्यात् ॥ ६८ ॥

भूमि प्राप्त करना, मित्र प्राप्त करना तथा धन प्राप्त करना यही तीन लडाई
के फल होते हैं—जब इन तीनों की प्राप्ति निश्चित हो तभी युद्ध करना चाहिए ॥

राजाह—'मद्वलं तावद्वलोकयतु मन्त्री । तदैतेषामुपयोगो
ज्ञायताम् । एवमाह्वयतां मोहूर्तिकः । स यात्रार्थं शुभलग्नं निर्णय
ददातु' । मन्त्री ब्रूते—'देव ! तथापि सहसा यात्राकरणमनुचितम्' ।
यतः—

मद्वलम् = मत्सैन्यम् । अवलोकयतु = निरीक्षणम् करोतु । तदा = तत्पश्चात् ।
उपयोग = युद्धप्रयोगविधि । मोहूर्तिक = ज्योतिषिक । निर्णय = शास्त्रदृष्टया
निर्णय कृत्वा । शुभलग्नम् = मंगलकालम् । यात्राकरणम् = युद्धाय प्रस्थानम् ।

राजा ने कहा—'मन्त्री, पहले आप मेरी सेना का निरीक्षण कर लें और
उसके उपयोग की व्यवस्था भी जान लें । फिर शुभ दिन का निश्चय करने वाले
ज्योतिषी को बुलावें । वह निर्णय करके शुभ मुहूर्त बता दे' मन्त्री ने कहा—
'फिर भी जल्दी से यात्रा करना अनुचित है' । क्योंकि—

'विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विपद्वलम् ।

खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ये मूढा द्विपद्वलम् अविचार्य सहसा विशन्ति ते सुनिश्चितम्
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ॥ ६९ ॥

ये मूढा = विचारहीन । द्विपद्वलम् = शत्रुपराक्रमम् । अविचार्य = अना-
लोच्य । विशन्ति = शत्रुदेशे, सेनायाम् विग्रहे वा प्रविशन्ति । ते = मूढा ।
सुनिश्चितम् = ध्रुवम् । खड्गधारापरिष्वङ्गम् = कृपाणवारालिङ्गनम् मृत्युमित्यथ ।
लभन्ते = प्राप्नुवन्ति ॥ ६९ ॥

'जो मूर्ख शत्रु की सेना अथवा बल का विचार किए बिना ही उसके देश में
धुस जाते हैं वे निश्चय ही तलवार की धार का आलिंगन पाते हैं अर्थात् तलवार
से काट दिए जाते हैं' ॥ ६९ ॥

राजाह—'मग्निम् ! ममोत्साहमहं सूर्यया मा कृष्या । विजि
गापुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय । शुभो मूले—'देव !
तत्कथयामि । किन्तु तदनुष्ठितमेव फलमक्षम्' । तथा ब्रीहम्—

ममोत्साहबन्धुः—ममोत्साहस्य विरोधः । तर्जना—केनापि हेतुना । मा कृष्या—
मा कर्षी । विजिगीषु = विजिगीषामिकापी । बन्धु = यैव प्रकारेण । परभूमिम् =
परभूमेयम् । आक्रामति = स्वाधीनताम् गमति । तदनुष्ठितम् = तस्मानुत्तरेण
कृतम् एव । फलप्रक्षम् = तप्तम् ।

राजा ने कहा—'मग्नी जब कितो भी प्रकार से मेरे उत्साह को बह ब
करो । विजय चाहनेवाला बिन उपार्यों से अनुभव को प्राप्त करता है उन्हें
बनाओ । तुझ ने कहा— उसे कह रहा हूँ । किन्तु उससे अनुभार काम करने है
ही काम होना । मैंना कि कहा भी क्या है—

किं मग्नेष्वाननुष्ठाने शास्त्रवित्पृथिवीपतेः ।

न क्षीयधपरिहानाद्वाभ्येः शान्तिः कश्चिद्भवेत् ॥ ७० ॥

अन्वयः—शास्त्रवित्पृथिवीपतेः ननुष्ठाने मग्नेषु किम् (प्रयोजनम्) हि
क्षीयधपरिहानात् कश्चित् शान्तिः न भवेत् ॥ ७० ॥

शास्त्रवित्पृथिवीपतेः—शास्त्रज्ञस्य राज्ञः वरि । ननुष्ठानेन—नवाचरितेन ।
मग्नेषु—परामर्शेन । किम् = किम् फलम् किमपि मेरुर्ध्वं । क्षीयधपरिहानात्—
नाशस्य क्षातात् । शान्तिः = शान्तिः । मग्नेषु = मग्नेषु ॥ ७० ॥

'बहि पाछों का जाता होते हुए भी राजा मग्नेषु के अनुसार कार्य न करे
ता उससे उसे क्या काम होना । क्या वापस का जान होना से ही कहीं रोम
दू हो सकता है ? ॥ ७० ॥

राजावंशाभ्यामतिक्रमणीयः । —इति पद्याभ्युत्तं निबन्धयामि ।
शृणु— देव !

राजावंशः—राज ब्रा । अतिक्रमणीय = मोहहनीयः । बन्धुर्ध्वं = बन्धु
वधितम् । निबन्धयामि—प्रबन्धयामि ।

राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । इसलिए मैंने बीधा तुम्हें
है बीधा कह रहा हूँ । श्रुति—

'नद्यद्रि यत्तु नुगेषु यत्र यत्तु भयं सुप' ।

तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्दृष्टीर्यतेः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—ये नुग नदी—बहि बन्धुर्ध्वं बन्धु बन्धु (अस्ति) तत्र तत्र
धृष्टीर्यते बन्धु (तत्र) सेनानी वायात् ॥ ७१ ॥

यत्र यत्र=यस्मिन् यस्मिन् स्थाने । नद्यद्विवनदुर्गेषु = सरित्पर्वतकाननादिदुर्ग-
मभ्यलेषु । व्यूहीकृतं = आकृतिविशेषेण सज्जितं । बलं =सैन्यं सह । सेनानी =
सेनापति । यायात् =गच्छेत् ॥ ७१ ॥

‘नदी, पहाड़, जगल आदि मयकर स्थानों में जहाँ-जहाँ भय का कारण हो,
हे राजन् ! वहाँ-वहाँ मोर्चेबन्दी से व्यवस्थित सेनाओं के साथ सेनापति चले जायें’ ॥

‘बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।

मध्ये कलत्र, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्वलम्’ ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रवीरपुरुषान्वित बलाध्यक्ष पुर यायात् मध्ये कलत्र, स्वामी,
कोश, यत् फल्गुबलम् च (यायात्) ॥ ७२ ॥

प्रवीरपुरुषान्वित —श्रेष्ठवीरयोद्धूसमन्वित । बलाध्यक्ष =सेनापति । पुर =
अग्ने । कलत्रम्=राजान्त पुरम् । स्वामी=राजा । फल्गुबलम्=अल्पबलसैन्यम् ॥७२॥

‘बड़े बड़े योद्धा पुरुषों के साथ प्रधान सेनापति सेना के आगे रहे, बीच में
स्त्रियाँ, राजा, खजाना और अल्प बलवाली सेना रहे’ ॥ ७२ ॥

‘पार्श्वयोरुभयोरश्व, अश्वानां, पार्श्वतो रथाः ।

रथानां पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः’ ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उभयो पार्श्वयो अश्व, अश्वानाम् पार्श्वतो रथा, रथानाम्
पार्श्वतो नागा, नागानाम् च पार्श्वतो पदातय ॥ ७३ ॥

उभयो =द्वयो । पार्श्वयो =(बगल में) । अश्व =घोटका । नागा =गजा
पदातय =पत्तिसैनिका (पैदल सैनिक) ॥ ७३ ॥

‘उसके दोनों ओर (दाएँ बाएँ) घोड़े, घोड़ों के बगल में रथ और रथों के
बगल में हाथी तथा हाथियों के बगल में पैदल सैनिक रहें’ ॥ ७३ ॥

‘पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।

मन्त्रिभिः सुमटैर्युक्तं प्रतिगृह्य बलं नृपः’—॥ ७४ ॥

अन्वयः—पश्चात् सेनापति खिन्नान् शनैः आश्वासयन् यायात् (तत्पश्चात्)
मन्त्रिभिः सुमटैः युक्तं नृप बलम् प्रतिगृह्य (यायात्) ॥ ७४ ॥

विश्रान् =श्रान्तान् सैनिकान् । शनैराश्वासयन् =मृदुवचनं सान्त्वयन् ।
यायात्=गच्छेत् । नृप = राजा । मन्त्रिभिः =सचिवैः । सुमटैः =सुशूरैः । युक्तं =
सहित । बलम्=सेनाम् । प्रगृह्य=समादाय ॥ ७४ ॥

‘उसके पीछे धके हुए लोगों को मीठी मीठी बातों से धीरे देते हुए सेनापति
चले और उसके पीछे मन्त्रियों और अच्छे अच्छे वीरों ने युक्त सेना लिए हुए
राजा चले’ ॥ ७४ ॥

समेयाद्विपमं नागैर्जलाहृतं समहीधरम् ।

सममसैर्जलं नीमिः, सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—विषमम्=(स्वल्पम्) जलाहृतम् समहीधरम् (स्वल्पम्) च नागैः समम् (धूमिम्) कर्मैः जलम् नीमिः पदातिभिः सर्वत्रैव समेयात् ॥ ७५ ॥

विषमम्—अन्वयावयवम् प्रदेहम् । जलाहृतम्—जलपूर्यम् । समहीधरम्—सर्व-
तीक्ष्णम् धूमिम् । पदैः—नागैः । समम्—समतलम् । कर्मैः—घोटकैः । जलम्—
सजलम् नद्यादिप्रदेहम् । पदातिभिः = वातभिः । सर्वत्र = समम् विषमम् वा
प्रदेहम् ॥ ७५ ॥

‘ऊँची नीची जल से भरी हुई तथा बहावियों से चिरी हुई धूमि पर हाथियों
से समतल धूमि पर घोड़ों से नवी जाति जल प्रदेह से नाव से तथा सभी
जगहों से वैदक रीतिकों द्वारा पाषा करनी चाहिए’ ॥ ७५ ॥

‘इस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलद्वारम् ।

तद्व्यवह तुरङ्गाणां पत्नीनां सार्धैरेव हि’ ॥ ७६ ॥

अन्वयः—जलद्वारम् इस्तिनाम् पमनम् प्रशस्तम् प्रोक्तम् तद्व्यवह
तुरङ्गाणाञ्च, सर्वैरेव हि पत्नीनाम् (गमनम् प्रशस्तम्) ॥ ७६ ॥

जलद्वारम् = सर्वाङ्गम् । इस्तिनाम् = राजानाम् । पमनम् = वाताकरणम् ।
प्रशस्तम् = संतनम् । प्रोक्तम् = कल्पितम् । तद्व्यवह = सर्वाङ्गानि रित्तैः । तुरङ्ग
माणाञ्च = अश्वानाम् । पत्नीनाम् = रजातीनाम् । सर्वैरेव = सर्वैः । ७६ ॥

‘सर्वां के समस हाथियों से वाता करना उत्तम है । तीर जल्य मय के
घोड़ों से तथा वैदक ती प्रर समस वाता बन्धी होती है ॥ ७६ ॥

‘शैलेषु, तुगमार्गेषु विधयं नृपरत्नाम् ।

स्वयोधै रक्षितस्यापि दायनं योगनिद्रया’ ॥ ७७ ॥

अन्वयः—शैलेषु तुग ५षु तुगशापम् विधेयम् । स्वयोधै रक्षितस्यापि
(राज्ञः) बोधनिद्रया दायनम् (शयनम्) ॥ ७७ ॥

शैलेषु—रक्षितम् । तुगं शैव = अदम्यमार्गेषु । नृपरत्नाम् = राज्ञः रक्षाय
यम् । विधेयम् = शिष्यम् । स्वयोधै = स्वयं । ७ लक्षण्यपि = वाग्निगन्ध्यापि ।
बोधनिद्रया—अवनाहनिद्रया । ७७ म् = शयनम् शिष्यम् ॥ ७७ ॥

‘सर्वतो ओर बाहुव शङ्के मः राजा की रक्षा शानी चाहिए और राजा को
जगने योगे द्वारा । ७७ म् पर मा बोधनिद्रया से (लक्ष्मी-उत्तरी नीर कर्मों
साधनाती से) ही नावा चाहिए ॥ ७७ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्ग-कण्टक-मर्दनैः ।

परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—दुर्गकण्टकमर्दनैः शत्रून् नाशयेत् कर्षयेत् वा । परदेशप्रवेशे आटविकान् पुर कुर्यात् ॥ ७८ ॥

दुर्गकण्टकमर्दनैः = दुर्गवाधाविनाशनैः । शत्रून् = रिपून् । नाशयेत् = विनाशयेत् । कर्षयेत् = क्लेशयेत् । परदेशप्रवेशे = शत्रुदेशप्रवेशे । आटविकान् = घनेचरान् किरातादीन् इत्यर्थः । पुर = अग्रे ॥ ७८ ॥

किले को तोड़ फोड़ कर और रास्ते की रुकावटो को कुचल कर शत्रुओ का विनाश करना चाहिए तथा उन्हें कष्ट पहुँचाना चाहिए और शत्रुदेश मे घुमने के पहिले आगे आगे जगली व्यक्तियो को रास्ता बताने के लिए नियुक्त कर देना चाहिए ॥ ७८ ॥

‘यत्र राजा तत्र कोशो, विना कोशं न राजता ।

सुभटेभ्यस्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युष्यते’ ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यत्र राजा (विद्यते) तत्र कोश (स्थाप्य) कोश विना राजता न । ततः सुभटेभ्यः दद्यात्, दातुः को हि न युष्यते ॥ ७९ ॥

यत्र राजा = यस्मिन् स्थाने राजा विद्यते । तत्र = तस्मिन् स्थाने । कोश = कोश सस्थाप्य । राजता = नृपत्वम् । ततः = कोशात् । सुभटेभ्यः = वीरसैनिकेभ्यः । दातुः = दातुः अर्थः । न युष्येत् = युद्धं न करोति ॥ ७९ ॥

जहाँ राजा रहता है वहीं खजाना भी रहता है क्योंकि खजाने के बिना राजा का राजत्व व्यर्थ है । राजा को चाहिए कि उस खजाने से सेवकों को खूब धन दे क्योंकि दाता राजा के लिए कौन नहीं लड़ाई करता अर्थात् सभी करते हैं ॥ ७९ ॥

यतः—‘न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते ।

गौरवं लाघवं वापि घनाधननिबन्धनम्’ ॥ ८० ॥

अन्वयः—हे भूपते नर नरस्य दास न (अपितु) अथस्य दास भवति । गौरवम् लाघवम् वापि घनाधननिबन्धनम् (भवति) ॥ ८० ॥

भूपते = राजन् । नर = मनुष्य । नरस्य = मनुष्यस्य । दास न = सेवक न । अर्थस्य = धनस्य । गौरवम् = महत्त्वम् । लाघवम् = लघुत्वम् च । घनाधननिबन्धनम् = घनधनाभावहेतुकम् ॥ ८० ॥

क्योंकि हे राजन्, मनुष्य मनुष्य को चाकरी नहीं करता वल्कि वह धन का गुलाम होता है । और बड़ाई छोटाई भी धन के आधार पर ही निश्चित की जाती है ॥ ८० ॥

‘अमेवेन च कुर्वेत, रक्षेच्छेय परस्परम् ।

पश्यु सौम्यं च पत्किञ्चिन्मन्त्रे व्यूहस्य कारयेत्’ ॥ ८१ ॥

अन्वयः—परस्परम् अमेवेन पुष्यत रक्षेत् च पत्किञ्चित् कन्तु सौम्यं च (तत्) व्यूहस्य मध्ये कारयेत् ॥ ८१ ॥

परस्परम्—स्वपक्षा कन्तोन्वयम् । अमेवेन—मिलित्वा । कुर्वेत—कुर्वन् कुर्वन् । रक्षेत्—रक्षन् कुर्वन् । पश्यु—निस्तरवम् निर्बलमित्यर्थं । सौम्यम्—वचम् । व्यूहस्य—वचविन्यासस्य (मोर्षेवन्दी) । मध्ये—वचराजे । कारयेत्—स्वापयेत् ॥ ८१ ॥

सौम्यो को परस्पर मिल कर लड़ना तथा एक दुसरे को रक्षा करनी चाहिए । और निर्बल सेना को व्यूह (मोर्षेवन्दी) के बीच में रक्षना चाहिए ॥

‘पवातीन्म महीपाङ्क पुरोऽनीकस्य बोधयेत् ।

उपकम्पारिमासीत् राष्ट्रं चार्योपपीडयेत्’ ॥ ८२ ॥

अन्वयः—महीपाङ्क पवातीन् च महीवस्य पुर बोधयेत् । अरिम् उपकम्पारिमासीत् कस्य राष्ट्रं च उपपीडयेत् ॥ ८२ ॥

महीपाङ्कः—गुप । पवातीन्—पवित्रान् । महीवस्य—सेनायाः । पुर—उद्ये ? बोधयेत् = स्वापयेत् । अरिम्—शत्रुम् । उपकम्प = समन्तात् बहुरोचम् इत्या । मासीत्—विद्येत् । कस्य—नामो । राष्ट्रम्—राज्यम् । उपपीडयेत्—उत्प्रेषयेत् ॥ ८२ ॥

राजा को चाहिए कि वह पैदल सेना को कम्प सेना के आगे रखे शत्रु को चारों ओर से घेर ले (घेर जाने) तथा उद्ये राज्य को (हूट पाठ तथा कटक आदि नष्ट करके) पीडा पहुँचाये ॥ ८२ ॥

‘स्वम्भनाद्यैः सम पुष्येन्नूपे मौ प्रियैरतथा ।

सुप्तमुस्मादृत व्यापैरसिधर्मोपुधैः स्वच्छे ॥ ८३ ॥

अन्वयः—तमे स्वम्भनाद्यैः शत्रो मोधिर्षे नुतनुस्मादृते चार्पे, तथा स्वते वसिधर्मोपुधैः नुरूपेत् ॥ ८३ ॥

तमे—शत्रुप्रदेष्टे । स्वम्भनाद्यैः—रथघोटके । शत्रो = शत्रुपादे । मोधिर्षे = मोक्षामि-पत्रैश्च । नुतनुस्मादृते = तदधीरवाञ्छारिते प्रदेष्टे । चार्पे = वसुधि । स्वते—अग्नी । वसिधर्मोपुधैः—वसुधर्मप्रभादित्यभि । पुष्येत्—पुत्र कुर्वन् ॥

समस्त मूनि वर रथ की बोझों से व-पुत्र स्वाम में चार्पे तथा द्वाज्यो से वृक्ष और छादियों में डरे हुए स्वाम वर वसुध तथा स्वत वसिधर्म वर तनवार और चार्पे से पुत्र करना चाहिए ॥ ८३ ॥

वृषपद्यास्य उत्ततं पवसाभोद्धैःपनम् ।

मिन्ध्याश्वैश्च तद्वागानि प्राकाराम्परिखास्तथा ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अस्य यवसाधोदकेन्धनम् सततम् दूषयेत् तडागानि तथा प्राकारान् परिखा च मिन्धात् एव ॥ ८४ ॥

अस्य = शत्रो । यवसम् = घासम् । अन्नम् = भोज्यपदार्थम् । उदकम् = जलम् । इन्धनम् = इधम् । सततम् = निरन्तरम् । दूषयेत् = विषादिप्रयोगेण दूषितम् कुर्यात् । तडागानि = सरासि । प्राकारान् परिखा = सालान् खेयानि च (किले की चहारदिवारी और खाई) मिन्धात् = नष्ट कुर्यात् ॥ ८४ ॥

शत्रु की घास, अन्न तथा जल आदि को (विषादि प्रयोगों से) दूषित कर देना चाहिए, तालाबो किले की चहार दीवारी और खाइयो को तोड़ फोड़ देना चाहिए ॥ ८४ ॥

‘बलेषु प्रमुखो हस्ती, न तथाऽन्यो महीपतेः ।

निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः’ ॥ ८५ ॥

अन्वयः—महीपते बलेषु (यथा) हस्ती प्रमुख तथा अन्य न (प्रमुख) निजै अवयवै मातङ्ग अष्टायुध स्मृत ॥ ८५ ॥

महीपते = नृपस्य । बलेषु = सैन्येषु । हस्ती = गज । प्रमुख = मुख्य । निजै = स्वकीयै । अवयवै = अङ्गैः । मातङ्ग = गज । अष्टायुध = शुण्डपुच्छदन्तद्वयपाद-चतुष्टयै अवयवै युद्ध करोति अतः अष्टायुध कथ्यते ॥ ८५ ॥

राजा की सेना में हाथी जितना प्रधान होता है उतना और कोई नहीं, क्योंकि अपने अंगों (१ सूंड, २ पूँछ, २ दाँत तथा ४ पैर) के कारण हाथा आठ हथियारों वाला कहा जाता है ॥ ८५ ॥

‘वलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः ।

तस्मादश्वधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे’ ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सैन्यानाम् बलम् अश्व यत (स) जगम प्राकार । तस्मात् अश्वधिक राजा स्थलविग्रहे विजयी (भवति) ॥ ८६ ॥

सैन्यानाम् = सैनिकानाम् । अश्व = घोटक । जगम = गमनशील । प्राकार = साल । अश्वधिक = अश्वसेनावहुल । स्थलविग्रहे = स्थलयुद्धे । विजयी = जयम् लभेत् ॥ ८६ ॥

घोडा भी सेना का मुख्य बल होता है क्योंकि वह एक चलती फिरती दीवार है । इसलिए स्थल की लड़ाई में अधिक घोडों वाला राजा अवश्य विजयी होता है ॥ ८६ ॥

‘तथा चोक्त—‘युध्यमाना ह्यारूढा देवानामपि दुर्जयाः ।

अपि दुरभ्यितास्तेषा वैरिणो हस्तवत्तिनः’ ॥ ८७ ॥

अन्वयः—एवाकृता मुष्यमाना देवानाम् अवि पुत्रैवा (मरति) तेषु
दूरस्थिता वैरिण अवि इस्तवतिन मरति ॥ ८० ॥

हवाकृता = अभाकृता । मुष्यमाना = मुहं बुद्धिना । देवानाम् = गुणानाम् ।
पुत्रैवा = त्रेणुपसत्वा । तेषाम् = अभाकृतानाम् । दूरस्थिताः = दूरस्थः । वैरिणः
राजवः । इस्तवतिन = करायता इव मरति ॥ ८० ॥

श्रीर श्री कृष्ण नमो है—

मोहे पर चढ़ कर मुठ करने वाले राजा को देवता भी नहीं भीत पाते हैं ।
यद्यपि बहुत दूरी पर रहने वाला गन्धु भी मानी उतके हाथ में डी स्थित होता है ॥

‘प्रथमं पुत्रकारित्वं समस्तवक्त्रपालनम् ।

द्विक्रमागार्थ्यां पिशाघित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रथमम् पुत्रकारित्वम्, समस्तवक्त्रपालनम् द्वि-—आर्थात्
विद्योचित्वम् पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८८ ॥

प्रथमम् = अग्रतः । पुत्रकारित्वम् = शोचनम् । समस्तवक्त्रपालनम् = सम्पूर्ण
संस्कारणम् । द्विक्रमागार्थ्याम् = नमस्तद्विक्रमनामायुः । विद्योचित्वम् = परिकर
णम् । पत्तिकर्म = पदानिकार्यम् । प्रचक्षते = कल्पते ॥ ८८ ॥

सभी देताओं के कामों होकर पुत्र करना सारी देता भी रक्षा करना तथा
सभी शीर के रास्तों को साफ करना प्रथम देता के काम हैं ॥ ८८ ॥

स्वभावद्वयस्मयसमविरक्तं जितधमम् ।

प्रतिद्वयविविधप्रभावम् अक्षयं विदुः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्वभावद्वयम् अक्षयम् अविरक्तम् विषयम् प्रतिद्वयविवि-
धप्रभावम् अक्षयम् विदुः ॥ ८९ ॥

स्वभावद्वयम् = प्रकृता शीरम् । अक्षयम् = अक्षयलक्षणम् । अविरक्तम् =
स्वपक्षम् प्रति अक्षयम् । जितधमम् = अमशीलम् । प्रतिद्वयविविधप्रभावम् =
स्वातन्त्र्यविविधम् । अक्षयम् = शीरम् । अक्षयम् = अक्षयम् । विदुः = ज्ञानी
भावः ॥ ८९ ॥

स्वभाव से ही शीर, हविषार बचाने में विदुष राजा के प्रति भया रक्षक
बाली में भी प्रकार के परिष्कार को लक्षण करने वाली प्रतिद्वय विषयों से जरी हुई
देता सेह मानी जाती है ॥ ८९ ॥

‘यथा प्रमुहताम्मानापुष्यन्ते भुवि मानवाः ।

न त्वया बहुमिदं प्रजिज्ञैरपि मूर्यते ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे भूपते यथा प्रमुकृतात् मानात् भुवि मानवा युध्यन्ते तथा दत्तं बहुभि द्रविणै अपि न (युध्यते) ॥ ९० ॥

हे भूपते=हे राजन् । यथा = येन प्रकारेण । प्रमुकृतात् = स्वामिकृतात् । मानात्=सम्मानात् । भुवि=जगति । मानवा =मनुष्या । द्रविणै =धनैः ॥९०॥
इस मसार मे मनुष्य राजा से सम्मान पाकर जितना युद्ध करते हैं उतना अत्यधिक धन देने पर भी नहीं करते ॥ ९० ॥

‘वरमल्पवलं सार न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।

कुर्यादसारमङ्गो हि सारमङ्गमपि स्फुटम्’ ॥ ९१ ॥

अन्वयः—मारम् अल्पबलम् वरम् (अत) मुण्डमण्डलीम् न कुर्यात् (यत्) असारमङ्गं सारमङ्गमपि स्फुटम् कुर्यात् ॥ ९१ ॥

सारम्=तत्त्वयुक्तम्, दृढपराक्रमम् । अल्पबलम् = लघुसैन्यम् । वरम्=श्रेष्ठम् । मुण्डमण्डलीम्=निबलमनुष्यमुण्डमण्डलम् निबलानाम् आधिक्येन संग्रहणम् इत्यथ । असारमङ्गं =निबलसैन्यपराजय । सारमङ्गम् = सबलशूरसैन्यपराजयम् । स्फुटम्=निश्चितम् ॥ ९१ ॥

तत्त्वयुक्त (बलवानो से पूर्ण) छोटी सेना अच्छी होती है अत सिर गिनाने के लिए व्यय बहुत से साधारण व्यक्तियों को सेना में नहीं रखना चाहिए । क्योंकि बलहीन सेना के टूट जाने पर (हार कर भाग जाने पर) बलवान सेना भी तितर बितर हो जाती है ॥ ९१ ॥

‘अप्रसादोऽनधिष्ठानं, देयांशहरणं च यत् ।

कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अप्रसाद , अनधिष्ठानम्, देयांशहरणम्, कालयाप , अप्रतीकार च तत् वैराग्यस्य कारणम् (भवति) ॥ ९२ ॥

अप्रसाद = सैनिकान् प्रति राज्ञ अकृपा, सुष्ठुकार्यकरणेऽपि पारितोषिकादिभि सम्मानाभावा । अनधिष्ठानम् = योग्यबलाध्यक्षाभावा । देयांशहरणम्= देवदेवतादिसङ्कोच । कालयाप = वतनादिदाने विलम्ब । अप्रतीकार = सैन्य-कलेगदूरीकरणे अशक्ति । तत्=तं प्रति । वैराग्यकारणम्=सैन्यानाम् उदासीनतायाः हेतु ॥ ९२ ॥

१ अप्रसाद (अच्छा कार्य करने पर भी सैनिकों को पुरस्कृत न करना), २ योग्य सेनापति की कमी, ३ दिए हुए धन को पुन छोन लेना, ४ कुछ देने में समय गवाना (टाल मटोल करना) ५ सैनिकों के कष्ट निवारण का उपाय न करना—यही पाँच सैनिकों के असतोष के कारण होते हैं ॥ ९२ ॥

अपीडयन् वलं शत्रून् जिगीषुरभिवेषयेत् ।

सुखसाध्यं द्विषां सौम्यं शीघ्रवानप्रपीडितम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—विभीकुं वलम् अपीडयन् शत्रून् अभिवेषयेत् (वल) शीघ्रवान्
प्रपीडितम् द्विषाम् सौम्यम् सुखसाध्यम् (प्रवर्ति) ॥ १३ ॥

विभीकुं = विजयेश्वर । वलम् = शत्रुम् । अपीडयन् = प्रपीडयन् । शत्रून्
वरान् । अभिवेषयेत् = अभिधावात् (शाक्रमण करे) शीघ्रवानप्रपीडितम् =
शीघ्रमार्गपरिभ्रान्तम् । द्विषाम् = शत्रून् । सौम्यम् = शत्रुम् । सुखसाध्यम् =
जनावापेन शत्रुं लययम् ॥ १३ ॥

विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि योद्धी-योद्धी हुए बलवर
वह अपनी सेना को विना कष्ट पहुँचाए हुए ही शत्रु पर बरबाई करे । क्योंकि
बहुत दूरी से जाने के कारण यकी हुई शत्रु की सेना बासावी से पराजित की
जा सकती है ॥ १३ ॥

‘बाबादाक्षपरो यस्माद्भास्ति भेदकरो द्विषाम् ।

तस्मात्पुरथापयेद्यत्नाद्वापार्त् तस्य विद्विषः’ ॥ १४ ॥

अन्वयः—द्विषाम् भेदकर बाबादात् अपर मम भास्ति तस्मात् तस्य
विद्विषः बापावम् पलात् उत्थापयेत् ॥ १४ ॥

द्विषाम् = शत्रून् । भेदकर = विद्वेगकारक । बाबादात् = तपिष्ठम्
(पट्टीदार) अकर मम=अस्य उपाव । विद्विषः=शत्रो । बापावम् = छापयम् ।
पलात्=प्रवलात् । उत्थापयेत्=तत्र सह विरोधम् कारयेत् ॥ १४ ॥

शत्रु के हिंसेदारो के अतिरिक्त जलमे पूर्य उत्पन्न करने वाला कोई दूध
बलम उपाव गरी होता । इसलिए बड़े प्रयत्न के साथ शत्रु के हिंसेदारो को
उनके विपरीत लड़ा कर देना चाहिए ॥ १४ ॥

सन्ध्याय सुपरराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।

अन्तःप्रकोपणं कुर्यादभिमोक्षां स्थिरात्मनः’ ॥ १५ ॥

अन्वयः—सुपरराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा संघाय स्थिरात्मनः अभिमोक्तुं
अन्तःप्रकोपणम् कारयेत् ॥ १५ ॥

सुपरराजेन=राजकुमारैः । यदि वा=अथवा । मुख्यमन्त्रिणा=प्रधानमन्त्रिणैः ।
संघाय=सुसंघर्षम् विधाय । स्थिरात्मनः=सुसंयत्ताद्यामर्थेण सुखस्य । अभिमोक्तुं
मुख्यमन्त्रिण्य धानो । अन्तःप्रकोपणम् = सुहृदम् विद्वेहम् वा । कारयेत् =
करनीयम् ॥ १५ ॥

राजकुमार अथवा मन्त्री व साठ सुसंघर्ष करके फिरे यदि मे इह स्थिति
वाले मुख म सलग शत्रु के घर मे ही विद्वेह करा देना चाहिए ॥ १ ॥

‘क्रूरामित्र रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत् ।
अथवा गोप्रहाकृष्ट्या, तन्मुख्याश्रितवन्धनात्’ ॥ ९६ ॥

अन्वयः—क्रूरामित्रम् रणे भङ्गम् दत्त्वा विघातयेत् अथवा तन्मुखाश्रित-
वन्धनात् गोप्रहाकृष्ट्या (विघातयेत्) ॥ ९६ ॥

क्रूरामित्रम् = दुष्टशत्रुम् । रणे = युद्धे । गोप्रहाकृष्ट्या = वत्सवन्धनेन गोग्रहण-
वत् । तन्मुखाश्रितवन्धनात् = शरपुत्रादिवन्धनात् । भङ्गम् = पराजयम् । विघात-
येत् = हन्यात् ॥ ९६ ॥

दुष्ट शत्रु को युद्ध में पराजित करके मार डालना चाहिए अथवा जैसे बछड़ा
पकड़ लेने से गाय स्वयम् पास आजाने से पकड़ ली जाती है उसी प्रकार शत्रु के
सम्बन्धियों को पकड़ कर उसे अपने वश में करके मरवा देना चाहिए ॥ ९६ ॥

‘स्वराज्य वासयेद् राजा परदेशापहरणात् ।
अथवा दान मानाभ्यां वासितं धनदं हि तत्’ ॥ ९७ ॥

अन्वयः—परदेशापहरणात् राजा स्वराज्यम् वासयेत् अथवा दानमानाभ्याम्
(वशीकृत्य वासयेत्) तत् वासितम् धनदम् हि भवति ॥ ९७ ॥

परदेशापहरणात् = शत्रुदेशम् उद्धास्य । स्वराज्यम् = स्वराष्ट्रम् । दानमाना-
भ्याम् = शत्रुजनान् अभयदान-सम्मानादिभिः । तत् = दानमानाभ्याम् पुरस्कृतम् ।
धनदम् = लाभकरम् ॥ ९७ ॥

राजा को चाहिए कि शत्रु देश को उजाड़ कर वहाँ के लोगों को अपने
देश में ले आकर बसाए । अथवा उन्हें धन तथा सम्मान के लोभ से अपने देश में
ले आए । क्योंकि इस प्रकार बसाए गए लोगों से धन की प्राप्ति होती है ॥ ९७ ॥

अथवा किं बहुनोदितेन—

बहुनोदितेन = प्रलापाधिकेन ।

अथवा, अधिक कहने में क्या लाभ ?

‘आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वय नीतिरितीयती ।

तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ९८ ॥

अन्वयः—आत्मोदय परग्लानि इतीयती द्वयम् नीति तद् करीकृत्य
कृतिभि वाचस्पत्यम् प्रतायते ॥ ९८ ॥

आत्मोदय = स्वोन्नति । परग्लानि = शत्रुशानि । इतीयती = (इति + इयती)
एतावन्मात्रमेव । नीति = राजनीतिसारम् । तत् = उक्तद्वयम् नीतितत्त्वम् ॥

रूपी इत्येव—स्त्री इत्येव । कृतिभिः—विद्वद्भिः । वाचस्पत्यम्—वाचित्वम् । प्रथमो—
प्रथमोऽप्येते ॥ ९८ ॥

बपनी उच्यते और बपु की उच्यते—यही दो प्रधान नीति हैं । इन्हीं की
बहुत करके विद्वान् बपनी विद्वता प्रकट करते हैं ॥ ९८ ॥

राजा विद्वत्सोकथ—'सर्वमेतद्विद्वेषथस्योच्यते । किन्तु—

अथपु—अथपु सत्यमस्य—तास्त्रनियन्मिप्रतम् ।

सामानाधिकरण्यं हि तज्जस्तिमिरयोः कृता ? ॥ ९९ ॥

अथपु—अथपु सत्यम् अथपु तास्त्रनियन्मिप्रतम् (तत्त्वम् अथपु)
तैवस्तिमिरयो सामानाधिकरण्यं हि कृतं (तत्रैव) ॥ ९९ ॥

अथपु—अथपु सत्यम् अथपु तास्त्रनियन्मिप्रतम् (तत्त्वम् अथपु)
तैवस्तिमिरयो सामानाधिकरण्यं हि कृतं (तत्रैव) ॥ ९९ ॥
अथपु—अथपु सत्यम् अथपु तास्त्रनियन्मिप्रतम् (तत्त्वम् अथपु)
तैवस्तिमिरयो सामानाधिकरण्यं हि कृतं (तत्रैव) ॥ ९९ ॥

राजा ने हीस कर कहा—'विशेषतः यह तभी ठीक है । किन्तु—

किसी प्रकार की मर्जीवा न रखने वाला बराबर और होता है तथा बाल
द्वारा निरन्तर बक बुरा होता है । बला प्रकाश और अन्धकार दोनों की
एक स्थिति कैसे हो सकती है ? ॥ ९९ ॥

तत उत्थाप राजा मोहर्तिकारोदितकर्म्ये प्रस्थिता ।

तत = तदनन्तरम् । राजा—नृप । उत्थाप = उत्थानम् इत्या ।
मोहर्तिकारोदितकर्म्ये—मोहोदिकारोदितकर्म्ये । प्रस्थिता = पुत्रात् प्रस्थिता ।

इसके बाद राजा ने उठकर मोहोदिकारों के द्वारा बचाए गए हुए बाल के
प्रस्थान किया ।

अथ प्रहितप्रणिधिधरो द्विरवयवममागत्य प्रथम्योपाद्य—'देव !
समागतमायो राजा विद्वत्पर्यः । सम्प्रति मलयपर्वताधित्यकार्या
समावासितकर्म्यो वर्तते । तुरीयोधर्म प्रतिज्ञमनुसंध्यातम् ।
पतोऽसौ शूभो महामन्त्री । किं च केनचिरसह तस्य पिन्वासकथा-
प्रसङ्ग नैव विज्ञितमयमत्तं मया, यत्—'अनन कोऽप्यस्मत्पुरो प्रागैव
निपुणः । अस्माको मूढे— देव ! काक पयाऽसौ सम्भवति ।

प्रहितप्रणिधिधरो—प्रहितप्रणिधिधरो । द्विरवयवममागत्य—द्विरवयवममागत्य ।
प्रथम्योपाद्य—प्रथम्योपाद्य । समागतमायो—समागतमायो । विद्वत्पर्यः—विद्वत्पर्यः ।
सम्प्रति—सम्प्रति । मलयपर्वताधित्यकार्या—मलयपर्वताधित्यकार्या ।
समावासितकर्म्यो—समावासितकर्म्यो । वर्तते—वर्तते । तुरीयोधर्म—
तुरीयोधर्म । प्रतिज्ञमनुसंध्यातम्—प्रतिज्ञमनुसंध्यातम् । पतोऽसौ—
पतोऽसौ । शूभो—शूभो । महामन्त्री—महामन्त्री । किं च—किं च ।
केनचिरसह—केनचिरसह । तस्य—तस्य । पिन्वासकथा—
पिन्वासकथा । प्रसङ्ग—प्रसङ्ग । नैव—नैव । विज्ञितमयमत्तं—
विज्ञितमयमत्तं । मया—मया । यत्—यत् । अनन—अनन ।
कोऽप्यस्मत्पुरो—कोऽप्यस्मत्पुरो । प्रागैव—प्रागैव । निपुणः—
निपुणः । अस्माको—अस्माको । मूढे—मूढे । देव !—देव ! ।
काक—काक । पयाऽसौ—पयाऽसौ । सम्भवति—सम्भवति ।

विद्यते । दुर्गंशोधनम् = दुर्गान्वेषणम् । अनुसघातव्यम् = अन्वेषणीयम् । महामत्री = कूटनीतिज्ञ । विश्वासकथाप्रसंगेन = गुप्तवार्ताप्रकरणेन । तदिङ्गितम् = गुदधर्म्य सकेतम् । अवगतम् = ज्ञातम् । प्रागेव = अभियानात्पूर्वमेव । कोऽपि = गुप्तचर । नियुक्त = वस्तु प्रेषित ।

इसके पश्चात् प्रधान गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने हिरण्यगर्भ के पास आकर कहा—राजन् राजा चित्रवर्णं अथ यहाँ आना ही चाहते हैं । इस समय मलय पहाड़ पर डेरा डाले सेना के साथ पड़े हैं । आप अपने दुर्ग का निरीक्षण हर क्षण कराते रहें । क्योंकि उसका मन्त्री गीघ है । उसके किसी गुप्त वातचीत के प्रसंग से मुझे उसका यह संकेत मालूम हुआ है कि उसने हमारे किले में किसी को पहले से ही नियुक्त कर रखा है । चकवे ने कहा—‘राजन्, वह गुप्त दूत यह कौवा ही हो सकता है ।’

राजाह—‘न कदाचिदेतत् । यद्येव तदा कथं तेन शुक्रस्याभिम-
वोधोऽपि कृतः ? अपरञ्च शुक्रस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स
च चिराद्भ्रास्ते ।’ मन्त्री ब्रूते—‘तथाप्यागन्तुकः शङ्कनीयः ।’
राजाह—आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते । शृणु—

अभिमवोधोऽपि = तिरस्करणाय प्रयत्न । विग्रहोत्साह = युद्धोत्साह । स च =
काक । चिरात् = बहुकालात् । भ्रास्ते = अथैव वर्तते । आगन्तुक = अज्ञातकुलशैल
आगन्तुक ।

राजा ने कहा—‘यह कभी नहीं हो सकता है । यदि ऐसा होता तो वह
सुम्ने को अपमानित करने का प्रयत्न ही क्यों करता ? इसके अतिरिक्त तोते के
आने के समय से ही उसमें (राजा चित्रवर्ण में) युद्ध करने का उत्साह हुआ है ।
यह कौवा तो यहाँ बहुत दिनों से है ।’ मन्त्री ने कहा—‘फिर भी आगन्तुक
सदेहास्पद होता है ।’ राजा ने कहा—‘कभी कभी आने वाले बड़े ही लाभदायक
होते हैं । सुनो—

‘परोऽपि हितवान्वन्धुर्वन्धुरण्यहितः परः ।

अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्’ ॥ १०० ॥

अन्वयः—हितवान्पर अपि बन्धु, अहित बन्धु अपि पर (भवति यत्)
देहज व्याधि अहित, आरण्यम् औषधम् हितमेव ॥ १०० ॥

हितवान् = शरीरोत्पन्न । व्याधि = रोग । अहित = क्षतिकारक । पर =
शत्रु । देहज = शरीरोत्पन्न । व्याधि = रोग । अहित = क्षतिकारक । आरण्यम् =
वनोद्भवम् । औषधम् = भेषजम् । हितम् = हितकारकम् ॥ १०० ॥

सम् = बहोरात्रम् । अक्षय्यादि = कृष्णायुत । शिवते = राजानम् अनुवर्ति ।
समाविष्टति = आच्छाद्यते ।

राजा ने पुनः स्व से उस बैठन के कर्ष का लीरा भी बाग किया । बीरवर
ने अक्षय्या आया वैश्यामी तथा आश्रय के लिए कर्ष किया । शिव का राजा
कुशियों को दे दिया और उचित बने हुए मन को पावन तथा विवाह में कर्ष
किया । इसी प्रकार प्रतिदिन धर्म करके वह रात्रिदिन क्षय में तकवार लिए हुए
राजद्वार पर खड़ा रहता था । जब राजा स्वयम् आज्ञा देता था तबो वह अपने
घर भी जाता था ।

अथैकदा कृष्णयजुर्वेदपां रात्री स राजा सकृदक्षय्यादक्षय्यादि
शुभाप । तत् श्रुत्वा राजा मूते— का कोऽथ द्वारि सिद्धति ?

सकृदक्षयम् = अक्षयम् । अक्षय्यादि = रोदनयश्चम् । शुभाप = अनुवीप ।
क क अथ द्वारि = क क द्वाररक्षक जन वर्तते ।

एक बार कृष्णयजु की यजुर्वेदी को आधी रात के समय राजा ने अक्षय
कथा से मठी रोने की शक्ति सुनी ? शुक ने कहा—द्वार दर कौन है ?

तदा तेनोक्तं—'शिव ! अहं पीरवरः । राजोवाच 'अक्षय्यादि-
सर्वं क्षिपताम् । पीरवरोऽपि—'यथाहापवति देवा इत्युक्त्वा
अक्षितः ।

अक्षय्यादुत्तराक्षयम् = रोदनानुत्तराक्षयम् ।

जन्मे कहा—'रात्रम् मैं बीरवर हूँ । राजा ने कहा—'जाकर रोने का
वता लनाओ । 'ध्यायान की बैठती आज्ञा—'बह कह कर बारबर यही
कहा था ।

राज्ञा च विभित्तम्— अथमकाकी राजपुत्री मया सुधीमेघे तमसि
प्रहितः । मितपुञ्जितम् । तद्वदमपि शरथा 'विभित्त विधि शिरूपामि ।'
ततो राजापि अहमाहाय तदनुसरन्मन्मन मगराद्द्विजिर्जगाम ।
शरथा । अ पीरवरन शरती रूपवीपनतम्पथा सर्वाभद्वारभूपिता
काशिरथो दद्या वृथा अ— का रूपम् ? किमर्थं रोदिति ? इति ।
शिपोतम्—'अहमतस्य शुकस्य राजमन्त्रीः । पिरादतस्य मुञ्चच्छा-
वासां महता मुचम विधास्ता इहामीमपत्र शमिरयामि । पीरवरो
इत— वत्रापापः सम्मपति तत्रोपायोऽप्यसि तारुधं दवात्पुन-
रिद्व्यासा भवतयाः ?

विज्ञानम् = अक्षय्यादि । शरती = शरती । शरती = शरती । शरती = शरती ।
शुच वद = अक्षय्यादि । अक्षय्यादि = अक्षय्यादि । अक्षय्यादि = अक्षय्यादि ।
अक्षय्यादि = अक्षय्यादि । अक्षय्यादि = अक्षय्यादि । अक्षय्यादि = अक्षय्यादि ।

वीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण=वीरवरमनुसरन् । रुदती=रोदनम् कुर्वन्ती ।
 रूपयौवनसपन्ना=सौन्दर्यंतारूप्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता=सर्वाभूषणै सुशो-
 भिता । रोदिषि=रोदन करोषि । भुजच्छायायाम्=आश्रये । सुखेन विधान्ता=
 शानन्देनावस्थिता । अपायः = तत्र निवसने विपत्ति । उपाय = तत्रावस्थातुं
 साधनम् । इहावास =अत्र स्थिति ।

राजा ने विचार किया—‘यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को
 इस घने अन्वकार मे अकेले ही भेज दिया । इसलिए इसके पीछे पीछे चलकर
 देखूँ कि क्या बात है ।’

तब राजा भी हाथ मे तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चलता हुआ नगर के
 बाहर पहुँचा । वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनो से सुशोभित किसी सुन्दरी
 युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा-‘तुम कौन हो ? और क्यों रो रही
 हो ? ।’ स्त्री ने कहा—‘मैं इस शूद्रक की राज्यलक्ष्मी हूँ । बहुत दिनों तक इसकी
 भुजाओ की छाया मे सुख से निवास करती रही । अब दूसरी जगह चली
 जाऊँगी ।’ वीरवर ने कहा—जहाँ वाधा होती है, वही उसके दूर करने का
 उपाय भी होता है । तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं ?’

- लक्ष्मीरुवाच—‘यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणो-
 पेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाह पुनरत्र सुचिरं
 निवसामि’ । इत्युक्त्वाद्दृश्याभवत् ।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतम्=महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशल्लक्षणै युक्तम् । सर्वमङ्गलाया =
 दुर्गाया ।

लक्ष्मी ने कहा—‘यदि तुम वत्तीस लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को
 भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढ़ा दो तो मैं फिर यहाँ बहुत दिनों तक रह सकती
 हूँ ।’ ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गयी ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रवोचिता,
 पुत्रञ्च । तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ । वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मी-
 वचनमुक्तवान् । तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—‘धन्योऽहमेवं-
 भूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः । तात । तत्कोऽधुना
 विलम्बस्य हेतुः ? । एवविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः ।
 यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा । स्ववधू = स्वपत्नी । प्रवोचिता = उत्थापिता ।
 देहस्य = शरीरस्य । विनियोगः = व्यय । श्लाघ्य = प्रशस्य ।

मलाई चाहते बाका सनु मी कपता भाई तथा मुकसान चाहते बाका मी मी सनु होता है । बरीर से ही उत्पन्न होने बाका रोम बकस्यावकारी होता है किन्तु बंदक मे पैदा होने बाकी बवा कामयाबक होती है ॥ १ ॥

अपरञ्च—'भासीडीरचरो नाम शुक्रकस्य महीसृतः ।

शेषकः स्वल्पकाष्ठेन स ब्रवी सुतमारमनः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—महीसृत शुक्रकस्य बीरवर नाम शेषक बासीड स स्वल्पकाष्ठेन आरमन सुत्सु ब्रवी ॥ १ ॥

महीसृत = राजा । शेषक = बनुवर । स्वल्पकाष्ठेन = स्वल्पकाष्ठान्परिसेवनम् । भास्यन = स्वस्व । सुत्सु = सुत्सुम् । ब्रवी = गुरहिताप बलि कृतवात् म बीर मी—

राजा शुक्र का बीरवर नामक एक शेषक था जिसने बोले ही तनत्र मी राजा को मलाई के लिए अपने पुत्र को भी दे दिया था ॥ १ ॥

ककचाकः पूञ्छति—'कपमेतत् ?' राजा कपयति—

बन्धु मे कथा— यह कैसे ? राजा न कथा—

कथा ८

अहं पुरा शुक्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राज्ञः हंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जरीं सदानुराग्यात्मनयम् । राज्ञोऽनुपगम्य नाम [महान्] राजपुत्रः कुतश्चिद्वेशावागस्य, राज्ञोऽनुपगम्य प्रतीहारमुवाच—'अहं नावद्वर्तगार्थी राजपुत्रः मां राजवत्सवं कारय । ततस्तेनासौ राजवद्वर्तं कारितो भूते-धैव ! यदि मया संवकेन प्रयोजनमस्ति तदास्मद्वर्तनं क्रियताम् ।

क्रीडासरसि = क्रीडासरोवरे । बनुगवत्सु = बनुवर । प्रतीहारम् = द्वार रक्षकम् । वर्तगार्थी = नाजीबिकार्थी । राजपुत्रः = राजकुमारः । वर्तनम् = वेत्नम् ।

काज से बहुत दिनों पहिले मी राजा शुक्र के क्रीडासरोवर मे अपने बाने कर्पूरकेलि नाम के राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी से प्रेम करने लगा था । (इनलिए वहीं रहता मी था) एक दिन बीरवर नाम का एक राजकुमार वही के आवा मीर राजद्वार पर पहुँच कर बहने द्वारवाक से कहा—'मै जीबिका का इच्छुट एक राजकुमार हूँ मयः पुत्र मुझे राजा का वर्तन करा दो ।

द्वारपाल ने उसे राजा का दर्शन करा दिया तब राजकुमार ने कहा—‘राजन् यदि आप मुझे अपनी सेवा में रखना चाहते हो तो मेरा वेतन निश्चित कर दीजिए ।’

शूद्रक उवाच—‘किं ते वर्त्तनम् ?’ वीरवरो ब्रूते—‘प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि’ । राजाह—‘का ते सामग्री ?’ वीरवरो ब्रूते—‘द्वौ बाहु, तृतीयश्च खड्गः ।’ राजाह—‘नैतच्छक्यम् ।’

प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् । सुवर्णपञ्चशतानि=पञ्चशतानि दीनाराणि । सामग्री=मेवामाघनम् । एतत्=एतावत् वेतनम् ।

शूद्रक ने कहा—‘तुम्हारा वेतन क्या होगा ?’ वीरवर ने कहा—‘प्रतिदिन पाँच सौ मुद्रा दीजिए’ । राजा ने कहा—‘तुम्हारे पास सेवा के साधन क्या हैं ?’ वीरवर ने कहा—‘दो भुजाएँ तथा तीसरी तलवार ।’ राजा ने कहा—‘इतना वेतन तो नहीं दिया जा सकता है ।’

नच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः । अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—‘देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्त्तनं दत्त्वा श्लायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयमेतावद् वर्त्तनं गृह्णाति, अनुपयुक्तो वे’ति ?’ ततो मन्त्रिवचनादाह्वय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि ।

अस्य स्वरूपम्=वीरवरस्य अन्तस्तत्त्वम्, वेतनयोग्यम् गुणमित्यर्थं । उपयुक्त = उचित । ताम्बूलम् दत्त्वा=(पान देकर) तस्य सेवाम्, वर्त्तनम् च स्वीकृत्य ।

यह सुनकर वीरवर प्रणाम करके चल दिया । इसके पश्चात् मन्त्रियों ने कहा—‘राजन्, चार दिन का वेतन देकर इसको वास्तविकता समझिए कि यह इतना वेतन उचित ढंग से ले रहा है अथवा अनुचित ढंग से ।’ तब मन्त्रियों की बात मान कर राजा ने वीरवर को बुलवाया और उसे पान देकर पाँच सौ अक्षरफियाँ दे दी ।

वर्त्तनविनियोगश्च राक्षा सुनिभृतं निरूपितः । तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । स्थितस्यार्द्धं दुःखितेभ्यः, तद्वशिष्टं भोज्यविलासव्ययेन । एतत्सर्वं नित्यकृत्य कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते । यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति ।

तद्विनियोग = गृहीतवेतनन्ययप्रकार । सुनिभृतम्=प्रच्छन्नम् । निरूपित = ज्ञात । तदर्धम् = प्राप्तवेतनार्धम् । स्थितस्यार्धम् = शेषस्यार्धम् । भोज्यव्यय-विलासव्ययेन = भोजनामोदादिव्ययेन । नित्यकृत्यम् = नित्याचरणम् । महर्नि-

राम्—महोरामम् । अह्नवापि = कृपानहस्त । मेवते = राजानम् अनुवर्ति ।
समादिपति = बाह्यापवात ।

राजा ने कुछ कम ही उस बैठन के खर्च का धीरा भी भाव किया । वीरवर के अह्नवा भाष्य देवताओं तथा हाहातों के लिए खर्च किया । गीत का भाषा बुद्धियों को ही दिया और उठते बसे हुए धन को भोजन तथा विजात के खर्च किया । इसी प्रकार प्रतिदिन व्यव करके वह राठविन द्वार में तलवार लिए हुए राजद्वार पर खड़ा रहता था । जब राजा स्वयम् बाह्य बैठता था तभी वह अपने घर भी जाता था ।

अपेक्षया कृष्णवर्तुर्दस्यां रात्री स राजा सकलव्यक्रमानुवर्ति
शुभान् । तत् भुत्वा राजा मूते—‘का कोऽप्य हारि सिद्धति’ ?

कृष्णवर्तुम् = तदवयम् । कृष्णवर्तुनिम् = रोदनव्ययम् । शुभाव = अनुवर्ति ।
क क म हारि—क क हाररक्षक म म वर्तते ।

एक बार कृष्णवर्तु की चतुर्वेदी का बाघी राठ के समान राजा ने अत्यन्त कड़वा ही मरी रोने की शक्ति सुनी ? शुक ने कहा—‘हार कर कौन है ?’

तथा तेनोक्तं—‘हेव ! भई वीरवर । राजोवाच ‘कृष्णानु
सर्वं क्षियताम् । वीरवरोऽपि—‘यथाहापपति देवा इत्युक्त्वा
अक्षिता ।

कृष्णानुसरवम् = रोदनानुसम्भानम् ।

उद्धते कृष्ण—‘राजम् मी वीरवर हूँ । राजा ने कहा—‘जाकर रोने का पता लगाओ । भीमान की बीघी भाषा’—‘वह कह कर वीरवर गई त लज पडा ।

राजा च विन्धितम्—‘मयमेकाकी राजपुत्री मया सूचीमेघे तमसि
प्रहितः । नैतदुच्यतेम् । तद्वदमपि गत्वा ‘किमेतदिति मित्पयामि ।’

ततो राजापि अहमादाय तदनुसरव्यक्रमेण नगराद्द्विनिर्गमाम् ।
गत्वा (च) वीरवरेण कर्तुं रूपधीवनसम्पन्ना सर्वाङ्गद्वारमूयिता
काचित्स्त्री इया पूया च—‘का रवम् ? किमर्थं रोदियि ? इति ।
क्षियोक्तम्—‘महमंतस्य रूद्रकस्य राजकक्षमीः चिरात्वेतस्य मुञ्जवृक्ष-
पामां महता सुकेन विध्वान्ता, इदानीमभ्यस्य गमिष्यामि ।’ वीरवरो
मूते—‘यत्रापपः सम्भवति तत्रोपायोऽप्यस्ति तत्कर्षं स्यात्पुन-
रिहावासो भवत्याः ?

विन्धितम् = मनस्याचोचिनम् । नैतद् उच्यतेम् = तस्य प्रेयवम् अनुवर्ति ।
सूचीमेघे = वृत्तिके । तमसि—‘अन्धकारे । प्रहितः—‘प्रेषित । तदनु ह्रमपि गत्वा—

वीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण = वीरवरमनुसरन् । रुदती = रोदनम् कुर्वन्ती ।
रूपयौवनसपन्ना = सौन्दर्यतारुण्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता = सर्वाभूषणैः सुशो-
भिता । रोदिषि = रोदनं करोषि । भुजच्छायायाम् = आश्रये । सुखेन विश्रान्ता =
आनन्देनावस्थिता । अपाय = तत्र निवसने विपत्ति । उपाय = तत्रावस्थातुं
साधनम् । इहावास = अत्र स्थिति ।

राजा ने विचार किया—'यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को
इस घने अन्धकार में अकेले ही भेज दिया । इसलिए इसके पीछे-पीछे चलकर
देखूँ कि क्या बात है ।'

तब राजा भी हाथ में तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चलता हुआ नगर के
बाहर पहुँचा । वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनों से सुशोभित किसी सुन्दरी
युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा—'तुम कौन हो ? और क्यों रो रही
हो ?' स्त्री ने कहा—'मैं इस शूद्रक की राज्यलक्ष्मी हूँ । बहुत दिनों तक इसकी
मुजाबो की छाया में सुख से निवास करती रही । अब दूसरी जगह चली
जाऊँगी ।' वीरवर ने कहा—'जहाँ वाधा होती है, वही उसके दूर करने का
उपाय भी होता है । तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं ?'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्र शक्तिधरं द्वात्रिंशलक्षणे-
पेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाह पुनरत्र सुचिरं
निवसामि' । इत्युक्त्वा दृश्याभवत् ।

द्वात्रिंशलक्षणोपेतम् = महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशलक्षणैः युक्तम् । सर्वमङ्गलायाः =
दुर्गाया ।

लक्ष्मी ने कहा—'यदि तुम वत्सीस लक्ष्मणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को
भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढ़ा दो तो मैं फिर यहाँ बहुत दिनों तक रह सकती
हूँ ।' ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गयी ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता,
पुत्रश्च । तौ निद्रा परित्यज्योत्थायोपविष्टौ । वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मी-
वचनमुक्तवान् । तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवं-
मृतः, स्वामिराज्यरक्षणार्थं यस्योपयोगः । तात ! तत्कोऽधुना
विलम्बस्य हेतुः ?' । एवविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः ।
यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा । स्ववधूः = स्वपत्नी । प्रबोधिता = उत्थापिता ।
देहस्य = शरीरस्य । विनियोगः = व्ययः । श्लाघ्यः = प्रशस्यः ।

उस वीरवर ने धर बाकर लोठे हुए अपने ली-पुत्र को बताया । वह रोने लीर छाड़कर बैठ बैठे । वीरवर ने क्वनी द्वारा कही परी सारी बातें कही बुझ थी । उसे सुनकर ब्रह्मन् के साथ ब्रह्मिण ने कहा—'मि अत्यन्त बन्धु हूँ क्योंकि ब्रह्म स्वामी के राज्य की रक्षा में मेरे इस शरीर का इतना प्रयत्नशील उपयोग हो रहा है । तो फिर ब्रह्मन् क्यों हो रहा है । इस प्रकार के कर्म में इस शरीर का क्या जाना अत्यन्त प्रयत्नशील है । क्योंकि—

'धनानि जीवितभ्येव परार्थे प्राञ्ज उत्सृजेत् ।

तन्निमित्तो धरं त्यागो विनाशे निपते सति' ॥ १०२ ॥

अन्वयः—'प्राञ्ज धनानि जीवितं चैव परार्थे उत्सृजेत्, विनाशे निपते सति तन्निमित्तं त्यागं धरम् ॥ १०२ ॥

प्राञ्ज = बुद्धिपूर्व । धनानि = इष्टानि । जीवितम् = व्यापारम् । परार्थे = परहितार्थम् । उत्सृजेत् = त्यजेत् । विनाशे निपते = विनाशे निमित्तम् । तन्निमित्तम् = परिणामम् । धरम् = धर्मम् ॥ १०२ ॥

बुद्धिपूर्वक रूप से तथा जीवन दोनों ही दृष्टियों की प्रकाई के लिए समर्पित कर देते हैं । जब इस शरीर का विनाश निमित्त है ही तो बरोपकार के लिए इसे त्याग देना ही अच्छे है ॥ १०२ ॥

शक्तिधरमातोषाच—'यद्येतद्य कृतक्यं तरुकेनाभ्येन कर्मणा पृथी-
तस्य महायत्नस्य निष्कयो मविष्पति ।' इत्यालोच्य सर्वे सबमङ्ग-
खायाः स्वार्थं गताः । तत्र नयमङ्गलां समृद्धयं धीरवरो ज्ञते—
'देवि ! प्रसीद् विजयतां युत्रको महाराजः, पृथ्वीतामयमुपहारा ।'
इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेत् । ततो वीरवरश्चिन्तयामास—
'पृथ्वीतराजवत्तमस्य निस्तारा कृतः । मधुना निष्पुत्रस्य मे जीयमे-
नाञ्जम् । इत्यालोच्यारमण शिरश्चिच्छेत् ।

तद् न वरुणम् = स्वाध्यायनाय पुत्रारम्भं न कार्यं । महायत्नस्य = बहु-
मुष्णव्ययस्य । निष्कयो = निरुक्तः । कर्मणा = विचार्य । प्रतोद = प्रतप्ता वर ।
इत्या = इति । निस्तार = वानुष्णम् । निष्पुत्रस्य = पुत्रहीनस्य ।

गणेश की माता ने कहा—'बहि ह कार्य नहीं किना जायदा ती फिर
क व किम कार्य वा । इतन बडे बनन मेन का बरना बुद्धिवा का जनेना ?'
त त । क म । मयवना पुत्रा व मन्दिर मे लये । बड़ी देही की पुत्रा
व र वा व न बडा—'दाव बनन हा काओ महाराज पुरन को बन हा ।

यह मैं स्वीकार करूँ।' ऐसा कहकर उसने पुत्र का सिर काट दिया। इसके बाद वीरवर ने विचार किया कि राजा द्वारा प्राप्त वेतन का ऋण चुका दिया। अब पुत्रहीन जीवन तो व्यर्थ है। ऐसा सोचकर उसने अपना सिर भी काट दिया।

ततः स्त्रियापि स्वामि-पुत्रशोकार्त्तया तदनुष्ठितम् । तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—

स्वामिपुत्रशोकार्त्तया = पतिपुत्रशोकव्यग्रया । तदनुष्ठितम् = स्वशिरश्छेदनम् विहितम् । चिन्तयामास = विचारितवान् ।

तब उसकी स्त्री ने भी पति-पुत्र के शोक से दुखी होकर वही किया (अपना सिर काट दिया)। यह सब देखकर आश्चर्य में पड़े हुए राजा ने विचार किया—

‘जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः ।

अनेन सदृशो लोके न भूतो, न भविष्यति’ ॥ १०३ ॥

अन्वयः—मद्विधा क्षुद्रजन्तव जायन्ते म्रियन्ते च (किन्तु) अनेन सदृश लोके न भूत न भविष्यति ॥ १०३ ॥

मद्विधा = मत्सदृशा । जायन्ते = उत्पद्यन्ते । म्रियन्ते = मरणं प्राप्नुवन्ति । क्षुद्रजन्तव = क्षुद्रजीवा । अनेन = वीरवरेण । सदृश = तुल्य ॥ १०३ ॥

‘भेरे जैसे तुच्छ प्राणी ही जन्म लेने और मरते रहते हैं किन्तु इसके समान न तो कोई हुआ न होगा’ ॥ १०३ ॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनापि किं प्रयोजनम् ।’ ततः शूद्र-केणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः । अथ भगवत्या सर्व-मङ्गलया प्रत्यक्षभूतया राजा हस्ते धृत, उक्तञ्च—‘पुत्र ! प्रसन्नोऽस्मि ते, पताचता साहसेनालम् । जीवनान्तेऽपि तव राजमङ्गो नास्ति ।’

तदेतेन = तत् वीरवरेण । परित्यक्तेन = विरहितेन । समुत्थापित = समुत्तोलित । साहसेनालम् = साहस मा कुर्व । राजमग = राज्यविनाश ।

अत इसे छोड़कर मैं अब राज्य लेकर क्या करूँगा।’ तब शूद्रक ने भी अपना सिर काटने के लिए तलवार उठा ली। इसी बीच भगवती दुर्गा ने राजा का हाथ पकड़ने हुए कहा—‘पुत्र’ मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब इतने साहस की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे जीवन का अंत हो जाने पर भी तुम्हारे राज्य का विनाश नहीं होगा।’

राजा च साष्टाङ्गपात प्रणम्योवाच—‘देवि ! किं मे राज्येन ? जीवितेन वा किं प्रयोजनम् ? । यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममायुः-शेषेणाप्यय सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु । अन्यथाह यथाप्राप्तां गतिं

गच्छामि ।' भगवत्पुत्रात्—पुत्र । अनेन ते सस्वीत्कपेन, सृष्ट-
 वात्सल्येन च सर्वथा सन्तुष्टोऽस्मि । गच्छ विजयी भव । भयमपि
 सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु । इत्युक्त्वा वेम्भद्रवामवत् । ततो
 वीरवरः सपुत्रदात्तं प्राप्तो बभूव स्वपुत्रं गतः । राजापि तैरकस्मिन्
 सत्वरमस्तापुरं प्रविष्टः ।

वीरवित्त—प्राची । कि प्रबोधनम्—कि फलम् । अनुभववीर—इपापापः ।
 सवारपुत्र—पत्नीपुत्रसहितः । ववाप्राप्तो वतिम्—वीरवरैव प्राप्तवाम् मुमु-
 मित्यर्थः । तस्वोत्कर्षेण—वीरवर्मातिशयेन । सृष्टवात्सल्येन—सहक्रेम्या । सर्वथा—
 सर्वप्रकारेण । सन्तुष्टः—प्रसन्ना । तै—वीरवरादिभिः । असहित—अकल्प ।
 सत्तःपुरम्—स्वादासपुरे (रविवात) ।

राजा ने साक्षात् प्रथम करके कहा—'देवि मुझे प्राप्त बनना अपने
 वीरवत से भी कोई प्रयोजन नहीं है । यदि बात मेरे ऊपर कृपा ही करना
 चाहती है तो मेरी बची हुई जान से पत्नी-पुत्र के साथ वह वीरवर वीरवित्त हो
 जाए । नहीं तो मैं भी इसी की वधि प्राप्त करूँगा (मैं भी अपना वित्त प्राप्त
 करूँगा) । देवी ने कहा—'पुत्र मैं तुम्हारे इस अकल्प कष्ट सह सह वीर
 सेवक के प्रति प्रवर्तित प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हूँ । बाबो । विजयी बनो । वह
 राजकुमार भी सपरिवार वीरवित्त हो जाए ।' ऐसा कहकर देवी बहस ही गई ।
 फिर वीरवर भी वीर-पुत्र के साथ घर बसा बना । राजा भी इनने फिर
 ही राजमहल में बसा बना ।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्मूपासेन पूषा सथाह—'देव !
 सा श्वती मामबळोपपादक्ष्यामवत् । म काप्यन्वा वास्तां विद्यते ।
 तद्दक्षनमाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा साक्षर्यं विस्तयामास—'कथमर्थं
 दृष्टाध्यो महासरा' । मता—

इसके ब्रह्मात् प्राप्त-काल द्वार पर स्थित वीरवर ने राजा के फिर बुझने पर
 कहा—'राजन् वह रोने वाली मुझे देखकर बहस हो गयी । और कोई पुत्री
 बला नहीं है । उसही बात सुनकर राजा ने विचार किया—'वह महापुरुष
 कितना प्रसन्नभीय है । क्योंकि—

प्रियं मूयाद्दृष्टवन्, पूषाः स्याद्द्विकल्पता ।

दाता नापात्रवर्षी च प्रसन्नाः स्याद्द्विपुत्रा' ॥ १०४ ॥

अत्रयथा—'वदयन्' शिवम् इत्यात् पूर. वदित्यन्तं' इत्यात्, दाता नापात्रवर्षी
 च प्रसन्नाः च द्विपुत्रा' इत्यात् ॥ १०४ ॥

अकूपण = दानशील । प्रियम् दूयात् = मधुरं वचनम् उच्येत । दूर = दूरः
अविकल्पित = आत्मश्लाघारहित । स्यात् = भवेत् । अपात्रवर्षी = कुपात्रप्रद ।
प्रगल्भ = तेजसान्वित । अनिष्टुर = अक्रूर ॥ १०४ ॥

उदार को प्रिय बोलना चाहिए, दूर को आत्मश्लाघा नहीं होना चाहिए,
दानी को अपात्र (अयोग्य) व्यक्ति के लिए दान नहीं देना चाहिए तथा प्रगल्भ
को निष्टुर नहीं होना चाहिए ॥ १०४ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति ।' ततः स राजा प्रातः
शिष्टसमां कृत्वा, सर्वं वृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्समै कर्णाटकराज्यं
ददौ । तद्विक्रमागन्तुको जातिमात्राद् दुष्टः ? । तत्राप्युत्तमाधम-
मध्यमाः सन्ति । चक्रवाको ब्रूते—

एतस्मिन् = दूरवरे । शिष्टसमाम् = शिष्टानाम् समाम् । सर्वं वृत्तान्तम् = दूर-
वरेण रात्रौ यत्कृतम् । तत्सर्वम् । प्रस्तुत्य = समक्ष कृत्वा । आगन्तुक = अतिथि ।
सत्रापि = आगन्तुकेषु अपि ।

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण वर्तमान हैं ।' इसके पश्चात् प्रातः काल
राजा ने शिष्टों की समा करके सभी घटना कह सुनाई और प्रसन्न होकर उसे
कर्णाटक का राज्य दे दिया । तो क्या आगन्तुक जातिमात्र से ही दुष्ट होते हैं ।
उसमें भी उत्तम, मध्यम और अधम हैं ।' चक्रवे ने कहा—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किमन्त्री नृपेच्छया ।

वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—य (मंत्री) नृपेच्छया अकार्यम् कार्यवत् शास्ति स किमन्त्री ।
स्वामिमनोदुःखम् वरम् (किन्तु) अकार्यत तन्नाश न वरम् ॥ १०५ ॥

नृपेच्छया = राज्ञ इच्छानुसारेण । अकार्यम् = अनुचितम् कार्यमपि । कार्यवत् =
उचितकार्यसदृशम् । शास्ति = उपदिशति । स किमन्त्री = स दुमन्त्री भवति ।
स्वामिमनोदुःखम् = राजहृदयपीडा । वरम् = श्रेयः । अकार्यत = अकार्यस्य करणाय
उपदेशात् । तन्नाश = नृपविनाश ॥ १०५ ॥

जो मंत्री केवल राजा को इच्छा से ही न करने योग्य कार्य को भी करणीय
कार्य के समान बताता है वह दुष्ट होता है । स्वामी का मन दुःखी हो जाना तो
ठीक है किन्तु बुरे कर्म के उपदेश से उसका विनाश करा देना ठीक नहीं ॥ १०५ ॥

‘बेद्यो, शुक्लश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदाः ।

शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं च परिहीयत’ ॥ १०६ ॥

अन्वयः—यस्य राज्ञः बेटा पुत्रः मन्त्री च प्रियंवदा यवन्ति च (राजा) शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रम् परिहीयते ॥ १ ६ ॥

यस्य राज्ञः=पुत्रस्य । बेटा=विनिर्वाक । पुत्रः=उपदेशक । प्रियंवदा=राजा हृदयानुसारेण प्रियवत्कार । शरीरधर्मकोशेभ्यः=शरीरधर्मकोशेभ्यः । क्षिप्रम्=शीघ्रम् । परिहीयते=हीनो भवति ॥ १ ६ ॥

बिना राजा के बेटा पुत्र तथा मन्त्री सर्वका सलफी प्रिय वातो का ही प्राप्त रहते हैं वह शरीर धर्म कोर कहाने से हीन ही रहित हो जाता है ॥ १ ६ ॥

श्रुत्वा—देव ।

‘पुण्यास्त्वर्थं यदेकेन तस्ममापि भविष्यति ।

इत्या मिक्षुं बतौ मोहाद्यभ्यर्थो नापितो हता ॥ १०७ ॥

राजा पूजति—‘कथमेतत् ? । मन्त्री कथयति—

अन्वयः—एकेन पुण्यात् यत् तस्मिन् तत् ममापि भविष्यति—(इति) विषयी नापित-एत-मोहात् मिक्षुं इत्या (स्वयं) हता ॥ १ ७ ॥

एकेन = केनापि पुण्येन । पुण्यात् = विषयपूर्वकान्यहतात् धर्मन । अन्-कथम् = अन्यासम् । मिक्षुं=वनापी । हता=मृत ॥ १ ७ ॥

इं राजन् सुभो—

बिना मे पुण्य से मुक्त ना लिना तो बेटा ही मेरे बिदे भी हो जाना । ऐसा ही कोषकर वन के अजिजादी नाई से कोम में जाकर मिश्रुको मार खाया बिलये स्वयम् भी मारा बना ॥ १ ७ ॥

राजा ने मुझ—बहु कैसे हुआ । मन्त्री ने कहा—

कथा ९

अस्वययोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियाः । तेन धनार्थिता महता कच्छेण मगधवाँश्चार्थचूडामणिश्चिरमारुधिता । तता सीध पापोऽसी श्याम बहानं कृत्वा मगधवादेशाचक्षुश्चरेनादिषो यत्-त्वमद्य प्राताः क्षीरं कारयिष्या, अमुकहस्ताः सख स्वयूहद्वारि मिश्रतं श्यास्वसि ततो यमेयागतं मिश्रुर्कं प्राह्वये पर्यसि तं मिश्र

लगुडप्रहारेण' हनिष्यसि । ततोऽसौ मिक्षुकस्तक्षणात् सुवर्ण-
कलसो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम् ।
ततस्तथानुष्ठिते तद् वृत्तम् ।

घनायिना=द्रव्याकाक्षिणा । क्लेशेन=कष्टकरेण साधनेन । चन्द्रार्धचूडामणि =
भगवान् शिव । आराधित =सेवित पूजितश्च । क्षीणपाप =नष्टदुष्कर्मा ।
यक्षेश्वरेण =कुबेरेण । लगुडं हस्ते कृत्वा =यष्टिम् गृहीत्वा । आदिष्ट = आज्ञप्त ।
निमृतम् =प्रच्छन्नो भूत्वा । समागतम् =समायातम् । हनिष्यसि =ताडयिष्यसि ।
तथानुष्ठिते =मिक्षुके हते सति । तद्वृत्तम् =तयैव भूतम् ।

अयोध्या में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय था । उसने घन की अमिलाषा से
बड़े कष्ट के साथ बहुत दिनों तक शकर जी की आराधना की । तब उसके सारे
पाप नष्ट हो गए और एक दिन भगवान् शकर की आज्ञा से कुबेर ने उसे स्वप्न
में दर्शन देकर कहा—'आज तुम बाल बनवाकर, हाथ में लाठी लेकर घर में
छिपकर बैठ जाना । तब आगन में आए हुए मिक्षुक को देख कर जब उसे
निर्दयता के साथ डडे से मारोगे तो वह सोने का कलश हो जायगा । जिससे तुम
अपने जीवन भर के लिए सुखी बन जाओगे ।' उसके ऐसा करने पर सचमुच
वही हुआ ।

तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्—
'अये निधिप्राप्तेरयमुपायः । तदहमप्येवं किं न करोमि ?' । ततः
प्रभृति स नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिमृत मिक्षो-
रागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन प्राप्तो मिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः ।
तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं
ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेने'—त्यादि ॥ ❀ ॥

निधिप्राप्ते. =घनागमस्य । सुनिमृतम् =प्रच्छन्नो भूत्वा । प्रतीक्षते=प्रतीक्षां
करोति । व्यापादित =हत ।

वहाँ बाल बनाने के लिए लाए गए नाई ने सोचा—घन प्राप्त करने का
यह तो अच्छा उपाय है । मैं भी ऐसा ही क्यों न करूँ । उसी दिन से नाई प्रति
दिन उसी प्रकार हाथ में डडा लिए हुए छिप कर मिक्षुक के आने की प्रतीक्षा
करता था । एक दिन उसे मिक्षुक मिल ही गया और उसने उसे डडे से मार
डाला । इस अपराध के कारण उसे भी राजपुरुषों ने मार डाला । इसीलिए मैं
कह रहा हूँ—'एक ने जो पुण्य से प्राप्त किया' इत्यादि ।

रासाह—'पुरातनकपोद्धारैः कथं निर्णीयते परः ।
स्याधिष्कारणवन्तुर्वा, किं वा विश्वासपातकः ? ॥ १०८ ॥

अन्वयः—पुरातनकपोद्धारैः परः विष्कारणवन्तुः किं वा विश्वासपातकः स्यात् (इति) कथं निर्णीयते ॥ १०८ ॥

पुरातनकपोद्धारैः—प्राचीनकाले कृतकवाक्यम् । परः—अन्यः कालः वा । विष्कारणवन्तुः = नि-स्वार्थसत्तायुक्तः । विश्वासपातकः = विश्वासघातकः । कथं = कथं प्रकारेण । निर्णीयते = निर्णीयते ॥ १०८ ॥

रासा ते कथा—

प्राचीन कथाओं के कहने मात्र से ही वह ठीके निर्धर किया जा सकता है कि बादलुक नि-स्वार्थ घटाई करने वाला है अथवा विश्वासपाती ॥ १०८ ॥

पातु, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् । मन्त्र्याधिष्कार्यां शेषिप्रवर्ज-
स्तद्वनुना किं विधेयम् ? । मन्त्री वदति—'देव ! भागतमधिधिमुखा-
मया भूतं, यत्—महामन्त्रिणो धूमस्वोपदेशो विश्ववर्जेतापादर-
कृता ततोऽसी मूढो जेतुं शक्यः । तथा चोक्तम्—

पातु—वास्ताम् तावत् । प्रस्तुतम् = अनुसन्धितम् । अनुसन्धीयताम् = विश्लेष-
ताम् । मन्त्र्याधिष्कार्याम् = मन्त्र्यपर्यटोपरिभाषे । किं विधेयम् = किं कर्तव्यम् ।
शेषिप्रवर्ज—ममूरेण । वनादरः कृतः—अथपाठित । मूढ = मूढः ।

वस्तु जाने दो । जब उपस्थित विषय पर विचार करो' यदि विश्ववर्ज
मन्त्र्य भी बोटी पर बैठ जाके पका है तो फिर क्या करना चाहिए । मन्त्री ने
कहा— राजन् वाय हूय पर के मूढ़ से मैंने सुना है कि विश्ववर्ज ने महामन्त्री
मुझ के उपदेशों का विरस्कार कर दिया है इस लिए वह मुझ जीता जा सकता
है । वीरा कि कथा भी क्या है—

'सुख्या कृतोऽकृतोऽस्तस्या, प्रमादी भीररस्थिरः ।

मूढो, बोधावमन्ता य सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः ॥ १०९ ॥

अन्वयः—सुख्य इर वदत वदत्वा प्रमादी भीरुः अस्थिरः,
बोधावमन्ता मूढ रिपुः सुखच्छेद्यः स्मृतः ॥ १०९ ॥

सुख्य = कोसुप । इर. = सुपठ । वदत्वा = वाक्यमेव वदतः । वदत्वा =
विष्कारवादी । प्रमादी—अवधवासा । भीरुः—अपठः । अस्थिरः = अज्ञानवृत्ति ।
बोधावमन्ता = स्वदीनिकविरस्कारता । रिपुः—अनु । सुखच्छेद्यः—तापमेव
विवाद्यन्तुम् वदत ॥ १०९ ॥

लालची, निष्ठुर, आलसी, असत्यवादी, असावधान, कायर, चंचल तथा अपने वीर सैनिकों का अपमान करने वाला मूर्ख शत्रु सरलता से जीता जा सकता है ॥ १०९ ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति, तावन्नद्यद्रिवन-
चर्मसु तद्वलानि हन्तु सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम् ।
तथा चोक्तम्—

असौ=चित्रवण मयूर । नद्यद्रिवनचर्मसु = सरित्पर्वतकाननमार्गेषु । तद्व-
लानि=मयूरस्य सैन्यानि ।

इसलिए जब तक वह हमारे किले का द्वार रोक न ले (किले पर घेरा न डाल दे) तब तक नदियों, पहाड़ों, जंगलों और रास्तों में उसकी सेना का विनाश करने के लिए सारस आदि सेनापतियों को नियुक्त कर दोजिए । जैसा कि कहा भी गया है—

‘दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं, नद्यद्रिवनसङ्कुलम् ।

घोराग्निभयसन्त्रस्तं, क्षुत्पिपासादितं तथा ॥ ११० ॥

प्रमत्तं, भोजनव्यग्रं, व्याधिदुर्मिक्षपीडितम् ।

असंस्थितमभूयिष्ठ, वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १११ ॥

पङ्कपांशुजलाच्छन्नं, सुव्यस्तं, दस्युविद्रुतम् ।

एवम्भूतमहीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११२ ॥

अन्वयः—दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तम् एवम् भूतम् परसैन्यम् महीपालः
विघातयेत् ॥ ११०-११२ ॥

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तम् = दूरमागमनात् श्रान्तम् । नद्यद्रिवनसङ्कुलम् =
सरित्पर्वतादिलघनात् व्याकुलम् । घोराग्निभयसन्त्रस्तम्=भीषणवताग्निना भीतम् ।
क्षुत्पिपासादितम् = क्षुत्रया जलेच्छया च पीडितम् । प्रमत्तम् = असावधानम् ।
भोजनव्यग्रम् = भोजने लगनम् । व्याधिदुर्मिक्षपीडितम् = रोगकालदुःखितम् ।
असंस्थितम् = व्यूङ्करचनारहितम् । अभूयिष्ठम् = अलगम् । वृष्टिवातसमाकुलम् =
वर्षावायुव्यग्रम् । पङ्कपांशुजलाच्छन्नम् = कदमधूलिजलावरुद्धम् । सुव्यस्तम् =
निश्चिन्तम् । दस्युविद्रुतम् = मोषकपराहतम् (दस्यु=डाकू) । परसैन्यम् =
शत्रुबलम् । महीपाल = पृथ्वीपति । विघातयेत्=विनाशयेत् ॥ ११ -११२ ॥

लम्बे रास्ते से थके हुए, नदी, पहाड़ तथा जंगलों से व्याकुल भयकर अग्नि से डरे हुए, भूख प्यास से पीडित, असावधान, भोजन में व्यस्त, रोग तथा अकाल से दुखी, अग्रवस्थित, वर्षा तथा वायु से घेरा हुआ हुए, कोचक, घूठ तथा

पानी से बाष्पावित मिश्रित नीर शकुर्वो से बूटे हुए पशुपैतृकों को तब कर
 आख्या बाहिए ॥ ११०-११२ ॥

अन्वयः—'अथस्कन्धमयाद्रात्रा प्रजागरुह्यतममम् ।

दिवा सुप्तं समाह्वयाद्यिद्राभ्याकुलसैनिकम्' ॥ १११ ॥

अन्वयः—रात्रा अथस्कन्धमयात् प्रजागरुह्यतममम् दिवासुप्तम् मिद्राभ्याकुलं
 सैनिकम् समाह्वयात् ॥ १११ ॥

अथस्कन्धमयात् = अथस्कन्धात्प्रजागरुह्यतममम् । प्रजागरुह्यतममम् = प्रजागरुह्य
 परिधानम् । दिवासुप्तम् = दिवसविहितम् । मिद्राभ्याकुलसैनिकम् = मिद्राभ्याङ्-
 गैकालनात् । समाह्वयात् = विनाहम् कुर्वी ॥ १११ ॥

रात्रा को बाहिए कि बर आक्रमण के कम से रात घर बाह्ये के काल
 बधी हुई दिन से ही छोड़े हुई तथा नीर से व्याकुल शत्रु सेवा को मार डाले ॥

अतस्तस्य प्रमादितो दहं गतवा यथावकाशं विनाशितं जन्तु-
 स्मस्तेनाप्यथा । तथासुप्तिते विप्रवर्षैस्व सैनिकाः सेनापतयश्च
 बहवो निहताः । ततश्चिप्रवर्षो विप्रवर्षः स्वमन्त्रिणं वृत्तार्थिनमाह—
 'तत ! किमित्यस्मत्पुपेक्षा क्रियते ? किं काव्यविभवो ममास्ति ?'
 तथा बोधम्—

प्रमादितः = अतःप्रवृत्तः । दहम् = सैन्यम् । यथावकाशम् = यथावतम् ।
 जन्तु = मारयन्तु । तथासुप्तिते = एव सहस्रमिवासे कृते सति । निहताः =
 मृता । विप्रवर्षः = दुःखितः । माह = वदन्नाम् । स्वमन्त्रिणः = स्वस्यदितिराकारः ।
 क्रिय = कर्तव्यम् इति । अविभवः = अज्ञानम् ।

अतएव पुपुंय कर हमारे सेनापति यथावकाश रात दिन उक्त प्रमादी को
 सेवा का विनाश करें । ऐसा किए जाने पर विप्रवर्ष के बहुत से सेनापति तथा
 सैनिक मार डाले गए । तब बुझी होकर विप्रवर्ष ने अपने मंत्री वृत्तार्थी नाम के
 वृद्ध से कहा—तत मैरी पेशा क्यों कर रहे हैं । क्या मुझसे कोई मुझता हुई है ?
 मैंने कि क्या भी पचा है—

'न राज्यं प्राप्तमित्येव वदितव्यमस्ताम्भतम् ।

धियं ह्यविभवो हन्ति उरा रूपमिषोत्तमम्' ॥ ११४ ॥

अन्वयः—राज्यम् प्राप्तम् इत्येव (विचारं) वदितव्यम् न वदितव्यम् हि
 अविभव तथा धियम् हन्ति (यथा) उरा पतनम् रूपम् (हन्ति) ॥ ११४ ॥

राज्यम् प्राप्तम् = राज्यमाप्तवत् । वदितव्यम् = अनुचितम् । न वदितव्यम् =
 नःकरणीयम् । अविभवः = वापुर्वन्म् । धियम् = राज्यसम्पदम् । हन्ति = विनाश-
 कृतिः । उरा = बुद्धावस्था । पतनम् रूपम् = अदृष्टं शरीरवन्म् ॥ ११४ ॥

अब राज्य तो मुझे मिल ही गया, ऐसा सोचकर राजा को अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि घृष्टता राज्यलक्ष्मी का उसी प्रकार विनाश कर डालती है जैसे बुढ़ापा उत्कृष्ट सौन्दर्य को ॥ ११४ ॥

अपि च—‘दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी ।
उद्युक्तो विद्यान्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः’ ॥ ११५ ॥

अन्वयः—दक्ष श्रियम्, पथ्याशी कल्यताम्, अरोगी सुखम्, उद्युक्त विद्यान्तम्, विनीत धर्मार्थयशांसि च अधिगच्छति ॥ ११५ ॥

दक्ष = चतुर । श्रियम् = लक्ष्मीम् । पथ्याशी = पथ्यमोक्ता । कल्यताम् = आरोग्यम् । अरोगी = अग्रहित । सुखम् = आनन्दम् । उद्युक्त = उद्योगशील । विद्यान्तम् = विद्याया पर्यवसानम् । विनीत = विनम्र । धर्मार्थयशांसि = धर्मघनकीर्ती । अधिगच्छति = प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

और भी—चतुर लक्ष्मी को, पथ्य (उचित) भोजन करने वाला आरोग्य, नीरोग सुख, परिश्रमी विद्या की पूर्णता तथा विनम्र स्वभाव वाला धर्म, घन और कीर्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ११५ ॥

गृध्रोऽवदत्—‘देव । शृणु

‘अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।

परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुयथा’ ॥ ११६ ॥

अन्वयः—अविद्वान् अपि भूपाल विद्यावृद्धोपसेवया जलासन्नतरुयथा परां श्रियमवाप्नोति ॥ ११६ ॥

अविद्वान् = मूख । भूपाल = नृप । विद्यावृद्धोपसेवया = विद्युयाम् सेवनेन । जलासन्नतरु = जलनिकटस्थवृक्ष । यथा = इव । परां = श्रेष्ठाम् । श्रियम् = लक्ष्मीम्, उन्नतिञ्च । अवाप्नोति = लभने ॥ ११६ ॥

विद्या का ज्ञाता न होते हुए भी राजा विद्वान् की सेवा से उसी प्रकार लक्ष्मी को प्राप्त करता है जैसे जल के समीप रहने वाला वृक्ष उन्नति को प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

अन्यथा—‘पापं, स्त्री, मृगया, धृतमर्यदूपणमेव च ।

चान्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महोभुजाम्’ ॥ ११७ ॥

..... (-न्ति) ॥ ११७ ॥

पातम् = सुरभेजम् । मूकता = बाधेः । दूतम् = अश्लीलम् । कर्णपुष्यम् =
 कर्णमुक्तिः, बलात् बलाघरुणम् । वाग्दण्डो = कथने दण्डदाले च । वाक्पुष्पम् =
 वैश्वर्यम् । महीमुजाम् = गुणाम् । अस्तनाभि = बोधा ॥ ११७ ॥

बीर भी—अराव पीषा जी मे भासत रूता बुवा खेकता दुरे इव हे
 चर एकविव करना बीर बोके तवा ईह हेने में निष्पुत्र होना—राजाओं के
 दुर्गुण हैं ॥ ११७ ॥

किञ्च—न साहसैकान्त-रसा नुवर्णिना,

न आप्युपायोपह्वान्तरात्मता ।

विमूतनाः शक्यमवाप्नुमूर्जिता

नये च दौर्घे च वसन्ति सम्पदा' ॥ ११८ ॥

अन्वयाः—साहसैकान्तरसानुवर्णिना अनाधोपह्वान्तरात्मना कर्मिता विमूत-
 नवाप्युम् न शक्यम् (वचः) संपदा नये दौर्घे च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्णिना = साहसैकान्तरात्मिनः । उपायोपह्वान्तरात्मना =
 उद्योगविस्तारहितैः । कर्मिता = बुद्धि वता । विमूतनाः = समनः । अवाप्नुवन्
 प्राप्नुवन् । च शक्यम् = न शक्याः । सम्पदा = धनः । नये = नीती । दौर्घे =
 पराक्रमे च । वसन्ति = निवसन्ति ॥ ११८ ॥

श्लोक—एकनाथ साहस का ही उद्धार केने वाले तथा केवल अनाधोप-
 का विना करने वाले बड़ी हुई विमूतियों को प्राप्त नहीं कर सकते । सर्वोक्ति
 सम्पत्ति नीति और पराक्रम कर्णों नीतिमुक्त बीरता में ही निबाह करती है ॥

त्वाया स्वयकोटसाहसककोकन साहसैकरसिकेन मयोप-
 स्तेऽपि मन्त्रेष्वनवधामं वाक्पाठस्य च कृतम् । अतो बुनीतिः
 फलमिदमनुमूयते । तथा शक्यम्—

स्वयकोटसाहसम् = स्वयकोटस्योत्पन्नम् । अथकोकन = इन्द्रा । साहसैकरसिकेन =
 केवलकोटसाहसानुसारेण । मयोपस्तेषु = मया विचारं प्रस्तावितेषु । मन्त्रेषु =
 नीतिविधिषु । अतश्चानवधम् = असाधनता अनाश्रयः ।

तुमने अपनी सेवा और उर्मण की देखकर केवल साहस का उद्धार किया
 और मेरे प्रस्तावित नीतिमुक्त मनो के प्रति असाधनता बरती तथा कठोर शर्तों
 का उच्चारण भी किया । इतीतिर बुनी नीति का फल घोषणा महा है । बीरता कि
 उद्धार भी क्या है—

'बुमन्त्रिषं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?

सन्तापयन्ति कमपरममुद्ध न रोगाः । ।

कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?

कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ? ॥ ११९ ॥

अन्वयः—कम् दुर्मेन्त्रिणम् नोतिदोषा न उपयान्ति, कम् अपथ्यभुजम् रोगा न सन्तापयन्ति, श्री कम् न दर्पयति, मृत्यु क न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषया क न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नोतिदोषा =मन्त्रदोषा । अपथ्य-भुजम्=कुपध्याशिनम् । सतापयन्ति = पीडयन्ति । श्री = लक्ष्मी । दर्पयति=मद-यति । स्त्रीकृता = स्त्रीसम्बन्धिन । विषया = भोगामिलापा । परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसवधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नहीं पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे अभिमानी नहीं बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नहीं करती है ? और स्त्रीसवधी विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—'मुदं विषादः, शरदं हिमागम-

स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।

प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,

श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

अन्वयः—विषाद मुदम्, हिमागम शरदम्, विवस्वान् तम, कृतघ्नता सुकृतम्, प्रियोपपत्ति शुचम्, नय आपदम्, दुर्नय समृद्धा अपि श्रियः हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषाद = शोक । शरदम्=शरद्वर्षम् । हिमागम =हेमन्त । विवस्वान्=रवि । तम =अन्धकारम् । प्रियोपपत्ति =इष्टप्राप्ति । शुच=शोकम् । आपदम् = विपत्तिम् । नय = नीति । दुर्नय = दुर्नीति । समृद्धा =उन्नता । श्रिय =लक्ष्मी । हन्ति=विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद को, सूर्य अन्धकार को, कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—'प्रहाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीति-शास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्कामिस्तिमिरयति । यतः—

वाचम् = मुरासेवनम् । सुपया = बाबेटः । सुतम् = अस्तजीय । अर्थापवद् = अर्थाभुक्तिः बलात् वनापहरणम् । वाच्यप्रभो = कर्मणे इच्छयाये च । वाच्यम् = नैप्युयम् । महीमुखात् = नृपात्वात् । अन्ननादि = रोषा ॥ ११७ ॥

बीर भी—घराट पीना श्री मे वासक रहना बुवा छिन्ना नुरे इव से वन एकत्रिठ करना बीर बोक्ने तथा इव देने मे निपुत्र होवा—रावाच्य के बुहुंन है ॥ ११७ ॥

किञ्च—‘न साहसैकान्तरसा नुवर्तिता

न चाप्युपापोपहृताम्भरारमना ।

विमूतपाः शक्यमबापुमूर्जिता

नये च शोये च वसन्ति सगफ्दा’ ॥ ११८ ॥

अन्वयः—साहसैकान्तरसानुवर्तिता वपावोपहृताम्भरारमना क्वचिता विमूतः अबापुम् न शक्यम् (वत) संवद नये शीर्षे च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्तिता = साहसैकपरम्परेण । वपावोपहृताम्भरारमना = पञ्चीनविस्तारहितेन । क्वचिता = बुद्धि वता । विमूतव = सम्यक् । अबापुम् = अपापुम् । न शक्यम् = न कथा । सम्यक् = विव । नये = नीची । शीर्षे = पराक्रमे च । वसन्ति = निवसन्ति ॥ ११८ ॥

श्लोक—एकसाह साहस न ही तहाप केने वाके तथा केवल वपामना का विवक करने वाके बड़ी हुई विमूतियो को प्राप्त नहीं कर सकते । श्लोक सम्पत्ति नीति और पराक्रम अर्थात् नीतिवुक्त बीरता में ही विवाह करती है ॥

स्वभा स्वयकोरसाहमवकोकन साहसैकसिक्केन मयोपन्- स्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाकपाहृष्यं च कृतम् । अतो बुनीतिः फलमिवमनुमूयते । तथा शोक्तम्—

स्वयकोरसाहम्—स्वयपपक्रमोत्कृष्टतम् । अयकोकन—इष्ट्या । साहसैकसिक्केन = केवलसाहसानुरायेण । नवोपन्स्तेषु = मया विचार्य प्रस्थापितेषु । मन्त्रेषु = नीतिविधिषु । अनवधानम् = असामधानता वनात्परम् ।

तुमने अपनी सेवा और कर्मन को देखकर केवल साहस का तहाप लिया और मेरे प्रस्तावित नीतिवुक्त मनो के प्रति अतावधानी करती तथा कठोर मन्त्रों का अन्वयन भी किया । इसीलिए बुरी नीति का फल भोक्ता बना है । बीता कि कहा भी गया है—

‘तुर्मन्त्रिणं कमुपमान्ति च नीतियोपात्ता ?

सन्तापयन्ति कमपद्वमुद्धं न रोगाः ? ।

कं श्रोत्रं दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?

कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ? ॥ ११९ ॥

अन्वयः—कम् दुर्मन्त्रिणम्, नीतिदोषा न उपयान्ति, कम् अपथ्यमुजम् रोगा न सन्तापयन्ति, श्री कम् न दर्पयति, मृत्यु क न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषया क न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नीतिदोषा=मन्त्रदोषा । अपथ्य-
मुजम्=कृपथ्याशिनम् । सतापयन्ति = पीडयन्ति । श्री = लक्ष्मीः । दर्पयति=मद-
यति । स्त्रीकृता = स्त्रीसम्बन्धिन । विषया = भोगाभिलाषा । परितापयन्ति =
संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसवधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य
भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नहीं पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे
अभिमानो नहीं बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नहीं करती है ? और स्त्रीसवधी
विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—‘मुदं विषादः, शरदं हिमागम-

स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।

प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,

श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः’ ॥ १२० ॥

अन्वयः—विषाद मुदम्, हिमागम शरदम्, विवस्वान् तम ; कृतघ्नता
सुकृतम्, प्रियोपपत्ति शुचम्, नय आपदम्, दुर्नय समृद्धा अपि श्रियः
हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषाद = शोक । शरदम्=शरदतुम् । हिमागम = हेमन्त ।
विवस्वान्=रवि । तम = अन्धकारम् । प्रियोपपत्ति = इष्टप्राप्ति । शुच=शोकम् ।
आपदम् = विपत्तिम् । नय = नीति । दुर्नय = दुर्नीति । समृद्धा = उन्नता ।
श्रिय = लक्ष्मी । हन्ति = विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद् को, सूर्य अन्धकार को,
कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा
बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—‘प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीति-
शास्त्रकथाकौमुदीं वागमिस्तिमिरयति । यतः—

विजिगीषोरक्षीर्षसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभाषि सहाजम् । तत्सहसैव
जुर्गद्वारावरोधो क्लियताम् ।

जय = अस्मिन्मन्त्रे । जयजयतापम् = जयजयता । जुर्गम् = राजहंस
जुर्गम् । अक्षरवा = येश्वर कृपा । कीर्तिप्रतापसहितम् = बलशक्तिसममितम् ।
अधिरथ = शीघ्रमेव । मेध्यामि = प्रापविध्यामि । इत्यवरोधेन = अत्यन्तशक्ति-
तत् = विजयाफलमवतम् । सम्पद्यते = भवति । अक्षीर्षसूत्रता = विजिगीषा ।
विजयसिद्धे = जयकामस्य ।

इसलिए इस कठिनाई के समय भी आपके प्रताप ही ही जगु का जुर्ग केरकर
बल और तेज के साथ आपको शीघ्र ही विजयाफल के पहुँचा । राजा विजयर्ष
ने कहा— इस समय इतनी बड़ी पैना ही यह बँटि हो सकता है । जुर्ग ने
कहा—‘राजम् सह होवा । क्योंकि विजय की अधिकाया करने वाले की
शक्त्यप्रति के लिए कार्य में शीघ्रता अत्यन्त आवश्यक है । यह लड़ना क्लिये पर
बैरा डाल देना चाहिए ।

अथ (प्रहित—) प्रविधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य कथित-
‘वेव ! स्वल्पक एवार्थं राजा विजयर्षो यूयस्य वल्लभोपहृम्मादात्
त्य जुर्गद्वारावरोधं करिष्यति । राजहंसो ब्रूते—‘मोः सहस्र ! किम्-
भुजा विधेयम् ? अक्षरको ब्रूते—‘स्वबले सारासारविचारः क्लिय-
ताम् । लब्धात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथाहं प्रसादप्रदानं च क्लियताम्’ ।

प्रहितेन = प्रेषितेन । प्रविधिना = प्रवाहबुद्धिसेव । बल्लभोपहृम्मात् =
बल्लभकामम् । सारासारविचारः = उत्पाठत्त्वविमर्श । तत् ज्ञात्वा = निर्बन्ध
बन्धवम् । यथाहंम् = अथापोष्यम् । प्रसादप्रदानम् = पारितोषिकवितरणम् ।

अनुपलब्ध का बला बलाने के लिए मेरे बड़े बुद्धिपर बुद्धि ने जाकर हिरण्यगर्भ
से कहा—‘राजम् बड़ी पैना होते हुए भी राजा विजयर्ष बंधी जुर्ग की शक्ति के
बलपर क्लिये पर बैरा डालेगा । राजहंस ने कहा— मनी धर्मज्ञ यह क्या
करता चाहिए । अक्षर ने कहा— अपनी पैना की अवलम्ब-निर्बन्धता पर विचार
करना चाहिए । उसे जाव कर सोने तथा बल इत्यादि का बलाबोध्य पारितोषिक
वितरण करना चाहिए ।

यथा—‘या काञ्चिन्मिष्यपद्यप्रपद्यां

समुदरेन्निष्कसहस्रानुस्याम् ।

काञ्चेषु कीटेष्वपि मुञ्च्यस्त-

स्तं राजसिंहं न जहाति कश्मीः ॥ १५५ ॥

अन्वयः—य अपथप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्धरेत्,
(किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्त भवेत् त राजसिंहम् लक्ष्मी न
जहाति ॥ १२५ ॥

अपथप्रपन्नाम् = अस्थानच्युताम् । काकिणीम् = एकाम् कपदिकाम् ।
निष्कसहस्रतुल्याम् = दीनारसहस्रसदृशाम् । समुद्धरेत् = उत्थापयेत् । कालेषु =
प्रासाधसरेषु । कोटिषु = कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्त = अविचारितव्यय । राज-
सिंहम् = श्रेष्ठ राजानम् । लक्ष्मी = राज्यश्री । न जहाति = न परित्यजति ॥ १२५ ॥

कथोक्ति—

जो राजा अनुचित स्थान में पड़ी हुई एक कौड़ी की भी हजारों सोनेके सिक्के
के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोड़ों का व्यय
करने में भी हाथ खोल दे तो उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥

अन्यच्च — 'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।

प्रियासु नारीष्वधनेषु वान्धवेः

श्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु' ॥ १२६ ॥

अन्वयः—क्रतौ . . . अष्टसु (अवसरेषु) नराधिप श्वतिव्यय नास्ति ॥

क्रतौ = यज्ञकर्मणि । व्यसने = विपदि । रिपुक्षये = शत्रुविनाशने । यशस्करे
कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अधनेषु = दरिद्रेषु । वान्धवेषु = स्वजनेषु । अष्टसु =
अष्टावसरेषु । नराधिप = नृप ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ में, विवाह में, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में,
कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने में, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों में तथा
अपने बंधुओं में अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं में बहुत
सर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यत् — 'मूर्खः स्वल्पव्ययनासात्सर्वनाशं करोति हि ।

कं सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्' ॥ १२७ ॥

अन्वयः—स्वल्पव्ययनासात् मूर्खं सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्व-
सात् कं सुधी भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

मवापि = युधेवापि । आशोचितम् = निस्फितम् । प्रज्ञाहीनः = बुद्धिर्हीनः ।
 नीतिशास्त्रकथाकोमुदीम् = नीतिशास्त्रकथाकोत्सवम् । वागुत्थावि = वचनो-
 क्तापि । तिमिरपति = आच्छादकवति ।

तब मैंने कभी घाँसि जान किया कि वह राजा बुद्धिहीन है - नहीं तो कबसे
 धर्म के शास्त्रालम्बी उल्टा से नीतिशास्त्र की बातें कभी बहानी को नये
 आच्छादित करता ? क्योंकि—

‘यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तदप्य करोति किम् ? ।

लोचनानाम्नां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ? ॥ १२१ ॥

अन्वयः—यस्य स्वयं प्रज्ञा नास्ति तस्य शास्त्रम् किं करोति । लोचनानाम्नां
 विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १२१ ॥

वस्य = बुद्धयस्य । स्वपद् = आत्मनः । प्रज्ञा = बुद्धिः । तस्य = बुद्धयस्य ।
 शास्त्रम् = शास्त्रोपदेशः । किम् करोति = कमुत्पन्नं करोति । लोचनानाम्नां =
 नेत्रानाम्नाम् । विहीनस्य = रहितस्य ॥ १२१ ॥

जितने बात धर्म बुद्धि नही होती तो शास्त्र बतना क्या उपकार कर
 सकता है । जसा नेत्रहीन के बिना दर्पण की क्या उपयोगिता हो सकती है ॥

—इत्यालोच्योद्दामपि तूष्णीं स्थिताः । अथ राज्ञा बभूवुः क्षिराद्—
 ‘तात’ अस्यर्षे ममापराधा इदानीं पृथाद्दमपिदिष्टवसतद्विता
 प्रायापृश्य पिन्ववाचसं गच्छामि तद्योपदिश । शुभो रयमर्षे
 पिन्वपति-प्रियतामन्न प्रतीकारः । यतः—

इत्याम वद = तर्ष विचार्य । तूष्णीं स्थिताः = लोचनानाम्नां । बभूवुः क्षिराद् =
 निवृत्तवसतम् । प्रतीकारः यतः ।

इस प्रकार विधा करके मुझ को ही क्या । तब राजा पिन्वर्ष के द्वारा
 जाकर कहा—तात वह मेरा अपराध तो है किन्तु अब जित देवाय के बनी
 हुई जमा व ना लोट के विन्ववाचस वाई बड़ उपाय बगलए । मुझ के मन
 व ही विधा किया अब बगी वाई न वाई उपाय करना ही होना । क्योंकि—

इत्यनाम् गुरो गायु राजगु प्रात्यस्येपु य ।

निवृत्तवसतः राज्ञा लोचो तात मन्वजोष न ॥ १२२ ॥

देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और रोगी के प्रति अपने क्रोध को सर्वदा रोकते रहना चाहिए ॥ १२२ ॥

मन्त्री प्रहस्य व्रूते—‘देव मा भैपीः, समाश्वसिहि । शृणु देव !

मा भैपी.=मय मा क्रु । समाश्वसिहि=धैर्यं धारय ।

मन्त्री गृद्ध ने हँसकर कहा—राजन्; आप डरें मत । धैर्यं धारण करें ।
हे देव, सुनिए—

‘मन्त्रिणां मित्रसन्धाने, भिषजां सान्निपातिके ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः?’ ॥ १२३ ॥

अन्वयः—मन्त्रिणाम् मित्रसन्धाने कर्मणि भिषजाम् सान्निपातिके कर्मणि प्रज्ञा व्यज्यते, सुस्थे क वा न पण्डित (भवति) ॥ १२३ ॥

मित्रसन्धाने = मित्रस्य = स्फुटितस्य, सन्धाने = मेलने । कर्मणि = व्यापारे ।

भिषजाम् = वैधानाम् । सान्निपातिके = सन्निपातचिकित्सायाम् । प्रज्ञा = बुद्धि । व्यज्यते = ज्ञायते । सुस्थे = सामान्यस्थितौ ॥ १२३ ॥

फूट पैदा हो जाने पर पुन उसे मिलाने (दूर करने) के कार्य में मन्त्रियो तथा सन्निपात हो जाने पर वैद्यों की बुद्धि का पता चल जाता है । यो सामान्य स्थिति में कौन पंडित नहीं होता है ॥ १२३ ॥

अपरञ्च—‘आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः, कामं व्यग्रा भवन्ति च ।

महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः’ ॥ १२४ ॥

अन्वयः—(यद्यपि) अज्ञा अल्पमेव आरभन्ते (किन्तु) काम व्यग्रा भवन्ति कृतधिय च महारम्भा निराकुला च तिष्ठन्ति ॥ १२४ ॥

अज्ञा = मूढा । अल्पमेव = स्तोकमेव । आरभन्ते = प्रारम्भ करोति । कामम् = अत्यन्तम् । व्यग्रा = व्याकुला । कृतधियः = कृतबुद्धयः । महारम्भा = वृत्तकार्यारम्भा । निराकुला = अश्रयग्रा ॥ १२४ ॥

बुद्धिहीन किसी छोटे कार्य का आरम्भ करके भी अत्यन्त व्यग्र हो जाते हैं किन्तु बुद्धिमान बहुत बड़ा कार्य आरम्भ करके भी अत्यन्त धैर्यशाली बने रहते हैं ॥

‘तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गे भङ्कत्वा, कीर्तिप्रतापसहितं त्वाम-
चिरेण कालेन विन्ध्यावल नेष्यामि ।’ राजाह—‘कथमधुना स्वल्प-
चलेन तत्सम्पद्यते ?’ गृध्रो वदति—‘देव ! सर्व भविष्यति । यतो

विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरपक्ष्यभाभिः कल्पम् । तत्सहस्रेण
दुर्गद्वारावरोधः क्रियताम् ।'

अथ = अस्मिन्मन्त्रे । अथप्रकारात् = अथलेखनः । दुर्गम् = राजहंस
दुर्गम् । अहन्त्या = भेदनं कृत्वा । कीर्त्तिप्रदानकहितम् = दक्षलेखनसम्बन्धितम् ।
अविरोध = अविरोधः । तेषामि = प्रायविष्यामि । स्वल्पवक्ष्ये = अल्पवक्ष्ये ।
तत् = विष्यावस्तुमपनम् । सम्पद्यते = भवति । अदीर्घसूत्रता = अल्पश्लोका ।
विजयसिद्धे = जयलक्ष्मणे ।

इति एव इति कठिनाई के समय भी आपके प्रताप से ही अनु का दुर्ग भेदकर
बंद और तब के साथ आपको छोड़ ही विष्यावस्तु से बहूँना । तथा अविरोध
के कहा—'इस समय इतनी छोटी सेना से बड़ कैसे हो सकता है । कुछ के
कहा—'राजन् बड़ा होना । क्योंकि विजय की अभिप्राया रखने वाले को
कल्पप्रति के लिए कार्य में सीधेता कल्पना आवश्यक है । अतः यहता किये पर
पैरा डाल देना चाहिए ।

अथ (अहित—) प्रविधिना यजेतास्तस्य हिरण्यगर्भस्य कथितं—
'वेद्य ! स्वल्पवक्ष्ये यथायं राजा विजययोः शुभस्य यजमोपहृम्भावाप-
त्य दुर्गद्वारावरोधं करिष्यति ।' राजहंसो ब्रूते—'मोः सद्यः । किम-
धुना विधेयम् ? । अहन्त्याको ब्रूते—'स्वल्पे सारासारविचारः क्रिय-
ताम् । तज्जगत्वा सुपर्णवस्त्रादिकं यथाई प्रसादप्रदानं च क्रियताम्' ।

प्रहितेन = प्रेषितेन । प्रविधिना = प्रजातनुतचरेण । यजमोपहृम्भात् =
यजमोपहृम्भात् । सारासारविचारः = तत्त्वावलोकनम् । तत् ज्ञात्वा = निर्णयम्
अवश्यम् । अहन्त्याम् = अहन्त्याम् । प्रसादप्रदानम् = परिशोधितवितरणम् ।

अनुपद्य का वता लम्बे के लिए भेजे गये मुत्तर बनुके के आकर हिरण्यगर्भ
के कहा—'राजन् छोटी सेना होते हुए भी राजा अविरोध नहीं गुप्त की संज्ञा के
अनुपद्य किये पर पैरा डालना । राजहंस ने कहा—'मयी अर्थः अथ यथा
करना चाहिए । अथके ने कहा—'अथयी सेना की अथप्रकार-निर्णयता का विचार
करना चाहिए । उसे जान कर लोके तथा ब्रह्म इत्यादि का अथप्रकार परिशोधित
वितरण करना चाहिए ।

यत्—'या काङ्क्षिणीमप्यपधप्रपन्नां

समुत्तरमिन्द्रसदृशतुस्याम् ।

काङ्क्षेपु कोटिष्वपि मुक्त्वास्त-

र्त्नं राजसिद्धं न अर्हाति कश्चिः ॥ १५५ ॥

अन्वयः—य अपयप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्वरेत्, (किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्त. भवेत् त राजसिंहम् लक्ष्मी न नहाति ॥ १२५ ॥

अपयप्रपन्नाम् = अस्थानच्युताम् । काकिणीम् = एकाम् कपदिकाम् । निष्कसहस्रतुल्याम् = दीनारसहस्रमदृश्याम् । समुद्वरेत् = उत्थापयेत् । कालेषु = प्राप्तावसरेषु । कोटिषु = कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्त = अविचारितव्यय । राजसिंहम् = श्रेष्ठ राजानम् । लक्ष्मी = राज्यश्री । न नहाति = न परित्यजति ॥ १२५ ॥

क्योंकि—

जो राजा अनुचित स्थान में पहुँची हुई एक कौड़ी की भी हजारों सोनेके सिक्के के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोड़ों का व्यय करने में भी हाथ खोल दे तो उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥

अन्यच्च—'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।

प्रियासु नारीष्वधनेषु वान्धवे-

चित्तव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु' ॥ १२६ ॥

अन्वयः—क्रतौ . . . अष्टसु (अवसरेषु) नराधिप चित्तव्यय नास्ति ॥

क्रतौ = यज्ञकर्मणि । व्यसने = विपदि । रिपुक्षये = शत्रुविनाशने । यशस्करे कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अघनेषु = दरिद्रेषु । वान्धवेषु = स्वजनेषु । अष्टसु = अष्टावसरेषु । नराधिप = नृप ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ में, विवाह में, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में, कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने में, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों में तथा अपने बंधुओं में अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं में बहुत खर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यतः—'मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।

कः सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्' ॥ १२७ ॥

अन्वयः—स्वल्पव्ययत्रासात् मूर्खं सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्वसात् क सुधी भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

६ हि० वि०

स्वस्वभ्यपवासाद् = स्नाकभ्यवमीत्या । सर्वनामम् = सर्वव्यवधिगायनम् ।
 भुक्तस्व = राग्यकरम्म । वृत्तिनाम्बसाद् = वृत्तिभ्यात् । माणम् = इत्यर्थे
 (माङ्) । सुधी = विद्वान्, कार्यकुशलम् ॥ १२७ ॥

क्योंकि—पूरे बोरे से कर्ष के डर से सभी वस्तुओं का नाश कर बैठता है ।
 मन्त्र कील बुद्धिमान् राज्यकर के डर से अपना माङ् छोड़ देता ॥ १२७ ॥

राजाह—‘कथमिह समयेऽतिव्यथो मुञ्चयत ?’ उक्तम्—
 आपवर्षे घनं रक्षेत् इति । मन्त्री धृते—‘भीमर्ता कथमापवर्ष?’
 राजाह—‘कदाचिन्व्यसिता कश्मीः । मन्त्री धृते—‘सञ्चितापि
 भिनश्यति ।’ तद्वेप ! आपवर्षं विमुच्य स्वमटा दान माताभ्यां
 पुरस्क्रियन्ताम्’ ।

इह समये = वृत्तिनाम् विपत्तिकाले । आपवर्षे = विपवर्षे । मीनताम् =
 वृत्तिनाम् । सञ्चितापि = रक्षितापि । कार्यभ्यम् = कथयताम् । विमुच्य = त्यक्त्वा ।
 स्वमटाः = स्वधैरिका ।

राजा ने कहा—‘इन आपत्ति के तत्सर्व अधिक कर्ष होने उचित हो लगता
 है । कहा भी गया है—आपत्ति काल में काम वाले के किए बन का बंधन करना
 चाहिए । मंत्री ने कहा—कश्मीरियों की कीली आपत्ति ? राजा ने कहा—बदल
 कहीं देना कश्मीरों को । मंत्री ने कहा—तो उचित किया हुआ भी नष्ट हो
 जाएगा । इतकिए है राजन् कपूनी छोड़ कर दान दान से अपने बोटों को
 सुरक्षित कीजिए । बीना कि कहा भी गया है—

तथा शोच्य—‘परस्परया, संहृष्टास्त्यक्तुं प्राण्यान् मुनश्चितां ।
 कुकीनाः पूजिताः, सम्यग्विजयन्ते विपत्रकम् ॥

अन्वयः—परस्परया सहृष्टा प्राणान् त्यक्तुं मुनिश्चिताः, कुकीनां
 पुजिता (मटा) द्विपत्रकम् सम्यग्विजयन्ते ॥ १२८ ॥

परस्परया = एकत्र सम्मिलिता । संहृष्टा = सुखे सुखे । कुकीनां = राजा
 वागितोपिबन् बुधिनः । प्राणान् त्यक्तुं मुनिश्चिताः = प्राणत्यागैः इतिव्यथा ।
 कुकीनाः = कश्मीर प्रभूता । सम्यक् बुधिताः = सर्वकारैव वापता । द्विपत्रकम् =
 तपुधैर्यम् । विजयन्ते = स्वाधीनीभूयन्ते ॥ १२८ ॥

आपस में मिलकर एक दूसरे की शुभ कामना करने वाले, राजा के पारितोषिकादि से प्रसन्न, अपने प्राणों के परित्याग करने में भी दृढ, उच्च वश में जन्म लेने वाले और राजा द्वारा मली माँति-सम्मानित सैनिक, शत्रु की सेना को जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—‘सुमटाः, शीलसम्पन्नाः, सहताः, कृतनिश्चयाः ।

अपि पञ्चशत शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—शीलसम्पन्ना, सहता, कृतनिश्चया पञ्चशतम् सुमटा शूरा. अपि रिपुवाहिनीम् निघ्नन्ति ॥ १२९ ॥

शीलसम्पन्ना = शीलपूर्णा । सहता = परस्परम् मिलिता. । कृतनिश्चया = दृढप्रतिज्ञा । शूरा सुमटा = वीरसैनिका । रिपुवाहिनीम् = शत्रुसेनाम् । निघ्नन्ति = विघातयन्ति ॥ १२९ ॥

और भी—शीलवान, आपस में मिले हुए, दृढ-निश्चय वाले बहादुर पाँच सौ सैनिक भी सारी शत्रु की सेना का विनाश कर सकते हैं ॥ १२९ ॥

किञ्च—‘शिष्टैरप्यविशेषज्ञ, उग्रश्च, कृतनाशकः ।

त्यज्यते, किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्मरिर्नरः’ ॥ १३० ॥

अन्वयः—अविशेषज्ञ, उग्र, कृतनाशक आत्मम्मरि नर शिष्टै अपि त्यज्यते किं पुन अन्यै च न (त्यज्यते) ॥ १३० ॥

अविशेषज्ञ = विशेषयोग्यताशून्य । उग्र = उद्दण्ड । कृतनाशक = कार्य-विघातक । शिष्टै. = साधवाचरणै । त्यज्यते = परिहीयते । अन्यै = इतरै, सामान्यलोकै । न=न त्यज्यते ? अपितु त्यज्यते एव ॥ १३० ॥

और भी—विशेष योग्यता से रहित, उद्दण्ड, कार्य को नष्ट करने वाले तथा अपने स्वार्थ की चिन्ता करने वाले मनुष्य को सज्जन भी छोड़ देते हैं साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या ॥ १३० ॥

यतः—‘सत्यं, शौर्यं, दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।

एतैस्त्यको महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्’ ॥ १३१ ॥

अन्वयः—सत्यं, त्याग, दया, शौर्यम् एते नृपस्य महागुणा । एभि त्यक्त. महीपाल वाच्यताम् खलु प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

सत्यम्—सत्यमाचरणम् । भीरुम्—वीरताप्रदर्शनम् । वयम्—अबोधरि काव्यम् ।
 त्यागः—सत्यायै वयवितरणम् । एभिस्त्यागः—इतपुत्रै मुक्तः । महीपतः—पुत्र ।
 वाच्यताम्—लोकनिन्दाम् । प्राप्नोति—अधिकच्छति ॥ १३१ ॥

क्योंकि—सत्य वीरता वया वीर त्याग के राजा के महान् पुत्र होते हैं ।
 इससे वंशित राजा निम्न ही लोकनिन्दा का पात्र होता है ॥ १३१ ॥ —

ईहृषि प्रस्तावेऽमास्यास्तावद्वच्यमन्त्र पुरस्कर्त्तव्याः ।

ईहृषि प्रस्तावै = पुरस्कारवितरणप्रवृत्तिः । ताम् = प्रथमम् । अमत्या =
 मन्त्रिणः । पुरस्कर्त्तव्याः—पुरस्कारार्हाः ।

इस प्रकार का समय उपस्थित होने पर पहले अमात्यों को पुरस्कार देना
 चाहिए । वैसे कि कड़ा भी क्या है—

तथा श्लोकम्—‘द्यो येन प्रतिवृत्ता स्यात्सह तेनोक्षी व्ययी ।

स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्रायेण च वनेषु च’ ॥

अन्वयः—य येन सह प्रतिवृत्ता (स) तेन सह उद्यमी व्ययी व शक्ति
 (अतः) स (एव) विश्वस्त प्रायेण च वनेषु च नियोक्तव्यः ॥ १३२ ॥

य = युद्ध । येन = येन युद्धेन नृपेण वा । प्रतिवृत्ता = वर्तमानपुरस्कारप्रति-
 पक्षपात् सम्बन्ध । तेन सह = नृपेण सह । उद्यमी = उत्कृष्टचित्तः । व्ययी—
 अवनतिशील । विश्वस्त = विश्वासयोग्य । प्रायेण = प्रायःअवकाशैः । वनेषु =
 वनरक्षाव्यापारे । नियोक्तव्यः = अधिकारी कर्म. ॥ १३२ ॥

जो व्यक्ति जिस शक्ति (उद्यम) के साथ सम्बन्धित होकर उद्यमी शक्ति के
 अवनती भी अवनति वीर अवनति में अवनती अवनति समझता है ऐसे ही विश्वस्त
 व्यक्ति को प्रायो तथा वन की रक्षा के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ १३२ ॥

यतः—‘भूर्तः स्त्री वा सिद्ध्युर्यस्य मन्त्रिणः सपुर्महीपतेः ।

अनीतिपवनक्षितोऽकार्यान्धी स निमज्जति ॥ १३३ ॥

अन्वयः—यत्न महीपते भूर्तः सिद्ध्युः स्त्री वा मन्त्रिणः सपुर्महीपतेः अनीतिपवन-
 क्षितः स अकार्यान्धी निमज्जति ॥ १३३ ॥

यत्न महीपते = यत्न राज । भूर्तः = यज्ञक । सिद्ध्युः = शक्ति । मन्त्रिणः =
 मन्त्रदातारः । सपुः = अनेपु । अनीतिपवनक्षितः—अनीतिवाचुषा पातितः ।
 अकार्यान्धी = दुष्कर्मकारे । निमज्जति = मग्नो मदति ॥ १३३ ॥

जिस राजा के मंत्री घूतं, छी या वालक हो वह राजा अनौतिरूपी वायु से कठिन कार्यरूपी ममुद्र में फँक दिया जाता है और हूव भी जाता है ॥ १३३ ॥

शृणु देव ।

‘हर्षक्रोधौ यतौ यस्य, शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।

नित्यं भृत्यानुपेक्षा च, तस्य स्याद्धनदा धरा’ ॥ १३४ ॥

अन्वयः—यस्य हर्षक्रोधौ यतौ, तथा शास्त्रार्थे प्रत्यय, नित्यम् भृत्यानुपेक्षा च तस्य धरा धनदा स्यात् ॥ १३४ ॥

यस्य=नुपत्य । हर्षक्रोधौ, यतौ = सयतौ । तथा शास्त्रार्थे ≈ शास्त्रवचने । प्रत्यय=विश्वास । नित्यम्=मदैव । भृत्यानुपेक्षा = सेवकपर्यवेक्षणम् । च, तस्य, धरा=पृथ्वी । धनदा=वित्तदा, स्यात् ॥ १३४ ॥

राजन् सुनिए—

जो राजा हर्ष तथा क्रोध में समान रूप में सयत रहता है, जिसे शास्त्रवचनों में विश्वास होता है और जो सेवकों पर बराबर ध्यान रखता है, उसकी राज्यभूमि सर्वदा धन देने वाली होती है ॥ १३४ ॥

‘येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयो ध्रुवम् ।

‘अमात्या’ इति तान् राजा नावमन्येत्कदाचन’ ॥ १३५ ॥

अन्वयः—येषाम् राज्ञा सह उच्चयापचयो ध्रुवम् स्याताम् (ते एव) अमात्या (भवन्ति अतः) राजा तान् कदाचन न अवमन्येत् ॥ १३५ ॥

येषाम्=पुरुषाणाम् । राज्ञा सह=नुपेण सह । उच्चयापचयो=उन्नत्य-वनती । ध्रुवम्=निश्चितम् । तान्=अमात्यान् । कदाचन=कदाचिदपि । न अवमन्येत्=न तिरस्कुर्वात् ॥ १३५ ॥

जिन अमात्यों की उन्नति तथा अवनति राजा के साथ ही होती है, राजा को चाहिए कि ऐसे अमात्यों का नी निरादर न करे ॥ १३५ ॥

‘महीभुजो मदान्धस्य सङ्कीर्णस्यैव दन्तिनः ।

स्खलतो हि करालम्बः सुशिष्टैरेव दीयते’ ॥ १३६ ॥

अन्वयः—मदान्धस्य स्खलत दन्तिन इव सकीर्णस्य महीभुज सुशिष्टैरेव करालम्ब दीयते हि ॥ १३६ ॥

मदान्धस्य=मदमत्तस्य, राज्यमदोन्मत्तस्य च । दन्तिन=गजस्य । स्खलत=पतितस्य विपन्नस्य च । सकीर्णस्य=सकुचिहृदयस्य । महीभुज = नुपत्य ।

सुविष्टैः—अप्रमत्तैः सहचरवर्गैः विष्टैः समालीनैः । कपटकवा—दुष्प्रवृत्तवत्
हस्ताभयम् । दीपैः—विद्यैः ॥ १३६ ॥

बिस्त्र प्रकार मय से मठवाके तथा कीचर बादि में बिस्त्रे बाके हाथी को पसके अन्व तिहाये हुए स्वस्व हाथी बरनी मुख का सहारा देकर बंधा डेने है । इसी प्रकार अग्निमानों तथा छोटे हुएबनाके विपत्ति में बँडे हुए राजा को अन्वत् बने हाथी का सहारा देकर उबार डेने है ॥ १३६ ॥

अध्यामस्य प्रजन्म मंथयन्तो मृते—वेव । इष्टिमसाई—कुम्भ । इदानीं विपद्यो दुर्गाद्वारि घर्तंते । तद्देवपादादेशाद्बहिर्निस्तृत्य स्वधिक्रमं दर्शयामि । सेन देवपादानामाशुभमुपगच्छामि ।

अश्ववाको मृते—भेद्यं, यदि बहिर्निस्तृत्य पोष्यस्य, तथा दुर्गा-
अयणमथ निष्पर्ययानम् । अयत्—

मैत्रवर्चं = अशुभं वायसं । इष्टिमसादनम् = दर्शनानुपगमम् । विपद्य =
अशुभवर्चः । देवपादादेशात् = श्रीमदाज्ञाना । बहिर्निस्तृत्य = दुर्गात् बहिर्गुत्वा ।
आनुभ्यमुपगच्छामि = अशुभसीवनम् करिष्यामि ।

वही कीच मेववर्च (चित्रवर्च का कपटदूत बिस्त्रे राजहंस बन्धने के पना करने पर भी आप्तव विद्या वा) ने बाकर कहा—'राजन्, इतर देखने की कृपा करें । इस समय अशु किले के द्वार पर घर्तनाम है । इष्टिम में आपकी आज्ञा से इस किले के बाहर निकल कर अपना पराक्रम विद्याना बाह्य है । और वही कार्य द्वारा आपके अशु से मुक्त होना चाहता है । बन्धने के कथा— मही ऐसा मत करो । अचर बाहर निकल कर ही मुक्त करना है तो किले का आप्तव डेना ही अर्थ है । और भी—

विपद्योऽपि यथा मन्त्रः सखिच्छात्रियुतो वशाः ।

वनादिनिर्गतः शूराः सिद्धोऽपि ह्याच्छगास्यत् ॥ १३७ ॥

अन्वयः—यथा ललितान् मि शून विपद्य अपि मन्त्र वनादिविर्गत विष्ट-
अपि शूर (दुर्गात् विनिर्गत) श्रुत्वास्तत् वरा स्यात् ॥ १३७ ॥

मन्त्रवात् = अज्ञात् । मि शूर = विनिर्गत । विपद्य = अन्वदूरः । मन्त्र = कुम्भीट ।
वनादिनिर्गत = अरण्यानि शूर वय स्यात् = अशुना सारस्वत विविधे
मन्त्रा ॥ १३७ ॥

अपत्त होने हुए भी बँडेबाक पानी से बाहर निकल कर, तथा बहादुर
सिंह भी अन्वत् से बाहर बाकर दीवद के समान दुर्गो द्वारा वय मे कर विद्या
बाता है ॥ १३७ ॥

[वायसो ब्रूते—] 'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्' । यतः—
राजन् आप स्वयम् चल कर युद्ध देखिये क्योंकि—

'पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।

स्वामिनाधिष्ठित. श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥१३८॥

अन्वयः—राजा बलम् पुरस्कृत्य (तत्) अवलोकयन् योधयत् । स्वामिना-
धिष्ठित श्वापि किं ध्रुवम् न सिंहायते ॥ १३८ ॥

राजा = नृप । बलम् = सैन्यम् । पुरस्कृत्य = अग्रे कृत्वा । अवलोकयन् =
निरीक्षमाण । यो यथेत् = युद्ध कारयेत् । स्वामिनः अधिष्ठित = प्रभुणा सनाथ ।
श्वापि = कुक्कुरोऽपि । ध्रुवम् = निश्चितम् । सिंहायते = सिंह इव आचरति ॥१३८॥

राजा सेना को आगे करके स्वयम् उमका निरीक्षण करते हुए युद्ध कराये
क्योंकि स्वामी के साथ रहने से कुत्ता भी निश्चय ही सिंह जैसा पराक्रम
दिखाता है ॥ १३८ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाह्वयं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्र-
वर्णा राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाह्य ।'

गृध्रो ब्रूते—'देव ! श्रेणु तावत्'—

महाह्वयम् = महायुद्धम् । ते = राजहसादयः । अपरेद्युः = अन्यदिने । स्वप्रतिज्ञा-
तम् = निजप्रतिश्रुतम् । निर्वाह्य = पूरय ।

सब वे सभी दुर्ग के द्वार पर जाकर महान युद्ध करने लगे । दूसरे दिन
चित्रवर्ण ने गृध्र से कहा—'तात, अब, अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए ।' गृध्र ने
कहा तो सुनिए—

'अकालसहमत्यल्पं, मूर्खं व्यसनि नायकम् ।

अंगुप्तं, भीरुयोध च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अकालसहम् - दुर्गव्यसनम् उच्यते ॥ १३९ ॥

अकालसहम् = बहुकालावरोधस्य महते अक्षमम् । मूर्खं व्यसनि नायकम् =
युद्धविधानाज्ञमद्यगानादिव्यसनासक्तरक्षकम् । अंगुप्तम् = अरक्षितम् । भीरुयोधम् =
कृपणसैनिकम् । दुर्गव्यसनम् = दुर्गदूषणम् । उच्यते = उच्यते ॥ १३९ ॥

बहुत दिनों के घेरे को महत् करने में असमर्थता, मूर्ख और व्यसनी नायकों
के हाथ में रक्षा की भार होना, मूर्खता रक्षित न होना और कायर सैनिकों
से युक्त होना दुर्ग के दोष कहे जाते हैं ॥ १३९ ॥

तथावच्च नास्ति ।

‘उपजापद्विरारोघोऽवस्कन्वृत्तीवपीठपम् ।

दुर्गस्य अङ्गनोपायाभ्यत्वारः कथिता इमं ॥ १३० ॥

अन्वयः—उपजापद्विरारोघं अवस्कन्वृत्तीवपीठपम् इवै पत्वारः

दुर्गस्य अङ्गनोपाया कथिता ॥ १४ ॥

उपजापः—दुर्गान्तरे सैविकानाम् मिथो वेद । विरारोघं—दुर्गस्य बहुलाङ्ग-
वरोघं । अवस्कन्वृत्तीवपीठपम् । तीव्रोस्वम्—प्रतिवराङ्गम् । अङ्गनोपाया—
विश्वनोपाया ॥ १४ ॥

ये सब तो इस दुर्ग में नहीं हैं ।

किले के भीतर सैविको में पूछ डाल देना बहुत समय तक देना चाहे रहना
सहसा बाह्यमन्त्र कर देना भीर अत्यन्त काठन पीर करवा मही चार दुर्ग
भीतने के उपाय हैं ॥ १४ ॥

अथ यथाशक्ति कियते यत्नः । कर्त्तुं कथयति—एवमेवम् ।
ततोऽनुवित एव भास्करे अतुर्ष्वपि दुर्गादारेषु प्रवृत्ते सुखे दुर्गा-
भ्यन्तरपृष्ठेष्वेकदा काकैरग्निनिक्षिप्तः । ततो ‘सृष्टोर्त्तं सृष्टोर्त्तं दुर्गम् इति
कोलाहलं भ्रत्वा सत्यतः प्रहीताग्निमवसोपमं राजहंससैनिका
बहवो दुर्गायासिन्मम सत्यरं हृदं प्रदिष्टाः । यथा—

अनुविते—अनुविते । भास्करे—सूर्ये । एकद्वेदं—सदसा । प्रहीताग्निम्—
प्रव्यक्त्याग्निम् । सत्यरम्—धीमम् । हृदं—बरोघरम् ।

अब वही उत्तमतर प्रबल करवा पाहिए । काम में कहता है—ऐसे ही ?
जबो सूर्य निकलना भी नहीं था कि किले के चारों द्वारों पर अन्तर बुद्ध होने
क्या । इसी बीच कौरे ने किले के भीतर जाप लगा दी । फिर ‘किला के बिना
मे बिना इस प्रकार के कोलाहल सुनकर तथा बन्धी हुई बाद देखकर राजहंस
के तयो सैनिक तथा किले के रहने वाले भीम ही ताकाव में बुद्ध गए । क्योंकि—

सुमन्वितं सुविष्ठास्तं सुयुद्धं सुप्रकाशितम् ।

कायकाळे यथाशक्ति कुर्याच्चतु विचारयेत् ॥ १३१ ॥

अन्वयः—कार्यकाले सुमन्वितम्, सुविष्ठास्तम्, सुयुद्धम्, सुप्रकाशितम्
यथाशक्ति (त्वरितम्) कुर्यात् न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

कार्यकाले—वातावरणे । सुमन्वितम् = सुसुविमर्शितम् । सुविष्ठास्तम् = यथा-
प्रवृत्तिवर्षितम् । सुयुद्धम् = सुसुदृशिता युद्धकरणम् । सुप्रकाशितम् = दिव्यवत्

सर्वोपाये विनष्टे सति पलायनम् । यथाशक्ति=शक्त्यनुसारेण । त्वरितम् क्रुधात्,
न तु विचारयेत्=विमृशेत् ॥ १४१ ॥

समय आ जाने पर अच्छी मंत्रणा, अच्छा पराक्रम, अच्छी लड़ाई और ठीक
ढंग से भागने का काम तत्काल कर डालना चाहिए । इसमें किसी प्रकार का
विचार नहीं करना चाहिए ॥ १४१ ॥

राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगतिः, सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य
सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः । हिरण्यगर्भः सारसमाह-
'सेनापते ! सारस' । ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि ।
(अधुनाहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनापि समर्थः । तद्गत्वा
जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष । अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य
संमत्या राजानं करिष्यसि' । सारसो ब्रूते—'देव ! न वक्तव्यमेवं
दुःसहं वचः, यावच्चन्द्रार्कौ दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः । अहं
देव ! दुर्गाधिकारी । तन्मम मांसासृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत्
प्रविशतु शत्रुः' । अपरञ्च-देव !

मन्दगति =धीरगमन । सारसद्वितीय =सारसेन सहित । वेष्टित =आक्रान्त ।
ममानुरोधात् = मद्पेक्षणात् । व्यापादयसि = मारयसि । दुःसहं वच =कठोर-
वचनम् । दिवि=आकाशे । चन्द्रार्कौ=शशिसूर्यौ । दुर्गाधिकारी = दुर्गपति ।
मांसासृग्विलिप्तेन=मांसरुधिरपूरितेन । द्वारवर्त्मना =दुर्गद्वारमार्गेण ।

स्वभाव से ही धीरे धीरे चलने वाला राजहंस सारस के साथ जाते समय
चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे द्वारा घेर लिया गया । तब हिरण्यगर्भ ने सारस से
कहा—'सेनापति सारस, मेरी प्रतीक्षा में तुम अपना विनाश क्यों करोगे ? तुम
इस समय जा सकते हो । इसलिए जल में जाकर अपनी रक्षा करो । मेरे पुत्र
चूडामणि को सर्वज्ञ की राय से राजा बना देना । सारस ने कहा—'राजन्,
आप ऐसी असह्य बात न कीजिए । जब तक आकाश में सूर्यचन्द्रमा स्थित रहें
तब तक आप विजयी बने रहें । राजन्, मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ । इसलिए मेरे
मांस और रक्त से सने हुए द्वार के मार्ग से ही शत्रु भीतर जाने पावेंगे और भी—

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते' ।

राजाह—'सत्यमेवैतत्' । किन्तु—

'शुचिर्दत्तोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४२ ॥

अन्वयः—दाता क्षमी

भृत्य. अपि दुर्लभ जाने ॥ १४२ ॥

वाता = वातबीज । समी = समायुक्त । पुनःप्राप्ती = पुनःप्राप्तः । स्वामी =
 प्रभु । बुद्धि = ब्रह्मवाचिण । कर्मणै = प्राप्यते । पुत्रि = पुत्रावरण । एव =
 सैवायाम् कृच्छ्र । अनुरक्तः = स्वामिनः । दुर्लभः = दुर्लभ । धारै = धारै ॥ १४१ ॥

वाता समाधीन बीर मुक्तो को प्रह्व करतै बाके स्वामी बही । एतियारै के
 मिलते हैं ।

एवामे कहा—मह ती ठीक है किन्तु—
 मैं ऐसा समझता हूँ कि पवित्र चतुर एवं स्वामिनः के एक ही दुर्लभ
 होते हैं ॥ १४२ ॥

सारसो ब्रूते—‘शृणु देव ।

‘यदि समरमपास्य नास्ति मृतयो-

भयमिति युक्तमिहोऽप्यतः प्रयातुम् ।

अथ मरणमद्यश्चमैव जन्तोः

किमिति मुखा मच्छिन्नं यथाः क्रियेत ॥ १४३ ॥

अन्वयः—यदि समरम् अवाप्य मृत्योर्भवम् नास्ति इति (तद्दि) इतोऽप्यत-
 प्रयातुम् युक्तम् । अथ जन्तो मरणम् अवाप्य एव (तद्दि) यथा मुखा विच्छिन्नं
 मच्छिन्नम् क्रियेत ॥ १४३ ॥

यदि = यद्य । समरम् = युद्धम् । अवाप्य = एवम्वा अवाप्ये तति । मृत्यो
 र्भवम् = मृत्युर्भवेति । अ = न मरेत् । तद्दि । इतोऽप्यत = तत्ररक्षणेः अन्वय ।
 अवाप्यम् = गतुम् । युक्तम् = तवितम् । अथ = यद्य । जन्तो = जातिना । मरणम् =
 मृत्यु । अद्यश्चमैव = अद्यश्चैव । तद्दि । यथा = कीर्ति । मुखा = मुख । किमिति =
 कथम् । मच्छिन्नम् = मच्छिन्नम् क्रियेत = विच्छिद्यत ॥ १४३ ॥

वा एव न कहा—राजन् मुनि ।

यदि युद्ध काट कर माप जाने से मृत्यु का भय नष्ट हो जाये तो क्यों के
 दूत अथवा मान जाना जी त हा सकता है । किन्तु जब प्राणी के लिए मृत्यु
 अथवा मच्छिन्नी है ता अर्थ हो पायकर कीर्ति को मलिन क्यों बचावा बाध ॥ १४३ ॥

अन्वय — ‘भयेऽस्मिन्पयतोऽन्ध्यान्तपीषियिभ्रममहगुर ।

आपत पुण्ययोगेन पराथ जीवितम्भवः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—नवन दुःखान्तवाचिभिन्नमहगुरो अस्मिन्पये पुण्ययोगेन पराथ
 जीवितम्भव जायते ॥ १४४ ॥

पवनोद्भ्रान्तेन=वायुनोत्थितेन । वीचिविभ्रमभङ्गपुरे=तरङ्गविलासवत् नाश-
शीलो । अस्मिन्मवे=अस्मिन् ससारे । पुण्ययोगेन=सुकृतसपकेण । परार्थे=अन्यो-
पकारव्यापारे । जीवितव्यय = प्राणोत्सर्जनम् । जायते=भवति ॥ १४४ ॥

और भी—वायुद्वारा उठने गिरने वाली चंचल लहरों के समान क्षण भरमें
नाश हो जाने वाले इस ससार से बड़े पुण्य से ही दूसरों की भलाई में प्राणत्याग
करने का अवसर मिलता है ॥ १४४ ॥

‘स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बल, सुहृत् ।

राज्याङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च’ ॥ १४५ ॥

अन्वयः—स्वामी, अमात्य, राष्ट्रम्, दुर्गम्, कोश, बलम्, सुहृत्, प्रकृतयः,
पौराणाम् श्रेणय अपि च राज्याङ्गानि ॥ १४५ ॥

स्वामी = पृथ । अमात्य = मन्त्री । राष्ट्र=स्वशासितदेश । दुर्गम्=दुर्गम्
युद्धोपकरणयुक्त विशाल राजमवनम् । बलम् = सैन्यम् । सुहृत्=मित्रम् ।
प्रकृतयः = प्रजा । पौराणाम्=पुरवासिनाम् । श्रेणय =मण्डलानि । राज्याङ्गानि=
राज्यस्य अघयदा ॥ १४५ ॥

राजा, मन्त्री, राष्ट्र दुर्ग, कोश, सेना, मित्र तथा प्रजा एवं नागरिकों के
मडल य आठ राज्य के अङ्ग होते हैं ॥ १४५ ॥

देव । त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

‘प्रकृतिः स्वामिन त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति ।

अपि धन्वन्तरिवैद्यः, किं करोति गतायुषि’ ॥ १४६ ॥

अन्वयः—स्वामिनम् त्यक्त्वा समृद्धापि प्रकृति न जीवति । धन्वन्तरि
वैद्य अपि गतायुषि किं करोति ॥ १४६ ॥

स्वामिनम्=राजानम् । त्यक्त्वा=विहाय । समृद्धा=सर्वभवा । प्रकृति =
प्रजा । धन्वन्तरि वैद्य =तन्नामा कुशलवैद्य अपि । गतायुषि=क्षीणायुषि । किं
करोति=न किमपि कर्तुं प्रमवेत् ॥ १४६ ॥

राजन्, आप स्वामी हैं इसलिए आप की रक्षा सभी प्रकार से होनी ही
चाहिए । क्योंकि—

धन-धान्य से भरी पूरी होने पर भी प्रजा स्वामी को छोड़कर जीवित नहीं
रह सकती । अगर किसी रोगी की आयु ही समाप्त हो जाय तो धन्वन्तरि
वैद्य भी क्या कर सकते हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—‘नरेष्टी शीघ्रलोकोऽप्यं निमीळति, निमीळति ।

उदरेत्युदीयमाने च रवाविव सरोद्धम् ॥ १४७ ॥

अन्वयः—अप्यं शीघ्रलोकः नरेष्टे निमीळति निमीळति उदीयमाने रवी सरोद्धम् इव तरेति ॥ १४७ ॥

अप्यं शीघ्रलोक = हृत्पमात्रप्राप्तिवर्धः । नरेष्टे = राजति । निमीळति = विपन्ने मृते वा सति । निमीळति = विपत्तौ मवति भ्रियते च । उदीयमाने = अन्मुखपमापाने । उद्रेति = अन्मुखममाप्नोति । रवी = सूर्ये । निमीळति = अस्तं पञ्चति सति । निमीळति = मुकुतीभवति सरोद्धम् = अश्वत्थम्, इव = तथा ॥

अहं सारे प्राप्ते राजा के मर ही जाने पर मर ही जाते हैं और सूर्य के उदय होने पर कमल के समान राजा भी उन्नति से विरहित हो जाते हैं ॥

अत्रापि प्रधानाङ्गं राजा ।

अथ कुक्कुटेनागत्य राजाईसस्य शरीरे अरतरनजायातः कृतः । तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहात्तरितो राजा जप्ते क्षिताः ।

अथ कुक्कुटमकरप्रहारजर्जरीकृतेनापि सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता । पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य अश्वत्थ-प्रहारेण विभिद्य भ्यापादितः । अथ चित्रयर्षो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गा-वस्तिर्तं द्रव्यं प्राहयित्वा बन्धिमिर्जयहाथैरानन्वितः स्वस्वभ्यापारं समाप्तः ।

शरीरे = शरीरे । अरतरनजायात = तीक्ष्णमकरप्रहार । स्वदेहात्तरित = विष शरीरेवेहित । मकरप्रहारेण = मखापानेन । जर्जरीकृतेन = क्षिण्णविश्वनरीरेण । विभिद्य = विदार्ये । आपादित = हत । अश्वत्थप्रहारेण = तुम्बापानेन । दुर्गम् = राजहमदुर्गम् । दुर्गावस्तिर्तम् = सूर्ये विद्यमानम् । द्रव्यम् = पारथम् । प्राहयित्वा = निजविदारिणी समर्थम् । स्वस्वभ्यापारम् = स्वदेहान्निवेशम् । बन्धिमि = पारथी । तस्मिन् राजहम = राजहमस्य शीघ्र । तुम्बापानम् = तुम्बापानम् । स्वदेहात्तरितम् = विष शरीरेवेहितजनम् ।

इसके अन्तर्गत सूर्य के आकर करने से मरने का प्रहार किया किन्तु भारत के योद्धा के नाश करने शरी से उन्ने हककर यन्त्रों से बँक दिया । यद्यपि सूर्य के

नख की चोट से सारस का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया फिर भी उसने बहुत-सी मुर्गों की सेना को मार गिराया । किन्तु मुर्गों के चोचो की मार से अन्त में वह मर गया । इसके बाद चित्रवर्ण ने किले में प्रवेश किया और वहाँ की वर्तमान सभी सामग्री को लेकर चारणों के जय शब्द से आर्नदित होता हुआ अपने पडाव पर चला गया ।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—‘तस्मिन् राजहंसवले पुण्यवान् स सारस पव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः’ । यतः—

‘जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा पव गवाकृतीन् ।

विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्’ ॥ १४८ ॥

अन्वय.—सर्वा गाव एव गवाकृतीन् सुतान् जनयन्ति (किन्तु) विषा-
णोल्लिखितस्कन्धम् गवाम् पतिम् काचिदेव (जनयति) ॥ १४८ ॥

सर्वा गाव = सर्वा पुरमय । गवाकृतीन् = स्वसमानाकृतीन् । सुतान् = वत्सान् ।
जनयन्ति = उत्पादयन्ति । विषाणोल्लिखितस्कन्धम् = शृङ्गक्षतकक्रुदम् । गवां पतिम् =
बलीवर्द्धश्रेष्ठम् ॥ १४८ ॥

राजकुमारो ने कहा—उस राजहंस की सेना में सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपने शरीर का त्याग करके स्वामी की रक्षा की । ऐसा कहा भी गया है—

सभी गायें बैलो जैसी आकृति वाले बछड़ों को जन्म देती हैं किन्तु युद्ध में सोंगों के प्रहार से कटे हुए कर्धों वाले साँड का जन्म कोई-कोई गाय ही देती है ॥

विष्णुशर्मोवाच—‘स तावत्सत्त्वक्रीतानक्षयलोकान् विद्याधरी-
परिवृतोऽनुभवतु महासत्त्वः’ । तथा चोक्तम्—

स = सारस । विद्याधरीपरिवृत = विद्याधरीभि सेवित । महासत्त्व = महा-
पराक्रम ।

विष्णुशर्मा ने कहा—वह महापराक्रमी तो विद्याधरियों से घिरा हुआ स्वर्ग सुख का अनुभव कर रहा होगा । जैसा कि कहा गया है—

‘आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।

भर्तृभक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः’ ॥ १४९ ॥

अन्वयः—ये आहवेषु शूरा, स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविता भर्तृभक्ता कृतज्ञा च
(भवन्ति) ते नराः स्वर्गगामिनः भवन्ति ॥ १४९ ॥

वे=वरा । बाह्वेषु=बुद्धेषु । वृत्ता=वराहमहीका । स्वाम्यर्थे=गुराव ।
 त्यक्तबीबिता=परित्यक्तप्राणा । मृतमद्य=स्वामिमद्य ॥ १४९ ॥

जो बीर बुद्ध में स्वामी की रक्षा में अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं
 ऐसे स्वामिमद्य बीर कृष्ण को स्वर्ग में जाने वाले हैं ॥ १४९ ॥

यत्र तत्र हतः सूर्यः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।

अक्षय्यमस्मिन्नेच्छोकाद्यदि कश्चिद्यत्र न गच्छति ॥ १५० ॥

अश्वयः—यत्र तत्र शत्रुभिः परिवेष्टित इत्यं सूर्यः यदि कश्चिद्यत्र न गच्छति
 (तदि) अक्षय्यात् लोकात् लभते ॥ १५० ॥

यत्र तत्र=यत्र बुधनि स्वाने । शत्रुभिः=शत्रुभिः । परिवेष्टित=आच्छाद्य ।
 हतः=मृतः । सूर्यः=वीरः । कश्चिद्यत्र=ईश्वरम् । अक्षय्यात् लोकात्=अक्षय्यदि
 नित्यलोकात् । लभते=प्राप्नोति ॥ १५० ॥

शत्रुओं से मार कर वहाँ कहीं भी मरा हुआ बीर यदि कामरता न बिनाये
 तो वह अक्षय लोक को प्राप्त करता है ॥ १५० ॥

अथ विष्णुधर्मा प्राह—

विग्रहो भूतो भवति । राजपुत्रैरुक्तम्—'अथा सुखिनो मृता
 वयम् । विष्णुधर्माग्रवीत्—अपरमप्येवमस्तु—

विग्रहः करितुरङ्गपतिभिः—

नो कदापि भवतामहोमुजाम् ।

नीतिमन्त्रपथैः समाहृताः

संभवन्तु गिरिगर्जरं द्विषा ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपविट्टनहस्ते द्वितीयोपदेशे नीतिशास्त्रे

विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः ॥ ३ ॥

अश्वयः—करितुरङ्गपतिभिः कदापि महीपुत्राम् विग्रहं न भवन्तम्
 नीतिमन्त्रपथैः समाहृता द्विष विरियान्त्सु संभवन्तु ॥ १५१ ॥

करितुरङ्गपतिभिः=कदाचिद्वराहैः तत्र । कदापि महीपुत्रा=राजाय,
 विग्रहं=बुद्धम् । ना भवन्तम्=न भवन्तम् । नीतिमन्त्रपथैः=ननुपुत्राश्रितैः ।

समाहता = प्रताडिता । द्विष = शत्रव । गिरिगह्वरम् = पर्वतकन्दरम् । संश्रयन्तु =
अवलम्बन्ताम् ॥ १५१ ॥

— ० —

फिर विष्णुशर्मा ने कहा—

आपलोगों ने विग्रह सुन लिया । राजपुत्रों ने कहा—सुनकर हमलोग सुखी
हुए । विष्णुशर्मा ने कहा—अब यह और भी हो ।

राजाओं का हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना में कमी भी युद्ध न हो । किन्तु
शत्रु नीति और मन्त्रणा रूपी वायु से पीड़ित होकर पहाड की गुफाओं का
आश्रय लें । अर्थात् राजा लोग नीतिकुशलता तथा मन्त्रियो की सन्मन्त्रणा से ही
शत्रुओं को मार मगाएँ ॥ १५१ ॥

— ० —

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

— ० —

सन्धिः

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—‘आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽ-
स्माभिः । सन्धिरधुनाभिधीयताम् ।’ विष्णुशर्मणोक्तम्—‘श्रूयताम्,
सन्धिमपि कथयामि । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

पुन कथारम्भकाले=भूम कथाप्रारम्भसमये । आर्यं=समान्य । विग्रह =युद्धम् ।
श्रुत =आकर्णित । सधि =परस्परमेलनम् । अधुना=इदानीम् । अभिधीयताम्=
कथयताम् ।

फिर कथा प्रारम्भ होने के समय राजपुत्रो ने कहा—‘आर्यं, हम लोगो ने
युद्ध का प्रसंग सुन लिया, अब संधि का प्रसङ्ग सुनाइए ।’ विष्णुशर्मा ने कहा—
सुनिए, सधि का विषय भी कह रहा हूँ । जिनका पहिला श्लोक यह है—

‘वृत्ते महति सग्रामे राक्षोर्निहतसेनयोः ।

स्थेयाभ्यां गृध्र-चक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात्’ ॥१॥

राजपुत्रा ऊचुः—‘कथमेतत् ?’ । विष्णुशर्मा कथयति—

अन्वयः—महति सग्रामे वृत्ते स्थेयाभ्याम् गुध्रचक्राभ्याम् निहतसेनयो राक्षो
क्षणात् वाचा सन्धि कृत ॥ १ ॥

महति—अतिभीषणे । सग्रामे=युद्धे । वृत्ते=सञ्जाते सति । स्थेयाभ्याम्=मध्य-
स्थाभ्याम् । गुध्रचक्राभ्याम्=द्वयो राक्षो मन्त्रिभ्याम् । निहतसेनयो =नष्टबलयो ।
राक्षो =हंसमयूरयो नृपयो । क्षणात्=तत्कालमेव । वाचा = वाङ्मात्रेणैव ।
सन्धि =परस्परमेलनम् । कृत =विहित ॥ १ ॥

उन दोनों राजाओं (राजहंस तथा चित्रवर्ण) के बीच भयानक युद्ध होने
तथा दोनों पक्षों के बहुत से सैनिकों के मारे जाने पर उन दोनों के प्रधान मन्त्री
चक्रवे तथा गुध्र ने बीच में पडकर क्षण भर में ही बातचीत के द्वारा सन्धि
कर ली ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—‘वह कैसे हुआ ?’ विष्णुशर्मा ने कहा—

७ हि० सं०

‘ततस्तेन राजाऽसैनोर्क—केमास्मद्वुग्मे निक्षिप्तोऽग्निः । किं पारक्ष्येण ? किं धास्मद्वुग्वासिना केनापि विपक्षप्रमुक्तेन ? खड्गवाको ब्रूव—देव । भवती निष्कारणवद्वुरसौ मेघवर्षः सपरिचारो न दृश्यते । तन्मन्त्रे तस्यैव विषेष्टितमिवम् ।

राजा स्तब्धं विधिभ्रष्टाह—अस्ति तावद्वेषं, मम पुत्रैर्यमेतत् । तथा शोकम्—

तेन=केनापि प्रकारेण कारणेन रक्षितेन । राजाहतेन=द्विरभ्यपद्येन । अग्नि=बाह्विः । निक्षिप्त=पातितः । पारक्ष्येण=अपराधनीयेन । विपक्षप्रमुक्तेन=अनुवागिमुक्तेन । मन्त्रः=मन्त्रः । निष्कारणवद्वुग्=अकारणवद्वुग् । न दृश्यते=नादृश्यते । ब्रूव=वाक्ये । विषेष्टितम्=विधेयवितम् । इवम्=अग्निप्रक्षेपणम् । अस्ति तावद्वेषम्=युक्तमैतद्वेषम् । पुत्रैर्यम्=पुत्राभ्यम् ।

इसके पश्चात् उस राजाह्वय ने कहा—हमारे किले में बाप किले में फँसी थी ? क्या किसी कब्र में धरना मेरे किले में ही रहने वाले कब्र में जिसे हुए किसी व्यक्ति ने ? अन्वये ने कहा—राजन्, आपका अपराधवद्वुग् बना हुआ मेघवर्ष इस समय अपने परिवार वाली के साथ नहीं बिकारी पक रहा है इतकिए मैं समझता हूँ कि लती ने वह अग्निकांड किया है । राजा ने बोली देर लोच कर कहा—हाँ ऐसा ही है; किन्तु यह मेरा पुत्राभ्य भी है । बँटा कि कहा भी गया है—

अपराधः स वैषस्य न पुनर्मग्निप्यामयम् ।

कार्यं सुचरितं कापि वैषयोगाद्दिगम्यति ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूव—अपराधमेवैतत्—

अन्वयः—य वैषस्य अपराध न पुनः ध्वम् अग्निवाम् (अपराध) अपि सुचरितम् कार्यमपि वैषयोगात् विनश्यति ॥ २ ॥

स=अपराधम् । वैषस्य=आपराधम् । अपराध=दोषः । ध्वम् मग्निवाम् दोषः न । अपि=कुत्रापि । सुचरितम्=सुविशालमपि । कार्यम् = करणीयम् । वैषयोगात्=आपराधवत् । विनश्यति=विनाशमुपपन्न्यति ॥ २ ॥

यह जो कुछ हुआ वह सभी पुत्राभ्य के दोष से ही हुआ । इसमें मंत्रियों का कोई भी दोष नहीं है । क्योंकि कभी-कभी लकी-प्रांति लोच कर किए गए कार्य भी माध्यदोष से गड़ ही जाते हैं ॥ २ ॥

मन्त्री अन्वये ने कहा—‘वह भी तो कहा गया है—

‘विपमां हि दशां प्राप्य देवं गर्हयते नरः ।

आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः’ ॥ ३ ॥

अन्वयः—नर विपमां दशाम् प्राप्य देव गर्हयते । अपण्डित आत्मन कर्म-
दोषान् नैव जानाति ॥ ३ ॥

नर = मनुष्य । विपमाम्=विपत्तिभोषणाम् । दशाम् = स्थितिम् । प्राप्य=
रुद्ध्वा । देवम्=भाग्यम् । गर्हयते = विनिन्दति । अपण्डित = मूर्ख । आत्मन =
स्वस्य । कर्मदोषान्=कर्तव्यच्युती । न जानाति=नावगच्छति ॥ ३ ॥

मनुष्य विपत्तियो मे पढ कर भाग्य को दोष देता है किन्तु वह मूर्ख अपने
किए हुए काम की श्रुतियो को नही समझता है ॥ ३ ॥

अपरञ्च—‘सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।

स कूर्म इव दुर्वुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति’ ॥ ४ ॥

अन्वयः—य हितकामानाम् सुहृदाम् वाक्यम् न अभिनन्दति स दुर्वुद्धि
काष्ठाद् भ्रष्ट कूर्म इव विनश्यति ॥ ४ ॥

य=नर । हितकामानाम्=शुभेच्छुकानाम् । सुहृदाम्=मित्राणाम् । वाक्यम्=
उपदेशम् । न अभिनन्दति=नाद्रियते । स दुर्वुद्धि = स दुर्मति । काष्ठाद्भ्रष्ट.=
काष्ठात्पतित । कूर्म = कच्छप इव । विनश्यति = मृत्युमाप्नोति ॥ ४ ॥

और मी—जो व्यक्ति अपनी मलाई चाहने वाले मित्रो की बात का आदर
नहीं करता है वह मूर्ख, कछुवे के समान लकड़ी से नीचे गिर कर नष्ट हो
जाता है ॥ ४ ॥

[अन्यच्च—रक्षितव्यं सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम् ।

हसाम्या नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा’] ॥ ५ ॥

राजाह—‘कथमेतत् ?’ मन्त्री कथयति—

अन्वयः—वाक्यम् सदा रक्षितव्यम् (यत्) वाक्यात् नाशनम् भवति यथा
हसाम्याम् नीयमानस्य कूर्मस्य (वचनात् एव) पतनम् (भवत्) ॥ ५ ॥

वाक्यम्=स्ववार्णी । रक्षितव्यम्=सयमनीयम् । वाक्यात् = वृथा प्रलापात् ।
नाशनम्=विनाश । भवति=आगच्छति । यथा हसाम्याम्=मरालाम्याम् । नीयमा-
नस्य=शाह्यमानस्य । कूर्मस्य=कच्छपस्य । पतनम्=काष्ठाद् भ्रंश , (भवत्) ॥५॥

बीर जी—मनुष्य को सदा अपनी भाषी को सदा रखना चाहिए क्यों बोली है कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है जैसे हँसों द्वारा के बाद बाड़े ननुके का पत्न हुआ था ।

राजा-राजहंस ने कहा—मठ कैसे ? मंत्री बकसे ने कहा—

कथा ?

अस्ति मगधदेशे पुस्तोत्पलानामिधानं सरः । तत्र बिर सङ्घ
विकटनामानौ हंसौ निवसतः । तयोर्मित्रं कम्बुजीवनामा कूर्मो
प्रतिवसति ।

अथैकदा घीघरेदागत्य तत्रोक्तं, यत्—अत्रास्माभिरघीघरित्
प्रातमैरस्यकूर्माद्यो भ्यापाद्यितव्याः । तदाकर्म्यं कूर्मो हंसावाहः
'मुहुरी' अतोऽयं घीघराहायः । अमुना किं मया कर्तव्यम् ? ।
हंसावाहतु—आयतान्तावत् पुनस्तावत्मातर्पुषिर्त्तत्कर्तव्यम्
कूर्मो ब्रूते—'मैवम् । यतो ह्यस्यतिकरोऽहमव' । तथा बोक्तम्—

पुस्तोत्पलानामिधानम् = पुस्तोत्पलानामकम् । तत्र=तस्मिन् सरणि । बिर=
बहुकालम् । बीघरे = मत्स्यवशावीविधि । अत्र = अस्मिन् स्थाने । अस्ति =
निवासं कृत्वा । भ्यापाद्यितव्या = हन्तव्या । तदाकर्म्यं=वीघरवर्षं कृत्वा । हंसो
स्वमित्रे हंसो प्रति । आह=उवाच । यतः = आकम्बित । घीघराहाय = वीघर
वाता । अमुना=इवासीम् । किं कर्तव्यम्=क प्रतीकारः कार्य । आम्भ्याम् त्वय
विचार्यताम् तावत् । आहतु = ठबतु । बहुषिणम् = यत् योग्य प्रतिफलम् ।
ह्यस्यतिकर = निरीक्षितोपेक्षासति, अमुन्मन्ने स्वतन्त्रे ह्यस्यया वा सतिः वाप्ये वा
मया इहा ऐकेत्यर्थ ।

मगध देश में पुस्तोत्पल नाम का एक तालाब है जहाँमें बहुत दिनों से बिर
बीर विकट नाम के दो हंस रहते थे । इन दोनों का मित्र कम्बुजीव नामक
कछुवा भी वहीं रहता था । एक बार मछुवो ने वहाँ जाकर कहा कि—आज
हम लोग यही ठहरे बीर प्रात काक मछुवी तथा कछुवों काहि का विकार करे ।
मह मुन कर ननुके ने हंसो से कहा— मित्रो इन मछुवों की बात तुम जी ब ।
अब मुझे क्या करना चाहिए ? 'हंसो ने कहा—'जमी विचार किया आज फिर
प्रात काक बीता उषित होगा बीता किया जाव्या । ननुके ने कहा—'तरी ऐका
नही क्योंकि मैंने ऐसा करने से होमे वाली हानि देखी है । बीता कि वहा की
वथा है—

‘अनागतविधाता च, प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।

द्वावेतौ सुखमेधेते, यद्भविष्यो विनश्यति’ ॥ ६ ॥

तावाहतुः—‘कथमेतत् ?’ । कूर्मः कथयति—

अन्वयः—अनागतविधाता तथा प्रत्युत्पन्नमति च एतौ द्वौ सुखमेधेते (किन्तु)

यद्भविष्य विनश्यति ॥ ६ ॥

अनागतविधाता=तन्नामा मत्स्य, भाविष्ये विचारकुशल, इत्यभिधेयार्थं ।

प्रत्युत्पन्नमति = तन्नामा अपर मत्स्य, कार्यकाले तीक्ष्णबुद्धि, इति अभिधेयार्थं ।

सुखमेधेते=सुखेन वदंते । यद्भविष्य = तन्नामा मत्स्य । भाविष्ये न कोऽपि

शक्त यद्भविष्यति तद्भविष्यत्येवेति विचारक इति अभिधेयार्थं । विनश्यति=

मृत्यु प्राप्नोति ॥ ६ ॥

‘जो भविष्यकी चिन्ता करने वाला तथा समयानुसार बुद्धि द्वारा कार्य

पूरा करने वाला होता है वह दोनों सुख से बढते हैं किन्तु जो होगा सो होगा,

ऐसा सोचने वाला नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

दोनों हंसों ने कहा—यह कैसे । कछुवे ने कहा—

कथा २

पुरास्मिन्नेव सरस्येचंविधेष्वेव धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणा
लोचिनम् । तत्रानागतविधाता नामेको मत्स्यः । तेनोक्तम्—‘अहं
तावज्जलाशयान्तर गच्छामि’ । इत्युक्त्वा स ह्रदान्तर गतः । अपरेण
प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितं—‘भविष्यदर्थं प्रमाणाभावा-
त्कुत्र मया गन्तव्यम् ? । तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्’ । तथा
चोक्तम्—

पुरा=प्राचीनकाले । एवविधेषु=ईदृशेषु । उपस्थितेषु=मत्स्यव्यापादनायाग-
तेषु । आलोचितम्=निरूपितम् । जलाशयान्तरम्=अन्यसरोवरम् । ह्रदान्तरम्=
अन्यतडागम् । अपरेण=द्वितीयेन । अभिहितम्=उक्तम् । भविष्यदर्थं = भाविनि
विषये । प्रमाणाभावात्=प्रमाण विना । तदुत्पन्ने=मये समागते सति । यथाकार्यं=
कतश्चमनुगम्य । अनुष्ठेयम्=प्रतिविधान कार्यम् ।

आज से बहुत पहिले इसी तालाब पर इसी प्रकार मछुओ के आने पर तीन
मछलियों ने विचार किया था । उनमें एक मछली का नाम अनागतविधाता था ।
उसने कहा कि ‘मैं तो दूमरे तालाब में चली जा रही हूँ ।’ ऐसा कह कर वह

पुत्री तासाह मे कमी बर्हि । ध्युरग्नवर्हि नाम की पुत्री मच्छी मे वरा-
 'अविष्य मे होने वाली वान के ब्रह्मा के ब्रह्मच मे वला मे क्वी वरी आई
 सवसानुसार को करना होवा कर्हि । जैसा कि वहा भो कहा है—

'अपघ्नामापद् यस्तु समाघस्त त बुद्धिमाद् ।

यनित्रो मायया जारः प्रयक्षे निद्रतो यथा' ॥ ७ ॥

यद्गुपिष्यः पृच्छति—'कथमस्तु ? प्रामुर्पन्नयतिः कथयति—

अन्वयाः—'अग्निम् वापद् अघ्नते त बुद्धिमाद् (यत्) इव
 यनित्रो मायया जारः प्रयक्षे निद्रतो ॥ ७ ॥

अपघ्नान्=अघ्नते । वापद् विरहाद् । अघ्नते = अघ्नते । अघ्नते
 पुत्रीकृतीत्वत् । न बुद्धिमाद्=बुद्धि । अघ्नते=अघ्नते । अघ्नते अघ्नते
 यनित्रो मायया । अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते = अघ्नते ॥ ७ ॥

की आई हुई विरहित या अघ्नते अघ्नते कर देता है वरी बुद्धिमाद् वरा
 जारः है वीके यनित्रो की वीके अघ्नते यनि के नामके ही अघ्नते वरा को जारः
 निद्रतो ॥ ७ ॥

यद्गुपिष्य मे वृक्षा—'वृक्षे वीके ? अग्निमायवर्हि मे वरा—

वया ३

'पुरा विक्रमपुरे शमुद्रवला नाम यद्विगमि । तत्रैव तत्रैव
 नाम वृद्धिपी अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । यत् —

विक्रमपुरे अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते । अघ्नते = अघ्नते । अघ्नते
 अघ्नते अघ्नते ॥ ३ ॥

'अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते
 की अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते—

अ अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते ।

अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते ॥ ३ ॥

अघ्नते—'अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते
 अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते ॥ ३ ॥

अघ्नते—'अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते
 अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते अघ्नते । अघ्नते अघ्नते ॥ ३ ॥

स्त्रियों के लिए न तो कोई अप्रिय होता है और न तो कोई प्रिय ही होता है। बल्कि जैसे जगल में गायें नित्य नई-नई घास चरना चाहती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ नए नए नवयुवकों की कामना किया करती हैं ॥ ८ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता । ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुं समीपं गत्वाह—‘नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निकृतिः । यतोऽयं चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादती’ति मयास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम् । तथा चोक्तम्—

सेवकस्य = भृत्यस्य । अवलोकिता = दृष्टा । बन्धकी = कुलटा । सत्वरम् = शीघ्रम् । आह = उक्तवती । निकृति = दुष्टप्रवृत्ति । चौरिकाम् कृत्वा = चोरयित्वा ।

एक बार रत्नप्रभा उस सेवक का चुम्बन ले रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया। तब उस कुलटा ने शीघ्र ही पति के पास जाकर कहा कि ‘नाथ, इस नौकर में एक बहुत बड़ी दुष्टता है, यह चोरी करके कपूर खाता है। मैंने इसका मुख सूँघ कर ऐसा जान लिया है। कहा भी गया है—

‘आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।

पद्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाष्टगुणः स्मृतः’ ॥ ९ ॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् आहार द्विगुण, तासाम् बुद्धि चतुर्गुणा, व्यवसाय पद्गुण, काम च अष्टगुण स्मृत ॥ ९ ॥

स्त्रीणाम् = नारीणाम् । आहार = भोज्यम् । द्विगुण = पुरुषापेक्षया द्विगुणः । व्यवसाय = उद्यम । काम = विषयामिलाप ॥ ९ ॥

स्त्री में पुरुष की अपेक्षा भोजन की शक्ति दुगुनी, बुद्धि चौगुनी, परिश्रम करने की शक्ति छगुनी और कामवासना आठगुनी होती है ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा सेवकेनापि प्रकुप्योक्तं—‘नाथ ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यम् ? । यत्र च प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति ।’ ततोऽसावुत्थाय चलितः । साधुना च यत्नात्प्रबोध्य धृतः । अतोऽहं ब्रवीमि—उत्पन्नामापदम्’ इत्यादि ॥ ❀ ॥

ततो यद्बुद्धियेणोक्तम्—

प्रकुप्योक्तम् = क्रोधावेशेन कथितम् । जिघ्रति = गन्धमुपादत्ते । असौ = सेवकः । यत्नात्प्रबोध्य = प्रयत्नेन सतोष्य । धृत = गमनात् वारित ।

मगलम् । स्यले = भूमौ । को विधि = क रक्षणोपाय । आकाशवर्त्मना=गगन-
मार्गेण । विधीयताम्=उपाय क्रियतात् ।

तव प्रातः काल जाल में बँधे हुए प्रत्युत्पन्न मति ने अपने आप को मुर्दे के
समान पड़ा हुआ प्रदर्शित किया । जिससे मछुओं ने उसे जाल से बाहर फेंक
दिया । और वह तत्काल अपनी शक्ति के अनुसार शीघ्रता से उछल कर गहरे
पानी में चली गई । यद्भ्रविष्य मछुओं के द्वारा पकड़ कर मार डाली गई ।
इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अनागत विधाता इत्यादि' ।

इसलिए मैं जिम उपाय से दूमरे तालाब में जा सकूँ, वही उपाय कीजिए ।
हमों ने कहा—'दूमरे तालाब में चले जाने पर तो आपकी रक्षा हो जायगी
किन्तु भूमि पर चलने समय रक्षा का क्या उपाय होगा ?' कछुवे ने कहा मैं आप
दोनों के साथ आकाश मार्ग से जा सकूँ, ऐसा उपाय कीजिए । हमों ने कहा—
'हमके लिए क्या उपाय हो सकता है ?' कछुवे ने कहा—आप दोनों अपनी
चोंच से इधर उधर एक काठ का टुकड़ा पकड़ लीजिएगा और मैं उस लकड़ी के
बीच में अपने मुँह से पकड़ कर लटक जाऊँगा इस प्रकार आप दोनों के पंखों के
बल से मैं भी आसानी से चल चूँगा ।' हमों ने कहा—'यह उपाय तो हो
सकता है' किन्तु—

‘उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो, ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।

पश्यतो वकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः’ ॥ ११ ॥

कूर्मः पृच्छति—‘कथमेतत् ? ।’ तौ कथयतः—

अन्वयः—उपायम् चिन्तयन् प्राज्ञ अपायमपि चिन्तयेत् वकमूर्खस्य पश्यतः
प्रजा नकुलैर्भक्षिता ॥ ११ ॥

उपायम्=विधिम् । चिन्तयन्=विचारयन् । प्राज्ञ =बुद्धिमान् । अपायमपि=
हानिमपि । चिन्तयेत्=विचारयेत् । पश्यत =दृश्यत । प्रजाः=सन्ताना ,
भक्षिता =छादिता ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् को उचित है कि वह उपाय का विचार करते समय उससे होने
वाली हानि का भी विचार कर ले । नहीं तो जैसे उस मूर्ख बगुले की सन्तानों
को नेबले ने खा डाला उसी प्रकार हानि का विचार न करने वाला भी नष्ट
हो जाता है ॥ ११ ॥

कछुवे ने पूछा 'यह कैसे हुआ ?' दोनों हमों ने कहा—

कथा ४

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाग्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्रानेके
शका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति । स च

बहूनां बालापत्यानि आदति । अथ शोकात्तानां विद्याप मृत्वा,
केनचित् वृत्तपकेनाभिहितम्—'मो एव कुडठ, मूर्यं मस्त्वानुपादाप
नकुडठविषरादारम्भ सर्पविषरं पाषरपइक्तिफमेण एकैकशो
विकिरत । ततस्तदाहारलुम्भेन दुहेरागत्य सप्तो प्रपृष्या, स्वमात्र
द्वेषाद्दयापादयित्थम्भ्यः । तथानुष्ठिते सति तद् वृत्तम् ।

अथ नकुडठैर्बुधोपरि बहूनामकानां राशः भूताः । पश्चात्तद्दृष्ट-
माह्वय बहूनामकानां आवृत्ताः । अत आर्वा मूः—'उपाय
विस्तयम्— इत्यादि ॥

भावार्थानां नीयमानं स्वामयलोकेय लोकेः किञ्चिद्वक्तव्यमेव ।
यदि त्वमुत्तरं वास्पति तदा त्वस्मरणम् । तदस्यपात्रैव
स्थीयताम् ।

कूर्मो वदति— किमहमप्राहः नाहमुत्तरं दास्यामि । न किमपि
मया वक्तव्यम् ।' तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममाहोकेय सर्व
गोरक्तकाः पश्चात्तदावन्ति वदन्ति च । महा ! महवाक्यं । पश्चिम्बां
कूर्मो नीयत ।

कश्चिद्वदति—'यद्यं कूर्मो पठति, तदात्रैव पत्रया आवृत्तव्या' ।
कश्चिद्वदति— सरसस्तीरे दृष्ट्वा आवृत्तव्योऽयम् । कश्चिद्वदति—
'सुहं नीत्वा मक्षणीया इति । तद्वचनं धृत्वा स कूर्मः कोपाधिप्रा
विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्मामिभस्म मक्षितव्यम् इति
वदन्नेव पठितस्तैर्भ्यां पावितव्यः । अतोऽहं मवीमि—'सुहदां द्वित
कामानाम् इत्यादि ॥ ३ ॥

अथ प्रजिघिर्षकस्तत्रागरयोधाव—'देव ! प्रागेव मया निर्गदितं,
'पुर्णशोध द्वि प्रतिक्षणं कर्त्तव्यमिति । तद्य युष्मामिभ कृता तद्वच-
नप्रधानस्य फलमिदमनुभूतम् । 'पुणदाहो मयवर्जितं पायसेव
पुमप्रमुक्तेन कृतः रात्रा निम्बस्याह—

उत्तरापथे=उत्तरस्या । वदि । बुधस्वावस्थात् = ततो मूढे । विकिर=विके ।
बालापत्यानि = किन्तु । शोकात्तानाम् = शोकपीडितानाम् । विद्यापम् = रोषव
धनिम् । अभिहितम् = वक्तव्यम् । उपादाप = पुत्रीत्वा । विकिरत = विधिरत । ज्वा-
हारकुम्भे = मत्स्यमोत्रेणकुम्भे । स्वमात्रं वदन् = प्रकृतवैराग्यम् । ज्वापादयित्थम् =
हृत्थम् । बहूनामकानां = बहूनामकानाम् । राशः = शक्तिः । भूतः = आवृत्तः । तैः =
नकुडठैः । नाहह=आरोहणम् इत्यादि । नीयमानम् = आवाहयन्ने वक्तव्यमानम् । लोके =

जनै । किञ्चिद्=उचितमनुचित वा । तदाकर्ण्यं = लोकवचन श्रुत्वा । सर्वथा=मर्वतोभावेन । अप्राज्ञ = अविवेकी । गोरक्षका = गोपालका । कोपाविष्ट = क्रोधा-मिभूत । विस्मृतपूर्वसस्कार = विस्मृतस्वपूर्वप्रतिज्ञ । निगदितम् = कथितम् । दुग्शोधनम् = दुग्निवेषणम् । अनवधानस्य = असावधानताया । अनुभूतम् = अनुभवविषयीकृतम् । गुधप्रयुक्तेन = गुधनियुक्तेन । वायसेन = काकेन । नि श्वस्य = दीघश्वास विसृज्य ।

उत्तरापथ में गुधकूट नाम के पहाड पर एक बहुत बडा पीपल का पेड था । उस पर बहुत से बगुले रहते थे । उस वृक्ष के नीचे विल मे एक साँप रहता था । वह बगुलो के बच्चो को खा जाया करता था । किसी दिन शोक से व्याकुल उन बगुलों का रोना सुन कर एक बूढे बगुले ने कहा—'तुम लोग ऐसा करो, मछलियाँ लेकर नेवले के विल से साँप के विल तक एक कतार बाँध कर फँला दो । तब भोजन के लालच मे नेवले साँप की विल तक पहुँच कर उसे देख लेंगे और स्वाभाविक शत्रुता के कारण उसे मार डालेंगे । बगुलों के ऐसा करने पर वह साँप नेवलो द्वारा मार डाला गया । फिर उन नेवलों ने वृक्ष के ऊपर बगुलो के बच्चों की आवाज सुनी और पेड पर चढ़ कर उन बच्चो को भी खा डाला । इसीलिए हम दोनो कह रहे हैं कि 'उपाय सोचते समय' इत्यादि । हम दोनो के द्वारा ले जाते हुए तुम्हें देख कर लोग अवश्य ही कुछ कहेंगे । उसे सुनकर यदि तुम उत्तर दोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है । इसलिए तुम्हें यहीं रहना उचित है । कछुवे ने कहा कि क्या मैं मूर्ख हूँ । मैं उत्तर नहीं दूँगा । मैं कुछ भी नहीं कहूँगा । ऐसा करने पर कछुए को उस प्रकार हसी द्वारा ले जाते हुए देख कर गाँव के सभी रखवाले पीछे-पीछे दौडते हुए कुछ न कुछ कहने लगे । कितना आश्चर्य है कि दो पक्षी कछुवा लिए जा रहे हैं । किसी ने कहा— 'यदि यह कछुवा गिर पडे तो यहीं पका कर खाया जाय ।' किसी ने कहा— 'तालाव के किनारे भूनकर खाया जायगा ।' किसी ने कहा— 'घर ले जाकर खाना ठोक होगा ।' इस प्रकार की बातें सुन कर कछुवा क्रोध मे आकर अपनी पहली प्रतिज्ञा भूल गया और उसने कहा कि 'तुम लोग राख खाना ।' यह कहते ही वह गिर पडा और मारा गया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'हित चाहने वाले मित्रो का' इत्यादि । इसके बाद प्रधान गुप्तचर बगुले ने आकर कहा कि राजन्, मैंने पहले ही कहा था कि किले की टोह हर समय की जानी चाहिए । आप लोगो ने वैसा नहीं किया । उसी असावधानी का यह फल भोगना पडा है । किले के जलाने का काम गुद्ध द्वारा भेजे गए मेघवर्ण कौवे ने किया है । राजा ने साँस खींचते हुए कहा—

‘प्रथमादुपकाराद्वा यो विभक्तिरिति वाच्यम् ।

स सुत इव वृक्षाभारपतितः प्रतिबुध्यते’ ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रथमात् उपकाराद्वा यः सन्तु विभक्तिरिति सः सुतः इव वृक्षाभारपतितः प्रतिबुध्यते ॥ १२ ॥

प्रथमात्=प्रेम्न । उपकाराद्वा=हितकामाद्वा । सः सुतः इव=वृक्षाभारपतितः इव । वृक्षाभारत्=वृक्षपत्रवत् । पतितः=प्रष्टः । प्रतिबुध्यते=बाधति ॥

जो व्यक्ति प्रेम अथवा उपकार की भावना से सन्तु पर विचार करता है वह कुछ बोने के बाद ही वाक्यमान होता है जैसे पेड़ की बोटी पर बोने वाला बाढ़ से बिरले पर काम जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रविधिद्वयाथ—इतो दुर्गहाहं विधाय यदा गतो मेघवर्षे स्तदा चित्रयत्नेन प्रसादितेनोक्तम्—‘अयं मघयजोऽत्र कर्पूरमीपरास्थेऽभिपिष्यताम् । तथा साकम्—

अभिपिष्य=सुखकर । विधाय=इच्छा । प्रसादितेन=प्रसन्ननेन । अभिपिष्यताम्=अभिप्रेक क्रियताम् ।

उप प्रधान पुत्रवर ने कहा—जब तिले की बलाकर मेघवर्षे बरसि है यदा तो उसके ऊपर प्रसन्न होकर विषवर्षे ने कहा—इस मेघवर्षे को इत कर्पूरादीय का पत्रा बना दिया जाय । क्योंकि कहा यो क्या है—

‘इतइत्यस्य भृत्यस्य इतं मेघ प्रपादायेत् ।

फलेन मनसा, वाचा, इच्छया येन प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—इतइत्यस्य भृत्यस्य इतम् न प्रथामयेत् फलेन मनसा वाचा इच्छया च एवम् प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

इतइत्यस्य=इतइत्यादिशब्दस्य । भृत्यस्य=सेवकस्य । इतम्=हरकारम् । न प्रथामयेत्=न विस्मयेत् । फलेन=फलद्वारादिना । मनसा=सौम्यभावेन । वाचा=प्रथसाधनैश्च । इच्छया=प्रसन्नोद्यमेन । एवम्=युक्तम् । प्रहर्षयेत्=संतोषयेत् ॥ १३ ॥

जबो क बच्ची तरह से अपने काम को पूरा करने वाले भौकर के कार्य की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए । बलिष्ठ बन मन वाची और इच्छा इति से उसे प्रसन्न करना चाहिए ॥ १३ ॥

अथवाको प्र—इयं ‘इतं यत्प्रविधिः कथयति ? । राजा प्राह ततस्तदा ? । प्रविधिद्वयाथ ‘ततः प्रधानमग्निना घृमेया मिहितम्—‘इयं ‘ननुमुचितं प्रसादात्तरं किमपि क्रियताम्’ । यतः—

देव=राजन् । श्रुतम्=आकर्णितम् । यत्=दुर्गदाहविषयकतथ्यम् । प्रणिधि =
चरनायक । ततस्तत =अग्रे किं वृत्तम् । नेदमुचितम्=वायसस्य कपूरद्वीपराज्या-
मिषेचन नोपयुक्तम् । प्रसादान्तरम्=अभिषेक विहाय अन्यमनुग्रहम् ।

चकवे ने कहा—‘राजन्, गुप्तचर ने जो कुछ कहा है उसे आपने सुन लिया
न । राजा राजहंस ने कहा—‘तो फिर आगे क्या हुआ ।’ गुप्तचर ने कहा—‘तब
प्रधान मंत्री गृध्र ने कहा—‘राजन्, यह ठीक नहीं है । इसके ऊपर (राज्याभिषेक
के अतिरिक्त) कोई दूसरी कृपा होनी चाहिए । क्योंकि—

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।

नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्त्रिव मूत्रितम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—अविचारयत युक्तिकथनम् तुषखण्डनम् (एष) हे राजन्, नीचेषु
उपकृतम् वालुकासु मूत्रितम् इव ॥ १४ ॥

अविचारयत =विचाररहितस्य । युक्तिकथनम्=उपायोपदेश । तुषखण्डनम्=
सुपावघात , व्यथप्रयास (भूसी कूटना अर्थात् व्यथ परिश्रम करना) । नीचेषु=
निम्नाचारेषु । उपकृतम्=उपहारादिदानम् । वालुकासु = सिकतासु । मूत्रितम्,
इव=मूत्रोत्सर्गं इव ॥ १४ ॥

जैसे विचाररहित पुरुष से कोई युक्तिसंगत बात कहना भूसी कूटने के समान
(व्यथ) होता है वैसे ही नीच पुरुष का उपकार करना भी बालू पर किए
गए मूत्र के समान होता है ॥ १४ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

महतामास्पदे=महापुरुषाणा योग्यस्थाने । न कर्त्तव्य =न प्रतिष्ठेय ।

महान् लोगो के योग्य स्थान पर नीच को कभी नहीं नियुक्त करना चाहिए ।
जैसा कि कहा भी गया है—

‘नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिन हन्तुमिच्छति ।

मूपिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तु गतो यथा’ ॥ १५ ॥

चित्रवर्णं पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ । मन्त्री कथयति—

अन्वयः—नीच श्लाघ्यपद प्राप्य स्वामिनम् हन्तुम् इच्छति । यथा मूपिक-
व्याघ्रताम् प्राप्य मुनिम् हन्तु गत ॥ १५ ॥

नीच =निम्नपुरुष । श्लाघ्यपदम्=उन्नतस्थानम् । प्राप्य = रब्ध्वा । स्वामि-
नम्=उपकारकारकं नृपमपि । हन्तुम् = व्यापादयितुम् । इच्छति = अभिलषति ।
मुनिम्=येन स मूपिक. व्याघ्रं हृतं तमपि ॥ १५ ॥

नीच स्वामी की कृपा से उच पर पाकर स्वामी को ही मारना चाहता है ।
यूहा मुनि द्वारा बाध बन जाने पर मुनि को ही मारने के लिए तैयार हो गया ॥

कथा ५

अरिह गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र तेन
ब्राह्ममर्षिनिधाने मूपिकशाबकः काकमुखाद् अणो हृद्य । ततो
व्यायुकेन तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्धितः । ततो बिडाळस्तं
मूपिकं आवृत्तमुपधापति । तमच्छोष्य मूपिकस्तस्य मुनेः काळे
प्रविषेत् । ततो मुनिनोक्तम्—'मूपिक ! त्वं भाञ्जोरो भव । ततः स
बिडाळः कुक्कुरं दृष्ट्वा पछायते । ततो मुनिनोक्तम्—'कुक्कुरा
त्रिभेदि त्वमव कुक्कुरो भव । स च कुक्कुरो व्याप्रात् बिभेति ।
ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याप्राः कृताः ।

अथ तं व्याप्रा मुनिमपिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनि
व्याप्राद् दृष्ट्वा सर्वं वदति— अनेन मुनिना मूपिको व्याप्रातां गीता'
एतच्छ्रुत्वा सभ्ययो व्याप्रीऽविभक्तवत्—'यावत्नेन मुनिना
स्योयते तावदिदं मे स्वरूपाक्यानमकीर्तिकरं न पछायिष्यते' ।—
इत्यालोप्य मूपिकस्तं मुनिं हर्षुं गताः । ततो मुनिना तस्मात्त्वा
पुनमपिको भवे—श्रुत्वा मूपिक एव कृतः । अतोऽहं प्रथोमि-
'नीच दक्षावपर्वं प्राप्य इत्यादि ॥ ॐ ॥

अपरश्च वच— मुकरमिदं'मिति न मन्तव्यम्, श्रुत्वा—

१ कमुखाद्—कामतकवनात् । कावकः—चिपुः । अणो हृद्येन = कृपावृत्तिवत् ।
नीवारकरी = ब्रह्माणावनाम्बवरी । संवर्धितः—वृद्धिं प्रापितः पोषितम् । काश्चिदुच्यते
व्यतिरिक्तम् । तमवलोक्य = बिडाळं दृष्ट्वा । काळे = काले । प्रविषेत् = प्रविष्टोऽक-
वत् । नाञ्जो = बिडाळ । पछायते = नवात् पछावर्षं करोति । बिभेति = ब्रह्म-
लोवि । सर्वं वदति = सर्वं वना कवपति ।

व्याप्राकानम्—अङ्गुपरिचरतंनतम्बिभो कथाः । अकीर्तिकरम्—अवनीरम् ।
न पछायिष्यते = न दक्षिष्यति । इत्यालोप्य—एवं विचार्य । तस्मात्त्वा = तस्मात्त्वा
वचस्य ।

मुकरम्—वनापावतिहम् । इदम्—वावतस्य एवमापिदवचम् । न मन्तव्यम्
न ज्ञातव्यम्

चित्रवर्ण ने पूछा—यह कैसे हुआ ? मंत्री ने कहा—‘गौतम ऋषि के तपोवन में महातपा नाम के एक मुनि रहने थे । उन्होंने अपने आश्रम के पास कौवे के मुँह से गिरा हुआ एक चूहा देखा । उस दयालु मुनि ने उसे नीवारकण खिलाकर पाला पोसा । एक बार एक वनविलाव ने उस चूहे को खाने के लिए उसे दौड़ाया । चूहा उस विलाव को देखकर मुनि की गोद में चला गया । तब मुनि ने कहा—‘चूहे तुम भी विलाव बन जाओ ।’ इसके बाद वह विलाव कुत्ते को देख कर भागा तो मुनि ने कहा ‘कुत्ते से डरते हो तो तुम भी कुत्ते हो जाओ ।’ वह कुत्ता व्याघ्र से डरने लगा तो मुनि ने उसे बाध बना दिया । उस बाध को मुनि चूहा ही समझते थे । और उस मुनि तथा बाध को देखकर सभी लोग कहा करते थे कि इस मुनि ने चूहे को बाध बना दिया है । यह सुनकर उस बाध ने सोचा कि जब तक यह मुनि रहेंगे तब तक हमारे रूप बदलने की यह बदनामी से मरी हुई कहानी समाप्त नहीं होगी । यह मोचकर वह मुनि को मारने के लिए गया । मुनि ने यह जानकर ‘फिर चूहे बन जाओ’ ऐसा कह कर उसे चूहा बना दिया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ ‘नीच उत्तम पद पाकर’ इत्यादि और भी इसे राजा बनाना आप सरल न समझिए । सुनिए—

‘भक्षयित्वा वहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।

अतिलोभाद्भक्षः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात् ॥ १६ ॥

अन्वयः—उत्तमाधममध्यमान् वहून् मत्स्यान् भक्षयित्वा वक् अतिलोमात् कर्कटकग्रहात् पश्चात् मृत ॥ १६ ॥

उत्तमा = महान्त । अधमा = अत्यल्पा । वहून् = बहुसंख्यकान् । मत्स्यान् = मीनान् । अतिलोमात् = अतिलील्यात् । कर्कटकग्रहात् = कर्कटकतृकादानात् (पकड़ने से) । मृत = मृत्युम् प्राप्त ॥ १६ ॥

उत्तम, मध्यम और अधम कौटि की बहुत सी मञ्जलियों को खाने के बाद लोन में वगुले ने केकडे को खाना चाहा जिससे वह केकडे द्वारा पकड़े जाने से मर गया ॥ १६ ॥

कथा ६

चित्रवर्ण पृच्छति—‘कथमेतत् ? । मन्त्री कथयति—

अस्ति मालवचिपये पद्मगर्भाभिधानं सरः । तत्रैको वृद्धो वक्ः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः । स च केनचित्कुलीरेण दूरादेव दृष्टः, पृष्टश्च—‘किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति ? । वक्—‘मत्स्या मम जीवनहेतवः । ते कैवर्तः—

रागत्य व्यापादयितव्या'—इति चार्त्ता नगरोपास्ये मया भूता ।
अतो 'वृत्तनामावाद्वास्मिन्मरणमुपस्थितमिति चात्वाहारेऽप्यनादरः
कृतः । ततो मत्स्यैराकोचितम्—इह समये तावदुपकारक एवार्थं
कक्ष्यते तदयमेव यथाकृतव्यं पृच्छयताम् । तथा बोधतम्—

मातृवर्तिवये = मातृवर्तिवये । पद्यवर्त्तापिचानम् = पद्यवर्त्तापिचानम् । तर =
तटाक । सामर्थ्यहीन = बुद्धत्वावतिवर्तिवये । तद्विचित्रिण = व्यक्तुम् इव ।
कुशीरेय = कर्त्तव्येन । आहारत्यायेन = भोजनवर्त्तव्येन । मत्स्या = मीना । बीरव
हेतव = प्राचावत्प्रवृत्ताः । प्रोच्यन्ते । कर्त्तव्ये = कर्त्तव्ये । व्यापादयितव्या = इत्यन्ता ।
नगरोपास्ये = नगरनिघटे । वर्त्तनामावात् = बोधिकाविरहात् । वृत्तिवत्तम् =
वाप्यतम् । आहारेऽपि = भोजनेऽपि । अनादरः कृत = तिरस्कृतः = तिरस्कृत इत्यत्र ।
मत्स्यैराकोचितम् = मीनैः विनिघृतम् । इह समये = इदानीम् । उपकारक = पुत्रेणु ।
कक्ष्यते = इत्यते । अनाकर्त्तव्यम् = अमबोधितम् कार्यम् ।

चित्रवर्त्तं मे पुत्रा—'अहं कर्त्ते तुवा मंत्री मे कृता—मातृवर्त्तं मे पद्यवर्त्तं
मान का एक ताकम् वा यहाँ एक लतिहीन बीर अत्यन्त व्यामुक्त हा हुआ
बहुता यवा हुआ या । उधे किसी के कडे मे दूर से ही देखा और पुत्रा—'आप
यहाँ भोजन छोडकर क्यों पडे हैं ? बहुते मे कहा— मछली ही मेरे बीरव वा
सहारा है और जले मछुने कक बाकर मारेंगे ऐसी बात मेरे नगर के पाठ सुनी
है । इसलिये भोजन के बिना अब मेरी मीत का बई है ऐसा लोचकर सभी
भोजन करना छोड दिया है । अब मछलियो मे विचार दिया कि इस समय ही
यह हम लोको की बचाई करने काका मात्तुम पड़ रहा है इसलिये इसी से पुत्रना
वाहिए कि अब हम लोको को क्या करना चाहिए । बीधा कि कहा भी यवा है—

'उपकर्त्तारिण्या सन्धिषम मिषेप्यापकारिण्या ।

उपकारापकारो हि कक्ष्य कक्ष्यमेतयोः ॥ १७ ॥

अन्वयाः—उपकर्त्ता अरिणा सन्धि (कार्यं क्त्तु) अकारिणा मिषेप न
(कार्यं) एतयो उपकारापकारो अनापम् हि ॥ १७ ॥

उपकर्त्ता = उपकारकारिणा । अरिणा = अत्रुणा । सन्धि = मीकम् । अकारिणा =
अकारकारिणा । मिषेप = सुहृदा । एतयोः = अत्रुमित्रयोः । अनापम् = विह्वल ।
त्यवम् = हीनम् ॥ १७ ॥

उपकार करने वाले एतु से सन्धि करना अच्छा है केवल दुराई वाइये
वामे मित्र से सन्धि करना ठीक नहीं है । क्योंकि अत्रु बीर मित्र का लखर ही
अपकार और उपकार करता होता है ॥ १७ ॥

मत्स्या ऊचुः—‘भो वक ! कोऽत्र अस्माकं रक्षणोपायः ?’ ।
 वको ब्रूते—‘अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम् । तत्राह-
 मैकैकशो युष्मान्नयामि’ । मत्स्या आहुः—‘एवमस्तु ।’ ततोऽसौ
 दुष्टवकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा खादति । अनन्तरं कुलीरस्त-
 मुवाच ‘भो वक, मामपि तत्र नय ।’ ततो वकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी
 सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान् । कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं
 तम् स्थलमालोक्याचिन्तयत्—‘हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । भवतु ।
 इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि ।’ यतः—

अत्र = इदानीम् । जलाशयान्तराश्रयणम् = अन्यस्य सरोवरस्यालम्बनम् ।
 आहुः=उक्तवन्त । स्थले=भूमौ । मत्स्यकण्टकाकीर्णम्=मीनास्थिसकुलम् । अचि-
 न्तयत्=व्यचारयत् । हतोऽस्मि=मृतोऽस्मि । मन्दभाग्य = हतभाग्य । समयो-
 चितम्=यथावसरम् । व्यवहरिष्यामि=आचरिष्यामि ।

मछलियो ने कहा—‘हे बगुले अब हम लोगो की रक्षा का क्या उपाय है ?’
 बगुले ने कहा—‘दूम्ने तालाब मे चला जाना ही रक्षा का उपाय है । इससे
 तुम लोर्गों में मे एक-एक को वहाँ पहुँचा भी दूँगा ।’ मछलियो ने कहा—‘ठीक
 है, ऐसा ही करो ।’ तब यह दुष्ट बगुला एक-एक को ले जाकर खाने लगा ।
 इसके बाद केकडे ने कहा—‘हे बगुले मुझे भी वहाँ ले चलो । बगुला भी केकडे
 को पहले कमी नहीं खाया था इसलिए उसके मांस खाने की लालच से बड़े
 आदर के साथ उसे पानी से बाहर निकाल कर रखा । केकडे ने मछलियो की
 हठियों से मरी हुई उस जगह को देखकर विचार किया कि अब तो मुझ अमागे
 को मरना पडा । अच्छा, समयानुसार उपाय करना चाहिए । क्योंकि—

‘तावद्भयेन भेतव्य यावद्भयमनागतम् ।

आगतन्तु भय दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत्’ ॥ १८ ॥

अन्वयः—यावत् भयम् अनागतम् तावत् भयेन भेतव्यम् । तु भयम् आगतं
 दृष्ट्वा अभीतवत् प्रहर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

भयम्=भयहेतु । अनागतम् = अनुपस्थितम् । अभीतवत् = निर्भयसदृश ।
 प्रहर्त्तव्यम्=तस्योपरि प्रहार करणीय, प्रतीकार कार्यं इत्यर्थः ॥ १८ ॥

‘भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक वह सामने न हो किन्तु भय को
 सामने उपस्थित देखकर निडर होकर उस पर प्रहार करना चाहिए’ ॥ १८ ॥

किञ्च—‘अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्गतिमात्मनः ।

युध्यमानस्तदा प्राक्षो त्रियेत त्रिपुणा सह’ ॥ १९ ॥

अन्वयः—अभिप्रेतं यदा वाक्यम् किञ्चित् वचिन् न वस्तेत् एवा प्रथं
रिपुषा तत्र पुष्यमाणः श्रियेत ॥ १९ ॥

अभिप्रेतः—अनुवा पञ्चमरथैव वा वाद्यमात् पुष्य । वाक्यात् = स्वस्व ।
किञ्चित्पठितम्—किञ्चित्कथम् प्रतीकारोपायम् । न वस्तेत्—न विद्योक्तयेत् । प्राक्—
बुद्धिमान् । रिपुषा सह—अनुवा सह । पुष्यमाणः—पुत्र कुर्वाण । श्रियेत = प्राक्-
पुरुषुणैः ॥ १९ ॥

अनु द्वारा वाद्यमात् व्यक्ति वच जपने वचने का दूसरा कोई भी उपाय न
है तो अनु के साथ पुत्र करते हुए नरवा ही उत्तरी बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकरतस्य वक्तस्य धीर्वा विच्छेत् । अथ स
वक्तः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं प्रथोमि—‘भक्तवित्त्वा पञ्चस्मरस्याव’
इत्यादि ॥

इत्यालोच्य—एवं विचार्य । कुलीरक = कर्कटक । धीर्वा = वक्त्रद्वेष्य ।
विच्छेत्—कतिञ्चाम् । पञ्चत्वं गतः—मृत्यं प्रात् ।

ऐसा विचार कर केन्द्रों में चल बन्दों के बले को काट दिया विच्छेत् यह
बनुला मर गया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ बहुत जो मर्दानों को काट
इत्यादि ।

ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—‘शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मपैतद्वालोचितम्—
(—अस्ति—) यद्—अत्रावस्थितेनामेन मेघवर्णेन राज्ञा पावन्ति वस्तुनि
कपूरद्वीपस्योक्तमामि तावन्स्मरमाकमुपनेतव्यानि । तेनारमाभिर्महा
सुखेन विनयावले स्यात्तव्यम् । पुरवर्षी विद्वस्याह—‘देव !

वालोचितम्—विचारितम् । अत्रावस्थितेन = अत्राभित्वितेन । उपनेतव्यानि—
उपहीकितव्यानि । पुरवर्षी—राज्यं चित्रवर्णस्य मंत्री युग्मः ।

तव चित्रवर्ण ने कहा—हे मंत्री तुमो मैंने यह सोचा है कि यहाँ राज्यपर
पर विद्वस्त मेघ वर्ण कपूर द्वीप की सभी बल्ली-बल्ली वस्तुओं को हमारे वाद
मेवा करेवा विच्छेत् हम सोच दिव्यावले पर बड़े सुख है रहेंगे । पुरवर्षी ने
हैन कर कहा—राजन्

अनागतवतीं विन्तां कृत्वा वस्तु प्रहृष्यति ।

स तिरस्कारमाप्नोति भग्नमाच्छो द्विजो यमा ॥ २ ॥

राज्ञाह—‘कथमेतत् ? । मन्त्री कथयति —

अन्वयः—अ वनापठवतीं विन्तां कृत्वा प्रहृष्यति स भग्नमाच्छो द्विजो यमा
तिरस्कारमाप्नोति ॥ २ ॥

य = पुरुष । अनागतवर्ती = भविष्यानुवर्तिनीम् । प्रहृष्यति = मोदते । मग्न-
भाण्ड = मग्नसक्तुपूर्णपात्र । द्विज = ब्राह्मण । यथा = इव । तिरस्कारमाप्नोति =
अनाहतो भवति ॥ २० ॥

जो मनुष्य भविष्य की कल्पना करके झूठे सुख की आशा से प्रसन्न होता है
वह कुम्हार का बतन फोड़ डालने वाले ब्राह्मण के समान अपमानित होता है ॥

राजा ने कहा—पह कंसे ? मन्त्री ने कहा—

कथा ७

अस्ति देवीकोट्टनाम्नि नगरे दवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महा-
विपुवत्सङ्क्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः । ततस्तमादायासौ
कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः । ततः
सक्तुरक्षार्थं हस्तं दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—‘अद्यह सक्तुशरावं
विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि, तदात्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादि-
मुपक्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिमुपक्रीय, विक्रीय,
लक्षसङ्ख्यानि धनानि कृत्वा, विवाहवतुष्टयं करिष्यामि । अनन्तरं
तासु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि ।
सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदा कोपाकुलोऽहं ताः सर्वा
लगुहेन ताडयिष्यामीत्यभिधाय तेन लगुडः प्रक्षिप्तः । तेन सक्तु-
शरावश्चूर्णितो, भाण्डानि च बहूनि भग्नानि । ततस्तेन शब्देना-
गतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्ष्य, ब्राह्मणस्तिर-
स्कृतो, मण्डपाद्वहिष्कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—‘अनागतवर्ती
चिन्ताम्’ इत्यादि ॥

ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—‘तात ! यथा कर्त्तव्यं तथो-
पदिश ।’ गृध्रो ब्रूते—

विपुवत्सङ्क्रान्त्याम् = वैशाखमासस्य मेषसक्रान्तिवासरे । सक्तुपूर्ण-
शराव = सक्तुपूरितवद्धमानक (सतुवे से भरा कसोरा) । भाण्डपूर्णमण्डपैक-
देशे = मृत्पात्रपूर्णगृहस्यैकभागे । रौद्रेण = घर्मेण । आकुलित = व्यग्र । सुप्त =
सुप्तवान् । दण्डमेकम् = एका यष्टिकाम् । आदाय = गृहीत्वा । कपर्दकान् = काफिणी ।
अनेकधाबुद्धे = वार वार क्रमविक्रयकरणेन बद्धिते । तद्धनैः = तन्मूल्यत्वेन
प्राप्तधनैः । पुनः पुनः = वार वारम् । पूगवस्त्रादिकम् = पूगीफलवस्त्रादिकम्

(तुपासी तथा कर्कशे भादि) । इन्द्रम् = बरहस्पतिम् । गोपाकुलम् = गोप-
 मन्त्रम् । कपुडिनम् = इन्द्रियम् । ताडयिष्यामि = पादयिष्यामि । भूक्तिम् = भक्तम् । अश्विनम् =
 कुम्भकारस्य पात्राणि । तैलं बन्धेन = भूक्तिस्तस्य प्राणद्वारा बन्धेन । तथाभिवानि-
 मन्त्यानि । अश्विनोक्तम् = इन्द्रम् । तिरस्कृतम् = बन्धनानि । अश्विनोक्तम् = भिवानि ।
 इन्द्रम् = इन्द्रम् ।

ऐसीकोट्ट नाम के नगर में ऐश्वर्या नाम का एक ब्राह्मण रहता था एक बार
 सतुषा संक्रान्ति के दिन उसने सतुषे से भरा हुआ एक मिट्टी का कछोरा पना ।
 वह उसे लेकर बर्तनो से धरे हुए कुम्हार के मध्य में एक क्षिपारे पना और
 धूप से व्याकुल होकर वहीं सो पना । तब सतुषे की रक्षा के लिए इन्द्र में एक
 डंडा लेकर वह पन ही पन मोचने लगा । यहि में इन सतुषे के कछोरे को
 बीच कर बस कीसी पा बाढे तो उसो से कई कछोरे भादि कटिद कर बीच कर
 काखो का धन प्राप्त करके बार विचारु करके इनके बन्धात् उन चारों किनों के
 को नभसे कुम्हरी तथा कुवतो हीनी में उससे अधिक प्रेम करके । नभ गई
 चारों आपस में मनवा करेनी तो में इन्द्र होकर उन सभी को डंडे से पीरुना ।
 ऐसा कहकर उडने डंडा बजा दिया । जिससे सतुषे का कछोरा तो टूट ही पना
 साथ ही कुम्हार के बहुत से बर्तन भी टूट गए । बर्तन के टूटने का प्रथम सुवर
 कुम्हार वहाँ बाया और उन टूटे पड़े बर्तनो को देख कर उसने ब्राह्मण को डाँडा ।
 इसी से मैं कह रहा हूँ—“मविष्य की वक्ष्यता करने वाले” भादि ।

तब राजा ने एकान्त में पुत्र से कहा—तात

नभ भुष्टे बताइए कि क्या करना चाहिए । पुत्र ने कहा—

महोद्यतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्त्रैय इन्दिताः ।

गण्डमस्युष्मार्णवातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—महोद्यतस्य प्रकीर्णस्य उष्मार्णवातस्य इन्दिताः नेतारः इव
 (गण्डमस्य उष्मार्णवातस्य) नृपतेः वाच्यताम् वक्ष्यति ॥

महोद्यतस्य = उष्मत्तस्य नृपतिवत् प्रकीर्णस्य । प्रकीर्णस्य = अश्विनोक्तम्,
 नृपतिवत् विषयवद्भितस्य उष्मार्णवातस्य = नृपप्रभुत्तस्य । इन्दिताः = इन्दिताः ।
 नेतारः = अस्तिपदा उपदेशः = अन्विष्य । इव = तथा । वाच्यम् = शोकनिन्दी-
 यताम् । वक्ष्यति = प्राप्नुयति ॥ २१ ॥

जैम मय ने पावल हाथो के दुरे मार्ग में चले जाने का तात शोक महारथ
 के ऊपर होता है उसी प्रकार अविमानो मठवाले राजा के दुरे मार्ग में जाने का
 शोक मंत्री पर होता है और वह निन्दा का पाप बनता है ॥ २१ ॥

‘शृणु देव ! किमस्माभिर्वलदर्पाद् दुर्गं भग्नम् ? उत तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन ? ।’ राजाह—‘भवतामुपायेन ।’ गृध्रो ब्रूते—‘यद्यस्मद्वचनं क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनस्तुल्यवलेन विश्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । तत्सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं, कीर्तिश्च लब्धेव’ । मम संमतं तावदेतत्’ । यतः--

वलदर्पात्=पराक्रमाभिमानात् । उत=अथवा । प्रतापाधिष्ठितेन=प्रतापाश्रयेण । अस्मद्वचनम्=अस्मन्मप्रणाम् । पुनर्विश्रहे=पुन युद्धे रुति । परभूमिष्ठानाम्=शत्रुदेशस्थितानाम् । सुखशोभार्थम्=स्वस्य सुखाय यत्ने वा । सन्धाय=सन्धि विधाय ।

‘यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा मर्तुः प्रियाप्रिये ।

अप्रियाण्याह पथ्यानि, तेन राजा सहायवान्’ ॥ २२ ॥

अन्वयः—य मर्तुं प्रियाप्रिये हित्वा धर्मं पुरस्कृत्य अप्रियाणि तथ्यानि आह, तेन राजा सहायवान् (भवति) ॥ २२ ॥

य=राजमत्री । मर्तुं=नृपस्य । प्रियाप्रिये=इदम् स्वामिन प्रियम्, इदम् अप्रियम् इति च । हित्वा=विहाय । धर्मम्=न्यायम् । पुरस्कृत्य=अप्रेकृत्वा । तथ्यानि=तथ्यवचनानि । तेन=मग्निणा । राजा=नृप । सहायवान्=महायकान्वित भवति ॥ २२ ॥

राजन्, सुनिह—‘क्या हम लोगों ने अपनी सेना के अभिमान से किला तोड़ा है अथवा आपके प्रताप या उपाय से !’ राजा ने कहा—‘आपके उपाय से।’ गृध्र ने कहा—‘यदि हमारी बात मानते हैं तो अपने देश चलिए । नहीं तो वर्षा आ जाने पर और फिर समान बल वाले शत्रु से युद्ध होने पर दूसरे देश में रहने वाले हम लोगों को अपने देश में जाना भी कठिन हो जायगा । इसलिए सुख और यश दोनों के लिए सन्धि करके चले चलिए । किला टूट ही गया और यश मिल ही गया । मेरा तो अब यही विचार है । क्योंकि—जो धर्म को आगे करके राजा के प्रिय और अप्रिय का ध्यान छोड़ कर केवल राजा के हित की बात को ही कहता है, मले ही वह राजा को बुरा लगे, वही राजा का सच्चा सहायक होता है ॥ २२ ॥

अन्यच्च—‘सुहृद्बल, तथा राज्यमात्मानं, कीर्त्तिमेव च ।

युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्याद्वालिशः ?’ ॥ २३ ॥

अन्वयः—युधि सुहृत् वचम् राज्यम्, तथा आत्मानं कीर्तिमेव च हि क
 क्वाचित् सविहोकात्मम् कुर्वति ॥ २३ ॥

युधि—युद्धे । सुहृत्—मित्रम् । वचम्—वचनम् । राज्यम्—राज्यम् । आत्मानं
 कीर्तिम्—स्वकीयं मह । क्वाचित्—पण्डित । सविहोकात्मम्—सर्वपरोका-
 त्वम् ॥ २३ ॥

यथा कोन बुद्धिमान् युद्ध मे पढ़कर मित्र सेना राज्य कीर्ति तथा कसे
 माय की सम्यह रूपी युद्ध मे बालेया ॥ २३ ॥

अपरच्छ—‘सन्धिमिच्छेत्समनापि सन्धिमो विजयो युधि ।

नहि सद्यपितं कुर्याद्विपुषाच बृहस्पति ॥ २४ ॥

अन्वयः—युधि विजय संविध (कठ) समेतापि सन्धि इच्छेत् । संविधितं
 नहि कुर्यात् इति बृहस्पति उवाच ॥ २४ ॥

युधि—युद्धे । विजय—विजयलक्ष्म । संविध = बन्धित । कठ एव सं-
 नापि—स्वतुल्यवराद्धमेतापि । संधिमिच्छेत्—सन्धि कुर्वति । संविधितं—संविधित
 कार्यम् । नहि कुर्यात्—नाचरेत् ॥ २४ ॥

कड़ाई मे विजय प्राप्त होने मे सम्यह होता है इसलिये समान बल वाले के
 साथ संधि कर लेना चाहिए । क्योंकि बृहस्पति ने बताया है कि विजय कार्य के
 बुरा होने मे सन्धि ही उठे नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

अपि च—‘युद्धे विनाशो भवति कदाचित्तुभयोरपि ।

सुभ्योपसुभ्यापन्भोर्भ्यं, नष्टी तुभ्यवकी न किम् ॥ २५ ॥

रासोवाच—‘कथमेतत् ? मन्त्री कथयति—

अन्वयः—नदाचित् युद्धे कथयोरपि विनाश भवति तुल्यबली सुभ्योरनुभो
 कथोर्भ्यं किम् नष्टो न ? ॥ २५ ॥

युद्धे—संघामे । कथयोरपि—युध्यमानयो द्वयोरपि । कथोर्भ्यम्—परस्परम् ।
 तुभ्यवकी—तुभ्यवपराद्धमी । किम् न नष्टो—नष्टो एव ॥ २५ ॥

धीर भी—युद्ध मे कभी कभी दोनों बलों वा विनाश मिश्रित होता है ।
 समान बल वाले युद्ध धीर उतुल्य क्या आपस में कड़कर नष्ट नहीं हुए ? ॥
 राजा ने कहा—‘यह कैसे ? मंत्री ने कहा—

कथा ८

पुरा दैत्यौ सहोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता कायक्लेशेन त्रैलोक्यराज्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ । ततस्तयोर्भगवान् परितुष्टः सन् 'वरं वरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः कण्ठाधिष्ठितायाः सरस्वत्याः प्रभावात्तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ—'यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु ।'

कायक्लेशेन=शरीरकष्टेन । त्रैलोक्यराज्यकामनया=त्रिभुवनराज्याभिलाषेण । चिरात्=बहुकालात् । चन्द्रशेखरम्=शिवम् । भगवान्=शिव । वरयतम्=याचेयाम् । कण्ठाधिष्ठिताया =कण्ठे स्थिताया । अन्यद् वक्तुकामौ=अन्यत् वक्तुम् अभिलाषुको । अभिहितवन्तौ=उक्तवन्तौ । स्वप्रियाम्=निजपत्नीम् ।

प्राचीन काल मे सगे भाई सुन्द और उपसुन्द ने तीनों लोक के राज्य की अभिलाषा से बहुत अधिक शारीरिक कष्ट उठा कर बहुत दिनों तक भगवान् शंकर की आराधना की । तब भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर कहा कि 'वर मागो ?' तब कठ में बसी सरस्वती के प्रभाव से वह दोनों जो कुछ माँगना चाहते थे उसके प्रतिकूल बोले—'यदि आप हम दोनों पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रियपत्नी पार्वती को हमे दे दीजिए ।

अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया, विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता । ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां, जगद्घातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां, पापतिमिराभ्यां, 'ममे'त्यन्योन्यं कलहायमानाभ्यां 'प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छद्यता' मिति मतौ कृतायां, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः । अनन्तरम्—'आवाभ्यामियं स्ववललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति'-इति ब्राह्मणमपृच्छताम् । ब्राह्मणो ब्रूते—

विचारमूढयो =विवेकशून्ययो । रूपलावण्यलुब्धाभ्याम्=सौन्दर्यप्रसक्तान्याम् । जगद्घातिभ्याम्=लोकपीडकाभ्याम् । मनसोत्सुकाभ्याम्=चित्तेनोत्सुकाभ्याम् । पापतिमिराभ्याम् = पापान्धकाराच्छादिताभ्याम् । कलहायमानाभ्याम्=द्वन्द्वयमानाभ्याम् । प्रमाणपुरुष =मध्यस्थ । पृच्छद्यताम्=निर्णयार्थम्, पृच्छद्यताम् । भट्टारक =परमेश्वर । वृद्धद्विजरूप = वृद्धब्राह्मणवेश । स्ववललब्धा=स्वपराक्रमे उपाजिता ।

बहु मुन कर भववान् गिव बहुन वयं ह्ये विष्णु वरवी वरवान देवे की वल
 पूरी करते के लिए इन मूर्तों को उन्नीने चार्दणी की दे दिया । एवं दोनों चार्दणी
 के कर वर मुच ही मने और संतार के चाठी तथा अत्यन्त शारी बहु दोनों
 अत्यन्त उत्तुङ्ग होकर बहु मेरी है बहु मेरी है इत प्रथम श्रवण करते लये ।
 एवं इन दोनों ने बहु विचार किया कि किसी मन्वन्त द्वारा निर्धन करा केया
 चाहिए । उही समय अंकर वा बुद्ध ब्राह्मण वा देम वारण करके इन दोनों के
 पास उपस्थित हुए । इसके पश्चात् इन दोनों ने ब्राह्मण से पूछ कि हम दोनों के
 हते अपने वल के प्राप्त किया है एवं वह किसकी होनी चाहिए । ब्राह्मण ने कहा—

‘ज्ञानधेसो द्विजाः पूज्याः स्मरिषयो बह्वयानपि ।

धनधाम्नाधिको वैश्यः, शूद्रस्तु द्विजसेवया’ ॥ २६ ॥

अन्वयाः—ज्ञानधेः द्विजः वलवान् धानिय वनवन्ता अहं वीर-
 द्विजसेवया तु शूद्रः पूज्यः (भवति) ॥ २६ ॥

वर्धयेत्.—वर्धयेत् उत्तम । द्विजः—ब्राह्मणः । वलवान्—वल्गविकः । वन
 धाम्नाधिकः—धनवाहिकुलः । द्विजसेवया—शूद्राः सेवया । पूज्यः—धेः ॥ २६ ॥

ज्ञान के अंत ब्राह्मण बह म अंत धानिय धनवान् के अंत वीर और देवा
 करते के अंत शूद्र सबसे बड़ा माना जाता है ॥ २६ ॥

तद्यथा शास्त्रधर्मानुगौ । मुञ्च एव मुचयोनिवमः । इत्यभिहिते
 सति, साधुक्रममेभति कृत्वाभ्योम्यशुष्यवीर्यौ समकाशमभ्योम्य-
 धातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं प्रयीमि—‘सन्धिभिच्छेत्समवापि’
 इत्यादि ॥

राजाह—‘तत् प्रागेव किं नेवमुपदिष्ट भवद्भिः ? ।’ मन्त्री
 ब्रूते—‘तदा मद्रथर्न किमवसामपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः ? । तदापि
 मम समस्या वाप्यं विप्रहारम्ना । यता—साधुशुष्ययुक्तौऽप्यं द्विरन्व-
 यमौ, न विद्यायाः । तथा चोक्तम्—

अवधर्मानुगौ—अधिवधर्मानुचारिणौ । नियमः—विधिः । विवंधोपायः—इत्यर्थः ।
 अत्रिहिते लति—कथिते धति । साधुक्रमम्—शुभमुचितम् । इति कृत्वा—इत्यन्व-
 यार्थः । समकाशम्—सुखकाशमेव । अभ्योम्यधातेन—परस्परप्रहारेण । विनाश-
 मुपगती—मृती । प्रायेव—वाही एव । अवसावर्धनम्—आवसत्त्वं । तथापि—
 तस्मिन्नेव काले । विप्रहास्युर्धम् । विप्रहारम्—युद्धारम्भः । साधुशुष्ययुक्तः—
 विशुद्धशुभः । साधुस्वभावः । न विद्यायाः—शुद्धाय बोधितः ।

तुम दोनो क्षत्रिय हो । युद्ध ही तुम दोनो के बीच निर्णय करने का उपाय है । ब्राह्मण के ऐसा कहने पर 'इन्होंने बहुत ठीक कहा है' ऐसा कह कर समान बल वाले वह दोनो आपस में तत्काल ही एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके मर गए । इसीलिये मैं कह रहा हूँ—'समान बलवाले के साथ सधि कर लेनी चाहिए' इत्यादि ।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—'तो पहले ही आप ने ऐसा क्यों नहीं कहा ?' मन्त्री गुड ने कहा—

उस समय क्या आप ने मेरी पूरी पूरी बातें सुनी थी ? उस समय भी मेरी राय से यह युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ था । उत्तम गुणों से पूर्ण राजा राजहंस के साथ युद्ध करना उचित नहीं है । जैसा कि कहा भी गया है—

'सत्यार्यो, धार्मिकोऽनार्यो, भ्रातृसघातवान्बली ।

अनेकयुद्धविजयी, सन्धेयाः सप्त कीर्तिताः ॥ २७ ॥

अन्वयः—सत्यार्यो, धार्मिक, अनार्य, भ्रातृसघातवान्, बली, अनेकयुद्ध-विजयी (एते) सप्त सन्धेया कीर्तिता ॥ २७ ॥

सत्यार्यो=मत्यवादी कुलोन्नश्च । अनार्य=नोचवशप्रसूत । भ्रातृसघातयान्=चहूभ्रातृयुक्त । सन्धेया =सन्धियोग्या । कीर्तिता =कथिता ॥ २७ ॥

सत्यवादी, आर्य धर्म के पालन करने वाले, धार्मिक, बहुत अनार्य, भाइयों वाले, बलवान् तथा अनेक युद्धों में विजयी ये सात प्रकार के राजा सन्धि करने के योग्य हैं ॥ २७ ॥

'सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम् ।

प्राणवाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम्' ॥ २८ ॥

अन्वयः—सत्य सत्यम् अनुपालयन् सन्धित विक्रियाम् न एति, आर्य प्राणवाधे अपि अनार्यताम् न आयाति इति सुव्यक्तम् ॥ २८ ॥

सत्य =सत्यपर । सत्यम्=याथातथ्यम् । अनुपालयन्=समाचरन् । सन्धित =कृतसघान । विक्रियाम्=विकृतिम् । न एति=न प्राप्नोति । आर्य =सद्वशप्रसूत । प्राणवाधेऽपि=जोवितसदेहेऽपि । अनार्यताम्=अकुलीनताम् । न आयाति=नागच्छति । सुव्यक्तम्=सुस्पष्टम् ॥ २८ ॥

सत्य का पालन करने वाला राजा सन्धि करने पर भी कभी दोषयुक्त नहीं होता अर्थात् सन्धि के नियमों को नहीं छोड़ता और प्राण संकट उपस्थित होने पर भी आर्य नियमों का पालन करने वाला राजा दुष्टता कभी नहीं ग्रहण करता है ॥ २८ ॥

‘धार्मिकस्याभियुक्तस्य सद्य एव हि युज्यते ।

प्रज्ञानुरागाद्यर्माद्य दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः’ ॥ २९ ॥

अन्वयः—अभियुक्तस्य धार्मिकस्य सर्व एव हि युज्यते (कत) प्रज्ञानुरागाद्य
वर्मात् न धार्मिकं दुःखोच्छेद्यं (न्यति) ॥ २९ ॥

अभियुक्तस्य—साधुना साहाय्यस्य । धार्मिकस्य—धर्मपरराजस्य गुणस्य । सर्व
एव—अभ्युर्ध्वकोकवर्ध । प्रज्ञानुरागात् = प्रज्ञाप्रेम्ण । न्यति = न्यतिवचनस्य ।
दुःखोच्छेद्यः—कालियेन विनाशम् ॥ २९ ॥

धार्मिक राजा पर नम सधु बड़ाई करता है तो मन्त्री सेना और प्रजा
बादि सभी जसके सिधे जान हैकर मन्त्रते हैं । इतकिय प्रज्ञाप्रेम तथा नर्म का
पावन करने के कारण धार्मिक राजा को भीतना न्यक्त कलिय होता है ॥ २९ ॥

सन्धिषा क्लायोऽप्यभायेषु विशादो समुपस्थिते ।

विना तस्याद्यमेध्यायो न ह्यर्थात्काङ्क्षयापनम्’ ॥ ३० ॥

अन्वयः—विनाशे समुपस्थिते जनार्णेन सन्धि कार्ये तस्य भावयेन विना
कार्ये काङ्क्षयापनम् न ह्यर्थात् ॥ ३ ॥

विनाशे—राज्यकोधविनाशे । समुपस्थिते—भायते सति जनार्णेबादि = भीयेन
सहायि । तस्य—जनार्णस्य । भावयेन = न्यक्तस्यवेन सत्त्वात् न ह्यर्थात् । काङ्क्षा-
पनम्—समसातिक्रमणम् ॥ ३ ॥

अपना विनाश बाधा हुआ हैच कर दुख राजा के साथ भी सन्धि कर केवी
बाहिय न्योकि तसका सहाय सिधे विना भी करना नमन नहीं बिता सकता है ॥

‘संहतरवाद्यया वेपुर्निविष्टीः कण्टकेवृताः ।

न शक्यतं समुच्छेत्तु आदसह्यातर्थास्तथा’ ॥ ३१ ॥

अन्वयः—निविष्टी कण्टकेः पुत वेपु संहतरवात् तथा समुच्छेत्तं न शक्यतं
तथा सादुसहायताम् (न्यति) ॥ ३१ ॥

निविष्टी—वर्त । कण्टके—वृक्षकण्टके । पुत—आच्छादित । वेपु—वृक्ष ।
संहतरवात्—निकित्तत्वात् । समुच्छेत्तुम्—समुच्छेत्तुम् न शक्यते—न पार्थे ॥ ३१ ॥

जने कटि से बिना हुआ तथा एक से एक पुनरु हुआ सति बिच प्रकार नहीं
काय जा सकता उसी प्रकार बाह्यो का समूह रखने बावन राजा भी भीम ही
नहीं बिनाश किना जा सकता है ॥ ३१ ॥

‘बद्धिना सह योऽयम्’ मिति नास्ति निदृश्याम् ।

प्रतिघातं न हि घतः कदाचिदुपसर्पति’ ॥ ३२ ॥

अन्वयः—बद्धिना सह योऽयम् इति विद्वर्तनम् नास्ति हि यथा कदाचिदुप
प्रतिघातम् न उपसर्पति ॥ ३२ ॥

बलिना सह=सपराक्रमेण सार्द्धम् । योद्धव्यम्=युद्धम् करणीयम् । निदर्शनम्=
ःशान्त । घन =पयोद । प्रतिवातम्=विपरीत वायुम्प्रति । न उपगच्छति=न
उपधावति ॥ ३२ ॥

ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नहीं मिलता है कि बली के साथ युद्ध करना उचित
है । क्योंकि वादल भी वायु के प्रतिकूल चढाई नहीं करता है ॥ ३२ ॥

‘जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भज्यते’ ॥ ३३ ॥

अन्वयः—जमदग्ने सुतस्येव अनेकयुद्धजयिन प्रतापात् एव सर्वत्र सर्वदा
सर्वं भज्यते ॥ ३३ ॥

जमदग्न = भृगुवशोद्भूतस्य महर्षे । सुतस्य=पुत्रस्य, परशुरामस्येत्यर्थ ।
प्रतापादेव=प्रभावादेव । सर्वत्र=सर्वस्थाने । सर्वदा=सर्वकाले । सर्व =समस्तरि-
पुष्य । भज्यते=समरात् पलायते ॥ ३३ ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम के समान अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले
राजा के प्रताप से ही सभी स्थान पर और सभी समय सारे शत्रु वश में ही
जाते हैं ॥ ३३ ॥

‘अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।

तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः’ ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अनेकयुद्धविजयी यस्य सन्धानं गच्छति तत्प्रतापेन तस्य शत्रवः
आशु वशमायान्ति ॥ ३४ ॥

अनेकयुद्धविजयी=बहुसमरविजेता नृप । यस्य=राज्ञ । सन्धानं गच्छति=
सन्धिमायाति । तत्प्रतापेन=विजयप्रभावेण । तस्य, रिपव =शत्रव आशु=शीघ्रम् ।
वशम्=अधोनत्वम्, आयान्ति=प्राप्नुवन्ति ॥ ३४ ॥

अनेक युद्धों में जीतने वाले राजा के साथ सन्धि करने वाला राजा भी
उसी के प्रताप से शीघ्र ही अपने शत्रुओं को वश में कर लेता है ॥ ३४ ॥

तत्र तावद्वहुभिर्गुणैरुपेतः सन्धेयोऽथ राजा । चक्रवाकोऽ-
वदत्—‘प्रणिधि ! सर्वमवगतम् । व्रज । पुनरागमिष्यसि’ ।

अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्ठवान्—‘मन्त्रिन् ! असन्धेयाः
कति ? ताञ्छ्रोतुमिच्छामि ।’ मन्त्री ब्रूते—‘देव ! कथयामि । शृणु—
बालो, वृद्धो, दीर्घरोगी, तथा क्षातिवद्विष्कृतः ।

भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमाप् ।
 अनेकचित्तमन्धरस्तु, देव-ब्राह्मण-तिस्युका ॥ ३६ ॥
 देवोपहतकश्चैव तथा वैद्यपरायणः ।
 बुद्धिस्तद्व्यसमापेतो, वल्लभ्यस्तनसङ्कुचा ॥ ३७ ॥
 अवेसास्था, बहुरिपुमुक्तं काष्ठेन पञ्च न ।
 सत्यधर्मव्यपेतञ्च, विद्यतिः पुरुषा अमो ॥ ३८ ॥

बुद्धिर्बुद्धिभेदः—अनेकमुच्यते । अयम् राजा = राजहंस । सर्वमवस्तु
 सर्वम् इत्यम् । अत्यन्ते—अत्यन्तधर्मोन्मा ।

अन्वयः—वाच्यं अमी विद्यति (असंवेद्यः धर्मिणः) ॥ ३६-३८ ॥

यं वाच्यः—विद्युः । वीर्यरोपी—बहुकालरोपी । इतिविद्युत्कृत = अन्वयिवा
 परित्यक्त । भीष्मक—काठर । भीष्मकवत = काठरसीम् । कुम्भ = लोभी । कुम्भ-
 वत = कुम्भानुचरधर्म । विरक्तप्रकृति = मननुरक्तप्रथावत । विषयेषु = इन्द्रि-
 यार्थेषु । अतिसक्तिमत् = वासत्यचित्तं । अनेकचित्तमन्धर = अनेकचित्तमन्धर-
 युक्त । देवब्राह्मणतिस्युका = सुरविग्रहार्थक । देवोपहत = दुर्गाधोपहत । देव-
 परायण = धार्म्याधीन । बुद्धिस्तद्व्यसमापेतः—बुद्ध्यालापबुधुहृत । वल्लभ्यस्तनसङ्कुचा—
 हीन्यापस्तनसङ्कुचा । अवेसास्था—अवेसास्थे स्थित । बहुरिपु = अनेकशत्रु । काष्ठेन—
 समयेन । न कुतः—अपेता सत्यधर्मव्यपेत—अत्यन्त धर्मवत् हीन ॥ ३६-३८ ॥

इसलिए बहुत मुझे ठ मुक्त यह राजहंस राजा सचि करने के योग्य है ।
 बकवे ने कहा—पक्षर मुझे तक मानुम हो गया । बाओ । फिर बला ।
 ठक राजा राजहंस ने बकवाक के पुत्र—'सचि करके प्रकर के राजा
 सचि करने योग्य नहीं होते मैं उन्हें मुनता चाहता हूँ । मंत्री ने कहा—राज्य,
 कह रहा हूँ बुद्धि—

वाच्यक बुद्ध रोपी वासि से निकाला गया कायर कायर सचिकों वाच्य
 कालकी कालकी सचिको अथवा सचिको वाच्य जिधके मंत्री सचिक वासि उचते
 उवाचीक हो जो अत्यन्त विषयी हो जो अनेक हृदय तथा राज वाच्य हो देव
 ब्राह्मण की निम्ना करने वाला वाच्य का धारा हुआ वाच्य के अधीन रहने
 वाच्य बुद्धि की विपरीत में बका हुआ सचिक विपरीत में बका हुआ पुरे एवाय
 में स्थित बहुत शत्रुओं वाच्य अमानुवार धर्म न करने वाच्य अत्यन्त धर्म के
 रक्षित—ये तीस प्रकार के राजा सचि करने योग्य नहीं होते हैं ॥ ३६-३८ ॥

एते सन्धिषु व हृषीत, चिद्युहोवास्तु केवलयम् ।

एते चिद्युहमाया हि क्षिप्रं पान्थि रिपीर्षयाम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—एतै सन्धिम् न कुर्वीत केवलम् विगृह्णीयात् यत एते विगृह्य-
णा क्षिप्रम् रिपोर्वशम् यान्ति ॥ ३९ ॥

एतै = पूर्वोक्तं विशत्यै पुरुषै । विगृह्णीयात् = युद्धमेव कुर्यात् । विगृह्य-
णा = युध्यमाना । क्षिप्रम् = त्वरितम् । रिपो = शत्रो । वशम् यान्ति =
प्रधीना भवन्ति ॥ ३९ ॥

इनसे संधि न करके केवल युद्ध ही करना चाहिए क्योंकि यह वीसो प्रकार
के राजा युद्ध करने से शीघ्र ही शत्रु के वश में हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

वालस्याल्पप्रभावत्वाच्च लोको योद्धुमिच्छति ।

युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातु शक्तो न वालिशः' ॥ ४० ॥

अन्वयः—लोक अल्पप्रभावत्वात् वालस्य योद्धुम् न इच्छति । यस्मात्
वालिश युद्धायुद्धफलम् ज्ञातु न शक्त ॥ ४० ॥

लोक = जन । अल्पप्रभावत्वात् = स्वल्पप्रतापत्वात् । वालस्य = शिशुनृपते ।
योद्धु नेच्छन्ति = विग्रह कर्तुं न वाञ्छन्ति । यस्मात् = यत , वालिश = वालक ,
मूर्खश्च । युद्धायुद्धफलम् = विग्रहाविग्रहपरिणामम् । ज्ञातुम् न शक्त = ज्ञातुमसमर्थः
भवति ॥ ४० ॥

राजा यदि वालक होता है ता उसमें तेज का अभाव होने से मंत्री, सैनिक
तथा प्रजा आदि पर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है जिससे ये सभी लोग
उसके लिए ठीक से युद्ध नहीं करते हैं और युद्ध तथा अयुद्ध का परिणाम जानने
की शक्ति भी वालक अथवा मूर्ख में नहीं होती है ॥ ४० ॥

'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्बृद्धो, दीर्घामयस्तथा ।

स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसशयम्' ॥ ४१ ॥

अन्वयः—बृद्ध तथा दीर्घामय उत्साहशक्तिहीनत्वात् द्वौ अपि एतौ
असशयम् स्वैरेव परिभूयेते ॥ ४१ ॥

बृद्ध = स्थविर । तथा दीर्घामय = दीर्घरोगी । उत्साहशक्तिहीनत्वात् =
सामर्थ्यात्साहरहितत्वात् । असशयम् = निस्सन्देहम् । स्वैरेव = आत्मीयैरेव । परि-
भूयेते = तिरस्क्रियेते ॥ ४१ ॥

बृद्ध तथा बहुत दिनों से रोगी राजा उत्साह और शक्ति से रहित होते हैं ।
अतः यह दोनों ही अपने आप पराजित हो जाते हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है ॥

'सुस्रोच्छेद्यो हि भवतिसर्व-ज्ञाति बहिष्कृतः ।

त एवैनं चिनिज्जन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः' ॥ ४२ ॥

अन्वया—स्वशातिवहिष्कृतं सुखच्छेदं भवति । आत्मसात्कृतां ज्ञातवः तु
ते एव एतन् विविच्यन्ति ॥ ४२ ॥

स्वशातिवहिष्कृतं = स्वसचातीयं निष्कासितं । सुखोच्छेदं = सारत्वेतोन्मुख-
बीज । आत्मसात्कृताः = स्वयमेव नीता । ज्ञातवः = सचातीयाः । तु ते एव = शाति-
शोकाः । एवम् = शातिवहिष्कृतम् । विविच्यन्ति = विनाशयन्ति ॥ ४२ ॥

बनभी जातिवालों (भाई-बन्धुओं) से निष्काशा बना राजा ज्ञातानी है पर
क्रिया का लक्षणा है । क्योंकि अपने पक्ष में किए द्ये लठके भाई बन्धु ही उसे
मार डालते हैं ॥ ४२ ॥

‘भीरुर्मुञ्चपरित्यागात्स्वयमेव प्रजभवति ।

तथैव भीरुपुत्र्या संश्रामे तैर्विमुञ्चते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—भीरु ब्रह्मपरित्यागात् स्वयमेव प्रजभवति तथैव भीरुपुत्र्या संश्रामे
ते विमुञ्चते ॥ ४३ ॥

भीरु = बापुषः । ब्रह्मपरित्यागात् = ब्रह्मस्व परिहारात् । प्रजभवति = विज-
भवति । भीरुपुत्र्या = कातरसैनिक-उद्धत्वात् स्वयमेव = आत्मया युवा । तैः =
भीरुभिः सैनिकैः । संश्रामे = पश्ये ; विमुञ्चते = परित्यज्यते ॥ ४३ ॥

कायर पक्ष छोड़ कर भावने से अपने बाप मारत जाता है और यदि राजा के
सैनिक-मत्री जाति कायर हुए तो वे सभी राजा को ब्रह्म में छोड़ कर भाव
जाते हैं ॥ ४३ ॥

‘सुखस्यासंविमानित्याद्य सुखयन्तेऽमुञ्जीविनाः ।

सुखानुञ्जीवी सैरेष दानमिन्नेर्निद्वन्द्वते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अनविमानित्यान् मुञ्जीविनः सुखस्व न मुञ्चते । सुखानुञ्जीवी
दानमिन्ने तै एव निद्वन्द्वते ॥ ४४ ॥

असंविमानित्यान् = अविनाशादात् । मुञ्जीविनः = सैनिकाः । सुखस्व =
सौख्यराश्याय नुरस्य । सुखानुञ्जीवी = सौख्यसैनिक-युवा । दानमिन्नेः = अमुनि-
वर्त इवै उत्पद्ये न्वते । तैः = मुञ्चतेव । निद्वन्द्वते = व्यापद्ये ॥ ४४ ॥

लोभी राजा जाने कर्मचारियों को अविनाश रूप से धनका हिनसा न हीकर
स्वयं हृदय लेता है जिससे उसके कर्मचारी उसने किए मन से ब्रह्म नहीं करते
हैं । और जिस राजा के कर्मचारी लाजबी होते हैं वे सभी राजा के पूत होने पर
पूत जाने तथा राजा को मार डालते हैं ॥ ४४ ॥

‘समययन्ते प्रकृतिभिर्विदलयन्ति कृत्युधि ।

सुखाभियोग्यो भवति यिपयेच्चतिसत्त्वात् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—विरक्तप्रकृति युधि प्रकृतिभि सन्त्यज्यते । विषयेषु अतिसक्तिमान् सुखोभियोज्य भवति ॥ ४५ ॥

विरक्तप्रकृति = उदासीनप्रज, विरक्ता उदासीना प्रकृतय यस्य स नृप । युधि = संग्रामे । प्रकृतिभि = प्रजाभि अमात्यादिभिश्च । सत्यज्यते = विमुच्यते । विषयेषु = इन्द्रियार्थेषु । अतिसक्तिमान् = अत्यासक्त । सुखाभियोज्य = अनायासवश्य भवति ॥ ४५ ॥

जिस राजा के मन्त्री-कर्मचारी आदि उससे प्रेम नहीं करते वे सभी युद्ध में राजा का साथ छोड़ देते हैं और जो राजा विषय वासनाओं में छिपटा हुआ होता है वह आसानी से पराजित किया जा सकता है ॥ ४५ ॥

‘अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो भवति मन्त्रिणाम् ।

अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते’ ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेकचित्तमन्त्रस्तु मन्त्रिणाम् द्वेष्य भेष्य भवति अनवस्थितचित्तत्वात् कार्यत स उपेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु = मन्त्रणायाम् च चलस्वभाव, मन्त्रापरायण । मन्त्रिणाम् = अमात्यानाम् । द्वेष्य = द्वेषार्हं भवति । अनवस्थितचित्तत्वात् = चलहृदयत्वात् । कार्यत = कार्यकाले, विग्रहे उपस्थिते सति । स = नृप । उपेक्ष्यते = उपेक्षितो भवति ॥

जिस राजा का चित्त चल और राय अनिश्चित होती है, वह राजा अपने मन्त्रियों द्वारा ही शत्रु समझा जाता है और चल चित्त होने के कारण लोग काय के समय उसकी उपेक्षा करने लगते हैं ॥ ४६ ॥

‘सदाधर्मवलीयस्त्वाद्देव ब्राह्मण निन्दकः ।

विशीर्यते स्वय ह्येष’, ‘देवोपहतकस्तथा’ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—देवब्राह्मणनिन्दक सदा अधर्मवलीयस्त्वात् हि एष देवोपहतक न्वयम् विशीर्यते ॥ ४७ ॥

देवब्राह्मणनिन्दक = देवताद्विजडिनिन्दक । सदा = सर्वदैव । अधर्मवलीयस्त्वात् = पापस्य चलवत्त्वात् । देवोपहतक = नाग्योपहत । स्वय विशीर्यते = आत्मनैव नश्यति ॥ ४७ ॥

सदा अधर्म वली होने से देवता और ब्राह्मण की निन्दा करने वाला अधर्म-चल से युक्त होने के कारण तथा नाग्य का मारा हुआ राजा अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

‘सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।

इति दैवपरो ४८ न विचेष्टते’ ॥ ४८ ॥

अन्वयः—ईवपरः सम्पत्तेः विपत्तेश्च ईवमेव हि कारणम् इति व्याप्त्यु-
क्तपत्ता न विवेहते ॥ ४८ ॥

ईवपरः—माय्यबाही । ईवमेव—माय्येव । हि—विश्रयतेन कारणम्—हेतुः ।
इति व्याप्त्यु—एवं चिन्तयन् । न विवेहते—कर्मण्यकर्मणि न भवति ॥ ४८ ॥

सम्पत्ति और विपत्ति का होते बाका केवल माय्य होता है एक प्रकार
माय्य के बहीन रहने बाका राका स्वयं ठीक-ठीक प्रयत्न नहीं करता है अतः
वह भी गड़ हो जाता है ॥ ४८ ॥

‘बुद्धिबन्धस्यसती येव स्वयमेव विपत्तिरिति ।

बन्धस्यसत्त्वस्य योर्दुःखं चिन्तितं जायते’ ॥ ४९ ॥

अन्वयः—बुद्धिबन्धस्यसती न ** न जायते ॥ ४९ ॥

बुद्धिबन्धस्यसती—बुद्धिबन्धस्यापबाधस्तत् । ईव स्वयमेव—आत्मवर्षव । विपत्तिरिति—
व्याकुलो भवति । बन्धस्यसत्त्वस्य—संश्लेषावबाधस्तस्य । योर्दुःखं—विश्रयणीयम् ।
चिन्तितं—सामर्थ्यम् । न जायते—नोद्भवति ॥ ४९ ॥

बन्धस्य की विपत्ति में पडा हुआ राका स्वयम् बुद्धी होता है और संश्लेष
विपत्ति में पडे हुए राका में कुछ करने की शक्ति ही नहीं होती है ॥ ४९ ॥

‘अवेष्टास्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हृष्यते ।

प्राहोऽक्षीयानपि जले गच्छेन्ममवकर्षति’ ॥ ५० ॥

अन्वयः—अवेष्टास्थः हि स्वल्पकेनापि रिपुणा हृष्यते कस्मीयान् अपि जले
जले कर्षेन्मम् अवकर्षति ॥ ५० ॥

अवेष्टास्थः—अनुचितवैशेष्यः । हि—विश्रयतेन स्वल्पकेन—तुच्छवर्षेण सामान्येव ।
रिपुणा—सन्धुता । हृष्यते—विनाशकृते । अक्षीयान्—कल्पकाव् अपि । प्राह—
मकर । कर्षेन्मम्—बुद्धिकार्यं नभम् अपि । अवकर्षति—अवकर्षति ॥ ५० ॥

बुरे स्थान में बडा हुआ राका छोटे घन्धुकी हाथ की आछापी से माघ
जाता है जैसे बल में पडे हुए हाथी को छोटा-सा मकर मार सकता है ॥ ५० ॥

‘बहुधाभुस्तु सान्द्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।

वेनेय गच्छति पथा तेनेयास्तु विपद्यते’ ॥ ५१ ॥

अन्वयः—श्येनमध्ये कपोतवत् सान्द्रस्त बहुधाभु वेनेय पथा गच्छति तेनेय
वागु विपद्यते ॥ ५१ ॥

श्येनमध्ये=पत्त्रिमध्ये (बाजो के बीच में) । कपोतवत् = पारावतसदृश । बहुशत्रु = बहुरिपु नृप । सन्त्रस्त. = शत्रुणा भीत सन् । येनैव पथा=येनैव मार्गेण । आशु=शीघ्रम् । विपद्यते=विपत्तिमाप्नोति ॥ ५१ ॥

बहुत शत्रुओं वाला राजा बाज के बीच में पड़े हुए कबूतर के समान पीड़ित रहता है और जिस मार्ग से जाता है उसी मार्ग में शीघ्र ही मारा जाता है ॥

‘अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।

कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः’ ॥ ५२ ॥

अन्वयः—निशीथे कौशिकेन हतज्योति वायस इव कालयोधिना अकाल-युक्तसैन्यस्तु हन्यते ॥ ५२ ॥

निशीथे=अर्द्धरात्रे । हतज्याति =नष्टनेत्रद्युति । वायस =काक । इव=यथा । कौशिकेन = उल्लूकेन । कालयोधिना=अनुकूलावसरे युद्धकारकेण शत्रुणा । अकालयुक्तसैन्य =असमये सैन्यसंचालक नृप । हन्यते=मार्यते ॥ ५२ ॥

जो राजा अवसर का ध्यान रखे बिना दूसरे राजा पर चढाई कर देता है वह समयानुसार युद्ध करने वाले राजा से उसी प्रकार मारा जाता है जैसे आधी रात के समय दिखाई न देने के कारण कौवा उल्लू द्वारा मारा जाता है ॥५२॥

‘सत्यधर्मव्यपेतेन सन्दध्यान्न कदाचन ।

स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्’ ॥५३॥

अन्वयः—सत्यधर्मव्यपेतेन कदाचन न सन्दध्यात् स सन्धित अपि असाधु-त्वात् अचिरात् विक्रियाम् याति ॥ ५३ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन=सत्यधर्मरहितेन, न सन्दध्यात्=सन्धि न कुर्वीत । सन्धित = सन्धिना युक्त अपि । असाधुत्वात्=दुष्टप्रकृतित्वात् । विक्रियाम्=विकारम्, निरोधम् । याति=प्राप्नोति ॥ ५३ ॥

सत्य तथा धर्म से हीन राजा के साथ कमी भी सधि नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह सधि करने पर भी दुष्टता के कारण शीघ्र ही विगड़ जाता है अर्थात् संधि के नियमों का पालन करना छोड़ देता है ॥ ५३ ॥

अपरमपि कथयामि—सन्धि-विग्रह-यानासन-संश्रय-द्वैधी-भावाः पाङ्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुष-द्रव्य-सम्पत्, देश-कालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्च (शक्ति) पञ्चाङ्गो मन्त्रः । साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्तिः, मन्त्र-

शक्तिः प्रभुशक्तिरूपेति शक्तिश्रयम् । एतत्सर्वमाशोष्य तित्त्वं
विजिगीषवो भवन्ति महास्तः । यतः—

सन्धि = सन्ध्यायम् । विग्रह = पुङ्गवम् । याम् = रिपुम् प्रति शक्तिश्रयम्
(यद्वाह्यं) । आसक्तम् = दुर्गादीं स्त्रिणा उचिषावसरस्य प्रतीकम् । संभव =
व्यवसायव्ययम् । द्वितीयाभाः = द्विधा व्यवहारः । कर्मणाम् = कार्याणाम् । आरम्भो-
पाम् = आरम्भस्य प्रकलनम् । पुण्यव्ययसम्पत् = पुण्यवानाम् = सर्वस्वारीणाम् सहाय-
कालाम्, इत्यस्य = अनवाप्त्यादेव सम्पत् = समृद्धिः । ईशकालविनाय = देवकाल-
(कुरु कथा च) भेदेन वर्तन्निश्चयः । विनिपातप्रतीकार = विपत्ते प्रतीकारः ।
विजिगीषव = विजयामित्तायुक्तम् ॥

बीर भी कइ रहा हूँ— सन्धि युद्ध यद्वाह्यं सन्धि की प्रतीक्षा करने के
बली का भाव्य है। तथा शेरकी नीति प्रकृत करना—ये राजनीति के क
गुण होते हैं । कार्यों के आरम्भ करने का उपाय सहायक व्यक्तियों तथा उचित
इत्ये वा संघर्ष ईश-काल का उचित विनाय भाई हुई विपत्तियों के दूर करने
के उपाय बीर कार्य की शक्ति—यह पाँच मन्त्रों के अर्थ होते हैं । धाम दाम
वन्द्य और भेद—ये चार शत्रु को बस में करने के उपाय होते हैं । उत्साह,
मन्त्रों तथा प्रमुख यह राज्य की तीन शक्तियाँ होती हैं । मन्त्रों सोच इन सभी
बातों का विचार करके श्री शत्रु की जीतने की अभिलाषा करते हैं । क्योंकि—

या हि प्राणपरित्यागमूर्ख्येनापि न सम्पत्ते ।

सा भीर्नीतिविहं पश्य अश्नुषापि प्रघाथति ॥ ५४ ॥

अन्वयः—या (भी) प्राणपरित्यागमूर्ख्येनापि न सम्पत्ते सा भी अश्नुषापि
नीतिविहं प्रघाथति इति परम् ॥ ५४ ॥

या भी = या कर्मणी । प्राणपरित्यागमूर्ख्येनापि = मूर्खे भीषितवानेनापि । नीति-
विहम् = नीतिशून्यम् । अश्नुषापि = अश्वकर्मणामपि । प्रघाथति = अश्वकर्मणामपि ।
इति परम् = अश्वकर्मणामपि ॥ ५४ ॥

जो कर्मणी प्राणत्यागकर्मणी मूर्ख शत्रुओं पर भी नहीं प्राप्त होती है वही
कर्मणी नीतिमान राजा के पास अपने आप बीड़ी हुई बातों है ॥ ५४ ॥
नया शोचन्— यिच्छं सदा यस्य सम यिच्छं,

गृह्यन्त संनिवृत्तस्य मन्त्रः ।

न चाभिर्यं प्राणेषु यो प्रपीति,

स सागरार्ता पृथिवीं प्रघाथति ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यस्य वित्त सदा समं विभक्तम्, चर गूढ. मन्त्रश्च संनिभृतः, य. प्राणिषु अप्रियं न व्रवीति स सागरान्ता पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ५५ ॥

यस्य=राज्ञ । वित्तम्=धनम् । समं विभक्तम्=सेवकेषु तुल्यभावेन विभक्तम् । चरः=गुप्तचर । सवदा गूढ = सर्वदैव अत्यंतगोप्यभावेन विचरति । मन्त्रश्च संनिभृत = यस्य मन्त्रणाविषय अतिमुगुप्त । य प्राणिषु=समस्तप्रजासु । अप्रियं न व्रवीति=प्रियवाग्भवति । स समुद्रान्ताम्=प्रासमुद्राम् । पृथ्वीं शास्ति = चक्रवर्ती नुर भवति ॥ ५५ ॥

जो राजा अपनी सम्पत्ति को अपने सेवकों में समान रूप से बाँट देता है, जिसके गुप्तचर तथा मन्त्रणाएँ अत्यन्त गुप्त होती हैं और जो कभी किसी से कटुमापण नहीं करता वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करता है ॥ ५५ ॥

किन्तु देव ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण सन्धानमुपन्यस्तं, तथापि तेन राज्ञा सम्प्रति भूतजयदर्पांश्च मन्तव्यम् । (देव !) तदेवं क्रियतां—सिंहलद्वीपस्य महाबली नाम सारसो राजास्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु । यतः—

महामन्त्रिणा=मयूरस्य चित्रवर्णस्य प्रधानमन्त्रिणा । सन्धानम् = सधिम् । उपन्यस्तम्=राज्ञ सम्मुखे उपस्थापितम् । सम्प्रति = इदानीम् । भूतजयदर्पां=पूर्वं प्राप्तविजयामिमानात् । न मन्तव्यम् = न स्वीकरिष्यति । कोपम् = क्रोधम् । जनयतु=उत्पादयतु ॥

किन्तु राजन्, यद्यपि महामन्त्री गृध्र ने सधि का प्रस्ताव उपस्थित किया किन्तु इस समय राजा चित्रवर्ण प्राप्तविजय के अमिमान से उसे स्वीकार नहीं कर रहा है इसलिए ऐसा कीजिय—सिंहल द्वीप का राजा महाबली सारस, जो हम लोगो का मित्र है, उसे जम्बुद्वीप के प्रति क्रुद्ध करा दीजिए ।

‘सुगुप्तिमाधाय, सुसंहतेन

बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।

सन्तापयेद् येन समं सुतप्त-

स्तप्तेन सन्धानमुपैति तप्तः’ ॥ ५६ ॥

अन्वयः—वीर सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन बलेन विचरन् अरातिम् सन्तापयेत् येन स समं सुतप्त भवेत् हि तप्तेन तप्त सन्धानम् उपैति ॥ ५६ ॥

वीर = बलवान् नृप । सुगुप्तिमाधाय=अत्यन्तप्रच्छन्नभावं विधाय । सुसंह-
तेन=परस्परमनुरक्तेन, सुसंगठितेनेत्यर्थ । बलेन=सैन्येन सह । विचरन्=इतस्तत्.
अमन् । अरातिम्=शत्रुम् । सन्तापयेत् = पीठयेत् । येन स = यस्मात्कारणात् स

वन् । समम्—सुखमेव संततः—वीक्षितं—उत्तमम् । तप्तौन—उत्तमौनं वीक्षितेन
 च सङ्गः । तप्तं—उत्तमं । वीक्षितं । सम्मानमुपैति—सन्निभम् प्राप्नोति ॥ ५९ ॥

क्योंकि—

विषय की अपेक्षाया रखनेवाले को जगती रक्षा का हङ्ग क्याव करते
 सुसंभळित होता लेकर इतर-उतर भूमते हुए वन् को वलीमति वीक्षित करण
 चाहिए, उसे संताप पहुँचाना चाहिए, जिससे वह भी अपने ही समान संतत हो
 जाय तभी वह संनि कर सकता है क्योंकि वो सोहे नलीमति वरन हो वने
 पर ही आपस में निष्क सकते हैं ॥ ५९ ॥

राजा 'यद्यमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा चक्रं सुश्रुतलेखं
 पत्न्या सिद्धसङ्गीपं प्रहितः ।

विषय—उत्तमा । सुश्रुतलेखम्—सुखमम् । प्रहितः—प्रेषितः ।

राजा राजहंस ने कहा कि ठीक है ऐसा ही हो । फिर उसने विचित्र नाम
 वाले बगुने को बुझाकर नीर उसे पुन पन लेकर सिद्धसङ्गीप भिज दिया ।

अथ प्रणिधिः पुनरागत्योपाद्य—'देव ! भूपतां तावत्प्रत्य-
 प्रस्तायाः—एवं तत्र शूभ्रेणोक्तं—'देव ! मेघचर्चस्तत्र हिरमुषितः,
 स वेत्ति किं सम्प्रेषणुष्ययुक्तो हिरण्यगर्भो राजा, न वा'—इति ।
 ततोऽसौ मेघचर्चैस्त्रिजनेन राजा समाहूय पृष्टः—'वायस !
 कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो राजा ? । अक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः' ।
 वायस उवाच—'देव ! स हिरण्यगर्भो राजा पुषिष्ठिरसमो
 महाशयः सत्यदाकः । अक्रवाक—समो मन्त्री न काप्यवसोक्त्वते'
 राजाह—'यद्येवं तद्वा कथमसी त्वया वक्षिता ? । सिद्धस्य मन्त्रवर्ग-
 प्राह—'देव !

प्रणिधिः = प्रयागगुहचर । उपत्यप्रस्ताय = तावत्प्रत्य-
 प्रस्तुतम् । हिरमुषिण = बहुकालपर्यन्तस्थितः । वेत्ति = जानाति । महाशयः =
 पदारह्वयम् ।

उसके बाद गुहचर ने फिर जाकर कहा—'राजन्, प्रभुपक्ष में अब जो हो
 रहा है उसे सुनिए । वहाँ मंत्री वृद्ध ने कहा कि—'राजन्, मेघचर्च तो वहाँ
 बहुत दिनों तक रहा है । उसे जानूँ है कि राजहंस तबि करते के पुनो के
 यवन है वा नहीं । तब राजा विचरण के मेघचर्च का बुझाकर पूछ—'कौ-
 न्से वह राजा । उन्मन्त्र कौता है ? और मन्त्री अक्रवाक कौता ? कौसे ने कहा—
 वह राजा हिरण्यगर्भ मुचिष्ठ के समान उदार और सत्यवारी है । अक्रवाक के
 समान मंत्री तो मन्त्री मन्त्री दिखाई बहुत । राजा विचरण ने कहा तबि देवी

त है तो तुमने उसे कैसे धोखा दिया । हंस कर कीवे ने कहा—राजन्,

‘विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।

अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्’ ॥ ५७ ॥

अन्वयः—विश्वासप्रतिपन्नानाम् वञ्चने का विदग्धता (अग्नि) हि अङ्कमारुह्य सुप्तम् हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ ५७ ॥

विश्वासप्रतिपन्नानाम् = विश्वासभूमिमुपगतानाम्, वञ्चने = प्रतारणे । का विदग्धता = किं चातुयम् । अङ्कमारुह्य = क्रोडमासाद्य । सुप्तम् हत्वा = सुप्तजनम् व्यापाद्य । किं नाम पौरुषम् = किं पराक्रम ॥ ५७ ॥

विश्वाम मे पढे हुए लोगो को धोखा दे देने मे कौन-सी चतुराई है ? गोदु मे आकर सोए हुए व्यक्ति को मार डालने मे कौन सी बहादुरी है ॥ ५७ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शने एव विज्ञातः । किन्तु महाशयोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्धः । तथा चोक्तम्—

तेन = चक्रवाकेण । प्रथमदर्शने = प्रथमप्रत्यक्षे । विज्ञात = तत्त्वत ज्ञातः, ‘गुप्तचरोऽहम्’ इति ज्ञातवान् इत्यर्थ । महाशयः = उदारहृदय । तेन = उदार-हृदयत्वन । विप्रलब्ध = प्रतारित ।

राजन्, उम मन्त्री ने तो मुझे देखते ही देखते पहचान लिया था किन्तु वह राजा अत्यन्त उदार है इसीलिए मैंने उसे धोखा दे दिया । जैसा कि कहा भी गया है—

‘आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।

स तथा वञ्च्यते घूर्त्तर्त्राक्षिणश्छागतो यथा’ ॥ ५८ ॥

अन्वयः—य दुर्जनम् आत्मौपम्येन सत्यवादिनम् वेत्ति स घूर्त्त तथा वञ्च्यते यथा ब्राह्मण छागत (वञ्चित) ॥ ५८ ॥

दुजनम् = दुष्टमपि । आत्मौपम्येन = आत्मसदृशेन । सत्यवादिनम् = सत्याचरणम् । वेत्ति = जानाति । वञ्च्यते = प्रतार्यते । छागत = छागप्रसंगेन ॥ ५८ ॥

जो व्यक्ति अपने समान ही दुष्ट को भी सत्यवादी समझता है वह उसी प्रकार ठगा जाता है जैसे बकरे के प्रसंग मे घूर्त्तो ने ब्राह्मण को ठग लिया था ॥

‘राजोवाच—कथमेतत् ? । मेघवर्णः कथयति—

राजा ने कहा—वह कैसे ?—मेघवर्ण ने कहा—

कथा ९

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतपत्रः कश्चिद् ब्राह्मणः । स ब्रह्मार्थं ब्रामान्तराच्छागमुपकीय, स्कन्धे नीत्या गच्छन्पूर्ववर्तमानं ब्रह्मोक्तिः । ततस्तं ब्रूतोः— यद्यपि श्छागाः केवाप्युपायेन कल्पते, तथा मतिप्रकर्षो भवतीति समाहोष्य, ब्रह्मप्रयत्ने कोशात्तरक तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य, पथि स्थिताः ।

प्रस्तुतपत्रः=ग्रन्थं कर्तुं प्रस्तुतः । ब्रामान्तरात् = ब्रह्मस्मात् ब्रामान् । ब्रह्मण्यम् (ब्रह्मणः) । उपकीय=मुन्येनावाच । ब्रह्मोक्तिः=ब्रह्म । कल्पते=प्राप्यते । मतिप्रकर्षः = बुद्धिचातुर्यम् । समाहोष्य=विचार्य । कोशात्तरक= ब्रह्मणः कोशात्तरक प्रवाचाद् बुद्ध्यात्मानम् अधःप्रवेष्टे । प्रतीक्ष्य = प्रतीक्षां कुर्यात् । पथि=मार्गे ।

गौतमारण्य में एक ब्राह्मण यह करना चाहता था । वह ब्रह्म के किसे किती भाव में थाकर एक बकरा खरीदकर उसे कंधे पर रखकर के जा रहा था कि रास्ते में उसे तीन बूतों ने देखा और विचार किया कि अगर किसी तरह वह बकरा मिल जाय तो हम लोगों की बुद्धि को चतुराई समझी जाय । वह सोचकर वह तीनों एक-एक जोत की दूरी पर तीन पेड़ों के नीचे बड़े होकर ब्राह्मण के आगे की बात बोलने लगे ।

तत्रैकेन ब्रूतेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—‘भो ब्राह्मण ! किमिति त्वया कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते । यिमेवोक्तं—‘नार्यं न्या किन्तु यदच्छागा । अथात्तरस्थितेनाम्येन पूर्तेन तथैवोक्तम् । तथाकर्ण्य ब्राह्मणस्तथायं भूमौ निधाय मुहुर्निरोक्ष्य पुनः स्कन्धे हृत्या दोलायमानमतिब्रह्मिष्ठः । यथाः—

उह्यते=नीचने । भूमौ निधाय=बुद्धिपूर्वकं संस्थाप्य । मुहुः=पुनः । निरोक्ष्य=कल्पतरुत्वेन इत्यादि । दोलायमानमतिः=यथाकुक्कुरमुक्तिः । ब्रह्मिष्ठः=अपेक्षितम् ।

तब अपने पास के जाते हुए ब्राह्मण को देखकर एक बूत ने ब्रह्मणें कहा— पुन बूते को क्यों ब्रह्मणें कंधेपर के जा रहे हो ? ब्राह्मण ने कहा—वह दुष्ट नहीं है यह तो ब्रह्म का बकरा है । फिर पीड़ी दूर स्थित बूतेने बूतों ने भी बोली कहा तब वह पुन कर ब्राह्मण बकरे की नृपरी पर रख कर, बार-बार देखकर और फिर कंधे पर रखकर ब्रह्मणें के बड़ा हुआ जाने लगा । क्योंकि—

‘मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोकितमिः ।
तामिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत्’ ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सतामपि मति खलोकितमि सत्यम् दोलायते असौ तामि
विश्वासित चित्रकर्णवत् म्रियते ॥ ५९ ॥

सतामपि=सजनानामपि । मति =बुद्धि । खलोकितमि =दुष्टवचन । सत्यम्=
नूनम् । दोलायते=चंचला भवति । तामि = दुष्टवचन । विश्वासित = विश्वास-
मुपनीत । म्रियते=मृत्युं प्रप्नोति ॥ ५९ ॥

सजनों की बुद्धि भी दुष्टों की बातों से चंचल हो जाती है और वे उसकी
बातों का विश्वास करके उसी प्रकार मारे जाते हैं जैसे चित्रकर्ण मारा गया था ॥

राजाह—कथमेतत् ? स कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा १०

अस्ति कस्मिंश्चिद्ब्रह्मदेशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य
सेवकास्त्रयः काको, व्याघ्रो, जम्बुकश्च । अथ तैर्भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्ट
कश्चिदुष्टो दृष्टः, पृष्टश्च—‘कुतो भवानागतः सार्थाद् भ्रष्टः’ ? । स
चात्मवृत्तान्तमकथयत् । ततस्तर्नीत्वा सिंहायासौ समर्पितः । तेन
चामयवाच दत्त्वा, ‘चित्रकर्ण’ इति नाम कृत्वा, स्थापितः ।

ब्रह्मदेशे=वनप्रान्ते । काक =वायस । जम्बुक =शृगाल । भ्रमद्भिः =हतस्तत
विचरद्भिः । सार्थभ्रष्ट =वणिक्सघातच्युत । आत्मवृत्तान्तम्=स्वकथाम् । अमय-
वाचम्=प्राणदानम् ।

किसी जगल में मदोत्कट नाम का एक सिंह था उसके तीन सेवक थे, एक
कौवा, दूसरा बाघ और तीसरा गीदड़ । उन तीनों ने धूमते घामते ब्रह्मियों के
सघ से छूटे हुए किसी ऊँट को देखा और पूछा—आप सघ से बिलुड कर कहीं
से आ रहे हैं ? इस पर ऊँट ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया तब उन तीनों ने
उसे ले जाकर सिंह को समर्पित कर दिया । उसने उसे अमयदान देकर उसका
नाम चित्रकर्ण रखा और अपने पास रख लिया ।

अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहार-
मलममानास्ते व्यग्रा बभूवुः । ततस्तैरालोचितम्—चित्रकर्णमेव

यथा स्वामी स्वभावात्पति तथानुष्ठोयताम् । किमनेन कष्टकमुखा-
स्माकम् ? ।

व्याज उवाच—‘स्वामितामसदासं स्वभानुपुष्टीतोऽयं तत्कथ-
मथ सम्भवति’ ? । काको प्रुते—इह समये परिशीलः स्वामी
पापमपि करिष्यति’ । यतः—

घटीरर्षकस्यात् = देहास्वात्स्यात् । मूरिवृत्तिकारणात् = बधिरवृत्तपानेन ।
बाहुरम् = मोक्षतम् । बकयमाना = ब्रह्मानुष्ठाना । व्याज = व्याजुता । व्याज-
वति = इति । अनुष्ठीयताम् = क्लिपताम् । कष्टकमुखा = कष्टकमौखिना । बस्माकम्
विम् = अस्याकम् विम् प्रयोक्तव्यम् । अनुष्ठीयताम् = अनुष्ठीयताम् स्वाधये रक्षितम् । इह
समये = घटीरर्षकस्यात् बकयमानोऽग्रावसरे । परिशील = अनुष्ठानवतिविरघ ।
पापम् = अनुष्ठानाचरणम् ।

एक बार सिद्ध के अस्वस्व हो जाने तथा बहुत बधिक पानी बरसने के
कारण मोक्ष न मिलने से वे बहुत व्यथ हुए । फिर उन सबो ने विचार किया
कि ऐसा क्या करना चाहिए जिससे स्वामी विभक्तिकर्ष को ही मारें । इस बीच
जाने जाके से हम लोगों का प्रवीणता हा क्या है ? इस पर व्याज ने कहा कि
स्वामी ने नमस्कार देकर इस पर इना की है मउ- ऐता कहे ही सकता है ?
कैसे ने कहा—इन समय स्वामी मूल से व्याजुत है अउ वह पाप कर्म भी कर
सकते हैं । क्योंकि—

‘त्यजेत्सुधात्तां महिका स्वपुत्रं
प्रादेत्सुधात्तां मुञ्चती स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं

शीघ्रा मदा निष्कलना मवन्ति’ ॥ ६० ॥

अन्वयः—सुधाती महिका स्वपुत्रं त्यजेत्, सुधाती मुञ्चती स्वमण्डम् प्रादेत्,
बुभुक्षित किं पापम् न करोति (वतः) शीघ्रा मदा निष्कलना मवन्ति ॥ ६० ॥

सुधा = सुभुक्षणा वीक्षिता । महिका = मही । स्वपुत्रम् = स्वपुत्रमपि । त्यजेत् =
वित्त्यजति । मुञ्चती = लक्ष्मी । स्वमण्डम् = स्वामण्डम् । प्रादेत् = मज्जति ।
बुभुक्षित = पुत्रित । पापम् = पापारचरणम् । शीघ्रा = विवृष्टताः । मदाः =
मनुष्या । निष्कलना = निष्कलनवृत्ता ॥ ६० ॥

मूल ने व्याजुत मी करने पूर वो मी छोड देती है और बरिमी मूल ने
व्याजुत हीकर करने मण्डा का मालती है । सुधा कोन-ता पाप नहीं कर
सकता है क्योंकि व्याजुत मनुष्य वरुण से रक्षित होता है ॥ ६० ॥

अन्यच्च—‘मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः, श्रान्तः, क्रुद्धो, बुभुक्षितः ।
लुब्धो, भोरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्’ ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मत्त कामुकश्च धर्मवित् न भवति ॥ ६१ ॥

मत्त. = गर्वोद्धत । प्रमत्त = असावधान । उन्मत्त = विक्षिप्त । श्रान्त =
श्रमविह्वल । क्रुद्ध = कोपयुक्त । बुभुक्षित = क्षुधापीडित । भोरु = कातर ।
त्वरायुक्त = महसा कार्यविधायक । कामुक. = कामासक्त । न । धर्मवित् = धर्मज्ञ ।

शोर भो—अभिमानी, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधो, भूखा,
लालची, डरभोक, जल्दबाज और कामी व्यक्ति धर्मज्ञ नहीं होते हैं ॥ ६१ ॥

इति सञ्चिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः । सिंहेनोक्तम्—‘आहार-
रार्थं किञ्चित्प्राप्तम् ?’ तैरुक्तम्—‘देव ! यत्नादपि न प्राप्तं
किञ्चित् ।’ सिंहेनोक्तम्—‘कोऽधुना जीवनोपायः ?’ काको
वदति—‘देव ! स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः’ ?
सिंहेनोक्तम्—‘अन्नाहारः कः स्वाधीनः ? ।’ काकः कर्णं कथयति—
‘चित्रकर्णं’ इति । सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा, कर्णौ स्पृशति । अन्नवीक्ष-
‘अभयवाच दत्त्वा घृतोऽयमस्माभिः, तत्कथमेवं सम्भवति’ ? ।
तथा हि—

सचिन्त्य=विचार्य । सिंहान्तिकम्=सिंहस्य समीपम् । जग्मु = गतवन्त ।
आहारार्थम्=भोजनाय । जीवनोपाय = प्राणधारणस्य उपाय । स्वाधीनाहार-
परित्यागात्=निजायत्तमोज्यत्यागात् । सर्वनाश = अस्माकम् प्राणहानि । उप-
स्थित = नमुखागत । क आहार = क भोज्य । स्वाधीन = निजायत्त ।
अभयवाच दत्त्वा=प्राणदानस्य वचन दत्त्वा । घृत = स्वाश्रये रक्षित । एवं = तस्य
भारणम् । कथं संभवति=केन प्रकारेण भवितुं शक्नोति ।

यह सोच कर सभी सिंह के पास गए । सिंह ने कहा—‘क्या भोजन के
लिए कुछ मिला ?’ उन सबों ने कहा—‘राजन्, बहुत उपाय करने पर भी कुछ
नहीं प्राप्त हुआ । सिंह ने कहा तो अब जीवन का क्या उपाय है ?’ कौवे ने
कहा—‘राजन् अपने अधीन रहने वाले भोजन का परित्याग करने से ही यह
सर्वनाश उपस्थित हुआ है ।’ सिंह ने कहा—‘यहाँ कौन-सा आहार अपने अधीन
है ?’ कौवे ने कान में कहा—‘चित्रकर्णं’ । तब सिंह ने जमीन छूकर कान छुआ

बीर कहा—हम लोगों के उधे बन्धनवान बँकर रखा है इतनाए ऐसा कँते हो
 छकटा है ? क्योंकि—

‘न भूपदानं न सुवर्षदानं न गोप्रदानं न तद्यत्प्रदानम् ।

यथा यत्स्तोत्रं महाप्रदानं, सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्’ ॥ ६२ ॥

अन्वयः—सर्वेषु दानेषु यथा भयप्रदानम् महाप्रदानम् (विद्या) प्रचलित
 तथा न भूपदानम् तथा न अश्वदानम् ॥ ६२ ॥

सर्वेषु दानेषु—सर्वप्रकारेषु दानविषयेषु । भयप्रदानम् = प्रायश्चित्तम् । यथा
 प्रचलितम्—महाप्रदानम् । प्रचलितम्—प्रचलितम् । भूपदानम्—पृथ्वीदानम् ॥ ६२ ॥

पृथ्वीदानं सोमे का दानं गोदानं तथा अश्वदानं इतने बड़े नहीं कहे जाते हैं
 बितना कि सब दानों में सबसे महाप्रदान अश्वदान कहा जाता है ॥ ६२ ॥

अन्वयः—‘सर्वकामसमूहस्य अश्वमेधस्य परशक्तम् ।

तत्फलं कर्मते सम्पत् रक्षिते शारणागतं ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सर्वकामसमूहस्य अश्वमेधस्य परशक्तम् प्रवर्ति तत्फलम् परशक्तं
 रक्षिते सम्पत् कर्मते ॥ ६३ ॥

सर्वकामसमूहस्य—सर्वेषु कर्मकारिण्यम् । अश्वमेधस्य = अश्वमेधनामकम् ।
 परशक्तं—प्रायश्चित्तम् । रक्षिते = परित्राये कृते कृति । सम्पत् = पुण्यफलम् ।
 कर्मते = प्राप्नोति ॥ ६३ ॥

बीर भी—तमी अमनाबो को दुरी करने वाले अश्वमेध बत करने के जो
 कर्म प्राप्त होता है वह तमी फल अरथ मे जाए हुए की रक्षा करने के जो
 प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

काकी ग्रंथे—‘नासी स्वामिना व्यापाक्षितव्याः किम्पामानि-
 देव तथा कस्तव्यं ययासी स्वदेहदानमतीकरोति ।

नाक = नास । दूते = उवाच । मही = विभवर्षे । स्वादितर = यदोत्पद्यते ।
 स्वदेहदानम् = निजशरीरसमर्पणम् ।

बीर ने कहा—‘यामी उमे नाहिने नही बलिह इत जोर ऐसा उवाच करके
 बितने बड़े स्वयम् करने वापकी स्वामी की सर्वरिष कर देवा ।

सिद्धतच्छ्रया तूष्णीं स्थितः । ततोऽसी अश्वमेधकामः दृष्ट
 दृष्ट्वा सर्वाभावाय सिद्धान्तिक गतः । अथ काकैमोवर्त— देव !

यत्नादप्याहारो न प्राप्तः, अनेकोपवासक्लिष्टश्च स्वामी, तदिदानीं
मदीयमांसमुपभुज्यताम्' । यतः—

तूष्णीम्=मौनम् । लव्पावकाश =प्राप्तकाल । कूट कृत्वा=कपट विधाय ।
सर्वानादाय=व्याघ्रजम्बुकचित्रकर्णादीन् गृहीत्वा । सिहान्तिकम्=सिंहसमीपम् ।
गत =प्राप्त । यत्नात् अपि=प्रयत्ने कृतेऽपि । आहार =भोजनम् । अनेकोपवास-
कृश =चिरकालात् भोज्याभावेन क्षीण ।

सिंह यह सुन कर चुप रह गया । इसके पश्चात् कीचे ने अक्सर पाकर
पहपन्त्र करके सभी को लेकर सिंह के पास गया और उसने कहा—'राजन्
प्रयत्न करने पर भी भोजन नहीं मिला, आप अनेक उपवासो से बहुत कष्ट में हैं
इसलिए इस समय मेरे मांस को खाकर प्राणरक्षा कीजिए । क्योंकि—

‘स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः स्रलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्’ ॥ ६४ ॥

अन्वयः—सर्वा प्रकृतयः स्रलु स्वामिमूला भवन्ति नृणाम् प्रयत्नः समूलेषु
वृक्षेषु अपि सफल (भवति) ॥ ६४ ॥

सर्वा प्रकृतयः=समस्ता प्रजा । स्वामिमूला=नृपाश्रया । नृणाम्=मनुष्या-
णाम् । प्रयत्नः =यत्न । सफलः =समूलात् वृक्षादेव फलाशा भवति ॥ ६४ ॥

मारी प्रजा की जड़ राजा ही होता है और जड़ वाले वृक्ष में किया गया
उपाय ही लोगों के लिए फलदायक होता है अर्थात् जब जड़ ही नष्ट हो जायगी
तो फल कहाँ से प्राप्त होगा ॥ ६४ ॥

सिंहेनोक्तम्—‘मद्र ! वरं प्राणपरित्यागो, न पुनरीदृशे कर्मणि
प्रवृत्तिः ।’ जम्बुकेनापि तथोक्तम् । ततः सिंहेनोक्तं—‘मैवम्’ । अथ
व्याघ्रेणोक्तं—‘मद्देहेन जीवतु स्वामी ।’ सिंहेनोक्तं—‘न कदाचि-
देदमुचितम्’ ।

वरम्=श्रेष्ठ । प्राणपरित्यागः = मरणम् । ईदृशे कर्मणि=आश्रितस्य मास-
भोजने ।

सिंह ने कहा—मद्र, प्राण छोड़ देना तो अच्छा है किन्तु इस प्रकार के
कार्य में लगना अच्छा नहीं है । गीदड ने भी वैसे ही कहा । तब सिंह ने कहा—
नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । व्याघ्र ने कहा—‘तो स्वामी मेरे शरीर को खाकर
अपने जीवन की रक्षा करें ।’ सिंह ने कहा— यह ठीक नहीं है ।’

अथ विश्वकर्माऽपि जातयिऽन्वास्तस्त्वयैवात्मबहुदानमाह । तत
स्तद्वचनवाचनेन व्याम्रणासौ कुर्वन् विश्वकर्मा व्यापाविता, सर्वमस्ति-
तद्य । अतोऽहं प्रवीमि— मतिर्द्वौऽथावते सत्यम्' इत्यादि ॥

जातविश्वासः—ज्ञानप्रत्ययः स्वामी नावसाविबन् मायवि न मद्यविष्पति इति
विश्वस्तः इत्यर्थः । तद्वचनात्—स्वमहोत्तरार्थवशात्कथनम् ।

किर विश्वास मे माकर विश्वकर्मा ने भी अपने अहोरात्र की बात कही ।
उसही बात सुनते ही बाप ने उसके देह को फट कर मार डाला और कही ने
मिथ कर मोहन किया इसीलिए मैं कह रहा हूँ— सत्य ही बुद्धि ही बल
ही जाती है इत्यादि ।

ततस्तु-तोषधूर्त्तपञ्चमं अथवा स्वमतिभ्रमं निश्चित्य छापं
त्यप्सरा प्राह्वयः समात्वा गृहं प्रयौ । छागव्य तैर्धर्तैर्नीत्या भक्षिता ।
अतोऽहं प्रवीमि—'आत्मीयस्येभ यो वेत्ति'—इत्यादि ॥ ३३ ॥

स्वमतिभ्रमः—स्वबुद्धिपान्धम् । निश्चित्य—निर्णीत ।

उस हीसे पूर्व भी बात सुनकर अपनी बुद्धि का भ्रम जान कर वह प्राण
बकरी को छीन कर स्नान करने पर चला गया और उन बूतों के बकरी को के
भाकर जा डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो अपने समान समझता है'
इत्यादि ।

राजाह—'मेषवर्षे' । कथं हातुमस्ये त्वया सुखिरमुचितम् ।
कथं वा त्वयामनुतयः कृतः । मेषवष्य उवाच— देव । स्वामि-
कार्याभितया स्वप्रयोजनवशात्ता किं किं न क्लिषते । पश्य—

खिरमुचितम्—वस्तुवासम् विश्वासः इति । अनुतयः—वातुकारिता । स्वामि
कार्याभितया—राजकार्याभिसम्पत्केन । स्वप्रयोजनवशात्—स्वार्थसिद्धयर्थं च ।

उक्त विश्वकर्मा ने कहा—'मेषवर्षे' । तुम बचुओं के बीच में कौन बहुत दिन
तक रहे और किस प्रकार उन्हें अपना बना रखा । मेषवर्षे ने कहा—'राज्य,
स्वामी का कार्य पूरा करने के लिए तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए
बहुत क्या नहीं करना है । देखिए—

लोको वहति किं राज्ञश्च मूर्ध्ना दग्धुमिच्छतम् ।

छागव्यस्यपि वृक्षाक्षि लक्ष्मीवेद्या विह्वस्तति' ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे राजन् लोकः इत्यन्वम् दग्धुम् मूर्ध्ना किं न वहति । लक्ष्मीवेद्य
वृक्षाक्षि वाऽन्यत्पि विह्वस्तति ॥ ३५ ॥

राजन्=हे नृप । लोक =जन । इन्धनम्=शुष्ककाष्ठम् । दग्धुम्=प्रज्वाल-
यितुम् । मूर्ध्ना=शिरसा । न वहति=न धारयति । नदीवेला=सारत्पूर । वृक्षाङ्घ्रि=
तरुमूलम् । क्षालयन्ती=प्रक्षालनम् कुर्वन्ती । निकृन्तति=उन्मूलयति ॥ ६५ ॥

क्या लोग जलाने वाली लकड़ी को अपने सिर पर रख कर नहीं ले जाते हैं
और नदी की घारा वृक्षों की जड़ों (पैरों) को छोकर भी क्या उन्हें काटती
नहीं है ? ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तम्—‘स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः’ ॥ ६६ ॥

अन्वयः—कार्यमासाद्य बुद्धिमान् शत्रून् स्कन्धेनापि वहेत् । यथा वृद्धेन
सर्पेण मण्डूका विनिपातिता ॥ ६६ ॥

बुद्धिमान्=प्राज्ञ । कार्यमासाद्य=स्वार्थसिद्धयर्थम् । शत्रून्=अरीन् । वहेत्=
धारयेत् । विनिपातिता =विनाशिता ॥ ६६ ॥

कहा भी गया है—

काम पढ़ जाने पर बुद्धिमान् शत्रु को भी अपने कंधे पर ले जाता है जैसे
बूढ़े साँप ने मेढको को अपने सिर पर रख कर फिर उन्हें मार डाला था ॥६६॥

राजाह—‘कथमेतत् ?’ मेघवर्णः कथयति—

राजा चित्रवर्ण ने कहा—यह कैसे ? मेघवर्ण ने कहा—

कथा ११

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः । सोऽतिजीर्णतया स्वा-
हारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः । ततो दूरादेव
केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः, पृष्टश्च—‘किमिति त्वमाहारं नान्विष्यति’ ? ।
सर्पोऽवदत्—‘गच्छ भद्र ! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन’ ?
ततः सञ्जातकौतुक स च भेकः ‘सर्वथा कथ्यताम्’ इत्याह । सर्पोऽ-
प्याह—‘भद्र ! ब्रह्मपुरवासिनः श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विशति
वर्षदेशीयः, सर्वगुणसम्पन्नो, दुर्दैवान्मया नृशसेन दष्टः । ततस्तं
सुशीलनामानं पुत्रं मृतमवलोक्य, शोकेन मूर्च्छितः कौण्डिन्यः
पृथिव्या लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे चान्धवास्तत्राग-
त्योपविष्टाः । तथा चोक्तम्—

बीर्षोद्याने = पुरातनोपवने । अतिबीर्षतया = अतिवार्द्धक्येन । बाह्यारयि =
 मोक्षनमपि । अन्वेष्टुम् = उन्नाशितुम् । अक्षम = अक्षम्यं ; नाशियति = अन्वे-
 दय न करोति । मन्वमाप्यस्य = वैश्वदेवस्य । बुतान्तप्रवेन = बुतान्तज्ञानान्
 पुञ्जाकरत्नैः । सन्नातकीशुक = बहुसूताश्रयं । मेक = मय्युक्तं । सर्वना = अस्म-
 न्नेव । कम्पताम् = उन्मत्ताम् । शोभियस्य = वैश्वपाठिनः । विमतिवद्विधीयः =
 विमतिवदप्रश्नः । दुर्बलात् = दुर्मान्वात् । मृषतेन = निष्कृतेन । मुञ्चितः = विमुक्तः ।
 सुलोठ = पचात ।

एक उच्यते ह्यपि मयीमे मे मन्वविश नाम का एक सायि रहता था । यह
 बुढ़ा हा जाने के कारण अपना मोक्षन जोजने मे भी अक्षम ही बना था
 इसलिए तालाब के किनारे केटा पड़ा हुआ था । उसे दूर ही से देखकर एक
 मेढक ने पूछा कि—तुम अपने मोक्षन की बोध क्यों नहीं कर ले हो ? सायि ने
 कहा—मह बाबो मुझ शान्वाहीन का समाचार पूछने का कह क्यों कर रहे
 हो ? तब बाबाजी ने बड़े हृष्ट मेढक ने कहा—जाप अपनी पूरी कहानी अपने
 मुखाद्मे । इस पर सायि ने कहा—‘ब्रह्मपुर मे रहने वाले वैश्वपाठी कौण्डिन्य के
 सभी पुत्रो से कुछ बीस वर्ष की अवस्था वाले पुत्र को बुर्जा से मुक्त विष्णु ने
 काट किया जिसने सुधील नाम बाधे अपने पुत्र को मरत हुआ देख कर कौण्डिन्य
 गोक ने मुञ्चित शीकर पुत्रो पर लोटने लगा । इसके बाद ब्रह्मपुर के उसके
 सभी पाई-बन्धु बर्षा गए । बीधा कि कहा भी गया है—

‘उरस्तवे, कथस्तने मुञ्च बुमिसे, राप्पुविष्णवे ।

राजद्वारे स्मद्याने च पस्तिष्ठति, स बाण्यथा’ ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अस्तवे त बाण्यथा (अस्ति) ॥ ६७ ॥

उरस्तवे = शान्वापूर्वजनारोहे । अस्तने = विपत्ती । बुढे = विपद्दे । बुमिसे =
 अक्षमकटे । राप्पुविष्णव = राम्यप्रान्ती । राजद्वारे = राजमुद्दे । च = तिष्ठति = च
 सन्नातकी शूलना उपस्थित मवति ॥ ६७ ॥

अन्वय विपत्ति बुढ बुमिसे राप्पुविष्णव राजद्वार और स्मद्याय बुमि
 से जो माप होता है वही पाई-बन्धु कहा जाता है ॥ ६७ ॥

तत्र कपिळा नाम स्नातकोऽपहत्—‘अरे कौण्डिन्य ! मूढोऽसि,
 येनैवं विमपसि । मृशु—

स्नातक = वैश्वदेवस्यारपत. ब्रह्मपाठी । मूढोऽसि = अज्ञः प्रतिभाधि । विमपसि =
 रोदिति ।

यही कविल नाम के स्नातक ने कहा—‘अरे कौण्डिन्य तुम बड़े मूढ हो जो
 उन प्रकार विमप कर रहे हो । तुमो—

‘क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।

घात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य कः क्रमः’ ? ॥ ६८ ॥

अन्वयः—यदा प्रथमम् घात्रीव अनित्यता क्रोडीकरोति पश्चात् जननी, तदा शोकस्य कः क्रमः ? ॥ ६८ ॥

प्रथमम्=आदौ । जातम्=उत्पन्नम् शिशुम् । घात्रीव = उपमातेव । अनित्यता, क्रोडीकरोति=अङ्गे स्यापयति । जननी=माता । शोकस्य=पश्चात्तापस्य । कः क्रमः =क. कालः ? ॥ ६८ ॥

उत्पन्न होने वाले बालक को सबसे पहले अनित्यता ही दाई के समान अपनी गोद में लेती है, फिर माता लेती है अतः शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

तथा च—‘क गताः पृथिवीपालाः ससैन्यवलवाहनाः ।

वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति’ ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ससैन्यवलवाहना पृथिवीपालाः क्व याता येषाम् वियोगसाक्षिणी भूमिः अद्यापि तिष्ठति ॥ ६९ ॥

ससैन्यवलवाहना=सेनापौरुषवाहनादिसहिता । पृथ्वीपाला=नृपा । क्व=कुत्र । गता=प्रस्थिता । येषां=नृपाणाम् । वियोगसाक्षिणी=विरहसाक्षीभूता । भूमिः=पृथिवी । अद्यापि=इदानीमपि । तिष्ठति=स्थिताऽस्ति ॥ ६९ ॥

सेना, पराक्रम और अपने हाथी-घोड़ों के साथ वे राजा लोग कहीं चले गए जिनके वियोग की साक्षिणी (गवाह) यह पृथ्वी आज भी पढी हुई है ॥ ६९ ॥

तथा च—‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

अथ वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः’ ॥ ७० ॥

अन्वयः—जातस्य मृत्युः ध्रुवः मृतस्य च जन्म ध्रुवम् । अथ वाब्दशतान्ते वा प्राणिनाम् मृत्युः ध्रुवः ॥ ७० ॥

जातस्य=शरीरधारिणः । ध्रुवः = निश्चयः । अथ = अस्मिन्नेव दिने । वाब्दशतान्ते=षट्शतान्ते वा । प्राणिनाम्=शरीरधारिणाम् ॥ ७० ॥

जो पैदा हुआ है उसको मृत्यु अवश्य होगी और जो मरा है उसका जन्म अवश्य होगा आज अथवा सैकड़ों वर्षों के बाद प्राणियों की मृत्यु निश्चित है ॥ ७० ॥

अपत्तम्—'कायाः संनिहितापायाः, सम्पद्ः पद्मापवाम् ।

समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि मङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कायः सन्निहितापायः सम्पद्ः अपवाम् परम् समागमाः सापगमाः सर्वम् उत्पादि मङ्गुरम् ॥ ७१ ॥

काय = शरीरम् । सन्निहितापायः = विवाहोत्सुक् । सम्पद् = सम्पत्तः । अपवाम् = विपवाम् । परम् = स्वानम् । समागमाः = संयोगः । सापगमाः = विपद् भुक्ताः । उत्पादि = ज्ञानमालम् । मङ्गुरम् = विवस्वरम् ॥ ७१ ॥

शरीर शरीर प्रतिक्षण वासवात् इ प्रति विपत्तिर्षो का स्थाव ई विवस्व विवोव से पूर्व ई शरीर शरीर उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ नाश होने वाली ई ॥

'प्रतिक्षणमर्थं कायाः क्षीयमाणो न कल्पते ।

नामङ्गुम् इवाग्मःस्थो विधीर्षः सन्निभाप्यते' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रतिक्षणम् क्षीयमाणः अर्थम् कायः न कल्पते अग्मःस्थः प्रापङ्गुम् इव विधीर्षः सन् निभाप्यते ॥ ७२ ॥

प्रतिक्षणम् = प्रतिपक्षम् । अर्थं कायः = वेदः । क्षीयमाणः = विवस्वरतां प्राप्नोति । न कल्पते = न कल्पते । अग्मःस्थः = अक्षयितः । प्रापङ्गुम् = अपवत्तः । विधीर्षः = अक्षयितः सन् । निभाप्यते = अतीयते ॥ ७२ ॥

जब शरीर प्रतिक्षण तब शरीर रहता है किन्तु विद्याई नहीं पकता है केवल बँधे पानी में पका हुआ कच्चा बटा बटा जाने पर विद्याई पकता है तभी प्रकार शरीर के तब ही जाने पर ही उत्तका नाश हो जाना मान्य होता है ॥ ७२ ॥

'वासघतरतामेति मृत्युर्लन्तोर्दिने-दिने ।

वाघातं नीयमानस्य अल्पस्यैव परे परे' ॥ ७३ ॥

अन्वयः—वाघातं नीयमानस्य अल्पस्यैव परे-परे इव अन्तो मृत्युः दिने दिने वासघतरताम् एति ॥ ७३ ॥

वाघातम् = अल्पमृत्तिम् । नीयमानस्य = प्राप्यमानस्य । अल्पस्यैव = अल्पस्यैव नीयस्य । परे-परे = अतिपक्षम् । अन्तोः = प्रापितः । मृत्युः = मरणम् । दिने दिने = प्रतिदिनम् । वासघतरताम् = अतिघमिकृताम् । एति = प्राप्नोति ॥ ७३ ॥

मृत्यु प्रतिदिन प्रापितो के समीर जाती जाती है अति अल्पमृत्ति में से वाघात जाता हुआ प्राणी पद-पद में मृत्यु के अन्तिम होता जाता है ॥ ७३ ॥

यतः—‘अनित्यं यौवनं, रूपं, जीवितं, द्रव्यसञ्चयः ।

ऐश्वर्यं, प्रियसंवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डितः’ ॥ ७४ ॥

अन्वयः—यौवनं • प्रियसंवास अनित्यम् (अत) पण्डित. तत्र न मुह्येत् ॥

यौवनम्=तारुण्यम् । रूपम्=सौन्दर्यम् । जीवितम् = प्राणितम् । द्रव्यसञ्चय = धनसंग्रह । ऐश्वर्यम्=समृद्धिः । प्रियसंवास =प्रियसमागम । पण्डित = विवेकी । न मुह्येत्=मोह न गच्छेत् ॥ ७४ ॥

जवानी, सुन्दरता, जीवन, धन का संचय, ऐश्वर्य और प्रिय लोगो का समागम अनित्य होते हैं इसलिए विद्वानो को चाहिए कि वे इन विषयो में आसक्त न हो ॥ ७४ ॥

‘यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।

समेत्य च व्यपेयाता तद्वद्भूतसमागमः’ ॥ ७५ ॥

अन्वयः—महोदधौ यथा काष्ठम् च काष्ठम् च समेयाताम् समेत्य च व्यपेयाताम् तद्वत् भूतसमागम (अपि भवति) ॥ ७५ ॥

महोदधौ=महासागरे । समेयाताम्=सम्मिलितो भवेताम् । समेत्य = सगम्य च । व्यपेयाताम् = वियुक्तो भवेताम् । तद्वद्=तेनैव प्रकारेण । भूतसमागम = प्राणिनां सयोग ॥ ७५ ॥

जैसे समुद्र मे एक लकड़ी दूसरी लकड़ी से मिल जाती है और मिलकर पुन अलग हो जाती है उसी प्रकार प्राणियो का मिलन भी विच्छुडने के लिए ही होता है ॥ ७५ ॥

‘यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।

विधम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः’ ॥ ७६ ॥

अन्वयः—यथा पथिक तद्वत् भूतसमागम ॥ ७६ ॥

यथा=येन प्रकारेण । पथिक = पान्य । छायां = तरुच्छायाम् । आश्रित्य = अवलम्ब्य । तिष्ठति=विश्राम्यति ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार राही किसी पेड की छाया का आश्रय लेकर उसके नीचे बैठता है और कुछ देर विश्राम करके फिर चला जाता है उसी प्रकार प्राणी भी इस संसार मे कुछ देर तक आपस मे मिलकर रहते हैं और फिर एक दूसरे को छोड कर चल देते हैं ॥ ७६ ॥

अन्यच्च—‘पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्वं च पुनर्गते ।

स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना ?’ ॥ ७७ ॥

अन्वयः—उद्दामिः निर्मिते देहे पुनः च पञ्चार्थं यदे स्वां स्वां कथियन्मुखात्
 तति तत्र का परिवेचना ॥ ७७ ॥

पञ्चमि—पुबिन्वादिपञ्चमहामूर्ति (पुष्पो, बसु अग्नि वायु और वायु) ।
 निर्मिते—सञ्चलिते । देहे—शरीरे । पञ्चार्थं यदे—मूर्ते । स्वा स्वां = स्वकीमात् ।
 योनिम्—आदिस्थानम् । अनुप्राप्ये—यते तति । तत्र—अस्मिन् मुते । परिवेचना—
 विचारणं शोकम् ॥ ७७ ॥

इस शरीर का निर्माण छिद्रि बसु पावक ययम और तमीर नाम के
 पाँच तत्वों से हुआ है और मरने के बाद वे सभी तत्व अपने अपने तत्वों में
 फिर मिल जाते हैं अतः इस विषय में शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

‘यावतां कुरुतं जन्तुः सम्बन्धात्मनसा प्रियाम् ।

तावन्तोऽस्य निजान्मृतं हृदये शोकसाधुवा’ ॥ ७८ ॥

अन्वयः—जन्तु वाचत मनसः प्रियाम् सम्बन्धान् मुक्ते तावन्ताः अत्र हृदये
 शोकसाधुव निजान्मृते ॥ ७८ ॥

जन्तु—प्राणी । यवसः प्रियाम्—हृदयस्य प्रियकथाम् । अत्र = प्राणिवः ।
 हृदये—मनसि । शोकसाधुव = शरितापकीलका । निजान्मृते—आरोप्यते ॥

प्राणी मिलना अधिक अपने मन की अच्छे करने वाले सम्बन्धों को करण
 पड़ता है उतना ही वह अपने हृदय में शोक की बीजों बीजाता जाता है अर्थात्
 ‘क बिन लखी-लखी प्रिय वस्तुओं का विषय उसके दुःख का कारण बनता है ॥

‘नायमत्यन्तसंवासांश्चाम्यते धनं कनचिद् ।

अपि स्वैन शरीरंण किमुताप्येन केनचिद्’ ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अयम् धनं केनचिद् अत्यन्तसंवासांश्च न लभ्यते (धनं) स्वेन
 शरीरंण (न) किमुत अप्येन केनचिद् ॥ ७९ ॥

अयम्—प्राणी । धनं केनचिद्—नेवापि लभः । अत्यन्तसंवासांश्च = इच्छामन्त्राः,
 अरतयोवयम् । न लभ्यते = न प्राप्यते । स्वेन शरीरंणानि = यथा स्वदेहेनानि
 अयमन्त्राश्च न लभति । किमुत—तर्हि । अप्येन केनचिद् संसारस्य केनचिद् लभः न
 इह मसार में किसी भी प्राणी का मिलना बिरकाल तक नहीं हो सकता
 ही तब कि जन्म-मरण का चक्र ही उलका मिल जाय नहीं है लता ही
 नहीं व १ की की निगनी ही क्या है ? ॥ ७९ ॥

अपि च—‘संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति सम्भवम् ।

अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवागमम्’ ॥ ८० ॥

अन्वयः—संयोग वियोगस्य सम्भवम् संसूचयति, जन्म अनतिक्रमणीयस्य मृत्यो आगमम् इव ॥ ८० ॥

संयोग = सवास । वियोगस्य = विरहस्य । सम्भवम् = उत्पत्तिम् । संसूचयति = प्रकटयति । अनतिक्रमणीयस्य = अनुल्लघनीयस्य । आगमम् = कारणम् । इव ॥ ८० ॥

किसी वस्तु का संयोग ही उसमें होने वाले वियोग की सूचना देता है । जैसे किसी प्राणी का जन्म उसकी अवश्य भावी मृत्यु के आगमन की सूचना देने वाला होता है ॥ ८० ॥

‘आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।

अपथ्यानामिवाद्धानां परिणामोत्तिदारुणः’ ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अपथ्यानाम् अन्नानाम् इव प्रियैः सह आपातरमणीयानाम् संयोगानाम् परिणाम अतिदारुण भवति ॥ ८१ ॥

अपथ्यानाम् = कुमोज्यानाम् । अन्नानाम् = भोज्यपदार्थानाम् इव । आपातरमणीयानाम् = तत्क्षणप्रियकारणाम् । संयोगानाम् = सलम्भानाम् । परिणामः = फलम् । अतिदारुण = अतिदुःखदायक ॥ ८१ ॥

जैसे अपथ्य भोजन ऊपर से देखने में बहुत ही स्वादिष्ट होता है किन्तु उसका अन्तिम परिणाम बहुत ही भयंकर होता है, उसी प्रकार प्रियजनो का समागम देखने में बहुत ही आनन्ददायक होता है किन्तु वियोग होने के कारण उसका फल बहुत ही दुःखदायी होता है ॥ ८१ ॥

अपरञ्च—‘व्रजन्ति, न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा ।

आयुरादाय मर्त्यानां तथा राश्वहनी सदा’ ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सरिताम् स्रोतांसि यथा व्रजन्ति न निवर्तन्ते तथा राश्वहनी मर्त्यानाम् आयु आदाय सदा व्रजत न निवर्तन्ते ॥ ८२ ॥

सरिताम् = नदीनाम् । स्रोतांसि = प्रवाहा । व्रजन्ति = गच्छन्ति, न निवर्तन्ते = न प्रत्यागच्छन्ति । राश्वहनी = रात्रि दिवसञ्च । मर्त्यानाम् = समस्तप्राणिनाम् । आयु = जीवितसमयम् । आदाय = गृहीत्वा । सदा = सर्वदैव गच्छत किन्तु पुन न प्रत्यागच्छत ॥ ८२ ॥

बँसे जाये जाने वाली नहीं थी वारा फिर छोट कर पीछे नहीं जाती है
उसी प्रकार यह और दिन प्राचीनों की भाँति लेकर सदा जाये बढ़ने ही जाती है
अर्थात् प्रतिदिन मनुष्य की भाँति ही होती जाती है ॥ ८९ ॥

‘सुखास्यादपरं यस्तु संसारे सत्समागमः ।

स वियोगावसानत्वाद् दुःखानां पुरि पुण्यते’ ॥ ८९ ॥

अन्वयः—संसारे सुखास्यादपरं यस्तु सत्समागम स विवोधावसानत्वात्
दुःखानाम् पुरि पुण्यते ॥ ८९ ॥

संसारः—व्यवृत्ति । सुखास्यादपरं = निवास्तमुच्चपुण्यं । सत्समागम = सज्जन
सङ्घवासः । वियोगावसानत्वात् = विरहव्यस्यत्वात् । दुःखानाम् पुरि = परितापानाम्
मध्ये । पुण्यते = गच्छते ॥ ८९ ॥

इस संसार में सज्जनों का मिलन अवश्य कुछ स्वरूप का देने वाला कुछ
जाता है किन्तु कठना भी कलत विवोध में ही होता है इसलिए वह भी दुःखों की
कोटि में सबसे पहले पिया जाता है ॥ ८९ ॥

अथ एव हि नैककृत्तिसाधया सत्समागमम् ।

यद्वियोगासिद्धस्य मनसो नास्ति मेघजम्’ ॥ ९० ॥

अन्वयः—अथ साधन सत्समागमम् एव हि नैककृत्तिसाधया । यद् वियोग-
सिद्धस्य मनसो नास्ति मेघजम् ॥ ९० ॥

अथ = अस्मात्कारणात् । साधनः—व्यवृत्ति । सत्समागमम् = सत्संवासात् । न
नैककृत्तिसाधया = न समितव्यम् । यद्वियोगासिद्धस्य मनसो नास्ति मेघजम् =
यस्य विरहव्यस्यत्वात् । मेघजम् = मीषजम् । नास्ति = न विद्यते ॥ ९० ॥

इसीलिए सज्जन कोय इस संसार में सज्जनों का मिलन भी नहीं पाये है
क्योंकि उनके विरहव्यसनी लक्षणों से बड़े हुए हुए भी कोई बन्ना ही नहीं होता है

सुहृताभ्यपि कर्माणि राजमिः सगरादिभिः ।

अथ ताभ्येषु कर्माणि, ते वापि प्रकृत्य गता’ ॥ ९१ ॥

अन्वयः—सगरादिभिः राजभिः सुहृताभिः कर्माणि (इत्यादि) तापि कर्माणि
एव ते वापि प्रकृत्य गता ॥ ९१ ॥

सगरादिभिः = सगरसदृशादिभिः । राजभिः—गुरुभिः । सुहृताभिः कर्माणि—व्यवृत्ती-
नि पुण्यकर्माणि । ते वापि—गुणान्नापि । प्रकृत्य गता = विनष्टा ॥ ९१ ॥

सगर इत्यादि राजाओं में बहुत से पुण्य कार्यों को किया था किन्तु आज
जन्म के पुण्य कर्म तथा वे स्वर्ग को गए हैं। अर्थात् कठोर और कर्म योगों
का विनाश हो गया ॥ ९१ ॥

‘सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं,
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मवन्धाः,
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति’ ॥ ८६ ॥

अन्वयः—तम् उग्रदण्ड मृत्यु सचिन्त्य सचिन्त्य विचक्षणस्य मनुष्यस्य सर्व
प्रयत्नाः वर्षाम्बुसिक्ता चर्मवन्धा इव शिथिलीभवन्ति ॥ ८६ ॥

उग्रदण्डम्=अतितीक्ष्णदण्डम् । मृत्युम्=मरणम् । सचिन्त्य सचिन्त्य = सस्मृत्य
सस्मृत्य । विचक्षणस्य = कुशलस्य विदुष इत्यर्थ । मनुष्यस्य = नरस्य । सर्वे
प्रयत्ना = कार्यसिद्धे मर्वे प्रयासा । वर्षाम्बुसिक्ता = वर्षाजलविलिन्ता । चर्मवन्धा =
चर्मरज्जुग्रन्थय । इव=यथा । शिथिलीभवन्ति=शिथिलता प्राप्नुवन्ति ॥ ८६ ॥

प्राणी को प्राप्त होने वाले मृत्युरूपी महाभयानक दण्ड की बार बार याद
करके बुद्धिमान् मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयास वर्षा के जल से भीगे हुए चमड़े के
वन्धन के समान ढीले पड़ जाते हैं । अर्थात् बुद्धिमान सासारिक प्रयत्नो से
विमुक्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

‘यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवास नरवीर । लोकः ।

ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति’ ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे नरवीर, लोक याम् प्रथमाम् रात्रिं गर्भे निवासम् उपैति
ततः प्रभृति अस्खलितप्रयाण स प्रत्यहम् मृत्युसमीपम् एति ॥ ८७ ॥

नरवीर=राजन् । लोक = प्राणी । प्रथमाम्=आद्याम् । रात्रिम्=रजनीम् ।
उपैति=प्राप्नोति । ततः प्रभृति=गर्भनिवासमारभ्य । अस्खलितप्रयाण =अनवरुद्ध-
गमन । स =मनुष्य । प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् । मृत्युसमीपम्=मृत्यो सन्निकटम् ।
एति=आगच्छति ॥ ८७ ॥

हे राजन्, प्राणी सर्वप्रथम जिस रात्रि को गर्भ में निवास करता है उसी
समय से वह अवाध गति से प्रतिदिन मृत्यु के निकट चलता जाता है ॥ ८७ ॥

अथ ससारं विचारय, शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य—
ससारम् विचारय=विश्रवगतिम् चिन्तय । अज्ञानस्य=अविवेकस्य ।

इसलिए इस ससार की स्थिति का विचार करो, यह शोक अज्ञान का ही
प्रपञ्च है । देखो—

‘अज्ञान कारण न स्याद् वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम्’ ॥ ८८ ॥

अन्वयः—बहि (शोकस्य) ब्रह्मानस्य कारणम् न स्वत् (तस्य) कारणं विद्योक् (स्वात् तद्धि) विद्येवु गच्छत्सु लोक-वर्षताम् किन्तु (स-) स्वभावि किम् प्र परि लोक-ब्रह्मानस्य बोद्धवति विद्योपाजावते तद्धि किञ्चित्कालोपरन्ते विद्योने विद्यमात्रे सति शोकोऽयम् वर्षताम् किन्तु स न ब्रह्मि बभितु अयमुपरपरि, कृत शोकस्य कारणम् ब्रह्मानम् एव ॥ ८८ ॥

बहि ब्रह्मान शोक का कारण नहीं बरिह विद्योव शोक का कारण है तो कुछ दिनों के बीतने पर शोक को जोर भी बढ़ना चाहिए । (क्योंकि विद्योव छे तब भी रहता है) किन्तु यह बढ़ता नहीं है बभितु बीरे बीरे बट्टा जाता है । इससे प्रतीत होता है कि विद्योव शोक का कारण नहीं बरिह ब्रह्मान ही शोक का कारण होता है ॥ ८८ ॥

तद् मद्र ! तद् आत्मात्ममनुसन्धेहि शोकचर्यां च परिहर ।
पताः—

ब्रह्मानम्—ब्रह्मरतत्वम् । अनुसन्धेहि—अन्वेष्य । परिहर—परित्यज ।
इदमित्थं हे मद्र आत्मा की खोज करो और इस शोक की चर्चा छोड़ो ।
क्योकि—

‘मकारणवपातजातानां शाखाणां मर्ममेदिनाम् ।
शाङ्गशोकप्रद्वाराणामधिष्ठव महोपधम्’ ॥ ८९ ॥

अन्वयः—मकारणवपातजातानाम् महोपधम् ॥ ८९ ॥
मकारणवपातजातानाम्—आकस्मिकीपरिद्वलानाम् । शाखाणाम्—शरीराणाम् ।
मर्ममेदिनाम्—पीडाप्रदाणाम् । शाङ्गशोकप्रद्वाराणाम्—जनोद्भूतशोकापाठानाम् ।
अधिष्ठव—चिन्ताग्राह्यमैव । महोपधम्—सकलमौल्यम् ॥ ८९ ॥
आकस्मिकका से अममय से ही जाने वाले शरीर शरीर के मर्म का खेदन करने वाले अत्यन्त बने शोक के आघातों की सबसे बड़ी शीवधि है उसकी चिन्ता ही शोक है। अर्थात् शोक की चिन्ता ही शोक की बड़ा कर कह देने वाली होती है ॥ ८९ ॥

सतस्तद्वर्णनं निश्चाय प्रयुज इय कोपिच्छन्वा उत्थापयप्रतीत
तन्ममिदानीं सूह-नरक-वासन यन्ममं यच्छामि ।

तन्ममं परिमत्सोपदेशम् । निश्चाय—अन्वया । सूह-नरक-वासन—मुद्वेग
व । अन्व
इसके अन्वय वाक्यें मुन क जाने से बड़े दुःख के लक्षण कोपिच्छन्वा के
व क तो मम इस वाक्य का अर्थ है कि मैं जो मुद्वेग । अब तो मैं
३ ।

कपिलः पुनराह—

‘वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,

त्रिवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्’ ॥ ९० ॥

४ अन्वयः—रागिणाम् वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति, पञ्चेन्द्रियनिग्रह एव गृहेऽपि तप (अत एव) य अकुत्सिते कर्मणि प्रवर्त्तते तस्य निवृत्तरागस्य गृहम् तपोवनम् भवति ॥ ९० ॥

रागिणाम्=विषयासक्तहृदयानाम् । वनेऽपि=काननेऽपि, दोषा = कामक्रोधादिविकारा । प्रभवन्ति=सप्रजायन्ते । पञ्चेन्द्रियनिग्रह = नेत्रादीनाम् इन्द्रियाणां समय । गृहेऽपि=विकारसम्भूतिस्थानेषु । तप एव=तपस्तुल्य भवति । य = पुरुष । अकुत्सिते = अनिन्दिने, शास्त्रमम्पादिते । कर्मणि=करणीये । प्रवर्त्तते=सलग्नो भवति । निवृत्तरागस्य=आसक्तिरहितस्य । गृहमपि तपोवनम् एव भवति ॥

कपिल ने फिर कहा—

विषय वासनाओं में लित रहने वाले वन में भी जाकर शोक दुःखादि प्रपञ्चों से छूट नहीं पाते हैं और पाँचों इन्द्रियों का यदि घर पर ही समय क्रिया जाय तो वही तप हो सकता है । जो शास्त्रविधानों के अनुसार कार्यों में लगा रहता है, उस विषय-वासनारहित के लिए घर ही तपोवन के समान है ॥ ९० ॥

यतः—‘दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र कुत्राश्रमे रतः ।

समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्ग धर्मकारणम्’ ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र कुत्राश्रमे रत दुःखित अपि सर्वेषु भूतेषु सम धर्मम् चरेत् (यत) लिङ्गम् धर्मकारणम् न (अस्ति) ॥ ९१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे=यस्मिन्कस्मिन्नाश्रमे । रत = लग्न । सर्वेषु भूतेषु=सम्पूर्ण-प्राणिषु । सम = समवृद्धि भूत्वा । धर्मं चरेत्=धर्माचरणम् कुर्यात् । लिङ्गम्=आश्रमविह्वलम् । धर्मकारणम् = धर्मस्य हेतुः । न = न भवति, अपि तु आचार एव हेतुः ॥ ९१ ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह चाहे जिस किसी आश्रम में रहे किन्तु सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखता हुआ दुःख के समय भी धर्म का आचरण करता रहे । क्योंकि धर्म का आचरण सभी जगह ही सकता है केवल वाना वना लेना (वेशमात्र ही धारण कर लेना) ही धर्म का कारण नहीं होता ॥ ९१ ॥

उक्तञ्च—‘वृत्त्यर्थे मोक्षार्थं चेपां सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय भुर्गाण्यपि तरन्ति ते’ ॥ ९१ ॥

अन्वयः—वेदान् मोक्षार्थम् वृत्त्यर्थम् मैथुनम् सन्तानार्थम्, वाक् वाक्य-
वचनार्थाय (भवति) ते भुर्गां च अपि तरन्ति ॥ ९१ ॥

वृत्त्यर्थम्—प्रापकारनाय । मैथुनम् = पुरतम् । सन्तानार्थम् = सन्तानोत्पत्त्य-
र्थम् । वाक् = श्रावणी । सत्यवचनार्थम्—वस्तुतोद्घाटनप्रमोक्षणाय । ते—महापुरुषाः ।
भुर्गापि—कृष्णाणि । तरन्ति—पारं गच्छन्ति ॥ ९१ ॥

श्री केवल जीने के लिए ही जीवन करते हैं । संतानोत्पत्ति के लिए ही जीवन
करते हैं और वाणी का प्रयोग सत्य का प्रवर्धन करने के लिए ही करते हैं । वे
महापुरुष कठिन विपत्तियों से भी मुक्तकाय या भाते हैं ॥ ९१ ॥

तथा हि—‘आत्मानसौ संघमपुण्यतीर्था
सत्पोदका शीघ्रतया क्षयोमि ।
तन्नामिषेकं कुब पाण्डुपुत्र ।
न वारिणा शुभ्यति अन्तरात्मा ॥ ९२ ॥

अन्वयः—हे पाण्डुपुत्र वारिणा च अन्तरात्मा न शुद्धयति नच आत्मानसौ
संघमपुण्यतीर्था सत्पोदका शीघ्रतया क्षयोमि (भस्ति) तत्र तन्नामिषेकं कुब ॥

महाभारते श्रीमहापिठान्तर्गतेनैवमुक्तम्—हे पाण्डुपुत्र = हे मुनिद्विर । वारिणा =
वज्रस्थानेन । आत्मानसौ = आत्मा एव नवी । संघमपुण्यतीर्था = सर्वत्रिशा-
नाम् वधित्वमेव वनिर्ष तीर्थस्नानं कस्यां सा । सत्पोदका = सत्यमेव वज्रम् कस्यां
सा । शीघ्रतया = तत्राचारस्वभाव एव तर्ह कस्यां सा । क्षयोमि = कदा भूतकवमा
एव क्षमि कस्यां सा । तन्नामिषेकम् = स्नायम् । वनीदिशेन एव वात्पशुबैः कारयन्
इत्यर्थं ॥ ९२ ॥

वीता हि—(श्रीमहापिठान्तर्गते नैवमुक्तिर से कहा या—)

यत्र आत्मा ही नवी है संघम ही वनिर्ष तीर्थ स्नान है सत्य ही वज्र है
शीघ्र ही विनाश है कदा ही लहरें हैं । यत्र है मुनिद्विर । इसी आत्माकपी नवी
के स्नाय शीघ्र एव अन्तरात्मा वनिर्ष होया वह वैश्वल जल से नही मुक्त होता ॥

विशेषतश्च—'जन्म-मृत्यु जरा व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम्' ॥ ९४ ॥

अन्वयः—जन्म-मृत्यु.... .. उत्पन्नम् इमम् असारम् संसारम् त्यजत-
सुखम् ॥ ९४ ॥

जरा=वृद्धावस्था । व्याधि=रोग । उपद्रुतम्=परिप्लुतम् । असारम्=
निस्तत्त्वम् । असारसंसारपरित्याग एव सुखम् इत्यर्थं ॥ ९४ ॥

विशेष करके—

जन्म, मृत्यु, घुटापा, रोग, पीडा आदि से मरे हुए इस तत्परहित संसार
का परित्याग करना ही सुख है ॥ ९४ ॥

यतः—'दुःखमेवास्ति, न सुखं, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(अस्मिन् ससारे) दुःखमेव अस्ति, सुखं नास्ति यस्मात् तत्
(एव) उपलक्ष्यते । दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ॥ ९५ ॥

यस्मिन् ससारे । सुखं न=सुखात्मक किञ्चिदपि नास्ति । यस्मात्=यत ।
तत्=दुःखमेव । उपलक्ष्यते=दृश्यते । दुःखार्तस्य=दुःखं पीडितस्य । प्रतीकारे=
दुःखापनयनप्रयत्ने ॥ ९५ ॥

क्योंकि—

इस संसार में सचमुच दुःख है सुख कही भी नहीं है इसीलिए दुःख ही
दिखाई देता है । किन्तु दुःख से पीडित के दुःखों से छुटकारा पाने के प्रयत्न को
ही लोग सुख नाम से पुकारते हैं ॥ ९५ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव' । ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन
शतो, यद्—'अधारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि'—इति । कपिलो
ब्रूते 'सम्प्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान्, शोकाविष्टं ते हृदयम् । तथापि
कार्यं शृणु'—

एवमेव=सत्यमेव । तेन=ब्राह्मणेन । शोकाकुलेन=शोकव्याकुलेन ।
असहिष्णु=ग्रहणे अशक्त । शोकाविष्टम्=शोकाभिभूतम् । हृदयम्=चित्तम् ।

कौण्डिन्य ने कहा—हूँ बापका कहना विशुद्ध ठीक है। उभने कष्ट कि उसी सोच से व्याकुल कौण्डिन्य ब्राह्मण ने मुझे बाप दिना कि तुम बाबू के मिडकी का बालन बनोये। ठग कपिक ने कहा— इस समय उपवेश प्रहल कल्पे मे तुम बसमर्ष हो। तुम्हारा हृदय धीक से बवा हुआ है फिर धी कर्तव्य कर्म सुनो—

‘सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्पुत्रं न शक्यते ।

स सङ्गिः सङ्गं कर्तव्यः, सतां सङ्गो हि मेपन्नम् ॥ १५ ॥

अन्वया—सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः (किन्तु) चेत् स त्वत्तुं न शक्यते (ईदं) स सङ्गिः सङ्गं कर्तव्यः (यत्) सतां सङ्गः हि मेपन्नम् ॥ १५ ॥

सङ्गः = सम्बन्धः । चेत् = यदि । त्वत्तुं न शक्यते = त्याज्यः न शक्यते । स सङ्गिः = सङ्गिनीः सङ्गं कर्तव्यः । कर्तव्यः = करणीयः । सतां सङ्गः = सत्सम्बन्धः । मेपन्नम् = सोकस्यापि जीवन्म् ॥ १५ ॥

इस संसार में सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि वह पूर्वत छोड़ न जा सके तो सङ्गों के त्याग करना चाहिए क्योंकि तात्कालिक रोने की एकमात्र दवा सङ्गों का सङ्घास है ॥ १५ ॥

अन्वयः—‘कामः सर्वात्मना हेया स चेत्पुत्रं न शक्यते ।

स्वमार्गो प्रति कर्तव्यः, सैव तस्य हि मेपन्नम् ॥ १७ ॥

अन्वया—कामः सर्वात्मना हेया स चेत्पुत्रं न शक्यते । स्वमार्गो प्रति-

स्वपत्नीम् प्रति । तस्य = कामोपशमस्तः । मेपन्नम् = जीवन्म् ॥ १७ ॥

कामत्यागना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि वह पूर्वत छोड़ न जा सके तो उसे अपनी पत्नी तक ही सीमित रखनी चाहिए क्योंकि वही बातना वृत्ति की एक मात्र जीवन्ति है ॥ १७ ॥

एतन्मन्त्राणां स कौण्डिन्यः कपिकोपदेशामृतमशास्तद्योकागणो यथादिधि वृण्मन्त्रं कृतवाचः । अतो ब्राह्मणशापात्मन्त्रं कान्योदु मन्त्रं तिष्ठामि । अन्तरं तेन मण्डूकेन गत्या मण्डूकनापस्य जाड पाङ्नाऽनोऽमे तत्कथितम् । ततोऽसावागत्य मण्डूकनापस्तस्य सपस्य पृथमारुहयान् । स च सर्पैस्तं पृष्ठे कृत्वा विधायकर्मं बभ्राम ।

उपदेशामृतप्रशान्तशोकानल = उपदेश एव अमृत पीयूषम् तेन प्रशान्त-
मन्दीभूत शोक एव अनल अग्नि यस्य स । पथाविधि = यथाशास्त्रम् । दण्ड-
ग्रहणम् = सन्यासग्रहणम् । मण्डूकान् = भेकान् । षोडशुम् = वरुणाय । अत्र = तटाकस्य
तटे । पृष्ठमारूढवान् = पृष्ठोपरि आरूढः । तम् = जालपादम् मण्डूकनाथम् । पृष्ठे
कृत्वा = पृष्ठोपरि आरोप्य । चित्रपदक्रमम् = विचित्रानि गतिमि ।

यह सुनकर, फणिल के उपदेशरूपी अमृत से कौण्डिन्य का शोकाग्नि शांत हो
गई और उसने विधिपूर्वक सन्यास ले लिया । इसलिए ब्राह्मण के शाप से मेढकों
को डाने के लिए मैं यहाँ पड़ा हूँ । इसके पश्चात् उस मेढक ने जाकर यह सारी
बाते मण्डूकों के राजा जालपाद से कह सुनायी । तब वह मेढको का राजा वहाँ
आकर साँप की पीठ पर चढ़ गया और वह साँप उसे पीठ पर लेकर विचित्र
गति से उसे इधर-उधर घुमाने लगा ।

परेद्युश्चलितुमसमर्थं त मण्डूकनाथोऽवदत्—‘किमद्य भवान्मन्द-
गतिः ?’ सर्पो ब्रूत—‘देव ! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि ।

परेद्युः = द्वितीय दिने । चलितुमसमर्थम् = गन्तुमक्षमम् । त = मेढकम् ।
अवदत् = अवदत् । आहारविग्हात् = भोजनान्मवात् । असमर्थोऽस्मि = गन्तुम-
शक्तोऽस्मि ।

दूसरे दिन साँप को चलने में असमर्थ देखकर मण्डूकराज ने कहा—‘आज
आप धीरे धीरे क्यों चला रहे हैं ?’ साँप ने कहा—‘राजन्, भोजन न मिलने के
कारण असमर्थ हो गया हूँ ।’

मण्डूकनाथोऽवदत्—‘अश्मादाक्षया मण्डूकान्भक्षय ।’ ततः
‘गृहीतोऽय महाप्रसादः’ इत्युक्त्वा, क्रमशो मण्डूकान् खादितवान् ।
अथ निर्मण्डूक सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः ।
अतोऽहं ब्रवीमि—‘स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्’ इत्यादि ।

गृहीत = स्वीकृत । अय महाप्रसाद = महानुग्रह । निर्मण्डूकम् = मण्डूकेन
रहितम् । सरो विलोक्य = तटाकम् दृष्ट्वा तेन = नपेण । खादित = भक्षित ।

मण्डूकराज ने कहा—‘हमारी आज्ञा ने मेढको को खाया करो । तब ‘आपकी
यह कृपा स्वीकार है’ ऐसा कह कर वह मेढको को खाने लगा और जब तालाव
मेढको से रहित हो गया तो उसने मण्डूकराज को भी खा डाला । इसीलिए मैं
कह रहा हूँ कि—‘शत्रु का भी वधे पर ग्रहण करना चाहिए’ इत्यादि ।

‘देव ! यात्विदानीं पुरावृत्ताख्यानकथनं, सर्वथा सन्धेयोऽयं
हिरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता’मिति मे मतिः । राजोवाच—‘कोऽयं

अयतो विचारः ? यतो जितस्तावद्यमस्मानि । ततो यद्यस्मत्से-
यया यसति, तदास्ताम् नो ज्ञेयिष्यताम् ।

यातिवशानीम् = यास्याम् तावत् । पुनर्यनुतास्मावकल्पनम् = पूर्ववद्विचक्षण-
वचनम् । मे मति = मय बुद्धिः । जित = स्वाधीनीकृत । सेवया = धारणेन ।
यास्ताम् = स्वपुत्रीं तिष्ठतु । विमुह्यताम् ।

राजन् अब पुतना कपारो वा कहना निष्प्रयोजन है अब सचि करते बीच
राजा द्विरम्भपरम से सचि करना ही उचित है वही मेरी रज्य है । राजा
विचक्षण से कहा—यह तुम्हारा कौता विचार है ? क्योंकि हम लोगो के बने
बराबित कर दिया है इसलिये यदि वह हमारी अधीनता में रज्या चाहे तो
अपने देश में रज्य सकता है नहीं तो इससे रजना ही चाहिए ।

अत्रान्तरे अम्बुशीपादागत्य शुकेनोक्तं—‘दिव ! सिद्धञ्जीपस्य
सारसो राजा सम्प्रति अम्बुशीपमाकम्पायतिष्ठते । राजा असम्भ्रमं
मूढे— किं किम् ? । शुका पूर्वोक्तं कथयति ।

शुभः स्वगतमुवाच—‘साधु रे अक्षवाक मन्त्रिन् ! साधु !’
राजा सकोपमाह— भास्ता तावदप्यं, गतवा तमेव समूहमुन्मूह
यामि । कुरवशीं विद्वन्वाह—

सम्प्रति=इवासीम् । आङ्ग्व = स्वसेनया परिवृत्य । असम्भ्रमम्=आश्चर्यम् ।
तमेव=नारसमेव । तन्मुन्मामि=विनाशयामि ।

इसी बीच अम्बुशीप से आकर सुभी ने कहा ‘राजन् सिद्धञ्जीप के राजा
सारस ने इस समय अम्बुशीप पर कब्जाई करके बैर किया है ।’ राजा विचक्षण
अचकचा कर बोल उठ—क्या कहा ? । सुभे के पहिले कही हुई बात फिर
बुझा सी ।

सुभ ने मन ही मन कहा—मैंने अक्षवाक तुम बन्प ही बीड़ तुमसे बचक
किया । राजा ने खोब से कहा—अब यहाँ की सारी बातें छोड़ी अब यहाँ
बलकर मैं पहिले बसे बहमूल से गठ कर समूहवा । तब मन्त्री कुरवशी के
हुँव कर कहा—

न धरन्मेघघटकार्यं वृथैव घनगर्जितम् ।

परस्वार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महात् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(नरेण) धरन्मेघवत् वृथैव घनगर्जितम् न कार्यम् । महात्
य स्वार्थम् अनर्थम् वा न प्रकाशयति ॥ ९८ ॥

। अन्वयम् = धरन्मेघवत् वृथैव घनगर्जितम् । वृथैव = निरर्थकम् । घनगर्जितम् =
ज्वालावद्वति स्वार्थस्य प्रकाश । न कार्यम् = न करणीयम् । महात्=उच्चा-

णय । परस्य=शत्रोरपि । अर्थमनर्थम्=उचितानुचितम् । न प्रकाशयति=स्व-
मुखेन न कथयति ॥ ९८ ॥

गरव् ऋतु के बादल के समान व्यर्थ गरजना नहीं चाहिए अर्थात् व्यथ ही
ढींग नहीं हँकनी चाहिए । बड़े लोग दूसरो का जो कुछ भी बला बुरा करते हैं
उसे अपने मुँह से नहीं कह सुनाते हैं ॥ ९८ ॥

अपरञ्च—‘एकदा न विगृह्णीयाद्वहन् राजामिघातिनः ।

सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्वहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्’ ॥ ९९ ॥

अन्वयः—राजा एकदा बहन् अमिघातिन न विगृह्णीयात् बहुभि कीटैः
सदर्प अपि उरग ध्रुवम् नाश्यते ॥ ९९ ॥

एकदा=एकस्मिन् एव काले । अमिघातिनः=आक्रामकान् शत्रून् । न
विगृह्णीयात्=न युष्येत् । कीटैः = कृमिभिः । सदर्प = सगर्व । उरग = सर्प ।
ध्रुवम्=निश्चितम् ॥ ९९ ॥

एक ही साथ प्रहार करने वाले बहुत से शत्रुओ के साथ राजा को कमी
नही लडना चाहिए । क्योंकि बहुत से काडे-मकोडो के द्वारा अत्यन्त अमिगानी
सर्प भी मारा जाता है ॥ ९९ ॥

‘देव ! किमितो विना सन्धान गमनमस्ति ? । यतस्तदास्माकं
पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्यः ।

इत = अस्मात् स्थानात् । सन्धानम् विना=विना सन्धिम् । पश्चात्=
पृष्ठम् । प्रकोप = आक्रमणम् ।

राजन्, क्या यहाँ से सधि किए विना ही जाना उचित है ? क्योंकि यह
पीछे से हम लोगों पर आक्रमण कर देगा । और भी—

अपरञ्च—‘योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः ।

स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद्यथा’ ॥ १०० ॥

अन्वयः—य अर्थतत्त्वम् अविज्ञाय क्रोधस्य एव वश गत स मूढ तथा
तप्यते यथा नकुलात् ब्राह्मण (ततोऽभवत्) ॥ १०० ॥

य = पुरुष । अर्थतत्त्वम्=वस्तुस्थितिम् । अविज्ञाय = अविचार्यं । क्रोधन्य वश
गत = क्रुद्धयति । स मूढ = स मूर्ख । तप्यते=मनस्ताप प्राप्नोति । नकुलात्
ब्राह्मण = यथा ब्राह्मण अज्ञानात् नकुलं हत्वा दुःखितोऽभवत् ॥ १०० ॥

वो कितो विषय के तत्व को जाने बिना पढ़ते ही क्रोध के बलीपुत्र हो
जा । हे वह मुझे तेबले को मार कर ब्राह्मण के उभाव ही पुन्ही हीण है न

राजाह—‘कथमेतत् ? । कूरुर्धी कथयति—

राजा ने कहा—वह कैसे ? कूरुर्धी ने कहा—

कथा ११

धस्त्युख्ययिभ्यां माधवो नाम यियः । तस्य ब्राह्मणी प्रसूता
(छा) बाबापत्न्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य, स्नातुं गता । ध्व
ब्राह्मणाय राज्ञः पापजभाजं वातुमाह्वानमागतम् । तच्छ्रुत्वा
ब्राह्मणोऽपि सहस्रवाचिष्याद्यिभ्यः— यदि सत्वरं न गच्छामि,
तवाभ्याः कश्चिच्छ्रुत्वा भाजं प्रहीश्वति । यतः—

यियः—ब्राह्मणः । प्रसूता—इत्यप्रतया । बाबापत्न्यस्य—स्वपत्नी । रक्षार्थम्—
रक्षणाय । ब्राह्मणमवस्थाप्य—स्वपतिम् तत्र नियोज्य । पार्श्वभाजं वातुम्—पार्श्व
वक्षिणादिनाम् । बाह्यावभाजम्—आमन्त्रणं प्राप्तम् । सहस्रवाचिष्यात्—स्वाभ्या-
विक्षाकिसनत्वात् । कश्चिच्छ्रुत्—अपचारम् । सत्वरम्—शीघ्रम् । अथ कश्चित्—
कश्चित्कस्य ब्राह्मण । भाजम्—भाजवक्षिणात् ॥

कल्पिनी के पापय नाम का एक ब्राह्मण था । उसकी पत्नी को बन्ना
हुआ । वह पुन को रक्षा करने के लिए वहाँ ब्राह्मण को बिठा कर स्नान करने
बली पत्नी । इसी बीच भाज का वान केने के लिए राजा के यहाँ से वह ब्राह्मण
की बुझाया जाया । वह तुलकर स्वघाव से ही बचि ब्राह्मण के विचार किया कि
यदि बीम ही न जाईगा तो कोई बुरात ब्राह्मण बाकर बने ले केना । योकि—

‘भादेपस्य प्रवेपस्य कर्तव्यस्य च कर्मया ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य काष्ठाः पिबति तद्रसम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—भादेपस्य प्रवेपस्य कर्तव्यस्य कर्मया च क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य
काष्ठं तत् रसम् पिबति ॥ १ १ ॥

भादेपस्य—पशुवयोप्यस्य । प्रवेपस्य—दानस्य, कर्तव्यस्य कर्मया = करवीर्यस्य
कार्यस्य । क्षिप्रम्—शीघ्रम् । अक्रियमाणस्य—न कृतस्य । काष्ठं = समसम् । तस्य
रसम्—सत्त्वस्य । पिबति—पार्श्वं करोति विताडकतीति भावः ॥ १ १ ॥

केने इने तथा करने शोभ्य काम करने से बीमता न करने के कारण समय
उतके रस को पी जाता है अर्थात् उचित समय के बीच जाने पर जान बिपत्र
जाता है ॥ १ १ ॥

किन्तु बालकस्यात्र रक्षको नास्ति । तर्क करोमि ? । यातु । चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि । तथा कृत्वा गतः । ततस्तेन नकुलेन बालकसमीप-मागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापाद्य कोपात्स्वण्डं स्वण्डं कृत्वा, भक्षितश्च । ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य, रक्तविलिप्त-मुखपादः, सत्वरमुपगम्य, तच्चरणयोर्लु लोठ । ततः स विप्रस्तथा-विधं त दृष्ट्वा 'मम बालकोऽनेन खादित' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादिनवान् । अनन्तरं यावदुपसृत्यापत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्-बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति । ततस्तमुप-कारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः परं विषादम-गमत् । अतोऽह ब्रवीमि—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय'—इत्यादि ॥

चिरकालात् पालितम्=बहुदिनात् रक्षितम् । पुत्रनिर्विशेषम् = पुत्रतुल्यम् । बालकरक्षामाम् = शिशुरक्षणार्थम् । व्यवस्थाप्य = नियोज्य । आयान्तम् = आग-च्छन्तम् । रक्तविलिप्तमुखपाद = रक्तरक्षितमुखचरण । सत्वरमुपगम्य=क्षीघ्रमेव गत्वा । तथाविधम् = रक्तरक्षितमुखचरणम् । अवधार्य = निश्चित्य । उपसृत्य = समीप गत्वा । अपत्यं = बालकम् । सुस्थ = निश्चिन्त । निरीक्ष्य = विचार्य । भावितचेता = भावपूर्णहृदय , लिप्त इत्यर्थं । विषादमगमत्=दुःखितोऽभूत् ।

किन्तु यहाँ बालक की रक्षाली करने वाला कोई नहीं है । तो क्या करें ? अच्छा, तो पुत्र के सनान ही बहुत दिनों से पाले पोसे गये इस नेवले की ही बालक की रक्षा में नियुक्त करके चला जाऊँ । ऐसा करके वह चला गया । इसके बाद उस नेवले ने बालक के पास आते हुए एक काले सर्प को देखा और क्रोध में आकर उसे मार डाला तथा टुकड़े टुकड़े करके खा डाला । फिर नेवला ब्राह्मण को आते हुए देख कर रक्त में सने हुए मुँह तथा पंजी को लिए हुए उसके चरणों पर लोटने लगा । उस ब्राह्मण ने नेवले को इस प्रकार देख कर यह निश्चय कर लिया कि इमने मेरे बच्चे को मार डाला है अतः उसने नेवले को भी मार डाला । इसके पश्चात् उसने घर में जाकर देखा तो बालक सकुशल सोया है और सर्प मरा हुआ पड़ा है तब वह ब्राह्मण अपने प्रति उपकार करने वाले उस नेवले की देखकर अनेक भावनाओं से पूर्ण होकर अत्यन्त दुःखी हुआ । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो तत्त्व को समझे बिना इत्यादि ।'

अपरञ्च—'कामः, क्रोधस्तथा मोहो, लोभो, मानो, मदस्तथा ।

ये देहानि सन्त्ये सुखी नृपः' ॥ १०२ ॥

अन्वयः—काम पदवचनम् एतम् उत्सृजेत् कल्पित्वा तच्छेत्तुं
 सुधी भवेत् ॥ १ २ ॥

मान = तर्क । पदवचनम् = कामादिसुपुःपदवचनम् । उत्सृजेत् = परित्यजेत् ।
 कल्पित्वा = कामादिसुपुःपदवचनम् । १ २ ॥

बीर धी—राजः सो वाहिणः किञ्च काम इव सोम मोह मान तथा
 मय न न के छ मनु ० का परित्याग न न शील इति छोड़ने वर ही व
 गुणः । सकला इ १ २

राजाह—‘मन्त्रिणम्’ एव स गिह्यया । मन्त्री मूते—
 ‘एवमय । यता—

मान कदा म । नव तुल्यता यता निश्चय इ ? मन्त्री के वता ०
 बहो यथोक्त—

‘स्मृतिस्तत्परतार्थेषु, वितर्कौ क्षान्तिश्चयः ।

दृष्टता मन्त्रश्रुतिश्च, मन्त्रिण्यः परमो गुणः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—वर्षेषु उत्परता रकृत वितर्क क्षान्तिश्चय दृष्टता म प्रगुण
 व मन्त्रिण्य परम गुण अस्ति । १ ३ ॥

वर्षेषु—कर्मव्यवसायेषु उत्परता—उत्सपादने एकचितता । स्मृति—स्मरण
 योक्त । वितर्क = कतथाकर्मका कटापत्त । क्षान्तिश्चय = दृष्टान्तम् । दृष्टान्त
 स्वभावै दृष्टिस्थित गुणः = यथा २ = ११४ १ ५ ॥

स्मरण शीघ्र काम म सम्भ्रतता किञ्चा स्वयं का पूष विवर्तन कला
 ज्ञान का निश्चय दृष्टता बीर मन्त्रा को क्षिणाया—वह छः मन्त्रिण्यो के यह गुण
 होते हैं ॥ १ ३ ॥

तथा च—‘सहसा विवर्धोत् न क्षियामपिबेकः परमापत्ता पदम् ।
 बुधुत् हि विमृश्य कारिणं शुभशुभ्याः स्वयमेव सम्पदा’ ॥

अन्वयः—सहसा क्षियाम् न विवर्धोत् जावन्त परापत्ताम् पदम्
 बुधुत्वा सम्पद स्वयमेव विमृश्य कारिणम् बुधुते हि ॥ १ ४ ॥

सहसा—अदिति विचार्य । क्षियाम् = कर्मम् । न विवर्धोत् = न बुधुत् ।
 विवर्धोत् = विवर्धत् । परापत्ताम्—कस्तु-दृष्टान्तान् विवर्धाम् । पदम् = स्वयम् ।
 बुधुत्वा = बुधुमिया विमृश्य न किञ्च = विवर्धोत् कारिणीकम् । सम्पदा—
 भव । बुधुत्वा = भव । निश्चय ॥ १ ४ ॥

और भी—किसी काम को बिना विचारे नहीं करना चाहिए क्योंकि बविचार ही बहुत बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। गुणों को चाहने वाली सम्पत्तियाँ विवेकी पुरुषों को स्वयम् ग्रहण करती हैं ॥ १०४ ॥

तदेव । यदीदानीमस्मद्वचनं क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम्' ।
यतः—

इसलिए हे राजन्, यदि आप इस समय हमारी बात मानें तो सन्धि करके यहाँ से चले चलिए । क्योंकि—

‘यद्यप्युपायाश्चन्दारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।

संख्यामात्रं फल तेषां, सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता’ ॥१०५॥

अन्वयः—यद्यपि साध्यसाधने चत्वार उपाया निर्दिष्टा विन्तु तेषाम् संख्यामात्रम् फलम् सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि साध्यसाधने=कर्तव्यसाधने । चत्वार उपाया =सामदामदण्डभेदा । निर्दिष्टा =निहिता । तथापि तेषाम्=उपायानाम् । संख्यामात्रम् फलम्=सख्यापूर्ति एव परिणाम । वस्तुतः सिद्धिः =कर्तव्यपूर्ति । साम्नि = सामाख्ये उपाये । व्यवस्थिता =स्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि कायसिद्धि के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद—नाम के चार उपाय बताए गए हैं किन्तु उनमें तीन की गणना तो संख्या पूरी करने के लिए ही है । वास्तव में कार्य की सिद्धि तो ‘साम’ से ही होती है ॥ १०५ ॥

राजाह—‘कथमेव सत्वर सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव ! सत्वर भविष्यति’ । यतः—

राजा ने कहा—तो यह सधि इतनी जल्दी कैसे हो सकती है ?, मन्त्री ने कहा—‘राजन्, शीघ्र ही होगी ।’ क्योंकि—

‘मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः’ ॥ १०६ ॥

अन्वयः—दुर्जनं मृद्घटवत् सुखभेद्यं दुःसन्धानं च भवति किन्तु सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्यं आशु सन्धेयं च भवति ॥ १०६ ॥

दुर्जनं =दुष्ट । मृद्घटवत् =मृत्कलशवत् । सुखभेद्यं =सारल्येन भेदनीयं । दुःसन्धानं =काठिन्येन संधेयं । सुजन =सज्जन । कनकघटवत् =सुवर्णकलशवत् । दुर्भेद्यं =कठिनतया भेदनीयं । आशु =शीघ्रमेव । सन्धेयं =संघियोग्य ॥१०६॥

बैठे मिट्टी का बड़ा बासानी से टूट सकता है किन्तु कठिनाई से जोरा उस
नकता है वही प्रकार बुद्धों की सखि मुद्रिकक से होती है किन्तु होकर जो बड़ा
बासानी से टूट जाती है और बैठे सोने का बड़ा कठिनाई से टूट सकता है
किन्तु बासानी से बाड़ा या सकता है उसी प्रकार भक्तों की सखि सरक्षण से
होती है जिसका टूटना बहुत कठिन होता है ॥ १ ९ ॥

अङ्गः सुखमाराम्या, सुखतरमाराम्यते विशेषज्ञः ।

मानसबहुविध्वर्धं प्रह्लापि त नरं न रक्षयति ॥ १०० ॥

अन्वयः—सुखं सुखम् आराम्यं विशेषज्ञं सुखतरमाराम्यते बालकबहुवि-
ध्वर्धम् तम् नरम् प्रह्लापि न रक्षयति ॥ १ ० ॥

अङ्गं = मुखं । मुखम् = आराम्यम् । आराम्यं = स्वानुभूत्यम् । विशेषज्ञः =
विद्वान् । सुखतरम् = आशु । आराम्यते = अनुभूतवितुम् अल्पम् । बालकबहुवि-
ध्वर्धम् = स्वल्पज्ञानोन्मत्तम् । प्रह्लापि = प्रजापतिरपि । तं नरं = तं मनुष्यम् ।
न रक्षयति = अनुभूतवितुं न धरतीति ॥ १ ० ॥

मुखं को सरक्षण से बड़ा है जिसे या सकता है विद्वान् को और जो
सरक्षण से अपने अनुभूत बनाया जा सकता है किन्तु छोटे से ज्ञान पर अनिश्चय
करने वाले व्यक्ति को प्रह्ला ही नहीं प्रसन्न कर सकते हैं ॥ १ ० ॥

‘विशेषतश्चार्यं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च । सातमेतन्मया
पूर्वं मेघधर्षयन्नात्तरक्षतकायसन्वर्षात्तापः’ । पतः—

विशेषकर वह राजा मन्त्रिण नामिक और मंत्री बड़ा जानी है । वह धर्म
मेघधर्ष के बरतों और पतके नाशों को रक्षक बरिष्ठ ही समझ लिया है ।
क्योंकि—

कर्माशुमेधाः सर्वत्र परोक्ष-शुण्य-वृत्तया ।

तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलः कर्माशुमाभ्यते ॥ १०८ ॥

अन्वयः—परोक्षशुण्यवृत्तयः सर्वत्र कर्माशुमेधाः तस्मात् परोक्षवृत्तीनाम् फलं
फलं अनुभाष्यते ॥ १ ८ ॥

परोक्षशुण्यवृत्तयः = अत्यल्पशुण्यवृत्तयः । कर्माशुमेधाः = कर्मफलं अनुभाष्यते ।
परोक्षवृत्तीनाम् = अत्यल्पवृत्तयः । फलः = फलम् । कर्माशुमेधाः = कर्मफलम् ।
अनुभाष्यते = आशुते ॥ १ ८ ॥

जाहो से बीहक जाने वाले मनुष्य के श्रुत और स्वभाव उतके कार्यों द्वारा
ही जाने जाते हैं । इसलिए परोक्ष-वृत्तियों वाले मनुष्यों के कार्य उतके बड़ा
द्वारा ही अनुभाष्य किए जाते हैं ॥ १ ८ ॥

राजाह—'अलमुत्तरोत्तरेण, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्' । पतन्मन्त्र-
यित्वा गृध्रो महामन्त्री—'तत्र यथार्हं कर्त्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गा-
भ्यन्तरं चलितः । ततः प्रणिधिवकेनागत्य राक्षी हिरण्यगर्भस्य
निवेदितं—'देव ! सन्धि कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति' ।
राजहंसो ब्रूते—'मन्त्रिन् ! पुनरभिसन्धिना केनचिदत्रागमनम् ?' ।
सर्वज्ञो विहस्याह—'देव ! न शङ्कास्पदमेतत् । यतोऽसौ महाशयो,
दूरदर्शी ! अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्, कदाचिच्छङ्कैव न
क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का ? ।

तथा हि—

अलम्=निष्प्रयोजनम् । उत्तरोत्तरेण=वादविवादेन । अभिप्रेतम् = उचितम् ।
अनुष्ठीयताम्=क्रियताम् । तत्र=मन्त्रिविधाने । यथार्हम् = यथोचितम् । अभि-
सन्धिना=कपटेन । शङ्कास्पदम्=शकायोग्य । महाशय = उदारहृदय । मन्द-
मतीनाम्=अविवेकिनाम् । स्थिति = प्रकृतिः ।

राजा ने कहा—यह वाद-विवाद व्यर्थ है इसलिए आपको जैसा अच्छा लगे
वैसा ही कीजिए । यह सलाह करके महामन्त्री गृध्र ने कहा—'इस विषय में
जैसा उचित होगा वैसा ही किया जायगा' ऐसा कह कर वह किले के भीतर
चला गया । तब गुप्तचर वगुले ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से निवेदन किया कि
राजन्, 'महामन्त्री गृध्र हमलोगों के पास संधि करने के लिए आ रहे हैं ।'
राजहंस ने कहा कि 'मन्त्रिन्, यह दुष्ट गृध्र किसी छल की भावना से आता
होगा ?' सर्वज्ञ ने हंस कर कहा—'राजन् यहाँ शंका करने की आवश्यकता
नहीं है । क्योंकि मन्त्री गृध्र अत्यन्त उदार स्वभाव का है । और मन्दबुद्धि वालों
की स्थिति ही यही होती है, कभी तो वह शका ही नहीं करते और कभी सब
जगह शका करने लगते हैं । जैसा कि—

'सरसि बहुशस्ताराच्छायेक्षणात्परिवञ्चितः,

कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।

न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पल,

कुहुकचकितो लोकः सत्येऽध्यपायमपेक्षते' ॥ १०६ ॥

अन्वयः—निशामु कुमुदविटपान्वेषी अविचक्षण हंस सरसि ताराच्छाये-
क्षणात् बहुश परिवञ्चित दिवापि ताराशङ्की पुन सितोत्पलम् न दशति (तथैव)
कुहुकचकित लोक सत्य अपि अपायम् अपेक्षते ॥ १०९ ॥

विद्यासु = रात्री । बुभुक्षुषिदपात्वेयी = बुभुक्षुषिदपात्वेयपर । अविषयम् =
 बुभुक्षुषिदः । ईश = मराक । सरसि = तडाके । ताराच्छायेऽन्वात् = तारा
 प्रतिबिम्बवर्तनात् । बहुवच = अनेकपा । परिवर्द्धित = अर्द्धित सन् । विषयि =
 विनेयि । तारासङ्घी = ताराकायसङ्घमुत्तेः । अ = ईश । पुनः = पुन । तितोत्पद्य =
 तितकमकम् । न वपति = न बुद्धते । बुभुक्षुषिद = अण्डव्यवहारेण वञ्चित ।
 शोक = अण्ड । सत्येयि = सत्ये विषयेयि । अपायम् = विषम् । अनेकैः = अनेकैः ।

रात्रि के समय बुभुक्षुषि की शोक करने वाला ईश ताताव मे बहुत के तारों
 की अथा देख कर बोका का जाता है अर्थात् उसे बुभुक्षुषि समझ कर बार-बार
 उसके पास जाता और निराश हो जाता है । किन्तु वही तारों की अंका मे पडा
 हुआ रामहृत् दिन मे सफेद कपल को भी नहीं मखन करता क्योंकि अण्ड
 व्यवहारो से बोका जाए हुए जोव तबो वस्तु मे भी अग्नि की अंका करते है न

‘दुर्जनदूषितमनसा सुजनैष्वपि नास्ति विश्वासः ।

पाशः पापसङ्घो दुष्यपि पूरुषस्य भक्षयति’ ॥ ११० ॥

अन्वयः—दुर्जनदूषितमनसा विश्वास सुजनैष्वपि नास्ति (वता) पाप-
 सङ्घो पापसङ्घो दुष्यपि पूरुषस्य भक्षयति ॥ ११ ॥

दुर्जनदूषितमनसा = बुद्धेय परिवर्द्धितस्य । विश्वास = अन्वयः । सुजनैष्वपि =
 सुजनैष्वपि । पापसङ्घो = दुष्यपिदूषितमनसा । वता = वाक्यः । पूरुषस्य =
 संपूर्णकारम् । भक्षयति = अति ॥ ११ ॥

बिनाका हृदय दुष्ट के व्यवहार से दूषित हो जाता है के सजनों के व्यवहार
 पर भी विश्वास नहीं करते । वृत्त का (और का) अन्वा हुआ आत्मक वही जो
 भी अंका-अंका कर जाता है ॥ ११ ॥

तद् देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं एतन्नोपहारादिसामग्रीं सुसज्जी-
 क्रियताम् । तथासुष्ठिते सति स पूजो मन्त्री दुग्धाराकाकपाकबोप-
 गम्य सत्कृत्यागोप राजवर्षाणं कारितो, इत्तासने बोपविहः ।
 अकपाक उवाच—मन्त्रिन् । युष्मदायत्त सर्वे, श्वेष्वेष्टयोपमुष्पता-
 मिहं राज्यम् । राजवर्षो भूत्—यवमय । इत्यर्था कपयति—
 ‘यवमयैतत् किम्पिजानी बहुमपश्चवचनं निष्पयोजनम् । यता—

तत्पूजार्थम् = मन्त्रिस्वाकथार्थम् । यवमय = अण्डव्यवहारः । सत्कृत्य = अकपाक
 उवाच । बहुमपश्चवचनम् = अनेकमर्थवाचनविस्तारः । निष्पयोजनम् = अण्डम् ।

इसलिए हे राजन्, उसका सत्कार करने के लिए यथाशक्ति रत्न आदि भेंट की सामग्री तैयार कराइए । इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर मंत्री चक्रवाक ने किले के द्वार पर जाकर मंत्री गृद्ध को बड़े सम्मान के साथ लाकर राजा का दर्शन कराया और गृद्ध दिए हुए आसन पर बैठ गया । चक्रवाक ने कहा— 'मंत्री, यह सब कुछ अब तुम्हारे अधीन है । अतः अपनी इच्छा के अनुसार इस राज्य का उपभोग कीजिए ।' राजहस ने कहा—यह वित्कुल ठीक है ? दूरदर्शी गृद्ध ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु इस समय इस प्रकार की प्रपञ्च की बातें करना व्यर्थ है । क्योंकि—

‘लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।

मूर्खं छन्दानुरोधेन, याथातथ्येन पण्डितम्’ ॥ १११ ॥

अन्वयः—अर्थेन लुब्धम्, अञ्जलिकर्मणा स्तब्धम्, छन्दानुरोधेन मूर्खम्, याथातथ्येन पण्डितम् गृह्णीयात् ॥ १११ ॥

अर्थेन = धनप्रदानेन । लुब्धम् = धनामिलापिणम् । अञ्जलिकर्मणा = प्रार्थनया । स्तब्धम् = गर्वोन्मत्तम् । छन्दानुरोधेन = अनुकूलव्यवहारेण । याथातथ्येन = सत्य कथनेन, गृह्णीयात् = स्वानुकूल्यम् कुर्यात् ॥ १११ ॥

लालची को धन में, अमिमानी को हाथ जोड़ कर, मूर्ख को उसके अनुसार काम करके और बुद्धमान को सच्ची बातें कह कर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए ॥ १११ ॥

अन्यच्च—‘सद्भावेन हरेन्मित्रं, सम्भ्रमेणं तु वान्धवान् ।

स्त्रीभृत्यौ दान-मानाभ्यां, दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्’ ॥ ११२ ॥

अन्वयः—मित्रम् सद्भावेन, वान्धवान् तु सम्भ्रमेण स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्याम्, इतरान् जनान् दाक्षिण्येन हरेत् ॥ ११२ ॥

मित्रम् = सुहृदम् । सद्भावेन = सोहादेन । वान्धवान् = स्वगोत्रजान् । सम्भ्रमेण = आदरातिशयेन । इतरान् जनान् = अन्यान् लोकान् । दाक्षिण्येन = आनुकूल्येन । हरेत् = अनुरक्षयेत् ॥ ११२ ॥

और भी—सद्भाव से मित्रों को, सम्मान से बन्धुओं को, दान तथा मान से स्त्री और सेवक को और उदारता से अन्य लोगों को अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥ ११२ ॥

‘तदिदानीं सन्धातु गम्यताम् । महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा ।’

चक्रवाको ब्रूते—‘यथा सन्धानं कार्यं, तदप्युच्यताम्’ ।

राजहसो ब्रूते—‘कति प्रकाराः सन्धीनां सम्भवन्ति’ ? । गृध्रो

ब्रूते—कथयामि । श्रूयताम्—

सन्ध्यास्तु—सन्धि करवाचम् । सन्ध्यास्तु—सन्धि करवाचम् । महाप्रणय = महापराक्रमः । सन्ध्या—सन्धि करवाचम् । सन्ध्यास्तु—सन्धि करवाचम् ।

इसलिए हम समय सन्धि करने के लिए राजा विजयवंश के पास बतिए ।
 कृष्णाक ने कहा— जिस प्रकार सन्धि करनी होगी उसे भी बताइए । राजा
 ने कहा— सन्धि कितने प्रकार की होती है ? पूछ ने कहा— वह क्या है
 सुनिये—

‘वहीयसामियुक्तस्तु सुपो नाम्यप्रतिक्रियाः ।

आध्याय, सन्धिमन्त्रिच्छेत्तुर्नाथ काक्यापनम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—वहीयसामियुक्तः नाम्यप्रतिक्रियाः आध्याय सुपो काक्यापनम्
 सुर्वाभा सन्धिमन्त्रिच्छेत् ॥ ११३ ॥

वहीयसामियुक्तः—वचनता यजुषाणां । नाम्यप्रतिक्रिया—नाम्योपायः ।
 आध्याय—विपत्तिमुपशान्त । काक्यापनम्—समयपावनम् । सुर्वाभा—सुर्वाभिपत्ति ।
 सन्धिमन्त्रिच्छेत्—सन्धिच्छेत् ॥ ११३ ॥

वचनान् यजुषु से आह्वान्त होने पर जब कोई उपाय न रह जाय तो वचन
 काटने के लिए उक्त विपत्ति में पड़े हुए राजा को यजुषु से सन्धि कर लेनी चाहिए”

‘कपाळ उपहारस्य सन्ध्यास्य, सङ्कतसन्ध्या ।

उपस्थास्य, प्रतीकारः संपीयः पुङ्गवाम्तरः ॥ ११४ ॥

अद्यपर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपप्रह ।

परिक्रयस्तयोश्चिच्छेत्तया च परभूषणा ॥ ११५ ॥

सन्धोपनयः सन्धिश्च योद्धते महीविताः ।

इति योद्धाकं प्राहुः सन्धि सन्धिविच्छेत्तया ॥ ११६ ॥

अन्वयः—कपाळ उपहारस्य सन्ध्यास्य सन्धिश्च प्राहुः ॥ ११४-११६ ॥

कपाळ उपहार सन्ध्यास्य सन्धिश्च प्राहुः उपस्थास्य प्रतीकार संपीय पुङ्गवाम्तर
 अद्यपर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपप्रह परिक्रय सन्धिश्च परभूषण
 सन्धोपनय—इस प्रकार विद्वान् लोगों ने सन्धि के योद्धा प्रकार बतलाए हैं ॥

‘कपाळसन्धिर्भिच्छेत्तया केचन समसन्धिताः ।

सम्प्रदानाद्भवति च उपहारः स उपपत्तेः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—कपाळ सन्धिश्च केचन समसन्धिताः सन्धिश्च
 उपहारः सन्धिश्च ॥ ११७ ॥

समसन्धित = समानयो बलशालिनो सन्धि । सम्प्रदानात् = घनादिप्रदानात् । उच्यते = कथ्यते ॥ ११७ ॥

समान बलवालो की आपस में की गई संधि को कपालसन्धि और कर, उपहार आदि देकर की गई सन्धि उपहारसन्धि कही जाती है ॥ ११७ ॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।

सद्भिस्तु सङ्गतः सन्धिर्मैत्रीपूर्वं उदाहृतः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—दारिकादानपूर्वक (सन्धान) सन्तानसन्धि विज्ञेयः, सद्भिः मैत्रीपूर्वं सगत सन्धि उदाहृत ॥ ११८ ॥

दारिकादानपूर्वक = पुत्रीदानयुक्त । सद्भिः = सज्जनैः । मैत्रीपूर्वं = मैत्रीयुक्त कृत सन्धान । उदाहृत = कथित ॥ ११८ ॥

प्रतिपक्षी को कन्या देकर जो संधि की जाती है उसे सन्तानसंधि और सज्जनों में परस्पर मैत्रीभाव से जो संधि की जाती है उसे सगतसंधि कहते हैं ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।

सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, कारणयो न भिद्यते' ॥ ११९ ॥

अन्वयः—य यावदायु प्रमाण समानार्थप्रयोजन सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा कारणं यो न भिद्यते ॥ ११९ ॥

य = सगतसन्धि । यावदायु प्रमाण = समस्तायु पर्यन्त । समानार्थप्रयोजन = समानहित । सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा = सुखे दुःखे वा । कारणैः = कै अपि हेतुभिः । न भिद्यते = भेदं न प्राप्नोति ॥ ११९ ॥

समान अर्थ और प्रयोजन होने के कारण समस्त जीवन में सम्पत्ति या विपत्ति किसी भी दशा में अथवा किसी कारण से जो सन्धि टूटती नहीं है ॥

सङ्गतः सन्धिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।

तथान्यैः सन्धिकुशलैः 'काञ्चनः' समुदाहृतः ॥ १२० ॥

अन्वयः—सुवर्णवत् प्रकृष्टत्वात् अयम् सगतः सन्धि एव अन्यैः सन्धिकुशलैः काञ्चन समुदाहृत ॥ १२० ॥

सुवर्णवत् = काञ्चनवत् । प्रकृष्टत्वात् = निमलत्वात् । अयं = अपरं । सन्धिकुशलैः = सन्धिविचक्षणैः । काञ्चन = काञ्चनसन्धि । उदाहृत = कथित ॥ १२० ॥

यह सगतसंधि ही सोने के समान उत्तम होने के कारण अन्य संधिकुशल राजनीतिज्ञों द्वारा 'काञ्चनसंधि' के नाम से विख्यात है ॥ १२० ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत वा ।

स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अ आत्मकार्यस्य सिद्धिम् समुद्दिश्य क्रियेत उपन्यासकुशलैः च उपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

आत्मकार्यस्य—स्वार्थस्य । सिद्धिम् = सफलताम् । समुद्दिश्य = लक्ष्योद्देश्य । उपन्यासकुशलैः = सन्निविष्टवस्तुभिः । उदाहृतः—उक्तः ॥ १२१ ॥

अपने काम की सिद्धि की हृदि है जो सचि की जाती है उसे संविद्यपुराण उपन्यास संधि कहते हैं ॥ १२१ ॥

‘मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येव करिष्यति’ ।

इति या क्रियते सन्धिः ‘प्रतीकारः’ स उच्यते ॥ १२२ ॥

अन्वयः—मया पूर्वम् अस्व उपकृतम् (कृत) एव मयापि करिष्यति इति य सन्धिः क्रियते स प्रतीकार उच्यते ॥ १२२ ॥

मया उपकृतम्—अहम् उपकरोमि । इति—इत्याद्यनेन ॥ १२२ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है यह मेरा भी करेगा इस हृदि से जो सचि की जाती है उसे प्रतीकार संधि कहते हैं ॥ १२२ ॥

‘उपकारं करोम्यस्य ममाप्येव करिष्यति’ ।

अर्थ चापि प्रतीकारो राम सुमीनयोरिव ॥ १२३ ॥

अन्वयः—अस्य उपकारम् करोमि एव मयापि करिष्यति रामसुमीनयोरेव अर्थ चापि प्रतीकार उच्यते ॥ १२३ ॥

अर्थ चापि—इत्यर्थिप्रायेण कृतः सन्धिः अर्थि ॥ १२३ ॥

मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, यह मेरा भी करेगा । इस प्रकार की संधि की प्रतीकार करी जाती है बीता राम और सुमीन के किता वा ॥ १२३ ॥

एकार्थो सम्यग्मुद्दिश्य क्रियां यत्र हि पश्यति ।

सुसंहितमथाजस्तु स च संयोग उच्यते ॥ १२४ ॥

अन्वयः—एकार्थम् क्रियाम् सम्यग्मुद्दिश्य यत्र पश्यति सुसंहितमथवाच्यं च संयोग (इति) उच्यते ॥ १२४ ॥

एकार्थम् क्रियाम्—एकवचनक्रियाम् क्रियाम् । सम्यग्मुद्दिश्य—पूर्वतया लक्ष्योद्देश्य । सुसंहितमथावाच्यः—सुस्पृहीत्या विहितमप्यर्थः ॥ १२४ ॥

जहाँ ममान अर्थ की मिट्टि के लिए किन्ती क्रिया (घटाई) को लक्ष्य करके अधिक सख्या में सेना लेकर घटाई करने के लिए सधि की जाती है यह सयोग सधि कही जाती है ॥ १२४ ॥

‘आवयोर्घोषमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यता’मिति- ।

यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धिः ‘पुरुषान्तरः’ ॥ १२५ ॥

अन्वयः—यस्मिन् (सन्धी) आवयोर्घोषमुख्यै मदर्थं साध्यताम् इति पणः क्रियते=स पुरुषान्तर सन्धि (उच्यते) ॥ १२५ ॥

घोषमुख्यै = मुख्यसुगर्ह । मदर्थं = मत्कार्यम् । पण = प्रतिज्ञा (शर्त) ॥

‘हमारे और तुम्हारे श्रेष्ठ सैनिक आपस में मिलकर समुपानुपूल सहायता देते रहे’—जहाँ इस प्रकार का निश्चय करके सधि की जाती है, यह पुरुषान्तर सधि कही जाती है ॥ १२५ ॥

‘त्वयैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसा’विति- ।

-यत्र शत्रुः पण कुर्यात्सो‘ऽदृष्टपुरुषः’ स्मृतः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—यत्र शत्रुः ‘एकेन त्वया मदीय अर्थं सम्प्रसाध्य’ इति पणम् कुर्यात् स दृष्टपुरुष स्मृत ॥ १२६ ॥

एकेन त्वया=एकाकिना त्वया । मदीय = मत्सम्बन्धी । अर्थं = प्रयोजकम् । पणम्=प्रतिज्ञाम् ॥ १२६ ॥

‘तुम्हें अकेले ही मेरे काम को पूरा करना होगा’—जहाँ शत्रु इस प्रकार की शर्त रख कर संधि करता है उसे दृष्ट-पुरुष संधि कहते हैं ॥ १२६ ॥

‘यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरुर्जितः ।

सन्धीयते सन्धिविद्धिः, स चादिष्ट उदाहृतः’ ॥ १२७ ॥

अन्वयः—यत्र भूम्येकदेशेन पणेन र्जित रिपु सन्धीयते सधिविद्धि स चादिष्ट उदाहृत ॥ १२७ ॥

यत्र=यस्मिन् सन्धी । भूम्येकदेशेन=भूम्येकभागेन । पणेन = प्रतिज्ञया । र्जित = बलिष्ठ । रिपु = शत्रु ॥ १२७ ॥

जिस संधि में राज्य का एक भाग देकर बलवान् शत्रु से सधि की जाती है उसे सन्धि के ज्ञाता आदिष्ट सधि के नाम से पुकारते हैं ॥ १२७ ॥

‘स्वसौम्येन तु सन्धानमात्रमादिष्ट उवाहृतः ।

क्रियते प्राणरक्षणार्थं सवधानस्तुपमहा ॥ १२८ ॥

अन्वयः—स्वसौम्येन सन्धानम् आत्मादिष्ट उवाहृतः प्राणरक्षणार्थम् उर्वराणां
(वा सन्धि) क्रियते न उपपद्यते (कम्पने) ॥ १२८ ॥

स्वसौम्येन—स्वसौम्यप्रधानेन । प्राणरक्षणार्थम्—वायुरक्षणाय । सर्वराणां—
एवादिष्वर्षप्रधानात् ॥ १२८ ॥

बपनी सेना देकर वो सन्धि की जाती है उसे आत्मादिष्ट सन्धि तथा अपने
प्राणों की रक्षा के लिए सब कुछ देकर वो सन्धि की जाती है उसे उपपद्य सन्धि
कहते हैं ॥ १२८ ॥

‘कोशाद्येनार्थकोशेन सवकोशेन वा पुनः ।

शिष्टस्य प्रतिरक्षणार्थं परिकल्प उवाहृतः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—शिष्टस्य प्रतिरक्षणार्थम् कोशाद्येन सर्वकोशेन सर्वकोशेन वा (वा
सन्धि क्रियते वा) परिकल्प उवाहृतः ॥ १२९ ॥

शिष्टस्य—अनुपपद्यमानस्य शिष्टस्य अन्वयः । प्रतिरक्षणार्थम्—रक्षणाय । कोशाद्येन—
कीर्तिकावप्रधानेन सर्वकोशेन—कीर्तिकावप्रधानेन । उवाहृतः—उक्तिः ॥ १२९ ॥

बने हुए राज्य की रक्षा के लिए अन्वय का बोधा आया बचवा पुण
अज्ञाना देकर वो सन्धि की जाती है उसे परिकल्प सन्धि कहते हैं ॥ १२९ ॥

‘मुखां सारवतीनां तु क्षान्तासुच्छिन्न उच्यते ।

मृन्मुत्थफलदानेन सर्वेषु परमूयणा ॥ १३० ॥

अन्वयः—सारवतीनां मुखाम् क्षान्ताम् उच्यते (तदा) सर्वेषु मृन्मुत्थफल-
दानेन परमूयणा उच्यते ॥ १३० ॥

सारवतीनाम्—रत्नाकारिपुत्राणां । मुखाम्—पृथ्वीनाम् । क्षान्ताम्—उदा-
नाम् । सर्वेषु—सर्वेषु मृन्मुत्थफलदानेन—सृष्ट्युत्पन्नफलदानेन ॥ १३० ॥

रत्न-मुखां आदि से परिपूर्ण पृथ्वी को देकर वो जाने वाली सन्धि उच्छिन्न
कीर्तिकाव से अन्वय सभी जगहों की देकर वो जाने वाली सन्धि परमूयणा की
जाती है ॥ १३० ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिरक्षन्धेन शोयते ।

इक्ष्णुधोपमत्वं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिद्विविधश्रुत्याः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—इक्ष्णुधोपमत्वं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिद्विविधश्रुत्याः तं
सन्धिम् इव शोयते इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

यत्र = यस्मिन् सत्री । प्रतिस्कन्धेन = दहुलाद्येन (कई किस्तों में) परि-
च्छिन्नम् = रगितम् । फलम् = धान्यादिकम् । मन्त्रिविवक्षणा = सधिकुशला ॥

जहाँ कई किस्तों में निश्चिन धान्यादि देकर मन्धि की जाती है, उसे सधि-
कुशल लोग 'स्कन्धोपनेय' सन्धि कहते हैं ॥ १३१ ॥

‘परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा ।

उपहारश्च त्रिज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः’ ॥ १३२ ॥

अन्वयः—परस्परोपकार, मैत्री, सम्बन्धक तथा उपहारश्च, चत्वारः
चैव सन्धय विज्ञेया ॥ १३२ ॥

परस्परोपकार = अन्योन्यमुपकार । मैत्री = मित्रता । सम्बन्धक = विवाहादि-
सम्बन्ध । उपहार = धनादिप्रदानम् ॥ १३२ ॥

परस्पर = प्रकार, मित्रता, सम्बन्ध और उपहार यही चार सन्धियाँ कही
जाती हैं ॥ १३२ ॥

‘एक एवोपहारस्तु सन्धिरेव मतो मम ।

उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रिविचर्जिताः’ ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मम मन एक उपहार एव सन्धि एव, मैत्रिविचर्जिता सर्वे
उपहारविभेदा ॥ १३३ ॥

मैत्रीसन्धिमित्रा अन्य त्रय सन्धय उपहारसन्धे भेदा मन्ति ॥ १३३ ॥

मेरे विचार से एक उपहार ही सन्धि है, मैत्री को छोड़ कर और सभी
सन्धियाँ उपहार का ही भेद होती हैं ॥ १३३ ॥

‘अभियोक्ता वलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ।

उपहारादते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते’ ॥ १३४ ॥

अन्वयः—वलीयस्त्वात् अभियोक्ता अलब्ध्वा न निवर्तते, तस्मात्,
उपहारादते अन्य सन्धि न विद्यते ॥ १३४ ॥

वलीयस्त्वात् = अतिसमयत्वात् । अभियोक्ता = आक्रामक । अलब्ध्वा = उपहार-
मगृहीत्वा । न निवर्तते = न परावर्तते । तस्मात् = अतः ॥ १३४ ॥

आक्रमण करने वाला बलवान होने के कारण बिना कुछ उपहार लिए नहीं
छोड़ता है । इसलिए उपहार के अतिरिक्त और कोई सन्धि नहीं होती है ॥ १३४ ॥

राजाह—‘भवन्तो महान्तः, पण्डिताश्च । तदत्रास्माकं यथा-
कार्यमुपदिश्यताम्’ । दूरदर्शी ब्रूते—‘आ. । किमेवमुच्यते ?—

राजा ने कहा—आप लोग बहुत बड़े और पण्डित हैं । अतः इस समय हमें
क्या करना चाहिए उसे बताइए । दूरदर्शी ने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं ?

प्राधि-भ्याधि परीतापाद्य श्चो वा विनाशिते ।

को हि नाम शरीराय धमपित समाचरेत् ॥ १३५ ॥

अन्वयः—प्राधिभ्याधिवरीतापाद्य अथ च वा विनाशिते शरीराय को हि धमपितम् समाचरेत् ॥ १३५ ॥

प्राधि=मानसो पीडा । भ्याधि=शारीरिकी पीडा । परीतापाद्य=सम्पन्नम् । अथ च वा=अथिपात् । विनाशिते=नाशयते । शरीराय=वैशर्भम् । धमपितम्=धर्मविरहम् ॥ १३५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीडा से शत्रु बचना कठ नर ही जाने वाले इस शरीर के लिए कोन ऐसा होया जो धर्म के विरह काचरण करेया ॥ १३५ ॥

‘अज्ञान्तद्वन्द्वधर्मस्य शीघ्रितं क्लृप्तं देहिनाम् ।

तथाविधमिति ज्ञात्वा शम्भत्कस्यापमाचरेत् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—देहिनाम् शीघ्रितम् अज्ञान्तद्वन्द्वधर्मस्य क्लृप्तं तथाविधम् इति ज्ञात्वा शम्भत्कस्यापम् आचरेत् ॥ १३६ ॥

देहिनाम् = शरीरधारिणाम् । शीघ्रितम् = शीघ्रम् । अज्ञान्तद्वन्द्वधर्मस्य = अज्ञप्रतिबिम्बितधर्मैः दुस्सम्पन्नम् । अथत् = निरन्तरम् । कस्यापम् = अमुनकार्यम् ॥ १३६ ॥

प्राधिको का अविद्यन बल से प्रतिबिम्बित होने वाले धर्मना के समान बलवान् होता है । अत उसे नाछुवान् धमल कर निरन्तर कस्यापकारी कार्यों को करते रहना चाहिए ॥ १३६ ॥

‘वाताश्रविभ्रममिवं बभुवाधिपत्य-

मापातमात्रमधुरो विपयोपभोगः ।

प्राणास्तृप्ताप्रशङ्कित्तुसमानलोका

धर्मः सखा परमहो ! परलोक्यामे ॥ १३७ ॥

अन्वयः—इदम् बभुवाधिपत्यम् वाताश्रविभ्रमम् विषयोपभोगः आपातमानमधुर प्राणा तृप्ताप्रशङ्कित्तुसमानलोका (अत) परलोक्यामे धर्मः परम् सखा (अस्मि) ॥ १३७ ॥

इतुवाधिपत्यम्=राज्यम् । वाताश्रविभ्रमम् = वायुवा तापितवचनम् अथवि भ्रमति । विपयोपभोगः = वायोपभोगः । आपातमानमधुरः=अविचारितमनोहृत् । तृप्ताप्रशङ्कित्तुसमानलोका = तृप्तापस्विनमकचवत् सख्यः । परलोक्यामे = परलोक्यायाभ्याम् ॥ १३७ ॥

इह राज्य वायु के आघात से छिन्न-भिन्न हो जाने वाले इन्द्रज के तथाच अन्नमधुर पर विपयों का उपभोग ताप्यासिद्ध (अनवाध) मधुर करने वाला और

ये प्राण घासो के ऊपर दिखाई पढने वाली ओस की बूंदों के समान चञ्चल होते हैं । परलोक यात्रा में केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

‘मृगतृष्णासमं वीक्ष्य ससारं क्षणमङ्गुरम् ।

‘सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च’ ॥ १३८ ॥

अन्वयः—संसारम् मृगतृष्णासमम् क्षणमङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनैः सङ्गतम् कुर्यात् ॥ १३८ ॥

ससारम्=इमम् लोकम् । मृगतृष्णासमम्=मरीचिकातुल्यम् । क्षणमङ्गुरम्=क्षणनश्वरम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा । सज्जनैः सङ्गतम्=सज्जनमैत्रीम् । धर्माय=धर्मलाभाय । सुखाय=सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस संसार को मृगतृष्णा के समान क्षणमङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपाजन के लिए सज्जनों की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम् ।’ यतः—

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योंकि—

‘अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्रात् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम् । अतिरिच्यते=वदते ॥ १३९ ॥

हजारों अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारों अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानः ‘सन्धिर्विधीयताम्’ । सर्वज्ञो ब्रूते—‘एवमस्तु’ । ततो राजहसेन राज्ञा चत्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाक गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः । तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविध सन्धिं स्वीकृत्य, राजहससमीपं प्रस्थापितः ।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम्=सत्यनामशपथपूर्वकम् । सन्निधानम्=समीपम् । सम्भाषितः=वातालापेन परितोषित । न =अस्माकम् । समीहितम्=ईप्सितम् ।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनों राजाओं में काञ्चन संधि करा देनी चाहिए । सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए । इसके बाद राजा

वाधि-व्याधि परीतापाद्य ओ वा विनाशिते ।

को हि नाम शरीराय धमपित्तं समाचरेत् ॥ १३५ ॥

अन्वयः—वाधिव्याधिवरीतापात् वद्य य वा विनाशिते शरीराय को वाधि धमपित्तम् समाचरेत् ॥ १३५ ॥

वाधि = मानसो पीडा । व्याधि = शारीरिकी पीडा । परीतापात् = तन्वयपात् । वद्य य वा = अथवा । विनाशिते = नाशयने । शरीराय = शरीरम् । धमपित्तम् = धर्मविकल्पम् ॥ १३५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीडा से मानस तथा शरीर नष्ट हो जाने वाले इन्हें शरीर के लिए कोन ऐसा होना भी धर्म के विच्छेद आवश्यक करना ॥ १३५ ॥

अज्ञान्तान्मन्त्रपण्डितं वीधितं जसु देहिताम् ।

तयाविद्यमिति ज्ञात्वा शम्भत्कश्यप्यमाचरेत् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—देहिताम् वीधितम् अज्ञान्तान्मन्त्रपण्डितम् जसु तयाविद्यम् इति ज्ञात्वा शम्भत्कश्यप्यम् आचरेत् ॥ १३६ ॥

देहिताम् = शरीरधारिणान् । वीधितम् = वीधनम् । अज्ञान्तान्मन्त्रपण्डितम् = अज्ञानप्रतिबिम्बितचक्षुरैश्च दृश्यम् अज्ञानम् । जसु = निरन्तरम् । कश्यप्यम् = धूमकार्यम् ॥ १३६ ॥

प्राचिनो का वीधन अज्ञान में प्रतिबिम्बित होने वाले अज्ञान के समान अज्ञान होता है । अतः उसे वाक्यान् समस्त कर निरन्तर कश्यप्यकारी काशों को कटौत करना चाहिए ॥ १३६ ॥

‘वाताप्रविभ्रममिदं वसुधाधिपस्य-

मापातमानमभुरो विषयोपभोगः । ।

प्राप्यास्तुणामजस्रविन्दुसमानलोका

धर्मः सखा परमहो परलोक्याने’ ॥ १३७ ॥

अन्वयः—इदम् वसुधाधिपस्य वाताप्रविभ्रमम् विषयोपभोगं मापातमानमभुरो प्राप्यास्तुणामजस्रविन्दुसमानलोका (अज्ञान) परलोक्याने धर्मः परम् सखा (अस्ति) ॥ १३७ ॥

वसुधाधिपस्य = वायव्यम् । वाताप्रविभ्रमम् = वायुना ताडितवयवम् अथवा अस्ति । विषयोपभोगः = वायोपभोगः । मापातमानमभुरो = अविचारितवसोहृत् । वसुधाधिपस्य = वसुधाधिपस्य । प्राप्यास्तुणामजस्रविन्दुसमानलोका = वसुधाधिपस्यवयवम् अज्ञानम् । परलोक्याने = परलोक्यानाम् ॥ १३७ ॥

जब वायव्य वायु के मापात से विक्रम-मिष्ट ही जाने वाले वाके वायव्य के समान अविचारित वह विषयों का उपभोग तात्कालिक (अधयाय) वसुध धरने वाला शरीर

ये प्राण घासो के ऊपर दिखाई पढने वाली ओस की बूंदों के समान चञ्चल होते हैं। परलोक यात्रा में केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

‘मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसार क्षणमङ्गुरम् ।

‘सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च’ ॥ १३८ ॥

अन्वयः—संसारम् मृगतृष्णासमम् क्षणमङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनैः सङ्गतम् कुर्यात् ॥ १३८ ॥

संसारम्=इमम् लोकम् । मृगतृष्णासमम्=मरीचिकातुल्यम् । क्षणमङ्गुरम्=क्षणश्वरम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा । सज्जनैः सङ्गतम्=सज्जनमैत्रीम् । धर्माय=धर्मलामाय । सुखाय=सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस संसार को मृगतृष्णा के समान क्षणमङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपाजन के लिए सज्जनों की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम् ।’ यतः—

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योंकि—

‘अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्राद् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम् । अतिरिच्यते=वद्धंते ॥ १३९ ॥

हजारों अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारों अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानः ‘सन्धिर्विधीयताम्’ । सर्वज्ञो ब्रूते—‘एवमस्तु’ । ततो राजहस्तेन राक्ष्णा वल्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाक गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः । तत्र चित्रवर्णनं राक्ष्णा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविध सन्धिं स्वीकृत्य, राजहससमीपं प्रस्थापितः ।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम्=सत्यनामशपथपूर्वकम् । सन्निधानम्=समीपम् । सम्भाषितं=वार्तालापेन परितोषित । न=अस्माकम् । समीहितम्=ईप्सितम् ।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनों राजाओं में काञ्चन सधि करा देनी चाहिए । सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए । इसके बाद राजा

राजहंस द्वारा बहू और बहनों के अपतार से सम्मानित होकर मंत्री बुरखी प्रसन्न होकर बहनाक को लेकर राजा मयूर के पास गया। वहाँ राजा पित्रवर्ष ने सर्वज्ञ को पुत्र के कनकानुहार बहुत अधिक दान माल के साथ संतुष्ट करने सम सन्धि को स्वीकार कर उसे राजहंस के पास भेज दिया।

बुरखी ब्रूते—‘देव ! सिद्ध माः समीहितम् । इदानीं स्वस्थावमथ विन्ध्याबलं ध्यातुरस्य प्रतिगम्यताम् ।

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनामिच्छयितं फलं प्राप्नुयन्ति ।

बुरखी ने कहा—देव हम लोगों की इच्छा पूरी हुई इस समय अपने स्व विन्ध्याबल को लौट चकता जाइए। इसके पश्चात् सभी अपने-आपने देव जाकर मनोवाञ्छित फल प्राप्त करने लगे।

दिप्युशर्मबोक्तम्—अपरं किं कथयामि, तदुच्यताम् ।

विष्णुधर्मा ने कहा—बताओ जब मैं और क्या आप लोगों की बुवाई ?

राजपुत्रो ऊचुः—आर्य ! तव प्रसादात्सकलराज्यभ्यवहारार्थं ज्ञातम् । तदा सुखितो मूता वपम् ।

राजपुत्रो ने कहा—आर्य तुम्हारी इच्छा से हम लोगों के राज्य व्यवहार के सभी कर्मों की जान बिना है। जिससे हमकोय बहुत प्रसन्न है।

विष्णुधर्मोवाच—‘यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीवमस्तु’—

विष्णुधर्मा ने कहा—अथपि ऐसा है तथापि वह भी हो।

‘सन्धिः सर्वमहीमुखां विजयिष्यामस्तु, प्रमोदा सदा

सन्ताः सन्तु निरापदाः सुकृतिनां कीर्तिचिरं वर्धताम् ।

नीतिवारविद्यासिमीव सततं वक्ष्यस्थले संस्थिता

वक्त्रं शुम्भतु मन्त्रिष्यामहरहर्मुषाम्महानुत्सवाः’ ॥ १७० ॥

अन्वयः—विजयितुं सर्वमहीमुखां सन्धिः अस्तु, तथा प्रमोदा (सन्तु)

सन्तु निरापदाः अस्तु, सुकृतिनां कीर्ति चिरं वर्धताम्, मन्त्रिष्यां वक्ष्यस्थले सततम् संस्थिता वारविद्यासिमी इव नीति वक्त्रम् शुम्भतु, अहरहर्-महान् उत्सवाः भूयन् ॥ १४ ॥

विजयिताम्—विजययिताम् । सर्वमहीमुखां—सर्वराजां । प्रमोदा—

प्राप्तम् । सन्ताः—सज्जनाः । निरापदाः—सुखिनः । सुकृतिनां—विदुषां ।

कीर्ति—पद । वर्धताम्—सँसारे विस्तृता भवतु । वक्ष्य-स्थले—उपर प्रदेसे वा

विलासिनीद्वेष्या इव । ततन् = मर्वादा । यक्त्रम्=मुखम् । हृदयेस्थिता राज-
नीति वाचि वमतु । अहरह = प्रतिदिनम् ॥ १४० ॥

सभी राजाओं का विजयी राजाओं के साथ सधि हो, आनन्द हो, सज्जन
लोग सुखी हों, विद्वानों की कीर्ति का प्रसार हो, मन्त्रियों के हृदय में देश्या के
समान सबदा स्थित रहने वाली राजनीति उनकी वाणी में निवास करे और
प्रतिदिन महान् उत्सव होता रहे ॥ १४० ॥

अन्यच्चास्तु—

‘प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स यावद्
यावत्लक्ष्मीमुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।

यावत्स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः सग्रहोऽयं कथानाम् ॥

अन्वयः—प्रालेयाद्रे सुताया प्रणयनिवसति चन्द्रमौलि यावत्, जलदे
विस्फुरन्ती तद्वित् इव मुरारे मानसे लक्ष्मी यावत्, अयम् स्वर्णाचल यावत्,
यस्य दवदहनसम स्फुलिङ्ग सूर्य (अस्ति), तावत् नारायणेन रचित कथानाम्
अयम् सग्रह. प्रचरतु ॥ १४१ ॥

प्रालेयाद्रे = हिमालयस्य । सुताया = पुत्र्या , पार्वत्या । प्रणयनिवास =
प्रेमपात्रम् । चन्द्रमौलि = शिव । जलदे = मेघे । विस्फुरन्ती = उन्मिषन्ती । तद्वित् =
विद्युत् । मुरारे = विष्णो । दवदहनसम = दावाग्निज्वालासदृश । स्वर्णाचल =
हेमकूट । नारायणेन रचित नारायणपङ्क्तिन निर्मित ॥ १४१ ॥

जब तक हिमालय की पुत्री पार्वती जी के प्रेम में भगवान् शंकर की स्थिति
रहे, जब तक वादलो के बीच चमकती हुई विजली के समान भगवान् विष्णु के
हृदय में लक्ष्मी का निवास रहे और जब तक दावाग्नि की ज्वाला के समान
यह हेमकूट विद्यमान रहे, जिसकी चिनगारी के समान यह सूर्य हैं, तब तक
नारायण पण्डित द्वारा रचित कथाओं का यह संप्रह सभी जगह प्रचलित रहे ॥

किञ्च—‘उर्वामुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-

मिष्टैस्तैर्विष्टपाना विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।

आकल्पान्तञ्च भूयात्समुपचितसुखः सङ्गमः सज्जनानां,

निर्दशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजननिरो दुर्जया वञ्चलेपाः’ ॥

अन्वयः—वासव इष्टाम् वृष्टिम् विसृजन् उर्वाम् । उद्दामसस्याम् जनयतु ।
विप्रमुख्या तै इष्टे विष्टपानाम् विधिवत्प्रीणनम् विदधतु । सज्जनानां सङ्गम.

वाक्यस्यान्तरम् समुपचितमुक्तं भूयात् । वक्ष्यतेषां दुर्भवाः विद्युत्जननिरः विरयेषु
 यान्ति यान्ति ॥ १४२ ॥

वाक्यम्—इन्द्रम् । इन्द्रम् = अग्निमतम् । बुद्धिम् = अक्षयवर्धनम् । विद्युत्जनम् =
 त्वचम्, कुर्वन् । उद्दामघटवान्—वाम्यपुरितम् । अर्धम्—पूर्वार्धम् । तैः = वाम्या-
 विभिः । इष्टैः—पत्नीः । विप्रमुखाः—वैद्यकाः । विद्वानाम्—बौद्धानाम् । प्रीयन्—
 तुष्टिम् । विद्वत्तु—कुर्वन्तु । सज्जनादीं संयमं—सत्संयतिः । वाक्यस्यान्तम् =
 कस्यान्तम् वाक्यम् । समुपचितमुक्तं = मुखाभित्तम् । दुर्भवाः = दुर्भवतीनाः ।
 वक्ष्यतेषां—वर्तितुम्भुताः । विद्युत्जननिरः—बुद्धयनवाच । विरयेषु = समुत्तम् ।
 यान्तिम्—प्रथमम् ॥ १४२ ॥

इन्द्र वषट्क वाक्य के द्वारा बुद्धी की वाक्य से परिपूर्ण करें वेदज्ञ वाक्य
 भाष्यों तथा यज्ञो से वेदताओं को विधिपूर्वक प्रस्तुत करें । सज्जनों की समति
 कहरान्त तक सम्पत्ति और समृद्धि की देते वाली बने । वक्ष्य के उद्गार कठोर
 दुष्टों की बाकी बची शक्ति धातु हो जाय ॥ १४२ ॥

अपरञ्च—धीमान्धवलजम्भ्रोऽसी जीयान्माच्छब्दिको रिपुश्च ।
 येमार्यं संग्रहो यत्नास्तेष्वपिरया प्रचारिताः ॥ १४३ ॥
 इति द्वितीयोपदेशे सन्धिनाम सप्तमः अध्यायः समाप्तः ॥
 समाप्तः द्वितीयोपदेशः ॥

अन्वयाः—माध्वलिन धीमान् अक्षयवन्तु जनी रिपुश्च जीवान्, देव जन्य
 संग्रहं वान्नात् निवर्तित्वा प्रचारित ॥ १४३ ॥

वाक्यलिक = मध्यमाभाति । अक्षयवन्तु—दुर्भरप्रदेशस्य राजविद्येय ।
 रिपुश्च—तानुन् । जीवान्—विजयताम् ॥ १४३ ॥

इति द्वितीयोपदेशे सन्धिनाम सप्तमः अध्यायः समाप्तः ।
 समाप्तः द्वितीयोपदेशः सप्तमः भूयात् ।

वह (दुर्भर प्रदेश का) पातालका राजा अक्षयवन्तु की पत्नी का जीने
 जितन बड़े परिश्रम के एक संग्रह व भित्ति कर इत्यादि प्रकार कराया ॥ १४३ ॥

द्वितीयोपदेश का अन्तः समाप्तः ।

द्वितीयोपदेश समाप्तः ।

